पौराणिक धर्म एवं समाज

[वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु एवं मत्स्य पुराण के आधार पर]

सिद्धेश्वरी नारायण राय
एम० ए०, डी० फिल्०
प्राध्यापक
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

पञ्चनद पब्लिकेशंस
१०८, नया कटरा
इलाहाबाद–२

श्री

जिनके पुण्य-प्रकर्ष और आशीर्वचन की रश्मियाँ
मेरे जीवन को आलोकित करती रही हैं,
उन्हीं सुरधाम-वासी पूज्य पिता
पण्डित रामबली राय जी के
दिव्य चरणों में
समर्पित

卐

प्रस्तावना

प्रायः सवा सौ वर्ष पूर्व ग्रोट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ग्रीस का इतिहास' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इसमें उन्होंने प्राचीनतम युग के इतिहास के लिये अनुश्रुतियों और पौराणिक कथाओं को सर्वथा अनुपयोगी घोषित किया था। उनका कहना था कि 'कुछ भी इतना निराशाजनक और निष्फल नहीं है जितना कि इन अन्धकारमय युगों और पात्रों के विषय में प्रमाण-विवेचन।' उनका मत था कि साधारणतया पौराणिक विवरण को अविश्वास्य मानना चाहिये जब तक कि उसके पक्ष में अतिरिक्त प्रमाण पर्याप्त रूप में उपलब्ध न हो सके। साक्ष्य के विवेचन में यह कसौटी प्रायः उतनी ही कड़ी है जैसी कि 'लांगलोआ' और 'सीनियोबो' के अनुसार आधुनिक युग के इतिहासकार को सामान्यतः अपने कार्य में प्रयुक्त करनी चाहिये। किन्तु प्राचीन इतिहास के सन्दर्भ में प्रायः इससे अधिक उदार नियम बरता जाता है जैसा कि न्यायालय में माना जाता है कि किसी साक्षी को तब तक विश्वसनीय स्वीकार करना चाहिये जब तक कि प्रमाणान्तर के आधार पर उसमें संशय न किया जा सके। इस दृष्टि से पौराणिक अनुश्रुति अत्यन्त प्राचीन काल के लिये ज्ञान का एक सम्भावित साधन सिद्ध होती है। प्रमाणान्तर से समर्थित होने पर यह सम्भावना विश्वसनीयता से मुद्रांकित की जा सकती है। स्वयं प्राचीन ग्रीस के इतिहास के सन्दर्भ में ग्रोट की अनास्था श्लीमान की पुरातात्त्विक खोजों से तिरस्कृत हो गई। प्राचीन चीन के इतिहास के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार के संशयों को, खोज की प्रगति ने क्रमशः कम कर दिया है। उदाहरण के लिये शंगकालीन होनन से प्राप्त उत्कीर्ण अस्थियों से ऐसे अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध होते हैं जिन्हें अन्यथा कपोल-कल्पित ही माना जाता था।

इसी प्रकार भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में भी पौराणिक साक्ष्य का मूल्य आधुनिक विवेचकों ने क्रमशः अधिकाधिक समझा और स्वीकार किया है। वैदिककालीन इतिहास-पुराण जिनका छान्दोग्य-उपनिषद् में उल्लेख आता है किस प्रकार के थे यह निश्चित करना कठिन है। प्रसिद्ध राजाओं और ऋषियों से सम्बद्ध अनुश्रुतियों का सम्भवतः सूतों के द्वारा संग्रह किया जाता था। इन संग्रहों अथवा संहिताओं का पाठ एवं आवृत्ति विशिष्ट यज्ञों एवं सत्रों के अवसर पर प्रचलित प्रतीत होती है। वैदिक और पौराणिक साहित्य का परस्पर सम्बन्ध अभी तक निर्विवाद रूप में निश्चित नहीं किया जा सका है। पुराण-प्रोक्त वैदिककालीन इतिहास अपने सब अंगों में स्वतंत्र रूप से समर्थित नहीं हो पाता है। अभाग्यवश अभी तक हमारी बढ़ती हुई पुरातात्त्विक खोजों का भी इन साहित्यिक साक्ष्यों के साथ इस सुदूर अतीत

के इतिहास में कोई विशेष अभिसम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया जा सका है । यह आशा करनी चाहिये कि भविष्य में कभी पौराणिक, वैदिक और पुरातात्त्विक गवेषणा के समन्वय के द्वारा पुरातीत इतिहासकार नया विवरण प्रस्तुत कर सकेगा ।

पुराणों के प्रसिद्ध पंचलक्षणों का निर्वाह समुचित रूप से उनके वर्त्तमान आकार-प्रकार में दुष्प्रतिपाद्य है । विष्णु पुराण में सम्भवतः यह निर्वाह सर्वाधिक सन्तोष-जनक रूप से लक्षित होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि मूल पुराण चाहे जैसे और जितने भी रहे हों, गुप्त-काल से पूर्व की सहस्राब्दी में क्रमशः वे परिवर्तित और परि-वर्धित होते रहे । इस युग के राजनैतिक इतिहास का प्रायः प्रामाणिक विवरण जो इनमें उपलब्ध होता है, वह उनके अपने विकास की ओर संकेत करता है । गुप्त काल से आगे पुराणों में दार्शनिक समन्वय किन्तु साम्प्रदायिक आग्रह के आधार पर प्रस्तुत भारतीय संस्कृति की एक सर्वजनग्राह्य व्याख्या प्रकाशित होती है । जिस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के मनीषियों ने अपनी नवीन बौद्धिक उपलब्धियों को एक प्रचलित विश्वकोश के द्वारा जनग्राह्य बनाया था, उसी प्रकार अष्टादश पुराण भी अपने वर्त्तमान रूप में मुख्यतः गुप्त एवं गुप्तोत्तरकालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं । इनमें सांख्य, योग और वेदान्त की दार्शनिक मान्यतायें, भागवत, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के सिद्धान्त, वैदिक और तांत्रिक प्रक्रियायें तथा धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि का सार संगृहीत है । अत्यन्त प्राचीन कल्पनायें परिष्कृत दार्शनिक तत्त्वों के साथ एक व्यवस्थित विधि-विधान में साथ-साथ अनुस्यूत पाई जा सकती हैं । अपने इस विकास की सुदीर्घ परम्परा तथा विषय की सर्वग्राहिता के कारण इन पुराणों की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक व्याख्या वस्तुतः 'टेढ़ी खीर' है । मुझे हर्ष है कि मेरे पुराने शिष्य डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय ने प्रस्तुत ग्रंथ में इस कठिन कार्य के निर्वाह का एक सफल प्रयास किया है । उन्होंने पांडित्य और विवेक द्वारा पौराणिक सामग्री पर मूल्यवान् प्रकाश डाला है । मुझे विश्वास है कि उनकी इस प्रौढ़ शैली और भाषा में प्रस्तुत कृति का विद्वज्जन हार्दिक स्वागत और समादर करेंगे । अपनी सूक्ष्म गवेषणाओं को डॉ० राय भविष्य में और भी आगे बढ़ायें, यह मेरा उनसे निवेदन है । वे सचमुच इस उक्ति की सार्थकता का अनुभव कर सकते हैं कि "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।"

गोविन्दचन्द्र पाण्डे
अध्यक्ष
इतिहास व भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

पूर्वपीठिका

यह प्राय: सुसम्मत हो चुका है कि पुराणों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की निधि सन्निहित है। राजनीतिक इतिहास के संकलन और संदर्शन की दृष्टि से इनकी उपादेयता उतनी अधिक भले ही न मानी जाय, पर सांस्कृतिक तत्त्वों के संज्ञापन और सम्मार्जन में इनकी महत्ता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता है। शिष्य-प्रशिष्य के परम्परा-परीवाह के प्रणयन-परिणाम में एक ही पुराण द्वारा युग-युगान्तर की प्रवृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं, तथा अनेक पुराणों का तुलनात्मक पर्यालोचन उन्हीं प्रवृत्तियों को व्यापक परिधि में प्रतिष्ठापित करने के लिये सुयोग प्रदान करता है। इसी अवधारणा के अनुसार प्रस्तुत रचना (प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० उपाधि के लिये स्वीकृति शोध-ग्रन्थ) में पुराण-चतुष्टय (वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु एवं मत्स्य) को मूल आधार बनाया गया है, तथा इनमें अनुस्यूत धर्म एवं समाज से सम्बन्धित तत्त्वों की समीक्षा की गई है। ग्रन्थ के पूर्वांश में पुराण-संरचना के उद्भव एवं विकास तथा आलोचित पुराणों की तिथि का विवेचन किया गया है। इसकी आवश्यकता इस दृष्टि से थी, क्योंकि प्राथमिक पुराण-रचना होते हुए भी आलोचित पुराण, अन्य पुराण-ग्रन्थों की भाँति स्थल-संयोजन और आकार-परिवर्द्धन के विषय बनते रहे हैं। ऐसी विवेचना के परिणाम में पुराण-वर्णित धर्म और समाज की समरूपता अथवा विषमता एवं समयानुसार परिवर्द्धन तथा परिणामत: इनकी गतिशीलता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों के स्थलों की समीक्षा, रचना-परक और काल-विषयक दृष्टिकोण से; पार्जीटर, विन्टरनित्स, पुसाल्कर, हाज़रा तथा अन्य अनेक विद्वानों द्वारा की जा चुकी है। पर, पुराण-वाङ्मय की विशालता, उपकरण-वैविध्य तथा इनके संकलन की प्रगति; समीक्षा-विषयक ये ऐसे पक्ष हैं, जिनके कारण उक्त विचारकों के मत और निष्कर्षों को अनेक स्थलों पर केवल श्रद्धेय एवं समान दिशा में शोधार्थ सम्प्रेरक ही कहा जा सकता है न कि अन्तिम एवं अविकल रूप में मान्य। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्तावित विचारों में यथासम्भव नवीनता एवं एतदर्थ मापक पक्षों में वस्तुस्थिति को ही सन्निवेशित करने की चेष्टा की गई है। परिशिष्ट-परिच्छेदों में अनेक पूर्वगत, संगत एवं अनुगत आदर्शों और प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बन्ध-निर्धारण के लिये आलोचित पुराणों के अतिरिक्त अन्य पुराणों एवं उपपुराणों के स्थलों को भी विवेचन का विषय बनाया गया है। विद्वान् पाठकों द्वारा इनके औचित्य एवं अनौचित्य की इयत्ता का निश्चय किया जाना लेखक के लिये परितोष का कारण होगा।

अपने वक्तव्य को समाप्त करने के पूर्व मैं यह व्यक्त करना अपना आवश्यक एवं पवित्र कर्त्तव्य मानता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन एवं प्रकाशन में मेरे आचार्यों के उपदेश तथा सहयोगियों एवं मित्रों के सहयोग और सौहार्द का अविस्मरणीय योगदान रहा है। आदरणीय गुरुवर्य प्रो० गोवर्द्धन राय शर्मा का मेरे ऊपर अनल्प आभार है, जिनके अमूल्य पथ-प्रदर्शन के परिणाम में यह ग्रन्थ अपने वर्त्तमान कलेवर में प्रतिष्ठित हो सका है। सम्मान्य आचार्य प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डे का मैं विशेष आभारी हूँ जिनका मुझे छात्र होने का सौभाग्य रहा है तथा जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। पूजनीय प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रो० अम्बादत्त पन्त तथा प्रो० जसवन्त सिंह नेगी के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनकी अनुपम उपदेश-उक्तियों द्वारा ग्रन्थोक्त विचार प्रसादित और प्रसाधित हुए हैं। आदरणीय अग्रज डॉ० उदय नारायण राय एवं सुविज्ञ सुहृद् डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव के आशीर्वाद और स्नेह को मैं विस्मृत नहीं कर सकता, जिनके कारण प्रस्तुत अनुसन्धान-कार्य की अनेक कठिनाइयाँ दूर हो सकी हैं। श्री शिवचन्द्र ओझा का मैं कृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने प्रकाशन-सम्बन्धी अनेक सुझाओं द्वारा मुझे उत्साहित किया। मेरे छात्र सर्वश्री ओम् प्रकाश तिवारी, हरि नारायण दुबे, रामनिहोर पाण्डे तथा ओम् प्रकाश शर्मा ने आवश्यकतानुसार जो सहयोग प्रदान किया है तदर्थ वे साधुवाद के भाजन हैं। सर्वश्री सुखदेवराज कालिया, मदनलाल जायसवाल, बालकृष्ण दुबे, संकटाप्रसाद दुबे तथा पन्नालाल का भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अल्प समय में ही मुद्रण-कार्य को सम्पन्न करने में मेरी पर्याप्त सहायता की है।

विश्व-सम्भरण-सक्षम सुराधिनायक प्रभविष्णु विष्णु भगवान् से, अन्त में यही प्रार्थना मैं करूँगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ पुराण-जिज्ञासुओं की पिपासा-परिशान्ति में सफल हो।

प्रयाग विश्वविद्यालय
आषाढ़-पूर्णिमा
सम्वत् २०२५

सिद्धेश्वरी नारायण राय

विषय-सूची

— अ —

विषय–प्रवेश : पुराण–परिचय

— आ —

पौराणिक धर्म एवं समाज

विषय-प्रवेश : पुराण-परिचय

पुराण-संरचना का उद्भव एवं विकास

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के कलेवर-निर्माण में साहित्य का स्थान विशिष्ट रहा है । इसके साहित्यिक अवयव में भी जो उपादान अपेक्षित रहे हैं, उनमें पुराण-ग्रन्थों ने अपना पृथक् स्थान बनाया था । पुराण, संकलित ग्रन्थ हैं तथा इन ग्रन्थों के संकलन-कर्त्ताओं को, इनकी संरचना के निमित्त एक विशद तथा पूर्व पौराणिक, विशेषतया वैदिक साहित्य से भिन्न शैली को अपनाना पड़ा था । वैदिक साहित्य या तो प्रार्थना-प्रचुर हैं, या उनमें यज्ञ-विशिष्ट विधानों की बहुलता है अथवा उनकी प्रसिद्धि दार्शनिक अनुभूतियों के समाहार के कारण है, जिनकी बाँकी-झाँकी संहिताओं, ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में; तथा औपनिषदिक रचनाओं में दिखाई देती है । इस कोटि की रचनाओं में जन-मन के अधिक निकट रहने वाला तथा लोकपरक साहित्य की समृद्धि में सहायक वह विशेष तत्त्व अपेक्षित स्थान न प्राप्त कर सका, जिसका सूत्रपात तो आख्यान से होता है, पर गति-निर्देश प्राप्त करने के लिये तथा आवश्यक समुच्चयों द्वारा परिवृत्त होने के उपरान्त पृथक् साहित्य की विशाल काया द्वारा जिसका संवरण होता रहता है ।

आख्यानों के वैदिक स्वरूप को देखने से यह प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में इन्हें विकास के लिये आवश्यक अवकाश नहीं मिल सका था, तथा इनके आधार पर और इन्हीं की भाँति अनिबद्ध आख्यानों का भी समावेश कर एक पृथक् साहित्य का उत्तर काल में उद्भव और विकास नितांत संभव था । 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' के रूप में जो पौराणिक शैली प्रचलित हुई, उसके प्राथमिक प्रयास के परिणाम में अविकसित वैदिक आख्यानों को; तथा इतिवृत्तों को संकलित रूप देने की चेष्टा की गई होगी । ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि इस पौराणिक उक्ति में पुराण शब्द का तात्पर्य इसके मौलिक अर्थ आख्यान से भिन्न नहीं है । प्रस्तुत प्रसंग में इतिहास शब्द का तात्पर्य क्या हो सकता है, इसे अग्रिम अनुच्छेद में स्पष्ट किया जायगा । इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे आख्यानों के समाहार तथा तत्सम अथवा तदुद्भूत आख्यानों और उपाख्यानों के आविष्कार के कारण मौलिक पौराणिक संरचना के विकास में यथेष्ट सहायता मिली होगी । इनकी प्राथमिक विशेषता यह थी कि इन्हें पौराणिक रूप प्रदान करते समय, इनके अतीत और मौलिक तत्त्वों को ग्रहण करने के साथ-साथ नवोदित प्रवृत्तियों और नवीन परिस्थितियों के अनुकूल

इनमें संशोधन और परिवर्द्धन लाने की भी चेष्टा की गई थी। आख्यानों को दृष्टि में रखकर कभी-कभी पौराणिकों की अतिशयोक्तिपूर्ण शैली को आलोचना का विषय बनाया जाता है। विन्टरनित्स ने इस सम्बन्ध में पुरूरवा और उर्वशी के पौराणिक आख्यान की ओर ध्यान आकर्षित किया है[1]। ऋग्वेद के वर्णन में पुरूरवा और उर्वशी के सहवास की अवधि चार वर्ष की मानी गई है। पर, पौराणिक वर्णन में इनके सहवास की अवधि इकसठ हज़ार वर्ष आख्यात है। इस प्रकार की आलोचना करने के पहले पौराणिक शैली की पृष्ठभूमि पर ध्यान देना अधिक आवश्यक लगता है। ऐसे पौराणिक आख्यानों में दो बातें मुख्य रूप से दिखाई देती हैं। एक तो, इनके रूप को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल तथा सामान्य जन-वर्ग की प्रवृत्ति के अनुसार संवारा गया है। दूसरे, पौराणिकों ने आख्यानों का परिकल्पन अथवा प्राचीन आख्यानों का विस्तार देश और काल की मानवोचित सीमा में न रखकर प्रायः 'अलोक-सामान्य' के मापदण्ड से किया है। उनका लक्ष्य था वैदिक उक्ति को विस्तार देना, तथा उसे जन-वर्ग में प्रचलित करना। यह तभी संभव था, जब कि यथातथ्य की अतिशय अपेक्षा न रखकर अतिविस्तार के सूत्र से उसे प्रवर्द्धनशील बनाया जाय। पौराणिक आख्यान, मात्र आख्यान हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि इनके आवरण में कभी-कभी भारतीय संस्कृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व निगूढ मिलते हैं। इस प्रकार आख्यानों के मूल रूप में पौराणिकों द्वारा जहाँ कहीं परिवर्तन किया गया है अथवा उनमें जहाँ कहीं विस्तार लाने की चेष्टा की गई है, वहाँ पौराणिक शैली के वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुये, गर्हणापरक आलोचना के लिये अवकाश नहीं दिखाई देता है।

वैदिक वाङ्मय सभी के लिये सुगम नहीं था, अतएव वेदोक्ति को आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत करने के पीछे अभिप्राय था; वेद से अपरिचित लोक-समुदाय के ज्ञान को गुरुतर बनाना। जिस युग-विशेष के साथ पुराण-संरचना का आधान किया गया, उसकी मान्यताओं और आदर्शों पर ध्यान दिया जाय, तथा इस बात का भी स्मरण रखा जाय कि साहित्य का सृजन कभी-कभी लेखक अथवा संकलन-कर्त्ता की उदात्त अथवा संकीर्ण प्रवृत्ति और भावनाओं के विपरीत जन-वर्ग की आवश्यकताओं की प्रेरणा से होता है, तो विन्टरनित्स का यह कथन असंगत सा लगता है कि पुराण-संकलन का प्रवर्त्तन एवं अनुवर्त्तन अल्पशिक्षित पुरोहितों द्वारा हुआ था[2]।

---

१. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ५३०

२. वही, पृ० ५२८

पौराणिक और वैदिक शैलियों की तुलना करते समय यह नहीं भूलना चाहिये कि परिवर्तित परिस्थितियों में पुराण-संरचना का कार्य वेदों की अपेक्षा प्रायः दुष्कर था। पौराणिकों का मूल उद्देश्य अपने ग्रन्थों में उच्च स्तर के साहित्य का परिचय देना नहीं था। इसके विपरीत उन्हें उच्च कोटि के धर्ममूलक और दर्शनमूलक तत्त्वों को सरल एवं सुग्राह्य शैली में उतारना था। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की शैली को अपनाने के कारण जनसाधारण और वेदोक्ति का मध्यवर्ती व्यवधान एक विशेष सीमा तक दूर हुआ होगा तथा परिणामतः पुराण-संरचना को उत्तरोत्तर विकसित होने के लिये सुयोग भी मिला होगा।

पुराण-संरचना का सूत्रपात उक्त आख्यानों के समावेश से हुआ। यह निश्चित् है कि इन आख्यानों में उस भारतीय प्रवृत्ति का सन्निधान है, जो जार्ज डब्ल्यू काक्स की समीक्षा के अनुसार सदुद्देश्यपूर्ण तथा वैज्ञानिक गवेषणा की अपेक्षा रखता है[३]। प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय यह है कि पौराणिक आख्यानों को किस प्रकार की परिभाषा-परिधि में रखा जाय? इस सन्दर्भ में पौराणिक आख्यानों की विशद एवं गंभीर व्याख्या करते हुये आचार्य बलदेव उपाध्याय ने श्रीधरीय भाष्य के एक श्लोक का उल्लेख किया है। इस श्लोक को प्राचीन माना गया है। इसके अनुसार आख्यान 'दृष्टार्थकथन' को कहते हैं। आचार्य उपाध्याय की व्याख्या के अनुसार इस श्लोक के आलोक में आख्यान का तात्पर्य ऐसे अर्थ के प्रकाशन से है, 'जिसका साक्षात्कार किया गया हो' और 'जो अनुभूत है'[४]। प्रस्तुत विवेचन के प्रसंग में आख्यान का आशय 'जो अनुभूत है' अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। इससे व्यक्त हो जाता है कि जिन आख्यानों का संकलन पौराणिकों ने किया था, वे निरर्थक एवं निरुद्देश्य नहीं थे। वे इनके अनुभव के परिणाम थे, तथा इनका व्यवहार एवं प्रयोग सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति की अनुकूलता के लिये किया जा सकता था।

स्मरणीय है कि आख्यानों की लोकप्रियता इतनी अधिक थी तथा वैदिक काल से ही वे इतने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे कि पुराणों का अंग बनने के बाद भी उन्हें स्वतंत्र और पृथक् मानने की प्रवृत्ति का सर्वथा तिरोभाव नहीं हुआ था। इस प्रसंग में श्री आनंदस्वरूप गुप्त शास्त्री ने मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें स्वाध्याय (मेधातिथि की व्याख्या के अनुसार वेद), धर्मशास्त्र,

३. दि माइथालजी ऑफ़ दि आर्यन नेशंस, पृ० १३

४. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराण-विमर्श, पृ० ६६-६७

आख्यान, इतिहास, पुराण और खिल (मेधातिथि के अनुसार श्रीसूक्त) का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है। इन्हें श्राद्ध के अवसर पर पितरों के लिये श्रवणीय बताया गया है। श्री शास्त्री की समीक्षा[५] के अनुसार इस श्लोक से आख्यान और पुराण की पृथकता स्पष्ट हो जाती है, जबकि पुराणों और पुराणेतर साक्ष्यों द्वारा आख्यान का पुराणांग होना भी निश्चित है। यहाँ इतना और अधिक कह सकते हैं कि उपलब्ध पुराणों में ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं, जो प्रारम्भ में पुराणों के अंग नहीं प्रतीत होते। पर, आगे चलकर इन्हें प्रामाणिकता एवं प्रचार के लिये पुराणों का ही अंग स्वीकार किया गया। कभी-कभी एक ही पुराण में ऐसे आख्यानों के संक्षिप्त और विस्तृत, दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं। दोनों के विवरण बहुधा दो पृथक् प्रसंगों में मिलते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध के आगामी अनुच्छेदों में इस कोटि के दो आख्यानों का विश्लेषण किया जायगा—(१) जामदग्न्य-चरित, तथा (२) भरताख्यान। इन दोनों का विवरण क्रमशः ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराणों में दो परस्पर भिन्न प्रसंगों में मिलता है। यदि एक प्रसंग में इनका आयाम नितान्त लघु है, तो दूसरे में विस्तृत। जहाँ इनका आकार विस्तृत है, ये प्रसंग से इतने दूर हैं कि इनकी पृथकता स्वतः सिद्ध हो जाती है[६]। इसमें संदेह नहीं कि जन-वर्ग में इनकी प्रसिद्धि पुराणांग बनने के पश्चात् भी पृथक् रूप में रही होगी। वस्तुतः ऐसे मौलिक एवं पुराण-पृथक् आख्यानों का विशिष्ट पुराणों के संस्करण के साथ प्रतिसंस्करण प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पुराण-संकलन की प्रक्रिया में आख्यान, एक महत्त्वपूर्ण उपादान था। संकलित होने के पूर्व पुराण, आख्यान का ही पर्याय था। इसकी सत्ता पृथक् नहीं थी, प्रत्युत वेद का ही यह एक अंग था। यद्यपि आख्यानों के संकलन से, पौराणिक संरचना को गतिशील होने का सुयोग मिला था, तथापि मात्र आख्यानों के समावेश से पृथक् साहित्य का विकास संभव नहीं था। अतएव पौराणिकों ने उस प्रवृत्ति-विशेष और शैली-विशेष को अपनाया, जिसका स्वरूप था संरचना का विस्तार तथा जिसका लक्ष्य था यथासंभव अधिक से अधिक विषयों का समावेश करना। इनमें अधिकांश विषय, पूर्व पौराणिक काल में आख्यान अथवा

---

५. पुराण-पत्रिका, भाग ६, अंक २, पृ० ४५८

६. प्रस्तुत विवेचन के लिये द्रष्टव्य, लेखक के प्रकाशित निबंध, वही, भाग ५, अंक २, पृष्ठांक ३०५-३१६ तथा भाग ८, अंक २, पृष्ठांक २६६-३०६

पुराण के सहभावी थे। इनकी सत्ता भी पृथक् नहीं थी तथा इनका दृश्यमान स्वरूप केवल निर्देश के रूप में वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र प्रतिष्ठित था। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण विषयों में इतिहास का स्थान विशिष्ट था। वैदिक उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि पुराण और इतिहास सहभावी माने जाते थे, पर इनसे यह नहीं स्पष्ट हो पाता है कि इतिहास शब्द से इनका मन्तव्य क्या है? एक मत के अनुसार वैदिक संहिताओं की ही भाँति, पुराण और इतिहास द्वारा निर्मित पुराणवेद और इतिहासवेद के नाम से पृथक् ग्रन्थ विद्यमान थे[७]। पर, इस मत में अनुमान का ही पुट अधिक है, इसे सिद्ध करने के लिये साक्ष्यों का अभाव दिखाई देता है। इतिहासवेद अथवा पुराणवेद से पृथक् ग्रन्थों की ध्वनि नहीं निकलती। इनसे केवल यह प्रतीत होता है कि इतिहास और पुराण अध्ययन के विषय माने जाते थे[८]। हाल ही में उक्त मत को श्री शास्त्री ने पुनरावृत्त करने की चेष्टा की है। इन्होंने हमारा ध्यान गोपथ ब्राह्मण के उस स्थल की ओर आकर्षित किया है, जिसमें सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद का पृथक् उल्लेख करते हुये इनका संबंध भिन्न-भिन्न दिशाओं से माना गया है। इसी विवरण में इस बात का भी उल्लेख है कि इन्हीं पाँचो वेदों से पाँच महा-व्याहृतियों का उद्भव हुआ है। ये पाँच महा-व्याहृतियाँ हैं, वृधत्, करत्, गुहत्, महत् और तत्। श्री शास्त्री की समीक्षा के अनुसार पाँच पृथक् दिशाओं से संबंधित होने के कारण तथा पाँच पृथक् महा-व्याहृतियों का स्रोत होने के कारण इन पाँचों को पृथक् ग्रन्थ मानना समीचीन प्रतीत होता है[९]। इसमें संदेह नहीं कि गोपथ ब्राह्मण का उक्त विवरण इतिहास, पुराण आदि की लोकप्रियता पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। पर, यहाँ वेद शब्द का अर्थ संकलन है अथवा विद्या, यह स्पष्ट नहीं है। अधिक संभावना यही है कि यहाँ वेद का अर्थ विद्या है। स्मरणीय है कि तथाकथित इतिहासवेद या पुराणवेद का अस्तित्व साक्ष्यों द्वारा भले ही समर्थित न हो, पर यह तो संगत लगता ही है कि पुराण और इतिहास एक दूसरे से असंपृक्त माने जाते थे, तथा दोनों को समान स्तर पर आसीन किया जाता था। छान्दोग्य उपनिषद्[१०] के साक्ष्य से यह संदेह-रहित हो जाता है कि

---

७. के० एफ़ गेल्डनर के अनुसार; इनके मत के उद्धरण और आलोचना के लिये द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ३१३, पाद टिप्पणी ४

८. विन्टरनित्स, वही, पृ० ३१३

९. पुराण-पत्रिका, भाग ६, अंक २, पृ० ४५४

१०. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।१।२

इतिहास और पुराण पृथक् ग्रन्थ न होते हुये भी, विशिष्ट विषय अवश्य थे और इस दृष्टि से इनके समवेत रूप को पंचमवेद की संज्ञा दी जाती थी। पर, वास्तविक वेदों और वेदांगों का विषय और काल इतना व्यापक तथा विस्तृत था कि इतिहास और पुराण के स्वरूप-सुनिश्चिय तथा आकार-आयाम का प्रश्न भविष्यत्कालीन परिस्थितियों की इयत्ता पर आश्रित था। प्रस्तुत संदर्भ में पौराणिक तथा पुराणेतर साक्ष्यों की समीक्षा करने के उपरान्त आचार्य उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल में इतिहास तथा पुराण की विभाजन-रेखा बड़ी धूमिल थी और धीरे-धीरे आगे चलकर दोनों अभिधानों का वैशिष्ट्य निश्चित् कर दिया गया[११]।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त इतिहास और पुराण शब्दों में विभेद, किस आधार पर अथवा किन विशेषताओं के कारण स्थापित हो सकता था। इसका उत्तर यही है कि इनकी भिन्नता के विषय में न तो वैदिक ग्रन्थ और न इनकी आलोचना करने वाले उत्तरकालीन भाष्यकार ही स्पष्ट मत देते हैं। इस संदर्भ में शतपथ ब्राह्मण की समीक्षा में व्यक्त किये गये शंकराचार्य और सायणाचार्य के भाष्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के स्थलों में यहाँ उर्वशी एवं पुरूरवा तथा सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण मिलता है। शंकराचार्य की समीक्षा के अनुसार पहले को इतिहास का विषय मान सकते हैं, तथा दूसरे को पुराण का प्रतिपाद्य माना जा सकता है। पर, सायण ने पहले को पुराण तथा दूसरे को इतिहास का विवेच्य विषय माना है[१२]। इन दोनों में कौन सा मत सही है, ऐसी विवेचना निरर्थक लगती है। पर, यह कह सकते हैं कि शंकराचार्य का भाष्य वस्तु-स्थिति के अधिक निकट है। सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण पुराण का प्रसिद्ध विषय था। इसे पुराण का सुनिर्धारित प्रथम लक्षण माना जाता था। अतएव पुराण-वैशिष्ट्य होने के कारण इसे इतिहास के अन्तर्गत नहीं कर सकते हैं। उर्वशी और पुरूरवा का विवरण कथा-प्रधान है, अतएव इसे अधिक से अधिक आख्यान माना जा सकता है। इतिहास शब्द की वास्तविक परिभाषा के अनुसार आख्यान, इसके अन्तर्गत नहीं हो सकता। पर, प्राचीन ग्रन्थों में अनेकत्र आख्यान और इतिहास में एकता स्थापित की गई है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि आख्यान की प्रतिष्ठा पुराणांग के रूप में थी। अतएव पुराण और इतिहास का भेद स्पष्ट नहीं हो पाता है। अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने जिसे पुराण

---

११. पुराण-विमर्श, पृ० ६

१२. पुराण-पत्रिका, भाग ६, अंक २, पृ० ४५३-४५४

के साथ संयुक्त कर इतिवृत्त कहा है,[13] वह इन ग्रन्थों में वर्णित इतिहास शब्द का पर्याय प्रतीत होता है। इस समीक्षा के आधार पर निष्कर्ष यही निकलता है कि घटना-सापेक्ष होने के कारण आख्यान को इतिहास मानते थे, पर पुराण से इसका पार्थक्य इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुराण में आख्यान का समाहार करने की परंपरा प्रारंभ ही में प्रादुर्भूत हो चुकी थी। यह परंपरा बाद में भी चलती रही। ऐसा भी कहा जाता है कि प्राचीन काल में ऐतिहासिक और पौराणिक संज्ञा धारण करने वाले कथावाचकों का संप्रदाय था[14]। पर, इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये दोनों परस्पर पृथक् थ अथवा एक ही को प्रकारांतर से दो अभिधानों द्वारा व्यक्त किया जाता था। ऐसा अनुमान भी है कि उत्तर वैदिक काल में इतिहास और पुराण प्रचलित हो चुके थे, तथा पुराण की अपेक्षा इतिहास का स्थान गुरुतर था[15]। पर, इस कथन का आधारभूत साक्ष्य छान्दोग्य उपनिषद्[16] की मात्र एक पंक्ति है, जिसके समस्त पद 'इतिहास-पुराण' में इतिहास का उल्लेख पहले तथा पुराण का बाद में मिलता है। अतएव इसे एक निश्चयात्मक और गंभीर निष्कर्ष के लिये पर्याप्त नहीं माना जा सकता है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इतिहास का यहाँ संभावित तात्पर्य वही है, जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'इतिवृत्त' का है, तथा जिसे कौटिल्य ने अध्ययन के विषयों के अंतर्गत रखा है। पुराणों की संरचना में जिस शैली का अनुसरण किया गया, उसका प्रकार ही कुछ ऐसा था कि इतिहास और पुराण में स्पष्ट विभेद की संभावना नहीं थी। इनके सकलनकर्त्ताओं ने इस शब्द के व्यवहार में स्पष्टता और विशिष्टता-बोधक पद्धति के स्थान पर इतनी स्वच्छंद शैली को अपनाया है कि इन ग्रंथों में इतिहास शब्द सार्थक ही न हो सका है। इनमें इसका अर्थ कहीं सामान्य कथन है, कहीं विशेष कथन है, कहीं सदुक्ति है, कहीं प्रवाद है, कहीं नृपाख्यान और देवताख्यान है; तथा कहीं केवल आख्यान है[17]। इस प्रकार पुराण के संवर्त्तन-काल में इतिहास शब्द का निश्चित् अर्थ नहीं हो सका। वायु और ब्रह्माण्ड पुराण अपने आप को इतिहास

---

१३. अर्थशास्त्र, ५।१३-१४

१४. विन्टरनित्स, वही, पृ० ३१३

१५. पुसाल्कर, स्टडीज़ इन दि एपिक्स ऐण्ड पुराणाज़, पृ० ४४-४५

१६. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।१।२

१७. द्रष्टव्य, पार्जीटर, एंशेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० २४

घोषित करते हैं। वायु पुराण को दोनों की कोटि में रखा गया है[१८]। कुछ पुराणों ने तो अनेक काल्पनिक और प्रक्षिप्त कथाओं को भी इतिहास-पुराण की संज्ञा दी है[१९]। प्रस्तुत विवेचन से यह प्रायः व्यक्त हो जाता है कि इतिहास के समावेश के कारण पुराण-संरचना को गति-विस्तार का अवकाश अवश्य मिला, और यदि इतिहास शब्द की पृथक् सत्ता रही भी होगी तो वह पौराणिकों द्वारा विहित शैली के कारण अपने संभावित मूल रूप में स्पष्ट नहीं हो सकी।

अन्य महत्त्वपूर्ण विषय, जिसके समावेश के कारण पुराण-संरचना को सुविस्तार का अवसर प्राप्त हुआ, कल्पजोक्ति, कल्पशुद्धि और कल्प के नामों से प्रसिद्ध माना जाता है। ये तीनों ही शब्द पुराणों में समान अर्थ को द्योतित करते हैं। आचार्य उपाध्याय ने कल्पजोक्ति का यहाँ व्युत्पत्तिपरक अर्थ माना है। अतएव इनकी व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है: भिन्न-भिन्न कल्पों (समय विशेष) में उत्पन्न होने वाले विषयों या पदार्थों का कथन या विवरण[२०]। प्रतीत होता है कि जिस विशिष्ट अर्थ में पौराणिकों ने कल्प शब्द को ग्रहण किया, वह इसके मूल और प्राथमिक अर्थ से भिन्न था। सामान्यतया कल्प शब्द की प्रतिष्ठा वेदांगों में मानी जाती थी। इसका ज्ञान वैदिक विधानों की व्यवहारशीलता के लिये उपयोगी समझा जाता था। कल्प के व्युत्पत्तिपरक अर्थ के विषय में सायण का मत है कि वैदिक यागों के आचार-परिकल्पन में साधनभूत होने के कारण यह संज्ञा दी जाती है। इस शब्द के स्वरूप और व्यवहार में प्राचीनता थी, कदाचित् पौराणिकों ने इसी दृष्टि से इसे अपनी संरचना का विषय बनाया। पर, इतना विवादरहित है कि इस शब्द का तात्पर्य निश्चित नहीं था; तथा इसके अनेक अर्थ हो सकते थे। प्राचीन काल से लेकर अब तक इसके पौराणिक मन्तव्य पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इनमें कतिपय मतों का स्पष्टीकरण यहाँ किया जा सकता है। पुराणों के प्रसिद्ध व्याख्याकार श्रीधर स्वामी ने कल्प और श्राद्ध-कल्प में एकता स्थापित करने की चेष्टा की है[२१]। पर, पुराणों में श्राद्ध-विषयक स्थलों का समावेश पौराणिक संरचना के उत्तरकालीन स्तरों पर हुआ था[२२]। इसके विपरीत कल्पजोक्ति इसका प्राचीन वर्ण्य-विषय है।

---

१८. वायु पु०, १०३।४८, ५१; ब्रह्माण्ड पु०, ४।४।४७, ५०
१९. उदाहरणार्थ, द्रष्टव्य, मत्स्य पु०, ७२।६; पद्म पु०, ५।३२।९-१०
२०. पुराण-विमर्श, पृ० ६९-७०
२१. वही, पृ० ६९
२२. हाज़रा, वही, पृ० ६; पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृ० ४५

अतएव श्रीधरीय व्याख्या को यहाँ अधिक मान्यता नहीं दी जा सकती है। इस शब्द की व्याख्या पं० मधुसूदन ओझा तथा महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी किया है। इनके अनुसार कल्प द्वारा पौराणिकों का मन्तव्य धर्मशास्त्र के समग्र विषय से है[२३]। कल्प शब्द से संबंधित इन दोनों विद्वानों के विवेचन की व्याख्या करते हुये आचार्य उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराण इस शब्द के अर्थ के विषय में मौन हैं, अतः कल्प शब्द के पौराणिक तात्पर्य के विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता है[२४]। इस सन्दर्भ में पार्जीटर ने कल्प शब्द के सामान्य अर्थ समय-चक्र पर बल दिया है। इनके अनुसार पुराणों में कल्प शब्द का व्यवहार प्रस्तुत अर्थ में कहीं-कहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने पुराकल्प, पुरातन कल्प और पुराकल्पविद् जैसे पौराणिक शब्दों के आधार पर यह भी माना है कि कहीं-कहीं पुराणों में इस शब्द का तात्पर्य प्राचीन कथा और प्राचीन कथाओं के ज्ञाता से भी लिया जा सकता है[२५]। यद्यपि इन निष्कर्षों के विरुद्ध किसी प्रकार की आपत्ति नहीं दिखाई देती है, तथापि इतना कह सकते हैं कि बहुधा पौराणिकों ने कल्प शब्द का प्रयोग अपनी संरचना में प्राचीनता का आवरण लाने के लिये किया है। नवोदित सामाजिक मान्यताओं और धार्मिक प्रचलनों का पुराणों में समावेश करने के पीछे भी कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति क्रियाशील थी। इनका समाहार करते समय इनके साथ-साथ कल्प, पुरातन कल्प आदि शब्दों का व्यवहार इनकी प्रामाणिकता को सुदृढ़ सिद्ध करने में सहायक ही रहा होगा। इसकी व्याख्या इतर प्रकार से भी कर सकते हैं। वस्तुतः पौराणिक कल्प और कल्पजोक्ति एक ही तात्पर्य के बोधक हैं। अथवा ऐसे कह सकते हैं कि कल्प, कल्पजोक्ति का संक्षिप्त रूप है। अतएव दोनों शब्दों से पौराणिक स्थलों की प्राचीनता का बोध होता है। इस दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि कल्प और कल्पजोक्ति की व्यंजना, पुराण शब्द के अनुकूल थी। इस बात की संभावना भी की जा सकती है कि पौराणिकों ने इतिहास की ही भाँति कल्प शब्द को भी अर्थ-विशेष में अन्तर्भावित नहीं होने दिया। इनकी संरचना में न तो इतिहास और न कल्प शब्द ही, अपने मूल अथवा वास्तविक अर्थ का बोध कराते हैं। पुराण-संरचना का प्रारंभ आख्यानात्मक शैली के आरोपण

---

२३. द्रष्टव्य, पुराणोत्पत्ति-प्रसंग, पृ० ३१ तथा पुराण पत्रिका, अंक २, पृ० ११०

२४. पुराण-विमर्श, पृ० ६६

२५. पार्जीटर, वही, पृ० ३३

से हुआ था तथा इसी के अनुरूप इतिहास और कल्प का समाहार भी इसमें किया गया था।

गाथा-समावेश द्वारा भी पुराण-संरचना को पर्याप्त प्रेरणा मिली। जिस शैली-विशेष से पुराणकारों ने गाथाओं का समावेश किया, तथा जिस विधि से गाथाओं का समावेश वैदिक ग्रन्थों में किया गया था; दोनों में समता का तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। यह कथन ब्राह्मण-ग्रन्थों के संबंध में अधिक यथार्थ प्रतीत होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य-प्राचुर्य के कारण विशिष्ट माने जाते हैं। इनमें कहीं-कहीं आख्यानों का निरूपण किया गया है। इन्हीं आख्यानों के बीच में प्रामाणिकता का बोध कराने वाली पद्य-बद्ध गाथाएँ प्राप्त होती हैं[२६]। पुराण प्रायः पद्य-बद्ध रचनाएँ हैं। पर, इनमें गाथाओं के नाम से जो श्लोक मिलते हैं, उनमें पुराणों के प्रासंगिक पद्यों की अपेक्षा भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ये गाथाएँ पौराणिक आख्यान इत्यादि वर्णनों की प्रामाणिकता पुष्ट करने के लिये निरूपित की गई हैं। इस दृष्टि से यह कह सकते हैं कि गाथा-निरूपण पौराणिकों की मौलिक शैली नहीं थी, प्रत्युत उन्हें वैदिक संरचना-शैली की प्रेरणा में प्राप्त हुई थी। गाथाओं की दूसरी विशेषता यह है कि इनकी प्रामाणिकता और इनके प्रचलन का पता तो चल जाता है, पर इनके रचयिता अथवा स्रोत-ग्रन्थ का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। कभी-कभी एक ही गाथा कई पुराणों के अतिरिक्त बिना किसी वाक्य-भेद और शब्द-भेद के साथ महाभारत में भी मिलती है[२७]। इससे प्रतीत होता है कि संकलित होने के पूर्व गाथाएँ जन-मानस में मौखिक रूप में वर्त्तमान थीं। इन गाथाओं के भाषा और शब्द संबंधी सौष्ठव के आधार पर यह भी कह सकते हैं कि पुराणों के पूर्व संकलित स्तर की भाषा में अथवा उस भाषा में जिसके साथ पौराणिक कलेवर का प्राथमिक स्वरूप निर्मित हुआ था, किसी प्रकार का दोष नहीं था। अतएव पार्जीटर का यह निष्कर्ष कि प्रारंभ में पुराणों की भाषा अविकसित अथवा प्राकृत थी, इस प्रसंग में

२६. उदाहरणार्थ, द्रष्टव्य, ऐतरेय ब्राह्मण, ८।१३।१-; इसके आख्यानों की समीक्षा के लिये द्रष्टव्य विन्टरनित्स, वही, पृ० २११, ३७७

२७. उदाहरणार्थ, वायु पु०, १०५।१० में जिस गाथा का उल्लेख है, वही गाथा विष्णु पु०, ३।१६।२० तथा महाभारत, वनपर्व ८४।९७ में भी मिलती है। इस गाथा का स्वरूप वक्ष्यमाण प्रकार का है—

एष्टव्या बहवो पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।

संगत नहीं प्रतीत होता है। गाथाओं के स्वरूप के विषय में विन्टरनित्स तथा आचार्य उपाध्याय का अनुमान है कि इनके माध्यम से किसी महान् व्यक्ति के वीरोचित क्रिया-कलाप को व्यक्त किया जाता था तथा कभी-कभी इनके लघुकाय में किसी वृहत् इतिहास अथवा आख्यान को समाहृत किया जाता था[२८]। गाथाओं के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह दिखाई देती है कि अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से पौराणिकों ने इनका उद्धरण उसी रूप में दिया है जैसा इतिहास का। इतिहास शब्द के उद्धरण के प्रसंग में पौराणिक शैली इस प्रकार है—'अत्राप्युदाहरन्ति इतिहासं पुरातनम्'। गाथा-समाहार की शैली भी प्रायः ऐसे ही है—'अत्र गाथा महाराज्ञा पुरा गीता ययातिना'। इतिहास की अपेक्षा गाथा की विशिष्टता केवल इतनी थी कि इसे सुभाषित पद्य के रूप की झलक पहले ही देते थे। स्मरणीय है कि गाथा का समावेश महाभारत में भी किया गया था, पर ऐसा प्रतीत होता है कि पुराण-परंपरा में इसका समावेश महाभारत के पूर्व हुआ था। उदाहरणार्थ, महाभारत में एक ऐसी गाथा का उल्लेख है, जिसका आधारभूत इस ग्रन्थ में वायु पुराण को माना गया है[२९]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा को निश्चय के साथ पुराण का अभिन्न अंग मानते थे तथा ऐसी स्थिति का प्रादुर्भाव पुराण-संरचना के प्राथमिक स्तरों ही पर हो चुका था।

पुराण-संरचना की जो विशिष्ट शैली प्रारंभ में अपनाई गई, उसका मूलभूत लक्ष्य था उक्त विषयों को संहत रूप प्रदान करना। ये विषय विकसित अथवा अर्द्धविकसित रूप में अंशतः वैदिक वाङ्मय में, पर अधिकतर मौखिक रूप में, विकीर्ण स्थिति में पड़े हुये थे। पौराणिकों ने लेखक, रचयिता और कवि की दृष्टि से तो कम, पर संग्रहीता और संकलनकर्त्ता की दृष्टि से अधिक, इन्हें व्यवस्थित रूप देना चाहा। इसी संग्रहीत, संकलित और व्यवस्थित पद्धति का परिचय प्राथमिक पुराणों के एक श्लोक द्वारा प्राप्त होता है[३०]। इस श्लोक के अनुसार 'पुराणार्थ-विशारद' ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पों द्वारा पुराण-संहिता को प्रकाश में लाया। पूर्व अनुच्छेदों में उपाख्यान शब्द के स्वरूप और तात्पर्य पर विचार नहीं किया जा सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में उपाख्यान,

२८. विन्टरनित्स, वही, पृ० ३११; उपाध्याय, वही, पृ० ६६

२९. महाभारत, ३।१९१।१६; द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ५००

३०. विष्णु पु०, ३।६।१६; वायु पु०, ६०।२१; ब्रह्माण्ड पु०, २।३४।२१; द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० २

आख्यान के ही अंगभूत था। आख्यान और उपाख्यान में वही संबंध संभव लगता है, जो संबंध कथा और अवांतर कथा में है। नवीन संयोजनों के कारण संवृद्ध होने पर उपाख्यान की स्वतंत्र सत्ता सहज ही मानी जाती होगी। प्रायः प्रश्न किया जाता है कि उक्त श्लोक में उल्लिखित पुराण-संहिता का तात्पर्य आखिर है किस विशेष पुराण-ग्रन्थ से ? हाल ही में इस पुराने प्रश्न को आचार्य उपाध्याय ने सुलझाने की फिर से चेष्टा की है। इनका निष्कर्ष है कि 'पुराण-संहिता' का तात्पर्य यहाँ उस मूल पुराण-संहिता से है जिसके रूपान्तर की प्रतिष्ठा उपलब्ध वायु पुराण में है[३१]। इनके बहुत पूर्व जैक्सन[३२] तथा पार्जीटर[३३] ने भी इस प्रश्न पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था। वैदिक तथा पौराणिक ग्रन्थों में कहीं-कहीं एकवचन में प्रयुक्त 'पुराण' शब्द के आधार पर इनका निष्कर्ष था कि प्रारंभ में कोई मूल पुराण-संहिता रही होगी, जिसके उपलब्ध पुराण-ग्रन्थ उत्तरकालीन परिकल्पन हैं। इन दोनों विद्वानों के प्रस्तुत निष्कर्ष को प्रायः नहीं मानते हैं। वस्तुतः पुराण शब्द का एकवचन में प्रयोग, कहने की एक शैली है। जैसा कि पुसाल्कर ने कहा है; मूल पुराण-संहिता का अस्तित्व ठीक उसी प्रकार असिद्ध लगता है, जिस प्रकार कि मूल वेदसंहिता का[३४]। इस प्रसंग में हाजरा भी समान निष्कर्ष पर पहुँचे हैं[३५]। इनके अनुसार मूल पुराण-संहिता के अस्तित्व की कल्पना नितांत संदिग्ध है। इसमें संदेह नहीं कि इन विद्वानों के निष्कर्ष सबल तथा साक्ष्य-समर्थित हैं। फिर भी यह पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सका है कि 'पुराण-संहिता' का संभावित तात्पर्य क्या माना जा सकता है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि पृथक् ग्रन्थों के रूप में पुराणों के आविर्भाव के साथ-साथ उनकी परिभाषा अथवा उनकी पाँच विशेषताओं को द्योतित करने वाले लक्षण कुछ और ही हैं तथा इन्हें अनेक पुराण-ग्रन्थों ने परिचर्चा का विषय बनाया है। यह संभव है कि 'पुराण-संहिता' से तात्पर्य किसी विशेष ग्रन्थ से नहीं

---

३१. उपाध्याय, वही, पृ० ७०

३२. जर्नल ऑफ़ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, सेन्टेनरी नं०, पृष्ठांक ६७-७७

३३. पार्जीटर, वही, पृष्ठांक २२-२३

३४. पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृ० ५२

३५. हाजरा, वही, पृ० ५

है, अपितु संहिताकरण की शैली से है। इससे ध्वनि केवल यही निकलती है कि जिस संहिताकरण की शैली को वैदिकों ने वेद-संरचना का विषय बनाया था, उसी विशेष शैली को परिवर्त्तित परिस्थितियों में जब कि नई मान्यताओं और नये आदर्शों का आविर्भाव सहज रूप में हो चुका था; पौराणिकों ने भी अपनाया। इससे यह भी भली-भाँति व्यक्त हो जाता है कि पुराण-संरचना का सूत्रपात ही संहिताकरण की शैली से हुआ था और आगे चलकर भी इसे पौराणिकों ने परंपरा के रूप में मान लिया था, जिसके परिणाम में प्रारंभिक पुराणों का प्रतिसंस्करण तथा नवीन पुराणों का संस्करण होता रहा है। वस्तुतः आख्यान आदि चारों विषय जिनका वर्णन प्राथमिक पुराणों में मिलता है, वे पूर्व पौराणिक विषय हैं, जो असंहत और अव्यवस्थित रूप में विद्यमान थे। पुराण-साहित्य का पुराणत्व तभी सार्थक हो सकता था, जब कि नवीन विषयों के रूप और प्रतिरूप तैयार करने में प्राचीन विषयों के आवरण में ही ऐसा प्रयास किया जाय। अतएव प्राथमिक पुराणों में वर्णित 'पुराण-संहिता' से तात्पर्य पौराणिक शैली से है, किसी विशेष ग्रन्थ से नहीं।

आख्यानादि चतुर्विध विषयों को संहत स्वरूप देने के उपरांत भी पुराणों को एक निश्चित् साहित्य का रूप देने का प्रश्न बना रहा। ये चारों विषय पुराण की प्राचीनता द्योतित करने में केवल समर्थ थे, विशिष्ट साहित्य का स्वरूप प्रदान करने के लिये सहिताकरण की शैली को और आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। पुराण को वैशिष्य तभी प्राप्त हो सकता था, जब कि उसके स्वरूप को लक्षणों द्वारा व्यक्त किया जाय। ऐसी ही स्थिति में पुराण-पंचलक्षण का प्रादुर्भाव हुआ। ये पाँच लक्षण इस प्रकार है— १. सर्ग, २. प्रतिसर्ग, ३. वंश, ४. मन्वन्तर तथा, ५. वंश्यानुचरित। इन पाचों लक्षणों की विशद व्याख्या भागवत की पंक्तियों में उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में सृष्टि के प्रादुर्भाव के क्रम को संक्षेप में बताते हुए, इस सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया को सर्ग की संज्ञा दी गई है। प्रतिसर्ग के लिये पुराणों में प्रतिसंचर और संस्था पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं। भागवत ने चार प्रकार के प्रलयों की चर्चा की है— नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यंतिक। इसे संस्था (प्रतिसर्ग) का विषय बताया गया है। वंश का तात्पर्य भूत, वर्त्तमान के उन राजाओं से है, जिनका संबंध ब्रह्म से है। इस कोटि में देव-वंश तथा ऋषि-वंश का वर्णन मिलता है। मन्वन्तर से काल-चक्र का बोध होता है। यह वस्तुतः काल-गणना का पौराणिक आधारभूत है। प्रत्येक मन्वन्तर का सम्बन्ध मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि तथा ईश्वर के अंशावतारों से माना जाता था। इस कोटि के स्थलों

में मानवीय राजाओं का वर्णन मिलता है[३६]। ऐसा विचार है कि महर्षियों के चरित की अपेक्षा पुराणों में राजाओं का ही वर्णन अधिक मिलता है[३७]।

यहाँ उल्लेखनीय है कि पुराण-पंचलक्षण की परिभाषा अमरकोश में भी प्राप्त होती है। पर, इस ग्रन्थ में इनकी व्याख्या नहीं दी हुई है। इस आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पंचलक्षण को सार्वभौमिक लोक-प्रियता प्राप्त हुई होगी, अन्यथा अमरकोश में इस शब्द का व्याख्याविहीन परिभाषिक प्रयोग नहीं रहता[३८]। इस निष्कर्ष के साथ इतना और जोड़ा जा सकता है कि अमरकोश के काल (चतुर्थ श० ई०) तक जितने पुराणों का संस्करण हुआ था, उनमें पाँचों लक्षणों के अनुसार ही विषयों का विभाजन हुआ होगा। इससे यह भी द्योतित होता है कि प्रमुख पुराणों का प्राथमिक संस्करण गुप्तकाल तक सम्पन्न हो चुका होगा। पार्जीटर की व्याख्या के अनुसार ये विषय पुराणों के प्राचीनतम् वर्ण्य-विषय माने जा सकते हैं[३९]। इनके आविष्कार का काल पुराणों के वर्तमान रूप से बहुत पहले का माना जा सकता है। यहाँ सहज रूप में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या पंच-लक्षण, पुराण-शैली की विशेषता थी अथवा पुराणों के प्राथमिक रूप में इनके पाँच विषय निश्चित् हो चुके थे। स्मरणीय है कि पुराण के लक्षणों की पाँच संख्या तो निश्चित् हो चुकी थी। पर, इनके बारे में विशेषतया पाँचवें लक्षण के संबंध में मतैक्य नहीं था। एक प्राचीन पौराणिक विवरण के अनुसार पुराण का पाँचवाँ लक्षण भूमि-संस्थान का निरूपण है[४०]। इससे प्रकट होता है कि भूमि-संस्थान से सम्बन्धित वणन भी उतने ही प्राचीन हैं जितने कि सर्ग आदि के वर्णन माने जाते है। अर्थात् पुराणों के प्राथमिक रूप में पाँच विषयों के अतिरिक्त भी वर्णन थे, पर प्रमुखता पाँच को ही दी जाती थी। उससे यह भी प्रतीत होता है कि 'पंचलक्षण' पुराण-विषय का मापदंड नहीं था। उसके आधार पर पुराणों का केवल वैशिष्ट्य ही द्योतित होता था। इससे पुराण-संरचना की शैली व्यक्त होती थी न कि पुराण-विषय का सीमा-निर्धारण।

प्रस्तुत प्रसंग में पण्डित राजेश्वर शास्त्री द्राविड ने पुराण-पंचलक्षण की एक अतिरिक्त परिभाषा की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यह परिभाषा पंचलक्षण

---

३६. भागवत, १२।७।११-१६
३७. द्रष्टव्य, उपाध्याय, वही, पृ० १२७
३८. वही, पृ० १२५
३९. पार्जीटर, वही, पृ० ३६
४०. मत्स्य पु०, २।२२

की प्रचलित पौराणिक परिभाषा से भिन्न प्रतीत होती है। इसका उल्लेख कौटिल्य-अर्थशास्त्र की जयमंगला-व्याख्या में हुआ है। व्याख्याकार ने इसका मूल किसी प्राचीन ग्रन्थ को बताया है। इसका विवरण निम्न प्रकार का है—

सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्षप्रयोजनम् ।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्[४१] ।

इस श्लोक के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धार्मिक विषयों का पुराणों में सन्निवेश प्रारंभ से अभीष्ट था। इस संदर्भ में हाज़रा आदि विद्वानों ने पुराणों में धार्मिक विषयों का समाहार उत्तरकालीन पौराणिक संकलन का परिणाम माना है[४२]। श्री उपाध्याय का विचार है कि उक्त श्लोक से व्यक्त हो जाता है कि आधुनिक संशोधकों का यह मत यथार्थतः विशुद्ध नहीं है[४३]। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जयमंगला के व्याख्याकार ने जिस ग्रन्थ को इस संबंध में आधार माना है, उसके नाम और काल के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। वह ग्रन्थ प्राचीन है, यह तो सही है; पर कितना प्राचीन है इसके विषय में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। यह नितांत संभव है कि उक्त श्लोक की रचना उस समय हुई थी, जब कि पुराणों का अतीतकालीन स्वरूप बदल चुका था तथा वे धर्मपरक ग्रन्थ माने जाते थे। स्वयं पुराण-ग्रन्थों में ही इस बात का प्रमाण मिल जाता है कि जिस समय इनमें धार्मिक विषयों का समाहार हो रहा था, पंचलक्षण की प्राचीन परिभाषा में भी परिवर्द्धन लाने की चेष्टा की जा रही थी। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश,मन्वन्तर और वंश्यानुचरित के वर्णन का विषय विष्णु का गौरवगान बताया गया है। पुराण का यह श्लोक निश्चय के साथ बाद का माना जा सकता है। जिस अध्याय में इसका उल्लेख है, उसमें अठारह पुराणों की चर्चा मिलती है; जो प्रस्तुत श्लोक के उत्तरकालीन होने का पुष्ट प्रमाण है[४४]। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष समीचीन नहीं लगता कि पुराणों की संरचना के मूल स्तर से ही इनमें धार्मिक विषयों का सन्निवेश किया जा रहा था।

---

४१. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, १।५ के आधार पर; द्रष्टव्य, पुराण-पत्रिका, भाग ४, अंक १; उपाध्याय, वही, पृ० १२७

४२. हाज़रा, वही, भूमिका, पृ० ५३; पुसाल्कर वही, भूमिका, पृ० ५३

४३. उपाध्याय, वही, पृ० १२७

४४. प्रस्तुत विवेचन के लिये द्रष्टव्य, लेखक का पुराण-पत्रिका, भाग ७, अंक २ में प्रकाशित निबंध, पृ० २८०

संकलन-कर्त्ताओं के जिस विशेष समुदाय ने पुराणों के प्राथमिक रूप को संवारा, उन्हें सूत कहते थे। सूतों की उत्पत्ति तथा उनके अधिकारों के संबंध में विविध सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें दो मुख्य मानी जा सकती हैं। एक के आधार पर इन्हें पौराणिक सूत की संज्ञा दी जाती है, तथा दूसरे के आधार पर इन्हें प्रतिलोम सूत अथवा मागध का अभिधान दिया जाता है[४५]। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों प्रकार के सूत एक दूसरे से पृथक् माने जाते थे। पौराणिक सूत को श्रद्धा और आदर का स्थान दिया गया था। पुराणों के उस भाग के संबंध में, जिसमें राजवंशावलियाँ संग्रहीत की गई थीं; सूत के वचन प्रामाणिक माने जाते थे तथा इस दृष्टि से उन्हें वंश-कुशल, धीमान् और कृतबुद्धि जैसे विशेषण से विभूषित भी करते थे। प्रतिलोम सूत वे थे, जिनकी उत्पत्ति ब्राह्मणी और क्षत्रिय के संयोग से होती थी[४६]। दोनों सूतों के संबंध में यह विभेद कौटिल्य अर्थशास्त्र में स्पष्ट मिलता है[४७]। अतएव यह कह सकते हैं कि कम से कम चतुर्थ शती ई० पू० तक इस भिन्न स्थिति से लोग भली-भाँति परिचित थे। पर, ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर दोनों सूतों की भिन्नता के संबंध में लोगों की जानकारी कम थी। इस तथ्य का निश्चित साक्ष्य पुराणों में ही प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, वायु पुराण के दो प्रसंगों में जिस सूत का उल्लेख है, वे परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं। अध्याय एक में पौराणिक सूत का वर्णन है, पर अध्याय बासठ में वर्णित सूत प्रतिलोम सूत है। इस भेद का अधिक स्पष्टीकरण ब्रह्माण्ड पुराण के तत्संबंधित दो अध्यायों में किया गया है (प्रक्रियावाद अध्याय एक; तथा अनुषंगपाद, अध्याय छत्तीस)। यहाँ इस बात का उल्लेख कर सकते हैं कि वायु पुराण, अध्याय एक के श्लोक-क्रम अट्ठाइस से लेकर श्लोक क्रम-बत्तीस तक ब्रह्माण्ड पुराण के तत्संबंधित प्रसंग में नहीं मिलते हैं। इन श्लोकों में उन्हीं वर्णनों का उल्लेख है, जो वायु पुराण के अध्याय बासठ में मिलते हैं। अतएव दो कारणों से इन्हें वायु पुराण का मौलिक अंश नहीं माना जा सकता है। एक तो, इनमें अनावश्यक पुनरावृत्ति मिलती है; तथा दूसरे, यदि ये श्लोक वायु पुराण के अध्याय के मौलिक रूप में रहे होते तो उन्हें सहज रूप में ब्रह्माण्ड पुराण के तत्संबंधी अध्याय में मिलना चाहिये था। इस प्रबन्ध में आगे चलकर हम दिखाने का प्रयास करेंगे कि मूलतः वायु और ब्रह्माण्ड पुराण एक ही थे। दोनों का पार्थक्य

४५. द्रष्टव्य, पार्जीटर, वही, पृ० १८

४६. वायु पु०, ४।२; ब्रह्माण्ड पु० १।१।२७

४७. अर्थशास्त्र, ३।७।२६-३१

बाद में हुआ । लगता है, इस पार्थक्य के काल में ही किसी उत्तरकालीन संकलनकर्त्ता ने अज्ञानवश दोनों प्रकार के सूतों को एक समझकर उक्त श्लोकों को भी जोड़ दिया था । आठवीं शताब्दी के आस-पास इस प्रकार का संभ्रम हुआ था, जब कि न तो पुराणों के पंच लक्षण में ही कोई सार्थकता रह गई थी और न इन ग्रन्थों के संकलन-कर्त्ता ही प्राचीन पद्धति अथवा किसी नवीन सुनिर्णीत पद्धति के अनुसार ही चलते थे । इस प्रकार की सम्भावना पद्म पुराण के विवरण द्वारा होती है,[४८] जिसमें सूत के विषय में वही बातें मिलती हैं; जो वायु पुराण के इस विवेचित प्रसंग में। पर, चतुर्थ श० ई० तक यह भेद निश्चित् रूप से माना जाता होगा, क्योंकि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का मौलिक रूप इस समय तक छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था ।

इस प्रसंग में पुराण-संरचना की एक मौलिक समस्या पर पुनर्विचार किया जा सकता है । वायु और पद्म पुराणों के उक्त उद्धरणों में इस बात की चर्चा की गई है कि सूत का वेद पर अधिकार नहीं होता । पार्जीटर महोदय ने दोनों ग्रन्थों के उद्धरणों की आलोचना करने के उपरांत वेद पर सूत का अनधिकार होता था, ऐसा व्यक्त किया था[४९] । अपने आलोचना-सापेक्ष ग्रन्थ में उन्होंने आगे चलकर ब्राह्मण और क्षात्र दो परस्पर-भिन्न परंपराओं को सिद्ध करने की चेष्टा की थी । कुछ वर्ष पहले पुसाल्कर ने बड़ी ही तर्कपूर्ण उक्तियों द्वारा इस मत की कटु आलोचना की थी, जिसका विवरण यहाँ पुनरावृत्ति-मात्र होगा[५०] । पर, श्री उपाध्याय ने पुनः एक बार प्रायः पार्जीटर की ही उक्ति को दुहरा कर, वायु पुराण के उक्त उद्धरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि वेद पर सूत का अधिकार नहीं माना गया है । उनके निष्कर्ष का महत्त्वपूर्ण पर विचारणीय पक्ष यह है कि वैदिक विचार-धारा और पौराणिक विचार-धारा—दोनों परस्पर भिन्न थीं[५१] । पर, इस निष्कर्ष को मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसका आधारभूत साक्ष्य स्वयं में मौलिक नहीं है । सूत का अधिकार वायु पुराण ने वेद पर नहीं माना है, यह तो सही है । पर, प्रश्न यह है कि यहाँ मन्तव्य किस सूत से है—पौराणिक सूत से अथवा प्रतिलोम-सूत से । मौलिक वायु पुराण का जो अंश ब्रह्माण्ड पुराण के प्रस्तुत उद्धरण में सुरक्षित है; उसमें इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है, और इसी उद्धरण में वस्तुतः पौराणिक सूत के अधिकार, कर्त्तव्य

---

४८. पद्म पु०, ५।१।२८-३३

४९. पार्जीटर, वही, पृ० १८

५०. पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृष्ठांक ५३-५४

५१. उपाध्याय, वही, पृष्ठांक ४०, ५६, १२८

तथा उसकी ज्ञान-गरिमा व्यक्त है। अतएव ब्रह्माण्ड पुराण के साक्ष्य को ही, वायु और पद्म पुराण की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक मान सकते हैं। इन दोनों पुराणों के संकलनकर्त्ता (वायु पुराण के उत्तरकालीन प्रतिसंस्करण-कर्त्ता) ने भ्रमवश दोनों सूतों को एक मानकर, तथा प्रतिलोम सूत के वर्ण-संकर होने के कारण, सूत का वेद में अधिकार नहीं स्वीकार किया है। अतएव श्री उपाध्याय का यह मत है कि वैदिक और पौराणिक दोनों परस्पर पृथक् और विभिन्न धाराएँ थीं, अधिक आदरणीय नहीं माना जा सकता। जिस पुराण-संरचना का श्रद्धेय उद्देश्य था वेद-समुपवृंहण तथा जिसका विस्तार करने वाला प्राथमिक सूत-समुदाय सुविज्ञ माना जाता था, उसे सहज रूप में वैदिक विचारधारा से भिन्न मानना आपत्तिजनक प्रतीत होता है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिकों ने पुराण-संरचना की शैली में पंचलक्षण की जिस परिपाटी को अपनाया था, उसकी संगति केवल एक स्तर-विशेष के लिये थी। प्रारंभ से जिस उद्देश्य को अपनाकर इन्होंने अपनी रचना को विस्तार देना चाहा था, उसके आलोक में पुराणों को लक्षण-बद्ध किया ही नहीं जा सकता था। पुरातन का विस्तार इनका लक्ष्य था, और इसीलिये पुराणों के मौलिक स्थलों को परिवर्द्धित करने के साथ-साथ; इन्होंने मूल लक्षणों के स्वरूप में संशोधन लाने की चेष्टा की। पूर्व अनुच्छेद में यह दिखाया जा चुका है कि विष्णु पुराण के एक विवरण में सर्ग आदि पाँच लक्षणों का वर्ण्य-विषय विष्णु को माना गया है। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी पाँचों लक्षणों के उल्लेख के उपरांत वर्णित है कि इनके माध्यम से पुराण ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा रुद्र का गौरव-गान करते हैं[५२]। इन साक्ष्यों से यही व्यक्त होता है कि पौराणिक विषयों का रचना-समावेश पूर्व निर्णीत बद्ध पद्धति में ही विस्तार लाकर किया जाता था। इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भागवत में परिगणित दश लक्षणों का विशद विवेचन किया है। ये दश लक्षण भागवत के दो स्कन्धों में प्राप्त होते हैं[५३]। श्री उपाध्याय के मतानुसार दोनों स्कन्धों में दिये गये लक्षणों में शब्द-भेद अवश्य है, पर अभिप्राय-भेद नहीं[५४]। ये दश लक्षण इस प्रकार हैं— (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) वृत्ति, (४) रक्षा, (५) अन्तर, (६) वंश, (७) वंशानुचरित, (८) संस्था, (९) हेतु तथा (१०) अपाश्रय। इन लक्षणों में सर्ग, संस्था (अर्थात् प्रतिसर्ग), वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित प्राचीन पंचलक्षण की पुनरावृत्ति-मात्र हैं; पर विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, हेतु

---

५२. मत्स्य पु०, ५३।६६-६७

५३. भागवत, २।१०।१-७; १२।७।९-२०

५४. उपाध्याय, वही, पृ० १२८

तथा अपाश्रय भागवत के नवीन संयोजन हैं। सर्ग और विसर्ग में यह अन्तर है कि पहले का तात्पर्य सृष्टि के कारणभूत प्रधान तत्त्वों से है, पर दूसरे का अर्थ है सविस्तार जीव आदि का सृजन। इसी प्रकार वृत्ति आदि चारों विषयों का अर्थ क्रमशः जीविका, अवतारों के माध्यम से सृष्टि का सरक्षण, सृष्टि का कारणभूत जीव तथा सृष्टि का आधार अथवा अधिष्ठान है। भागवत के अध्यायान्तर में जिन दश लक्षणों का उल्लेख है, वे इस प्रकार हैं—(१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊति, (६) मन्वन्तर, (७) ईशानुकथा, (८) निरोध, (९) मुक्ति और (१०) आश्रय। इन दश लक्षणों की समीक्षा संक्षेप में पुसाल्कर महोदय ने भी किया है। बारहवें स्कन्ध में भागवत में ऐसा संकेत भी है कि पाँच अथवा दश लक्षणों की योजना महान् अथवा अल्प व्यवस्था के कारण की जाती है। पुसाल्कर महोदय का मत है कि अल्प व्यवस्था से तात्पर्य यहाँ उपपुराणों से है[५५]। पर, ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'महदल्प व्यवस्था' से मंतव्य कुछ और ही है। इसका सम्भावित अर्थ यह हो सकता है कि जिस प्रकार की व्यवस्था पुराण-संरचना में अपनाई गई हो, उसी के अनुसार लक्षणों का निर्णय किया जाना चाहिये। वस्तुतः यहाँ पर संकेत, उस पौराणिक प्रवृत्ति की ओर है, जिसके कारण समय-समय पर नवीन परिस्थितियों के अनुसार एवं नवोदित सांस्कृतिक तत्त्वों के अनुसार प्राचीन पुराणों का आकार-परिवर्द्धन कर उनका प्रतिसंस्करण तैयार किया गया तथा उत्तरकालीन पुराणों की रचना की गई। कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष भागवत के एक दूसरे श्लोक से निकलता है, जिसका उल्लेख पूर्व वर्णित दश लक्षणों के साथ मिलता है[५६]। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि इनका (विशेषतया दसवें लक्षण का) वर्णन श्रुति और अर्थ के अनुसार अथवा दोनों के समन्वय द्वारा किया जाता है। इससे यह व्यक्त होता है कि पुराण के लक्षणों की परम्परा तो पहले से चली आ रही थी, पर न तो इनके स्वरूप और न संख्या में ही पौराणिकों के लिये किसी प्रकार का बन्धन था। श्रुति और अर्थ का तात्पर्य यही हो सकता है कि शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा के अनुसार अनेक अतीतकालीन तत्त्वों तथा उनसे सम्बन्धित स्थलों का समय-समय पर पौराणिक सम्प्रदाय ने श्रद्धा के साथ आदान अवश्य किया, पर युग-युगान्तर की अभिरुचि के अनुसार तथा बौद्धिक उपलब्धियों के अनुकूल आवश्यक संशोधन कर पुराण-संरचना को उन्होंने समय के अनुकूल बनाने का प्रयास भी किया। इसके अतिरिक्त यह कथन संगत नहीं लगता है

---

५५. पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृ० ४६
५६. भागवत, २।१०।२

कि उपपुराणों में अल्प व्यवस्था का अनुसरण किया गया था। यह सही है कि प्रचलित परम्परा के अनुसार उपपुराणों को पुराणों का 'खिल' अर्थात् परिशिष्ट माना जाता था, पर सामान्य स्थिति इससे भिन्न थी[५७]। आकार-विस्तार, बहुविध विषयों के समावेश, तथा उपपुराणों में निबद्ध मान्यता की दृष्टि से इन ग्रन्थों की उपादेयता तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्ता, अष्टादश पुराणों से कम नहीं मानी जाती थी[५८]।

पौराणिक वाङ्मय में ऐसे पद, शब्द और वाक्यों का व्यवहार किया गया है, जिनसे व्यक्त होता है कि नवीन प्रवृत्तियों का समाहार होते हुये भी पुराणों का अधिक बल, परंपरा के सन्निवेश पर ही था। श्री उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में प्रयुक्त पुराण शब्द के प्रयोग के आधार पर कहा है कि इस ग्रन्थ में पुराण शब्द एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है तथा वहाँ इसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला[५९]। प्रतीत होता है कि पौराणिकों ने पुराण की इस अतीतकालीन विशेषता का निर्वाह पुराण-संरचना के प्रत्येक स्तर पर किया है। पौराणिक तथा पुराणेतर संप्रदायों में पुराण शब्द की व्युत्पत्ति समझाने की प्रवृत्ति भी प्रचलित थी। वायु पुराण के अनुसार पुराण नाम इसलिये दिया जाता है, क्योंकि पुराकाल में यह विद्यमान था[६०]। पद्म पुराण के अनुसार पुरा का अर्थ है परम्परा—जिसकी कामना अपेक्षित होने के कारण, पुराण की संज्ञा दी जाती है[६१]। ब्रह्माण्ड पुराण की व्याख्या के अनुसार 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ था' इस पर बल देने के कारण ही पुराण संज्ञा सार्थक होती है[६२]। पुराणेतर संप्रदाय में यास्क का कथन उल्लेखनीय है, जिनकी व्याख्या के अनुसार 'पुराण' इसलिये कहते हैं, क्योंकि इसमें 'पुरा' को अर्थात् परंपरा अथवा प्राचीनता को नवीन रूप प्रदान किया जाता है[६३]। पुराण शब्द की इस व्याख्या को कहाँ तक सही माना जा सकता है, इसकी समीक्षा उन

---

५७. इस संबंध में हाज़रा ने ब्रह्मवैवर्त्त पुराण ४।१३१।६-१०, के प्रति संकेत किया है, जिसमें इन लक्षणों का उल्लेख मिलता है; वही, पृ० ६

५८. द्रष्टव्य, हाज़रा, स्टडीज़ इन उपपुराणाज़, भाग १, पृ० १८

५९. उपाध्याय, वही, पृ० ४

६०. वायु पु०, १।२०३

६१. पद्म पु०, ५।२।५३

६२. ब्रह्माण्ड पु०, १।१।१७३

६३. निरुक्त, ४।६

पद, शब्द और वाक्यों द्वारा होती है; जो पौराणिक वाङ्मय के विभिन्न स्थलों में प्रयुक्त मिलते हैं। इनमें इति नः श्रुतम्, इति श्रुतिः तथा इति श्रुयते अतीव महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। इनके समान प्रसंगों में ही स्मृतः और अनुशुश्रुम जैसे पदों का भी प्रयोग मिलता है। इन शब्दों का अर्थ उतना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता जितना कि वे प्रसंग जिनमें ये प्रयुक्त हैं अथवा वे मंतव्य, जो इनके माध्यम से व्यक्त किये गये हैं। इनका सामान्य अर्थ है ऐसा सुना गया है, ऐसा सुनते हैं अथवा ऐसा स्मरण किया जाता है। पर, इनसे ध्वनि निकलती है प्राचीनता के प्रति पौराणिकों के संकेत की। इनके प्रयोग और व्यवहार द्वारा पौराणिकों का अभिप्राय था अतीत की परम्परा के साथ वर्त्तमान वृत्तों और सांस्कृतिक आदर्शों को सम्बन्धित करना।

पुराणों में प्राप्त होने वाले उक्त शब्दों की समीक्षा पार्जीटर महोदय ने भी अतीव व्यापक रूप में किन्तु असंतोषजनक निष्कर्ष के साथ किया है[६४]। इनके अनुसार श्रुति शब्द का सामान्य तात्पर्य माना जा सकता है पवित्र ग्रन्थ से अथवा पवित्र परंपरा से, पर पुराणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इति श्रुतिः आदि से तात्पर्य पवित्र परंपरा से न होकर लौकिक परंपरा से है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने कहा है कि जिन विशेष विषयों के सम्बन्ध में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे प्रायः वैदिक ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होते हैं। अंशतः इस मत को सही अवश्य मान सकते हैं, पर समग्र रूप में इसे संतोषजनक नहीं माना जा सकता है। प्रतीत होता है कि पार्जीटर महोदय का यह निष्कर्ष उनके इस विचार पर केन्द्रीभूत है कि पुराणों में लौकिक परंपरा की प्रतिष्ठा है, जिन्हें वेदोचित धार्मिक परंपरा से भिन्न मान सकते हैं। इस प्रसंग में श्री उपाध्याय ने भी पुराणों को लौकिक शास्त्र माना है[६५]। पर, इन्होंने न तो अपने कथन के समर्थन में विशेष बात कही है और न पार्जीटर द्वारा आलोचित शब्दों का अथवा इन शब्दों के अर्थ और ध्वनि का ही उल्लेख किया है। इन दोनों विद्वानों के विपरीत विन्टरनित्स पुराणों को धार्मिक ग्रन्थ मानते हैं[६५]। पर, विन्टरनित्स ने पुराणों के सम्बन्ध में यह विचार दूसरे प्रसंग में व्यक्त किया है, जहाँ न तो पार्जीटर का और न इनके द्वारा निर्दिष्ट प्रसंग का ही उल्लेख किया गया है[६६]। जिन तर्कों अथवा विशेष तथ्यों के आलोक में पार्जीटर महोदय के मत की भ्रामकता स्पष्ट हो जाती है, उनका विवेचन कीथ, और

---

६४. पार्जीटर, वही, पृष्ठांक १९-२०

६५. उपाध्याय, वही, पृ० ३९

६६. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२२

पुसाल्कर[६७] द्वारा किया जा चुका है। इनके विवेच्य निष्कर्ष का पुनर्विवेचन पुनरुक्ति-मात्र होगा। किन्तु इतना तो कह सकते हैं कि पुराणों में निबद्ध परंपरा को विशेष मर्यादा में बाँधा नहीं जा सकता है। यदि इसे लौकिक परम्परा मान भी लिया जाय तो इसे वैदिक धार्मिक परंपरा से पृथक् नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ इति श्रुतिः आदि पदों का उल्लेख पुराणों में हुआ है, वे वैदिक साहित्य में अनिवार्यतः उपलब्ध हों। सच तो यह है कि पुराणों ने जिन वेद-विहित अथवा श्रुति-सम्मत परंपराओं का निर्वाह किया वे दो प्रकार की हैं—एक तो वे जो विकसित अथवा अविकसित रूप में वैदिक साहित्य में निबद्ध मिलती हैं, दूसरी वे जो वेदों में नहीं मिलती; पर जिनके वैदिक स्वरूप के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः पौराणिक संरचना का तात्पर्य बहुत कुछ दूसरी परंपरा से ही अधिक सम्बन्धित था। इसका स्वरूप प्रायः मौखिक था। वैदिक विचार-धारा से ये पृथक् नहीं थे, पर वैदिक साहित्य में इनका समाहार नहीं हो सका था। यह संदेह-रहित है कि पुराणों के कलेवर-वृद्धि में इनका योगदान अनल्प था।

पुराण-संरचना का विश्लेषण तब तक अपर्याप्त सा प्रतीत होता है, जब तक कि इसकी भाषा-शैली पर विचार न किया जाय। इस विषय पर जिन विद्वानों ने अपना विचार व्यक्त किया है, पार्जीटर का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इनके मतानुसार पुराणों की मूल भाषा प्राकृत थी। कम से कम मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों से यह व्यक्त हो जाता है कि मूलतः ये ग्रन्थ प्राकृत में लिखे गये थे। इनका संस्कृतीकरण बाद में पौराणिक ब्राह्मणों द्वारा किया गया। इनमें ऐसे अनेक शब्द हैं, जो अन्यथा प्राकृत में सही लगते हैं, पर इनका संस्कृत रूप शुद्ध नहीं लगता है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर इनका प्राकृत रूप अपरिवर्तित रूप में ही रहने दिया गया है[६८]। पार्जीटर के मत का विरोध डॉ० कीथ[६९], डॉ० याकोबी, तथा डॉ० पुसाल्कर;[७०] तथा अपने नवीन ग्रन्थ में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने किया है। ये सभी विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि पुराणों की भाषा में इनके संकलनकर्त्ताओं द्वारा सरलता लाने का प्रयास किया गया

---

६७. जर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९१४, पृ० १०२७, पुसाल्कर, वही, पृष्ठांक २५-३०

६८. पार्जीटर, डाइनेस्टीज ऑफ़ दि कलि एज, पृष्ठांक ७७-८३

६९. जे० आर० ए० एस०, १९१४, पृष्ठांक १०२७-१०२८

७०. ज़ेड० डी० एम० डी०, ४८; पृ० ४०७; पुसाल्कर द्वारा उद्धृत, वही, पृ० २८

था। ऐसा उन्होंने इसलिये किया, क्योंकि उन्हें जन-साधारण को शास्त्रीय विषयों से परिचित कराना था। इस सम्बन्ध में आचार्य उपाध्याय ने एक अतीव पांडित्यपूर्ण कारण प्रस्तुत किया है। इनकी व्याख्या के अनुसार पौराणिकों ने छन्द-रचना के संतुलन पर अधिक ध्यान दिया था, शब्द के रूप पर नहीं। काव्य-शिक्षा में ऐसी संयोजना मान्य थी, जिसके नियम से 'माष' शब्द को 'मष' कर दिया जाय पर छन्दोभंग नहीं होना चाहिए[७१]।

पार्जीटर महोदय की उक्ति कहाँ तक सही है, अथवा उनकी उक्ति के विरुद्ध जितने तर्क उपस्थित किये गये हैं; तथा उनमें किस सीमा तक सार्थकता है— इन प्रश्नों पर अधिक विचार नहीं किया जा सकता है। पर, इतना तो कहा जा सकता है कि पुराण संकलित ग्रन्थ हैं, अतएव उनमें किसी विशेष और निश्चित् भाषा अथवा भाषा-शैली का मूल्यांकन नहीं कर सकते हैं। पार्जीटर ने पुराणों के जिस अंश की समीक्षा कर प्राकृत भाषा-सम्बन्धी मत का प्रतिपादन किया है, वह है राजवंशो का इतिहास। इनका यह कथन सही है कि राजवंश-वृत्तांत में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह संस्कृत से बहुत दूर नहीं है। पर, इसी कथन का दूसरा भाग कि यह भाषा प्राकृत मानी जा सकती है; यथार्थ नहीं लगता है। वस्तुतः पुराणों के प्रस्तुत अंश में विशुद्ध और काव्योचित संस्कृत होने की संभावना ही नहीं की जा सकती है। कारण यह है कि इसमें विवरणों का स्वरूप इतिवृत्त-परक है। सरल संस्कृत शैली, जिसका अनुसरण यहाँ किया गया है; अधिक से अधिक काव्य-सौष्ठव से वंचित भाषा मानी जा सकती है, पर उसे प्राकृतमूल का संस्कृत रूपान्तर कहना आपत्तिजनक प्रतीत होता है। पुराणों में तथाकथित प्राकृत भाषा के उद्भव का जो कारण पार्जीटर देते हैं, वह किसी समय आकर्षक भले ही लगा हो पर भारतीय इतिहास के संचित शोध-कोश के आलोक में यथार्थ नहीं लगता है। इनकी समीक्षा के अनुसार भारतीयों को लेखन-कला से परिचय लगभग सातवीं शताब्दी ई० पू० में कराया गया। किस देश के निवासियों ने परिचय कराया, इसके विषय में पार्जीटर मौन हैं। लगता है कि वे भारतीय लिपि के देशज होने के पक्ष में नहीं है। अन्य अनेक पाश्चात्य विद्वानों की भाँति, साथ-साथ वे ऐसा भी कहते हैं कि लिपि को सबसे पहले शासन-सम्बन्धी कार्यों में अपनाया गया। राजकीय लेखों के संरक्षक तथा तैयार करने वाले राजकर्मचारी संस्कृत के विद्वान् नहीं थे। वे उसी भाषा को लिपि-बद्ध करते होंगे, जो राजसभा में प्रचलित थी। जहाँ तक

७१. उपाध्याय, वही, पृ० ५८२

शासकों की उपलब्धियों का सम्बन्ध है, इनका वर्णन करने वाले सूत, मागध और वंदी थे, जिन्हें उसी भाषा को प्रयोग में लाना पड़ता होगा, जो सभी के लिये ग्राह्य थी। इन्हीं परिथतियों में छन्द-बद्ध, उस प्राकृत शैली का उद्भव हुआ, जिसे पुराणों में अपनाया गया[७२]। पार्जीटर की इस समीक्षा को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं। इनकी समीक्षा का सारांश है पुराण के तत्सम्बन्धित स्थलों में जिस राजनीतिक इतिहास के विवरण का समाहार किया गया, उसके स्रोत राजदर्बारों के लेख थे। पार्जीटर का यह मत कोरा अनुमानजनक है। पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इसका प्रतिपादन नहीं हुआ है। फिर, उन्होंने अंतिम रूप में यह कैसे मान लिया कि भारतीयों को लेखन-कला से परिचय कराया गया अर्थात् वे लेखन-कला से पूर्व परिचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त इस बात के लिये भी कहाँ प्रमाण है कि राजकीय लेखों को तैयार करने वाले संस्कृत के विद्वान् नहीं होते थे। इसके विपरीत हरिषेण आदि के उदाहरण ऐसे हैं कि इनकी संस्कृत सम्बन्धी विद्वत्ता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। जिन सूत, मागध, वंदी का उल्लेख पार्जीटर कर रहे हैं, वे केवल राजाओं की गौरव-गाथा की अतिशयोक्ति पदावलियों द्वारा उद्भावना करते थे। 'वंशानुचरित' जो पुराण का अभिन्न और मौलिक अंश था उसका सम्बन्ध किस सूत से था, इसके विषय में यहाँ पार्जीटर स्पष्ट नहीं हैं। वंशानुचरित का समाहरण करने वाला वह सूत था, जिसे सुविज्ञ और श्रद्धेय मानते थे। वह राजदर्बारी, अथवा राजकर्मचारी नहीं होता था। राजाओं का गुण-गान करने वाला सूत, प्रतिलोम-सूत था। राजविरुद का वर्णन करना प्रतिलोम-सूत का आवश्यक और निर्धारित कर्त्तव्य था। इस प्रकार के सूत अथवा मागध और वंदी, पौराणिक सूत से पृथक् और भिन्न माने जाते थे। इसकी व्याख्या पूर्व अनुच्छेदों में की जा चुकी है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पुराण-संरचना का प्रारंभ उन प्रथाओं, परंपराओं और मान्यताओं के समावेश के साथ हुआ था, जिन्हें साहित्य का कलेवर नहीं मिला था, तथा जो केवल स्मृति में सुरक्षित थे। अतएव ऐसी स्थिति में पौराणिकों को पूर्व-साहित्यिक पुराण-विषयों को साहित्य के रूप में संचित करना पड़ा था। प्रारम्भिक पुराण-विषयों की असंकलित अवधि लम्बी रही होगी, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। इस लम्बी अवधि में इनका शब्द, पद और वाक्य आदि से सम्बन्धित स्वरूप भी प्रायः बन चुका होगा। मौखिक रूप में रहने के कारण इनमें वह भाषा और साहित्य सम्बन्धी प्रांजलता नहीं आ सकी, जो

७२. पार्जीटर, वही, भूमिका, पृ० ११

अपेक्षित थी। जिस समय इन्हें साहित्य-संरचना का विषय बनाया गया, इनके प्रौढ-स्वरूप में पर्याप्त सुधार करना सम्भव न रहा होगा। पुराणों में जहाँ-कहीं भाषा-दोष मिलते हैं, उसका यह एक सम्भावित कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त भाषा के स्वरूप का आधार बहुधा विवेच्य विषय का प्रकार होता है। यदि वंश-वर्णन उतने ललित और परिमार्जित नहीं हैं तो ऐसे भी वर्णन हैं; यहाँ तक कि प्राथमिक पुराणों में ही, जिनका साहित्यिक स्वरूप किसी परिमार्जित अथवा ललित काव्य की अपेक्षा न्यूनतर नहीं प्रतीत होता है। इसका एक उदाहरण अग्रिम अनुच्छेदों के अनुकूल स्थल पर देने की चेष्टा की जायगी। अतएव पार्जीटर महोदय, जिसे प्राथमिक प्राकृत भाषा का उत्तरकालीन संस्कृत रूपान्तर मानते हैं उसे अधिक से अधिक पौराणिक वंश-वृत्त की भाषा का नाम दिया जा सकता है। इसकी विशेषता इसके सरल स्वरूप के कारण है। इसकी निजी शैली है, जिसका निर्वाह पुराणों के वंश-वृत्त के स्थलों में आद्योपांत किया गया है। इनका प्राथमिक स्वरूप जिस प्रकार का रहा होगा, प्रायः उसी रूप में उसका समावेश; पुराणों के कम से कम प्रथम संस्करण में किया गया था। पौराणिक वंश-वृत्त, मूल और अभीष्ट शब्दों को बदल कर, साहित्य के लालित्य की दृष्टि से नये और आकर्षक शब्द तथा वाक्य जहाँ-कहीं रखे गये हैं; वे पौराणिकों के उत्तरकालीन प्रयास का परिचय देते हैं। इतिहास की दृष्टि से इनकी निरर्थकता तथा अमौलिकता पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। ऐसे अनेक उदाहरणों का उद्धरण पार्जीटर ने स्वयं पौराणिक वंश-वृत्त के विवेचन में दिया है[७३]। पर, इस प्रकार की संयोजना पौराणिकों ने प्रतिसंस्करण के स्तरों पर अपनाई थी, जब कि उनमें ऐतिहासिकता की प्रवृत्ति प्रायः नहीं रह गई थी। मूल संस्करणों के स्तर पर भी ऐसी प्रवृत्ति रही हो, इसके लिये कोई पोषक अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता। संक्षेप में कह सकते हैं कि पुराण-संरचना में भाषा-शैली का स्वरूप-निर्देश, आलोचित विषय-विशेष के स्वरूप के अनुसार हुआ था। आलोचित विषय बहुविध थे, अतएव पौराणिक शैली में समरूपता नहीं दिखाई देती है।

पुराणों के विश्लेषण में इनकी रचना के काल का प्रश्न अतीव महत्त्वपूर्ण है। पुराण का उदय और पुराण का विरचित साहित्यक रूप—दोनों में काल और स्तर सम्बन्धी भिन्नता दिखाई देती है। पुराण का उदय तो पहले हो चुका था, पर विरचित साहित्य का रूप इसे बहुत बाद में प्राप्त हुआ। इसके उदय-काल का परिचय वैदिक ग्रन्थों में पुराण शब्द के निर्देश द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

---

७३. पार्जीटर, वही, पृ० १-७४

ऋग्वेद के मंत्रों में अनेकत्र पुराण शब्द का उल्लेख[७४] तथा एक स्थल[७५] पर पुराणी शब्द का प्रयोग मिलता है। पर, यहाँ पुराण का तात्पर्य केवल प्राचीनता से तथा प्राचीन गाथा से है। अथर्ववेद के दो मंत्रों में क्रमश: पुराण[७६] और पुराणवित्[७७] शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। पहले मंत्र में ऋग्, साम, अथर्व तथा यजुष् के साथ इसका उद्भव बताया गया है; तथा दूसरे मंत्र में अदृश्यभूमि को देखने वाले ज्ञानी पुरुष को पुराणवित् की संज्ञा दी गई है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प आदि के साथ-साथ पुराण का निर्माण भी वेदांग के रूप में हुआ था[७८]। एक अन्य स्थल पर दो प्रसंगों में पुराणवेद तथा इतिहासवेद का उल्लेख है[७९]। ऐसा विचार है कि इस समय तक इतिहास और पुराण की भिन्नता निश्चित् की जा चुकी थी[८०]। शतपथ ब्राह्मण के उद्धरणों में पुराण का उल्लेख या तो स्वतंत्र[८१] रूप में या इतिहास[८२] शब्द के साथ हुआ है। तैत्तिरीय आरण्यक[८३] में पुराण शब्द का प्रयोग बहुवचन में, तथा वृहदारण्यक[८४] और छान्दोग्य[८५] उपनिषदों में इसका उल्लेख इतिहास शब्द के साथ संयुक्त मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[८६] में पुराण के स्वाध्याय और श्रवण की चर्चा स्पष्ट रूप में हुई है। इन वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त पुराण शब्द की समीक्षा से यही स्पष्ट होता है, कि इनके काल में वाङ्मय के रूप में अभी इसकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। इस बात की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं कि अवांतर कालों में ही पुराणों को पृथक् साहित्य का स्वरूप मिल सका

---

७४. ऋग्वेद, ३।५।४९; ३।५८।६; १०।१३०।६

७५. वही, ९।९९।४; विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य उपाध्याय, वही, पृ० ८

७६. अथर्ववेद, ११।७।२७

७७. वही, ११।८।७

७८. गोपथ ब्राह्मण, १।२।१०

७९. वही, १।१।१०

८०. उपाध्याय, वही, पृ० ११

८१. शतपथ ब्राह्मण, १३।४।३।१२-१३

८२. वही, ११।५।६।८; ११।५।७।९; १४।६।१०।६

८३. तैत्तिरीय आरण्यक, २।९

८४. वृहदारण्यक उपनिषद्, २।४।११

८५. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।१।२,४; ७।२।१

८६. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३।४; ४।६

था। यहाँ इसका उल्लेख एक बार फिर किया जा सकता है कि 'पुराण' शब्द का वैदिक तात्पर्य केवल आख्यान से है। वैदिक आख्यानों के प्रति पौराणिक श्रद्धेय थे, अतएव प्राथमिक पुराण-संरचना का सूत्रपात भी इनके समावेश के साथ हुआ था। वेदों में तथा पुराणों में ऐसे आख्यान[८७] मिल जाते हैं, जिनके विवरण में या तो समरूपता है या जिनमें पहले के आधार पर दूसरे के अनुवर्त्ती विकास का साक्ष्य उपलब्ध होता है।

पुराण-संरचना को संकलित साहित्य का रूप वैदिक काल के उपरांत प्राप्त हुआ। इस दृष्टि से धर्म-सूत्रों का विवरण, तथा इनमें पुराण शब्द का उल्लेख महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। धर्म-सूत्रों में सबसे प्राचीन गौतम धर्म-सूत्र है। इस ग्रन्थ में प्रामाणिकता के लिये, न्याय के निर्णय में वेद, व्यवहार-शास्त्र तथा वेदांग के साथ पुराण को भी उपादेय बताया गया है[८८]। 'पुराण' शब्द के प्रयोग से यहाँ सिद्ध हो जाता है कि इस समय तक पुराण का अवतरण मौखिक परंपरा से पृथक् और विरचित ग्रन्थ के रूप में हो चुका था। धर्मसूत्र का संकेत, इस विवरण में पुराण की किसी मूलसंहिता की ओर है अथवा इसका अभिप्राय किसी विशेष पुराण से या पुराण-ग्रन्थों के समुदाय से है, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है। पर, इतना निश्चत् है कि न्याय-परंपरा में पुराण प्रामाणिक माने जाते थे, इसका कारण यह है कि उत्तरकालीन धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार का कथन दुहराया गया है[८९]। यह उसी दशा में सम्भव था, जब कि पुराण की प्रतिष्ठा ग्रन्थ के रूप में रही हो। इस सम्बन्ध में आपस्तंब धर्मसूत्र ने तीन ऐसे उद्धरणों को प्रकाश में[९०] लाया है, जिनमें पहले दोनों का सम्बन्ध किसी पुराण से तथा तीसरे का भविष्यत् पुराण[९१] से बताया गया है। प्रायः सभी विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि ये उद्धरण उपलब्ध पुराणों में तथा भविष्यत् पुराण के वर्तमान संस्करण में भले ही न मिलें, पर यह सन्देहरहित है कि इन पुराणों के पूर्वकालिक रूप में ये विद्यमान थे। कारण यह है कि वर्तमान पुराणों में ऐसे स्थल मिलते हैं जिनका अभिप्राय उक्त उद्धरणों के समान ही दिखाई देता है। पुराण-संरचना के संस्करण की प्रतिसंस्करण की प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि प्राचीन पौराणिक स्थल

---

८७. द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ५१८

८८. गौतम धर्मसूत्र, ११।१९; द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ५१९

८९. उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य स्मृति, १।३

९०. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २।२३।३५

९१. वही, २।९।२४।६

अपने मौलिक रूप में मिल ही नहीं सकते थे। यदि इन धर्मसूत्र-ग्रन्थों का काल पंचम-चतुर्थ शताब्दी ई० पू० माना लिया[९२] जाय तो इसी काल को पुराण-संरचना का वह प्रथम स्तर भी मान सकते हैं, जब कि इसे विरचित साहित्य का रूप मिल चुका था। इस सम्बन्ध में हाज़रा महोदय का अनुमान है कि आपस्तंब धर्मसूत्र के पहले ही एक से अधिक पुराणों के प्रणयन की प्रवृत्ति प्रारंभ हो गई थी[९३]। पर, श्री उपाध्याय का मत है आपस्तंब का साक्ष्य उस काल में पुराण की रचना को द्योतित करता है[९४]। स्मरणीय है कि आपस्तंब का साक्ष्य इतना पूर्ण और पुष्ठ नहीं है कि इसके आधार पर एक पुराण अथवा एक ही साथ अनेक पुराणों की रचना का अनुमान लगाया जा सके। तथापि इतना तो कहा जा सकता है कि पुराण-संरचना को जिन प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरणा मिली, उनके आलोक में एक ही साथ अनेक पुराणों का प्रणयन असम्भव नहीं था।

धर्म-सूत्रों के अधार पर पुराण-संरचना-काल के प्रथम स्तर का जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसके समर्थन में कौटिल्य-अर्थशास्त्र का प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में तीन ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनमें अध्ययन के विषय के रूप में पुराण का तथा वेतनभोगी पौराणिकों की चर्चा की गई है[९५]। श्री उपाध्याय का मत है कि इन तीनों स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य का परिचय न केवल पुराणों से ही, अपितु उन विषयों से भी था जिन्हें पुराण का वर्ण्य-विषय माना जाता था[९६]। नितांत गवेषणात्मक ढंग से पार्जीटर ने यह पहले ही मान लिया था कि कौटिल्य के समय तक पुराण मात्र आख्यानों के द्योतक न थे, उन्हें निश्चित् और प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था[९७]। इनके निष्कर्ष का दूसरा पक्ष था कि चतुर्थ शती ई० पू० तक पुराणों को रचित और संकलित रूप प्राप्त हो चुका था[९८]। पर, विन्टरनित्स का निष्कर्ष था कि अर्थशास्त्र की रचना चतुर्थ शती ई० के पहले नहीं मानी जा सकती है[९९] और इस प्रकार इन्होंने पुराणों की

---

९२. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५१६

९३. हाज़रा, वही, पृ० २

९४. उपाध्याय, वही, पृ० १६

९५. अर्थशास्त्र, ५।६, ५।३, ५।१३-१४

९६. उपाध्याय, वही, पृ० २२

९७. पार्जीटर, वही, पृ० ५४

९८. वही, पृ० ५४

९९. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५१६, पाद टिप्पणी ३

रचना काल के प्रथम संकलित स्तर के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता के प्रति संदेह व्यक्त किया था। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थशास्त्र की रचना काल विवेचित करना सम्भव नहीं है। पर, इतना कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र-परंपरा में पुराणों की प्रामाणिकता समान रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यदि परंपरा के प्रादुर्भाव का काल परंपरा-सन्निवेश का पूर्ववर्ती माना जाय तो इसमें संदेह के लिये लेशमात्र अवकाश नहीं दिखाई देता कि पंचम-चतुर्थ शतक ई० पू० में पुराण-संरचना के विरचित रूप का प्रथम स्तर प्रस्तुत हो चुका था।

महाभारत के अन्तःसाक्ष्यों की समीक्षा से भी पुराणों की रचनाकाल के प्राचीन स्तर पर संतोषजनक प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में एक स्थल पर मानव धर्म-शास्त्र, वेदांग तथा चिकित्सा-शास्त्र के साथ-साथ पुराण को श्रद्धेय तथा अतर्क्य घोषित किया गया है[१००]। इसी प्रकार महाभारत में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि महाभारत का पुराणों से न केवल परिचय ही था, अपितु इसे पुराणों की प्रामाणिकता भी मान्य थी[१०१]। ऐसा भी विदित होता है कि महाभारत के काल तक एक से अधिक पुराणों की रचना सम्पन्न हो चुकी थी। इसके एक श्लोक में अतीत और अनागत के विवरण देने में वायु पुराण की उपादेयता पर ध्यान आकर्षित किया गया है[१०२]। अनागत विवरण का संकेत राजवंश-वृत्तांतों को ही माना जा सकता है। इस आधार पर ऐसा कह सकते हैं कि इस काल तक पुराणों की संरचना सुनिर्धारित तथा विशिष्ट लक्षणों के समावेश के साथ हुई होगी। एक प्रसंग में जनमेजय के सर्प-यज्ञ के आख्यान का स्रोत वायु पुराण को माना गया है[१०३]। हाप्किंस के मतानुसार इस कथा का जो स्वरूप वायु पुराण के वर्तमान संस्करण में मिलता है, वह महाभारत की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है[१०४]। इस प्रसंग में लूडर्स ऋष्यशृंग के आख्यान को प्रकाश में लाये हैं। यह आख्यान पद्म पुराण तथा महाभारत, दोनों ही ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उक्त विद्वान् की समीक्षा के अनुसार पद्म पुराण में इस आख्यान का स्वरूप महाभारत की अपेक्षा

१००. द्रष्टव्य, उपाध्याय, वही, पृ० १६

१०१. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२०; हाजरा, वही, पृ० २

१०२. महाभारत, वनपर्व, १६१।१६

१०३. वही, ३।१६१।१६

१०४. हाप्किंस, दि ग्रेट एपिक ऑफ़ इण्डिया, पृ० ४८

प्राचीन प्रतीत होता है। इस निष्कर्ष को सामान्यतया मान्यता ही दी जाती है[१०५]। महाभारत के दो विवरणों में अष्टादश पुराणों की संख्या-निर्देश करते हुये यह स्पष्ट कहा गया है कि व्यास ने इनकी रचना करने के उपरान्त ही महाभारत को विरचित किया[१०६]। कतिपय विद्वानों ने महाभारत के इन दोनों विवरणों को अतीव महत्त्वपूर्ण बताया है[१०७] तथा इनके आधार पर पुराण-संरचना की प्राचीनता भी सिद्ध करने की चेष्टा की है। पर, इन विवरणों की मौलिकता अतएव इनकी प्रामाणिकता भी संदेहरहित नहीं मानी जा सकती है। महाभारत के जिस अंश में ये विवरण मिलते हैं, उसे टीकाकार नीलकंठ मूलतः हरिवंश से सम्बन्धित करते हैं। इनके अनुसार महाभारत की लोकप्रियता के लिये इस ग्रन्थ में हरिवंश से स्थानांतरित कर लिया गया था[१०८]। इस सम्बन्ध में हरिवंश और महाभारत की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर हाज़रा ने भी उक्त अध्याय की मौलिकता को सन्दिग्ध माना है[१०९]। विन्टरनित्स की आलोचना के अनुसार भी, महाभारत के इन दोनों विवरणों को मौलिक मानना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता है[११०]।

प्रस्तुत सन्दर्भ में महाभारत और पुराणों का तुलनात्मक काल-निर्णय प्रासंगिक नहीं है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि पुराणों की ही भाँति महाभारत की रचना भी संहिताकरण शैली के अनुरूप सम्पन्न हुई थी। न तो विशिष्ट पुराण को और न महाभारत को ही निश्चित् अथवा विशेष तिथि की सीमा में रखा जा सकता है। दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक काल-निर्णय में पूर्ण आकार की अपेक्षा इनके भिन्न-भिन्न अंशों को ही विमर्श का विषय बनाया जा सकता है। महाभारत की अपेक्षा पुराण अथवा पुराण की अपेक्षा महाभारत के प्रासंगिक अंशों को ही प्राचीन अथवा अर्वाचीन मानना संगत लगता है। प्रस्तुत प्रबन्ध के एक सन्दर्भ में यह दिखाने की चेष्टा की जायगी कि विष्णु पुराण में, जो प्राचीन पुराणों में

---

१०५. द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२१

१०६. महाभारत, १८।६।९५; १८।५।४६

१०७. उपाध्याय, वही, पृ० २०; मैकडानल, हिस्ट्री ऑफ़ दि संस्कृत लिटरेचर, पृ० २९९; पार्जीटर, वही, पृ० २२; इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ८, पृ० ७६१

१०८. भगवन्नित्यादिः फलाध्ययो व्यासेन हरिवंशान्ते उक्तः, अत्र श्रोत-प्ररोचनार्थम् उक्त इति ज्ञेयम्।

१०९. हाज़रा, वही, पृ० ३

११०. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२१

विशिष्ट माना जाता है, महाभारत का उल्लेख हुआ है[१११]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में जिस जामदग्न्य-आख्यान का उल्लेख है, वह महाभारत का परवर्ती और महाभारत पर आधारित माना जा सकता है[११२]। जहाँ-कहीं इनके विवरणों में समता है, पर स्रोतभूत साक्ष्य का उल्लेख नहीं है, वहाँ इनका सामान्य अतीतकालीन स्रोत माना जा सकता है। ये अतीतकलीन स्रोत थे, वैदिक आख्यान जिनकी पृष्ठभूमि में इन ग्रन्थों का निर्माण हुआ था। जहाँ तक प्रस्तुत विवेचन का सम्बन्ध है, इस सन्दर्भ में यही कह सकते हैं कि पुराण-संरचना को उस विशिष्ट स्तर पर पृथक् साहित्य का स्वरूप प्राप्त हो चुका था, जब कि महाभारत का अंतिम सम्पादन नहीं हुआ था। सामान्यतया महाभारत के अंतिम सम्पादन का काल चार सौ ईसवी माना जाता है[११३]। अतएव इस आधार पर पौराणिक साहित्य-संरचना का समय इसके पूर्व ही मानना संगत लगता है।

जिन अन्य बहिरंग साक्ष्यों से प्रस्तुत विवेचन को स्पष्ट कर सकते हैं, उनमें कादम्बरी और हर्षचरित के रचयिता बाण के विवरण उल्लेखनीय हैं। कादम्बरी में एक स्थल पर कवि ने पुराणों में वायु के कथन की महत्ता को स्पष्ट किया है[११४]। इस वर्णन से न केवल पुराणों के सम्पादित स्वरूप का ही, अपितु विशिष्ट पुराणों की तुलनात्मक लोकप्रियता का भी पता चलता है। बाण के काल तक जितने पुराणों की रचना हुई थी; उनमें कदाचित् वायु पुराण सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता था। हर्षचरित में भी बाण ने वायु पुराण के पठन-पाठन की चर्चा की है[११५]। इस प्रसंग में जो विवरण मिलता है, उसके आधार पर दो निष्कर्ष निकाले गये हैं; १. एक तो पुस्तक पढ़ने वालों का एक विशिष्ट समुदाय होता था तथा, २. दूसरे

---

१११. द्रष्टव्य, लेखक का प्रकाशित निबंध 'डेट ऑफ़ विष्णु पुराण्स चैप्टर्स ऑन मायामोह लीजेण्ड', पुराण-पत्रिका, जुलाई, १९६५, पृ० २८२

११२. द्रष्टव्य, लेखक का प्रकाशित निबंध 'ऑन दि डेट ऑफ़ ब्रह्माण्ड पुराण,' पुराण-पत्रिका, जुलाई, १९६३, पृष्ठांक ३१०-३१२

११३. हार्प्किस, वही, पृ० ३९७-३९८; विन्टरनित्स, वही, पृ० ५०३; पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृ० ३१

११४. कादम्बरी, पूर्व भाग, जाबालि-आश्रम-विवरण

११५. पुस्तकवाचकः सुदृष्टि...गीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ, हर्षचरित, तृतीय परिच्छेद

पुराणों का पाठ सार्वजनीन सम्मेलनों में किया जाता था[११६]। कादम्बरी के राजकुल-वर्णन में समस्त भुवनों की शोभा से समलंकृत राजकुल की तुलना पुराण से की गई है, जिसमें विभाग के क्रमानुसार भुवनकोश का वर्णन रहता है[११७]। यहाँ स्पष्ट है कि कवि का मन्तव्य पुराणों के उस विशेष भाग से है, जिसे भुवनकोश अथवा भूमिसंस्थान की संज्ञा दी जाती है[११८]। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि पुराण-संरचना के प्राथमिक स्तर पर इसके पाँच लक्षण मानते थे। पाँचवें लक्षण को सामान्यतया 'वंश्यानुचरित' ही कहते थे, पर 'वंश्यानुचरित' के स्थान पर कहीं-कहीं 'भूम्यादेः संस्थानम्' पाठ भी मिलता है। इस समीक्षा से यही तात्पर्य निकल सकता है कि बाण के काल तक पुराणों के लक्षण प्रकाश में आ चुके थे, तथा प्रत्येक लक्षण की पृथक् विशेषता मानी जाती थी। कादम्बरी के उत्तर भाग में पुराण, रामायण तथा (महा) भारत का साथ-साथ उल्लेख मिलता है[११९]। इस वर्णन में दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं— (१) एक तो, यहाँ पुराण की परिगणना रामायण और महाभारत के पहले हुई है, तथा (२) दूसरे, पुराण को रामायण और महाभारत की भाँति आगम की संज्ञा दी गई है। इससे व्यक्त होता है कि उत्तर कादम्बरी के रचना-काल तक रामायण और महाभारत की अपेक्षा पुराण को प्राथमिकता दी जाती थी और सम्भवतः इसे अधिक प्राचीन माना भी जाता था। आगम का सामान्य अर्थ होता है धर्मशास्त्र[१२०]। इस दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि इस समय तक पुराणों में धर्मशास्त्रपरक विषयों का भी समावेश हो चुका था। बाण की रचनाओं में मिलने वाले इन सभी विवरणों की सम्मिलित ध्वनि यही हो सकती है कि सातवीं शताब्दी ईसवी के पूर्व ही पुराण-संरचना का विरचित स्वरूप निश्चित् हो चुका था। इसके प्रधान तथा अवांतर लक्षण प्रकाश और प्रचलन में आ चुके थे, तथा इसमें ऐसे विषयों को भी स्थान दिया जा रहा था, जो पहले इसके अंगीभूत नहीं थे। इसमें संदेह नहीं है कि इस प्रकार के विषय और विषयान्तरों के समाहार के कारण पुराणों को प्रामाणिक ग्रन्थ बनने का सुयोग प्राप्त हुआ होगा।

---

११६. उपाध्याय, वही, पृ० ३५

११७. पुराणमिव यथाविभागावस्थापितसकलभुवनकोशम्। कादम्बरी, पूर्व भाग

११८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १६; पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृ० ४५

११९. आगमेषु सर्वेष्वेव पुराणरामायणभारतादिषु...। कादम्बरी, उत्तरभाग

१२०. मनुस्मृति, १२।१०५; मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १२९

पुराण-संरचना के संकलनशील तथा ग्रन्थपरक स्तर का अनुमान प्राचीन दार्शनिकों एवं निबंधकारों के उद्धरणों से भी लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कुमारिल के विचार उल्लेखनीय हैं। एक प्रसंग में कुमारिल ने पुराणों के उन स्थलों की ओर संकेत किया है, जिनमें धर्म के ह्रास का कारण दिया गया है। यहाँ कुमारिल के वर्णन में, पुराणों के संदर्भ में, 'स्मर्यन्ते' शब्द का प्रयोग मिलता है[१२१]। इससे स्पष्ट होता है कि पुराणों की मौखिक स्मरण करने की परंपरा, जिसके द्वारा पुराण-संरचना को प्रारंभ किया गया था, उत्तरकालीन स्तरों में भी अपनी विशिष्टता के साथ विद्यमान थी। उक्त वर्णन में कुमारिल ने पुराणों द्वारा मान्य धर्म-विप्लव का कारण शाक्य अर्थात् बुद्ध तथा इस प्रकार के 'अन्य लोगों' की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में आचार्य उपाध्याय का मत है कि जिन पुराणों के प्रति कुमारिल का संकेत है उनमें बुद्ध बड़ी ही निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे[१२२]। यह उल्लेखनीय है कि उपलब्ध पुराणों के स्थलों में इस प्रकार की स्पष्ट उक्ति नहीं मिलती है। इसके विपरीत इन पुराणों में बुद्ध को अवतार मानने की तथा बौद्ध धर्म का समाहार करने की प्रवृत्ति ही अधिक दिखाई देती है। प्रस्तुत प्रबंध के एक अग्रिम अनुच्छेद में ऐसे पौराणिक स्थलों की समीक्षा की जायगी, जिनमें मायामोह-आख्यान के माध्यम से बौद्ध धर्म को पौराणिक धर्म के अंगीभूत करने की चेष्टा की गई है[१२३]। ऐसे पौराणिक स्थलों में बौद्ध धर्म की नहीं, अपितु वैदिक धर्म के विरोधियों की निन्दा की गई है। पौराणिकों के दृष्टिकोण में बुद्ध वैदिक धर्म के विरोधी थे, यह सही है। पर, इस कथन के अनुमोदन में सुस्पष्ट स्थल, पुराणों के प्रस्तुत संस्करणों में नहीं प्राप्त होते हैं। अतएव इस बात की सम्भावना-मात्र की जा सकती है कि वेद-विरोधी के रूप में बुद्ध और बौद्ध धर्म की चर्चा पुराणों के पूर्वकालिक संस्करणों में रहा होगा। यह भी सम्भव है कि ऐसे पौराणिक संस्करण कुमारिल के काल में भी अपरिवर्त्तित न रह गये थे।

---

१२१. स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः कलौ। तंत्रवार्त्तिक, १।३।७; के आधार पर

१२२. कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति, द्रष्टव्य, उपाध्याय, वही, पृ० २७; तंत्रवार्त्तिक के अन्य स्थलों द्वारा भी कुमारिल का पुराणों से परिचय का पता चलता है। इससे प्रतीत होता है कि कुमारिल के काल में पुराण, धर्मार्थ प्रामाणिक माने जाते थे। द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० ६

१२३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३८५-३८७

कदाचित् इसलिये इन्होंने उक्त वर्णन में 'वर्ण्यन्ते' आदि शब्दों के स्थान पर 'स्मर्यन्ते' का चयन अधिक समीचीन समझा है। इसी प्रसंग में आचार्य उपाध्याय ने तंत्रवार्त्तिक पर कुमारिल की एक अन्य व्याख्या को भी अतीव विशद और विद्वत्तापूर्ण ढंग से समझाने का प्रयास किया है[१२४]। इस व्याख्या में कुमारिल ने पुराणों द्वारा मान्य स्वर्ग और मेरुपृष्ठ की एकता पर बल दिया है[१२५]। स्वर्ग के सम्बन्ध में इस प्रकार के उल्लेख मत्स्य और पद्म पुराणों में मिलते हैं[१२६]। इसके आधार पर निष्कर्ष यह निकाला गया है कि कुमारिल के परिचित पुराण आजकल के पुराणों से भिन्न नहीं थे[१२७]। श्री उपाध्याय के इस मत का किञ्चित् संवर्द्धन किया जा सकता है। कुमारिल का मंतव्य, इन दोनों व्याख्याओं में, दो परस्पर भिन्न पुराण-संरचना से है। पहली व्याख्या में पुराण का संकेत परंपरा में प्रतिष्ठित पौराणिक विचार की ओर है, जिसका विवेचन ऊपर हम कर चुके हैं। दूसरी व्याख्या में कुमारिल ने स्पष्ट रूप में 'पौराणिक' शब्द के साथ 'उच्यते' का प्रयोग किया है, जिससे इनके काल में पुराणों में निबद्ध विचारों का तथा अपरिवर्तित स्थलों का पता चलता है। कुमारिल की इन दोनों व्याख्याओं की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि इनके काल तक पुराणों को विरचित साहित्य का कलेवर प्राप्त हो चुका था। पर, इनकी व्याख्या द्वारा अधिक विचारणीय व्यंजना यह निकलती है, कि इस काल तक पुराणों के प्रतिसंस्करण का स्तर भी प्रारंभ हो चुका था। अग्रिम विवेचनों में यह दिखाने की चेष्टा की जायगी कि मूलभूत वायु-प्रोक्त पुराण के उस महत्त्वपूर्ण प्रतिसंस्करण का काल, जिसके परिणाम में वायु और ब्रह्माण्ड की प्रतियाँ प्रस्तुत की गई थीं, लगभग कुमारिल का ही काल (सातवीं शताब्दी ई०) निश्चित हो सकता है।

कुमारिल की भाँति शंकराचार्य की पंक्तियों में भी पुराण-संरचना का परिचय प्राप्त होता है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों के भाष्य में ऐसे अनेक श्लोकों का विवरण दिया है, जिनका स्रोत वे स्मृति और पुराण को मानते हैं। जैसा कि विन्टरनित्स ने दिखाने की चेष्टा की है, शंकराचार्य के उल्लेखों से यह व्यक्त है कि उनके काल (नवीं शताब्दी ई०) में पुराणों को प्राचीन और प्रामाणिक माना

---

१२४. उपाध्याय, वही, पृ० २७

१२५. तथा स्वर्गशब्देनापि...पौराणिकयाज्ञिकदर्शनेनोच्यते...यदि वेतिहास-पुराणोपपन्नं मेरुपृष्ठम्...। तंत्रवार्त्तिक, १।३।३० के आधार पर

१२६. मत्स्य पु०, ११।३७-३८; पद्म पु०, पाताल खण्ड, ८।७२-७३

१२७. उपाध्याय, वही, पृ० २७

जाता था[१२८]। शंकराचार्य के इन उल्लेखों की विशेषता यह है कि इनमें पुराण का संदर्भ स्मृति के साथ-साथ तथा समान अर्थ में मिलता है। इस आधार पर यह कह सकते हैं कि शंकराचार्य के काल में पुराण की महत्ता स्मृतियों के समान ही मानी जाती थी। प्रस्तुत संदर्भ में हाज़रा का विचार है कि जहाँ-कहीं शंकराचार्य ने पुराण की प्रामाणिकता उद्धृत किया है, किसी विशेष पुराण का नाम नहीं है। पर, ये उद्धरण विष्णु पुराण आदि में मिल जाते हैं[१२९]। यद्यपि इस कथन में सुधार के लिये अवकाश नहीं है, तथापि इतना तो कहा जा सकता है कि पुराणों की विशिष्टता उनके लक्षणों और विषयों के कारण थी। उनके लक्षण तथा अधिकांश विषय समान थे। अतएव ऐसी स्थिति में नामोल्लेख की कोई-आवश्यकता भी नहीं थी। जिन पौराणिक उद्धरणों का वर्णन शंकराचार्य के भाष्य में मिलता है वे अनेक पुराणों में प्राप्त होते हैं। हाज़रा द्वारा तैयार की हुई तालिका से स्पष्ट होता है कि ये उद्धरण, वायु, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड जैसे आदि पुराणों के अतिरिक्त शिव पुराण जैसे उत्तरकालीन पौराणिक ग्रन्थ में भी प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि शिव पुराण, शंकराचार्य के पहले की रचना है। इसके आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि पुराण-परंपरा में जो विषय विशिष्ट माने जाते थे, उन्हें शंकराचार्य ने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया था। अपनी विशिष्टता के कारण ही ऐसे विषय उन पुराणों में भी अपनाए गये, जिनकी रचना बाद में हुई थी। इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ब्रह्मसूत्र, २।१।१ पर शंकराचार्य के भाष्य को अतीव महत्त्व का बताया है। अपनी विशद गवेषणा के आधार पर इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि यहाँ भाष्यकार का संकेत किसी विशिष्ट पुराण से ही है। प्रस्तुत श्लोक इस प्रकार है—

"अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणं।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः[१३०]।"

श्री उपाध्याय के अनुसार इस श्लोक में मन्तव्य वायु पुराण से ही है। कारण यह है कि वायु पुराण के श्लोक का स्वरूप लगभग यही है। अंतर केवल इतना ही है कि वायु पुराण में नारायण के स्थान पर महेश्वर पाठ मिलता है[१३१]। यहाँ एक सहज प्रश्न करने का दुस्साहस किया जा सकता है कि यदि शंकराचार्य वायु पुराण से

---

१२८. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२७
१२९. हाजरा, वही, पृ० २०
१३०. उपाध्याय, वही, पृ० ३० वायु पु० १।१८५
१३१. उपाध्याय, वही, पृ० ३०

परिचित थे; तो उस मूल श्लोक को उद्धृत करने में क्या आपत्ति थी, जो इस ग्रन्थ में निबद्ध किया गया था। पर, इसका उत्तर इनके विवेचन में नहीं मिलता; जो अन्यथा विवादरहित, उत्साहजनक तथा विद्वत्ता से परिपूर्ण है। प्रतीत होता है कि भाष्यकार का संकेत यहाँ वायु पुराण से नहीं, अपितु ब्रह्माण्ड पुराण से है। इस ग्रन्थ में उक्त श्लोक बिना किसी अंतर के साथ ठीक इसी रूप में मिलता है[१३२]। अग्रिम वर्णनों के एक अनुच्छेद में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी कि पौराणिक परंपरा के पूर्ववर्ती स्तर पर वायु और ब्रह्माण्ड दोनों की प्रतिष्ठा एक ही पुराण-ग्रन्थ में थी। इस मूल ग्रन्थ को 'वायुप्रोक्तं पुराणम्' अथवा 'पवमानप्रोक्तं पुराणम्' जैसे विशेषणों से अन्य ग्रन्थों में तथा उपलब्ध वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अध्याय-परिशिष्टों में बोधित किया गया है। यह भी स्पष्ट किया जायगा कि मौलिक वायु पुराण के इन दोनों शाखाभूत ग्रन्थों में, पौराणिकों की क्रमशः शैवात्मक (वायु पुराण में) तथा वैष्णवात्मक (ब्रह्माण्ड पुराण में) प्रवृत्ति स्थल-स्थल पर व्यक्त होती है। ऐसी संभावना का स्पष्टीकरण एक निश्चित् सीमा तक उक्त श्लोक द्वारा भी हो जाता है, जिसमें वायु के संस्करण में महेश्वर तथा ब्रह्माण्ड के संस्करण में नारायण पाठ मिलते हैं। अपनी विवेचना को अधिक प्रासंगिक बनाने के लिये केवल इतना ही कह सकते हैं कि कुमारिल के समान शंकर की पंक्तियाँ भी यह अभिव्यक्त कर देती हैं कि इन दार्शनिकों के काल (सातवीं और नवीं शताब्दी ई०) में पुराणों के संस्करण के अतिरिक्त इनका प्रतिसंस्करण भी तैयार हो चुका था।

प्रामाणिक ग्रन्थों के रूप में पुराणों के उद्धरणों का उल्लेख निबंधकारों ने भी किया है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति पर लिखे हुये अपने भाष्य में मेधातिथि ने ऐसे अनेक श्लोकों का उद्धरण दिया है, जिनके स्रोत उपलब्ध पुराण माने गये हैं[१३३]। इन श्लोकों की दो प्रधान विशेषताएँ हैं—(१) एक तो, इनमें अधिकांश श्लोक सर्ग आदि के अनुशीलन के सन्दर्भ में लिखे गये हैं तथा (२) दूसरे, इनमें कतिपय अपने आपको स्मृति से सम्बन्धित करते हैं। मेधातिथि द्वारा उद्धृत पौराणिक श्लोकों की एक तीसरी विशेषता भी मानी जाती है[१३४]। इनके प्रसंग में भाष्यकार केवल सामान्य रूप में पुराण शब्द का उल्लेख करते हैं, किस विशेष पुराण के प्रति इनका संकेत है—इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। इन श्लोकों के मूल अथवा तत्सम रूप उपलब्ध पुराणों में मिलते अवश्य हैं। पर, वस्तुतः किस पुराण से इनका सम्बन्ध

---

१३२. ब्रह्माण्ड पु०, १।१।१७४

१३३. मनुस्मृति, २।२४; ३।१२४ आदि के आधार पर

१३४. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० ६

माना जाय, यह निश्चित् नहीं हो पाता। अतएव इनके आधार पर स्मृति के भाष्यकर्त्ता की दृष्टि में सामान्य रूप में पुराणों की प्रामाणिकता समर्थित की जा सकती है। विशिष्ट पुराण की तिथि का मूल्यांकन इन उद्धृत श्लोकों के आलोक में नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में हारीत संहिता में एक अतीव स्पष्ट एवं उपयोगी स्थल उपलब्ध होता है। इसके अनुसार अनध्याय-दिवसों के निर्धारणार्थ स्मृतियों और पुराणों को आधार मानना चाहिये[१३५]। इससे स्पष्ट होता है कि हारीत के काल[१३६] तक पुराणों में स्मृतियों के अनुकूल विषयों का समावेश हो चुका था। प्रतीत होता है कि हारीत के काल तक पुराणों को धर्म के आचारपरक पक्ष के प्रसंग में भी प्रमाणिक माना जाता था। विज्ञानेश्वर ने प्रायश्चित्त के विधि-विधान को प्रकाश में लाते हुये, इस बात पर बल दिया है कि इनसे हारीत के परिचय के स्रोत पुराण हैं[१३७]। हारीत का काल छठीं शताब्दी ई० माना जाता है। धर्म के आचार-पक्ष के प्रचलन में तथा इनके रचनागत होने में पर्याप्त समय लगा होगा। अतएव हाज़रा का यह मत असंगत नहीं प्रतीत होता कि पुराणों में आचारपरक विषयों के समावेश का काल चतुर्थ शताब्दी ई० के बाद नहीं माना जा सकता। इससे यह भी व्यक्त होता है कि पुराणों की प्राचीन महत्ता, जो पंचलक्षण के कारण् थी, परम्परा-द्योतक विषय बन चुकी थी। व्यवहार में इनकी उपयोगिता धार्मिक आचार आदि के समावेश के कारण मानी जाती थी। ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि इन पुराणेतर विषयों का समाहार पहले स्वतंत्र रचनाओं में हुआ होगा। पर, बाद में मान्यता प्रदान करने के लिये, तथा इनकी प्रामाणिकता को पुष्टतर सिद्ध करने के लिये इनका समावेश पुराणों में किया गया। पुराणों को विषय-विस्तार की अपेक्षा प्रारंभ से ही थी तथा इनकी रचना को संहिताकरण की शैली से ही प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

इस प्रसंग में यह सहज प्रश्न किया जा सकता है कि जो विषय स्मृतियों और पुराणों में समान रूप में मिलते थे, इनके सन्दर्भ में आधारभूत प्रमाण किसे मानते थे? स्मृतियों को अथवा पुराणों को। इसी प्रश्न को सुविधा के लिये इस प्रकार पूछ सकते हैं कि मूलभूत समता होते हुये भी जहाँ स्मृति और पुराण के प्रतिपाद्य सिद्धान्त परस्पर भिन्न थे, वहाँ दोनों में किसे प्रामाणिक माना जाता था? इस प्रश्न को सुलझाने के लिये जे० डी० एम० डैरट महोदय ने अपरार्क द्वारा उद्धृत एक स्मृति की चर्चा की है। इसके विवरण के

१३५. हारीत संहिता, ४।७०

१३६. हाज़रा के अनुसार छठीं शताब्दी ई०

१३७. याज्ञवल्क्य स्मृति, ३।२८९ के आधार पर विज्ञानेश्वर

अनुसार ऐसे स्थल जहाँ पौराणिक और स्मार्त सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है, व्यवहार की दृष्टि से पुराणों की व्यवस्था मान्य नहीं होनी चाहिए[१३८]। पर, ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों की निरंतर प्रवर्द्धनीय महत्ता के कारण उक्त निर्णय को सार्वजनीन स्वीकारोक्ति नहीं मिल सकी। प्रस्तुत विषय पर हाज़रा के लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मार्त और पौराणिक व्यवस्था; प्रारंभ में कहीं परस्पर भिन्न भले ही मानी जाती थीं, पर, आगे चलकर दोनों को एक ही स्तर पर लाने की चेष्टा की गई। उत्तरकालीन निबंधकारों की पंक्तियों से विदित होता है कि व्यवहार के सन्दर्भ में स्मृति और पुराणों को प्रायः एक ही माना जाता था[१३९]। यदि दोनों में भिन्नता का अवसर कहीं आता था तो उसे दो परस्पर विरोधी परंपराओं का भेद नहीं मानते थे, अपितु एक ही कोटि की व्यवस्थापकों की[१४०]। इस प्रकार मध्यकाल के आते-आते पुराणों को प्रकारांतर से स्मृति के स्तर पर रखा जाता था। इनके पूर्वकालीन आकार में न केवल व्यवहार-साक्षेप विषयों का समावेश कर विस्तार ही लाया गया, अपितु इन्हें प्रमाणिक बनाने के आवेश में अनेक महत्त्वपूर्ण तथा इतिहास और संस्कृति के लिए उपादेय स्थलों को भी निकाल दिया गया, जो अन्यथा इनकी प्राचीनता प्रतिपादित करने में भी सहायक थे। उदाहरण के लिये यहाँ मत्स्य पुराण का उल्लेख किया जा सकता है। व्यवहार-विषयक पुराणों में इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आधुनिक व्यवहार-शास्त्र के जिज्ञासु तथा शोधकर्त्ताओं द्वारा मत्स्य पुराण के संकलन-कर्त्ता के व्यवहार-ज्ञान की मुक्तकंठ से प्रशंसा की जाती है[१४१]। पर, जैसा कि आगे चलकर इस प्रबंध में स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी, मत्स्य पुराण में प्राथमिक स्थल इसके उपलब्ध संस्करण में कहीं-कहीं इस प्रकार विलुप्त हो चुके हैं कि इसकी प्राचीनता केवल नाम और परम्परा सम्बन्धी अवशिष्ट रह गई है, वास्तविक रूप में नहीं। अतएव पुराण-संरचना में संहिताकरण और समुपबृंहण की शैली यदि एक दृष्टि से साधक रही है, तो दूसरी ओर बाधक भी। जिन अन्य

१३८. याज्ञवल्क्य स्मृति, १।७ के आधार पर अपरार्क; द्रष्टव्य, डैरेट, पुराणज इन व्यवहार पोर्शंस; पुराण-पत्रिका, भाग ५, अंक १, पृ० १३

१३९. याज्ञवल्क्य स्मृति, २।२१ के आधार पर मित्रमिश्र; प्रस्तुत समस्या के समाधानार्थ द्रष्टव्य, काणे, वही, भाग ३, पृ० ७३; डैरेट, वही, पृ० १३

१४०. डैरेट, वही, पृ० १३-२१

१४१. डैरेट, वही, पृ० २६

प्राथमिक पुराणों में इस शैली को संयम के साथ अपनाया गया; उनमें व्यवहार-परक स्थल प्रासंगिक रूप में ही मिलते हैं। ऐसे स्थलों को इनमें प्रधानता नहीं दी गई है। उदाहरण के लिये विष्णु पुराण की चर्चा की जा सकती है। डैरेट और हाज़रा की समीक्षाओं से यह स्पष्ट है कि निबंधकारों ने इस पुराण को उद्धृत अवश्य किया है, पर इसके उद्धृत स्थल मत्स्य पुराण की अपेक्षा कम है[१४२]। इसी प्रवृत्ति के कारण वर्तमान रूपों में मत्स्य पुराण की अपेक्षा विष्णु पुराण में प्राचीनता का पुट अधिक दिखाई देता है, जब कि अन्यथा परंपरा की दृष्टि से दोनों ही पौराणिक संरचना के आदि ग्रन्थ स्वीकृत किये जाते हैं। यदि सामान्य रूप में व्यवहारपरक ग्रन्थों के रचना-काल को सातवीं शताब्दी ई० से लेकर ग्यारहवीं ई० मान लिया जाय[१४३], तो इस अंतर्वर्ती अवधि को पुराण-ग्रन्थों के प्रतिसंस्करण का वह महत्त्वपूर्ण स्तर मान सकते हैं, जब कि इसे तद्विषयक स्थलों द्वारा विशिष्ट किया गया था।

यहाँ उल्लेखनीय है कि मध्यकाल में पुराणों की व्यवहार सम्बन्धी उपादेयता और प्रामाणिकता स्थापित होने पर भी, उनका प्राचीन और परम्परागत वैशिष्ट्य समाप्त नहीं हो सका। पंचलक्षण सभी पुराणों में प्रतिसंस्करण की प्रक्रिया के परिणाम में भले ही न मिलें, पर पुराण-संरचना के प्राथमिक स्तरों पर ये इतना महत्त्वपूर्ण हो चुके थे कि उत्तरकालीन स्तरों पर भी इन्हें सहज रूप में मान्यता मिल सकती थी। इस सन्दर्भ में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१७०) पर विश्वरूप के भाष्य की ओर संकेत किया है। याज्ञवल्क्य ने जिस स्थल पर विश्व के परिणाम का विवरण दिया है, वहाँ श्री उपाध्याय ने सांख्य-सिद्धान्त का प्रवाह माना है। अपने भाष्य में विश्वरूप कहते हैं कि यह प्रक्रिया, जिसमें सृष्टि तथा प्रलय संबंधी सिद्धान्तों का विवेचन है, पुराण आदि में सर्वत्र प्राप्त होती है। श्री उपाध्याय ने इस उद्धरण के विवेचन में कहा है कि विश्वरूप का यह विवरण यथार्थ है[१४४]। पुराणों में सांख्य-दर्शन का निर्वाह संदेह-रहित है। इसके अनुमोदन में कूर्म पुराण (१।४।६।१६) तथा विष्णु पुराण (१।२।२९-३०) के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रस्तुत विवेचन की प्रासंगिकता की दृष्टि से, आचार्य उपाध्याय के निष्कर्ष के साथ

---

१४२. डैरेट, वही, पृ० २९; हाजरा, वही, पृ० ६, १७७

१४३. हाजरा द्वारा निर्णीत विष्णु पुराण के स्थलों के आधार पर, द्रष्टव्य, वही, पृ० १७७

१४४. उपाध्याय, वही, पृ० ३२

कुछ अतिरिक्त बातों का निर्देश किया जा सकता है। एक तो, यह कि विश्वरूप के इस भाष्य का संकेत पंचलक्षण के प्रथम दो लक्षणों के प्रति है, जिन्हें सामान्यतया क्रमशः सर्ग और विसर्ग की संज्ञा दी जाती थी। दूसरी बात, जो इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, वह है यहाँ पुराण के साथ आदि शब्द का प्रयुक्त होना। विश्वरूप ने पुराण का स्पष्ट उल्लेख कर, तथा पुराणेतर रचनाओं को केवल सामान्य रूप में आदि शब्द से व्यक्त कर, यह व्यक्त करना चाहा है कि सर्ग और प्रतिसर्ग मुख्यतया पुराणों के ही वर्ण्य-विषय हैं, यद्यपि पुराणों के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में भी इनके वर्णन मिलते हैं। इसी परम्परा के प्रति वस्तुतः विश्वरूप का निर्देश प्रतीत होता है। अतएव इस आधार पर यह कह सकते हैं कि सांख्य-परम्परा में जिन सिद्धान्तों के परिशीलन की प्रतिष्ठा हुई थी; उसे विषय मानकर सांख्य-सम्मत ग्रन्थों का प्रणयन तो हुआ ही था, इसके अतिरिक्त उसे पौराणिक सर्ग और विसर्ग का भी विषय बनाया गया था। विश्वरूप का समय नवीं शताब्दी ई० माना जाता है। इससे व्यक्त होता है कि पुराणों के प्रतिसंस्करण के काल में भी उनके प्राचीन स्वरूप से लोग परिचित थे।

पौराणिक परम्परा में आख्यान-विवरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उत्तरकाल में उसका निरन्तर निर्वाह होता रहा। पौराणिक आख्यानों की यह विशेषता थी कि इनके माध्यम से विषयान्तर को व्यक्त किया जाता था। सर्ग प्रतिसर्ग आदि पुराणों के प्राथमिक वर्ण्य-विषयों को सुग्राह्य और सार्वजनीन बनाने के लिये, प्रायः आख्यान का रूप दिया जाता था। अतएव आख्यान की प्रतिष्ठा केवल शैली के रूप में हो सकी, इसे स्वयं में पूर्ण अथवा अंतिम नहीं माना जा सकता है। इन्हीं आख्यानों के दो अवान्तर रूप भी थे— (१) उपाख्यान तथा (२) कथा। इन दोनों को आख्यान का अंग बनने का सुयोग पहले मिला; पर बहुधा इनका व्यवहार स्वतन्त्र रूप में भी किया गया था। उपाख्यान की चर्चा, आख्यान के साथ गत पृष्ठों पर कर चुके हैं। इस सन्दर्भ में पुराण-संरचना में कथा-शैली की महत्ता विवेचनीय है। कथाओं का समावेश पुराणों में तो हुआ ही था, इसके अतिरिक्त इनके समाहार द्वारा संस्कृत साहित्य में पृथक् ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ था। ये ग्रन्थ दो वर्ग के माने जाते हैं— (१) एक तो वे ग्रन्थ, जिनका सम्बन्ध नीति-कथा से किया जाता है, तथा (२) दूसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं, जिनका सम्बन्ध लौकिक कथाओं से माना जाता है। नीति-कथाओं का तथा इनके समाहार से निर्मित ग्रन्थों का उद्देश्य था सुगम और सुबोध शैली में नैतिक शास्त्र का बोध कराना। संस्कृत साहित्य में इस वर्ग के दो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं (१) पंचतंत्र तथा (२) हितोपदेश। पर, इसमें सन्देह नहीं कि प्रसंगतः नीति-कथाएँ रामायण, महाभारत आदि अन्य ग्रन्थों में

भी पाई जाती हैं। भरहुत के स्तूप पर कुछ नीति-कथाओं का नाम उत्कीर्ण मिलता है। इससे इनके प्रचलन और प्रामाणिकता का अनुमान लगा सकते हैं[१४५]। जब कि नीति-कथाएँ उपदेश-प्रचुर और नीति-प्रधान थीं, लौकिक कथाओं का उद्देश्य आनन्द-निष्यन्दन तथा मात्र मनोरंजन था[१४६]। परम्परा के अनुसार लौकिक कथाओं का सबसे प्राचीन संकलन 'बृहत्कथा' को मानते हैं, जिसके रचयिता गुणाढ्य थे। पर, इस समय यह ग्रन्थ मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, केवल इसके रूपान्तर मिलते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह (२) बृहत्कथा-मंजरी तथा (३) कथा-सरित्सागर। इनके अतिरिक्त वेतालपंचविंशतिका, विक्रमचरित तथा शुक-सप्तति भी लौकिक कथाओं के मनोरम संकलन माने जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन सभी लोककथा-ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रचलित बृहत्कथा थी। प्राचीनता तथा ख्याति की दृष्टि से इसे रामायण एवं महाभारत की भाँति प्रतिष्ठित माना जाता था[१४७]। प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी ई० में यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में विद्यमान था, कारण यह कि बाण ने हर्षचरित में इसका उल्लेख स्पष्ट रूप में करते हुये इसकी उपमा हरलीला से दी है[१४८]।

जहाँ तक पुराणों का सम्बन्ध है, इनमें आख्यान-शैली को प्राथमिकता दी गई थी। ऐसी स्थिति में कथा-शैली का निर्वाह अथवा प्रचलित कथाओं का सन्निवेश सहज और स्वाभाविक था। पर, कथा-शैली के सन्निवेश के साथ-साथ पुराण-संरचना की विशेषता है कि इसमें भिन्न-भिन्न प्रसंगों में उपदेशात्मक, नीतिशास्त्र-सापेक्ष तथा सुभाषित श्लोक भी प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत विषय को डॉ० स्टर्नबाख ने अपनी विशद व्याख्या के अनुसार विवेचित करने का प्रयास किया है[१४९]। जिन कथा-ग्रन्थों की उपर्युक्त अनुच्छेद में चर्चा की गई है, इनकी समीक्षा करने के उपरान्त ये निम्नांकित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इन अनेक कथा-ग्रन्थों के गद्य-भाग के अन्तर्वर्ती स्थलों में अनेकत्र उपदेश-प्रचुर और सुभाषित श्लोक प्राप्त होते हैं। पुराणों के तद्विषयक श्लोकों में तथा इन कथा-ग्रन्थों के श्लोकों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है। तुलनात्मक दृष्टि से ये श्लोक तीन प्रकार के प्रतीत होते हैं— (१)

---

१४५. द्रष्टव्य, मैकडानल, इण्डियाज् पास्ट, पृ० ११७
१४६. दशरूपक, १।६८
१४७. श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः। आर्यासप्तशती
१४८. हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा। हर्षचरित
१४९. स्टर्नबाख, दि कथा लिटरेचर ऐण्ड दि पुराणाज, पुराण-पत्रिका, भाग ७; अंक १, पृ० १९-८६

ऐसे श्लोक, जो दोनों वर्ग की रचनाओं में एक ही प्रकार हैं, (२) ऐसे श्लोक, जो लगभग समान हैं; तथा (३) ऐसे श्लोक, जिनमें भाव-साम्य दिखाई देता है। इन श्लोकों के तुलनात्मक विवेचन का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि बहुधा इन्हें कथा-ग्रन्थों में पुराणों के नाम से उद्धृत किया गया है। पर, उपलब्ध पुराणों में ये मिलते नहीं हैं। ऐसे पुराणों में भविष्य पुराण का उल्लेख विशेषतया कर सकते हैं। स्टर्नबाख द्वारा दी गई श्लोकों की तालिका से स्पष्ट है कि शुकसप्तति आदि कथा-ग्रन्थों में कतिपय सुभाषितों का सम्बन्ध भविष्य पुराण से बताया गया है। पर, ये सुभाषित इस ग्रन्थ में इस समय उपलब्ध नहीं हैं। पर, इसी ग्रन्थ में बहुत से सुभाषित श्लोक मिल भी जाते हैं। जिन अन्य पुराणों में कथा-ग्रन्थों के सुभाषित प्राप्त होते हैं; उनमें अग्नि पुराण, गरुड पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, भागवत पुराण, मार्कण्डेय पुराण, वामन पुराण, मत्स्य पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण तथा स्कन्द पुराण विशिष्ट माने गये हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रसंगात्मक सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जा सकता है कि इन सुभाषित श्लोकों के वास्तविक स्रोत पुराण-ग्रन्थ हैं अथवा कथा-ग्रन्थ। उक्त अनुच्छेद में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि कहीं-कहीं इन कथा-ग्रन्थों में सुभाषित श्लोकों के सन्दर्भ में भविष्य पुराण का उल्लेख मिलता है। इससे भविष्य पुराण का इनका स्रोत होना, कम से कम तदनुकूल प्रसंगों में, स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार की सम्भावना और भी सबल हो जाती है, जब कि हम यह देखते हैं कि पूरी वेतालपंचविंशतिका का समाहृत रूप भविष्य पुराण में सुरक्षित है। पर, कठिनाई यह है कि भविष्य पुराण अपने वर्तमान रूप में एक उत्तरकालीन रचना है। इसके जिस खंड में (१।२, २-३) वेतालपंचविंशतिका का विवरण है, वहीं अँग्रेजों के शासनकाल का भी उल्लेख मिलता है। यह निश्चित नहीं हो पाता कि यह समस्त खंड बाद का है, अथवा केवल आधुनिकता से सम्बन्धित स्थलों को जोड़ कर इसके मूल आकार का विस्तार किया गया है। प्रस्तुत प्रश्न पर अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता है। यह सम्भव है कि वेतालपंचविंशतिका जितने अंश में वर्णित है, उतने का सम्बन्ध भविष्य पुराण के किसी मूल संस्करण से है। स्टर्नबाख महोदय के निष्कर्ष के साथ इतना और कह सकते हैं कि कथा-ग्रन्थों तथा पौराणिक ग्रन्थों में सुभाषित श्लोकों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहा होगा। इस प्रसंग में यदि कथा-ग्रन्थ ऋणी हैं तो पौराणिक रचना के मूल-संस्करणों के ही; इसके विपरीत अपने अवांतरकालीन संस्करणों में पुराण-ग्रन्थ ही कथा-ग्रन्थों के ऋणी माने जा सकते हैं। सामान्यतया इस बात का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है

कि पुराणों में आख्यान-शैली के अनुकूल तथा उसके प्रभाव में जिस कथा-शैली का सूत्रपात हुआ; उसकी रोचकता और लोकप्रियता के लिये सुभाषितों तथा नीति-परक श्लोकों का, इन ग्रन्थों में समय-समय पर समावेश किया गया। जिन विशिष्ट कथा-ग्रन्थों की चर्चा प्रस्तुत विवेचन में की गई हैं, उनमें पंचतंत्र की तिथि चतुर्थ शताब्दी ईसवी तथा कथासरित्सागर की तिथि ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी मानते हैं। अतएव यह अंतर्वर्त्ती काल (चतुर्थ शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक) पुराण-संरचना के संस्करण और प्रतिसंस्करण का वह स्तर माना जा सकता है, जब कि उक्त प्रकार के श्लोकों तथा तत्सम्बन्धी कथाओं से इसके आकार को परिवर्द्धित करने का प्रयास किया गया था।

पुराण-संरचना के विकास में विषय-विस्तार के साथ-साथ संख्या-विस्तार का भी महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। गत पृष्ठों के एक अनुच्छेद में यह दिखाया जा चुका है कि मूलभूत एक पुराण-संहिता की सम्भावना यथार्थ नहीं मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसी प्रसंग में इस प्रश्न पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि पुराणों के प्रणयन में जो प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं, उनके आलोक में एक साथ अनेक पुराणों की रचना सम्भावित मानी जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंग में पुराणों की प्राथमिक संख्या तथा इसके विस्तार पर विचार किया जा सकता है। अतएव मूलभूत पुराण-संहिता की सम्भावना के औचित्य एवं अनौचित्य का पुनर्विवेचन भी समीचीन प्रतीत होता है। पुराणों तथा पुराणेतर ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं पुराण शब्द का व्यवहार एकवचन में हुआ है। इस आधार पर जैक्सन[१५०] तथा पार्जीटर[१५१] ने ऐसा विचार व्यक्त किया था कि प्रारम्भ में कोई मूलभूत पुराण-रचना रही होगी, जिसकी प्रेरणा में उपलब्ध पुराण-ग्रन्थ रचित प्रतीत होते हैं। पर, विन्टरनित्स[१५२], हाज़रा[१५३] तथा पुसाल्कर[१५४] ने इस विचार की मान्यता के प्रति सन्देह प्रकट किया है। इनका मत है कि जिन ग्रन्थों में पुराण शब्द का प्रयोग एकवचन में हुआ है, वहाँ इस शब्द का तात्पर्य पुराण-ग्रन्थों की सामूहिक रचना से है; न कि पुराण-विशेष से। हाल ही में

---

१५०. जैक्सन, जर्नल ऑफ़ बाम्बे ब्रांच आफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २१, १९०५, अतिरिक्त अंक, पृ० ७७

१५१. पार्जीटर, वहीं, पृ० ३५, ४९

१५२. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२१-५२२

१५३. हाज़रा, वही, पृ० २

१५४. पुसाल्कर, वही, भूमिका, पृ० ५२

स० शि० ज्ञानी ने इस पिटे पिटाये प्रश्न को फिर से दुहराने की चेष्टा की है। अपने एक निबन्ध में; जो अन्यथा अतीव पांडित्य-पूर्ण तथा उपयोगी है, इन्होंने प्राचीन पुराणोतर ग्रन्थों की चर्चा की है, जिनमें पुराण शब्द का प्रयोग एकवचन में हुआ है। इनकी व्याख्या के अनुसार बहुवचन में पुराण का व्यवहार उत्तरकालीन ग्रन्थों में ही प्राप्त होता है। अतएव प्रारम्भ में मूलभूत एक पुराण का अस्तित्व माना जा सकता है[१५५]। यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। एक तो, पुराणोतर प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ कहीं पुराण शब्द प्रयुक्त मिलता है, वहाँ यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इनके स्थलों में पुराण का तात्पर्य ग्रन्थ से है अथवा इस शब्द के प्राचीन अर्थ अर्थात् आख्यान से। इन दोनों में दूसरी सम्भावना अधिक सबल प्रतीत होती है। दूसरे, यह आवश्यक नहीं है कि प्राचीन ग्रन्थों में पुराण का एकवचन में व्यवहार सर्वत्र और सर्वथा हुआ है। उदाहरण के लिये गोपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक के उद्धरण दिये जा सकते हैं। गोपथ ब्राह्मण में वेद और पुराण का संयोग बताते हुये दोनों शब्दों का प्रयोग बहुवचन में किया गया है[१५६]। इस उद्धरण में चाहे उतनी स्पष्टता न हो, पर तैत्तिरीय आरण्यक में पुराण शब्द स्पष्ट रूप में बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है[१५७]। ऐसी स्थिति में, केवल यही कह सकते हैं कि अभी तक जितने साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनके द्वारा मूलभूत पुराण के एक होने की सम्भावना सिद्ध नहीं होती।

ऐतिहासिक साक्ष्यों की कसौटी से थोड़ा दूर हटकर यदि सम्भावना के अनुकूल ही चलें तो यह प्रतीत होगा कि पुराण-परंपरा की प्रतिष्ठा तथा पुराण-संरचना के संकलित स्तर के बीच में पर्याप्त व्यवधान था। दोनों के अंतर्वर्ती अवधि में, क्षेत्रीय तथा वैचारिक विषमता के कारण पुराणों के प्राचीन वर्ण्य विषयों में मौलिक समरूपता के होते हुये भी बहुरूपता का पदक्षेप सहज और स्वाभाविक था। अतएव पुराण-संकलन के प्रथम स्तर पर ही, इन प्राचीन विषयों का समावेश एक से अधिक ग्रन्थों में सम्भव था। इस सन्दर्भ में विन्टरनित्स महोदय ने विष्णु पुराण के उस श्लोक की चर्चा की है; जिसमें चार प्राथमिक पुराण ग्रन्थों की रचना का वर्णन है, पर नामोल्लेख नहीं प्राप्त होता है[१५८]। इस श्लोक के अनुसार इन

---

१५५. सदाशिव ज्ञानी, दि डेट ऑफ़ दि पुराणाज, पुराण-पत्रिका, भाग १, अंक २, पृ० २१९

१५६. गोपथ ब्राह्मण, पूर्व भाग, २।१०

१५७. तैत्तिरीय आरण्यक, २।९

१५८. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२१

चारों का संकलन सूत रोमहर्षण तथा इनके तीन शिष्यों ने किया था। विन्टरनित्स ने इस विवरण के आख्यानात्मक होने के कारण इसकी विश्वसनीयता पर संदेह प्रकट किया है[१५९]। पर, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस विवरण में वस्तु-स्थिति का सन्निधान माना है। इनके अनुसार पुराण-संख्या का विस्तार तीन स्तरों के साथ हुआ था। पहले स्तर पर, जैसा कि विष्णु पुराण से स्पष्ट है, पुराणों की संख्या चार ही थी। वायु पुराण में इनकी संख्या दस बताई गई है। पुराण-संख्या के विस्तार का यह दूसरा स्तर माना जा सकता है। तीसरा स्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, जब कि इनकी संख्या दस के स्थान पर अठारह हो गई थी। इस सन्दर्भ में पार्जीटर तथा फ़र्क्यूहर के मत विशेषता उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार पुराणों की अंतिम संख्या उन्नीस मानी जा सकती है। पार्जीटर ने पुराणों के संख्या-विस्तार में शिव पुराण को भी सम्मिलित किया है, जब कि वस्तु-स्थिति इससे कुछ भिन्न लगती है। पौराणिक स्थलों में महापुराणों की संख्या जहाँ-कहीं दी गई है, वहाँ अठारह का ही उल्लेख है। इस प्रकार की तालिका प्रायः सभी पुराणों में मिलती है, जिसमें निम्नांकित महापुराण गिनाये गये हैं—१. ब्रह्म, २. पद्म, ३. विष्णु, ४. वायु, ५. भागवत, ६. नारदीय, ७. मार्कण्डेय, ८. अग्नि, ९. भविष्य, १०. ब्रह्म-वैवर्त, ११. वराह, १२. लिङ्ग, १३. स्कन्द, १४. वामन, १५. कूर्म, १६. मत्स्य, १७. गरुड़ तथा १८. ब्रह्माण्ड। यहाँ स्मरणीय है कि कुछ पुराणों में शिव पुराण का भी उल्लेख है, पर ऐसे ग्रन्थों में फिर वायु पुराण की चर्चा नहीं है। अतएव पुराणों की परंपरा-गत अंतिम संख्या अठारह ही मानी जा सकती है, न कि उन्नीस। शिव पुराण को भ्रमवश अथवा शैव परंपरा के निर्वाह में ही महापुराण माना गया है[१६०]। इस पुराण का सबसे प्राचीन निर्देश अलबरूनी के विवरण में मिलता है, जिसके काल तक पुराणों का प्राचीन रूप बहुत कुछ बदल चुका था[१६१]। अतएव इसे प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त पुराणों की तालिकाओं में शिव पुराण की मात्र चर्चा के आधार पर इसका महा-पुराणत्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि इनका समावेश बाद में हुआ था। इसके विपरीत वायु पुराण का महापुराणत्त्व अनेक साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है। इसका उल्लेख

---

१५९. पुसाल्कर, वही, पृ० ४१, सचाऊ अलबरूनीज़ इण्डिया, भाग १, पृ० १३०

१६०. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५२१, पाद टिप्पणी, ४

१६१. प्रस्तुत प्रसंग की विशद समीक्षा के लिये द्रष्टव्य, उपाध्याय, वही, पृ० १००; हाज़रा, वही पृ० १५; पुसाल्कर, वही, पृ० ४१

प्राचीन ग्रन्थों से लेकर अनेक उत्तरकालीन ग्रन्थों के स्थलों में मिलता है, अतएव पौराणिक तालिकाओं में कहीं-कहीं इसका नाम न मिलना संकलनकर्त्ताओं की भ्रांति अथवा सांप्रदायिक प्रवृत्ति का प्रमाणमात्र माना जा सकता है। जहाँ तक हरिवंश का सम्बन्ध है, इसे केवल आकार-विस्तार और कहीं-कहीं वर्णन-शैली के कारण ही पुराण की संज्ञा दी गई है। इसकी प्रतिष्ठा महाभारत के अठारह पर्वों के परिशिष्ट के रूप में है। यह महाभारत का एक अंग है, पर इसके उन्नीसवें पर्व के रूप में नहीं अपितु 'खिल' के रूप में[१६२]। इस दृष्टि से विधानतः इसे एक स्वतंत्र रचना ही कह सकते हैं, जो परंपरा-परीवाह के अनुसार महाभारत के निकट है और जिसमें पौराणिक आख्यान-परक शैली का केवल निर्वाह मिलता है। इसे वास्तविक पुराण नहीं माना जा सकता है। इस दृष्टि से पुराणों की संख्या-विस्तार में हरिवंश को सम्मिलित करना उचित नहीं प्रतीत होता है। अतएव पुराणों की अंतिम संख्या अठारह ही मानी जा सकती है।

प्रस्तुत विवेचन की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुये, यहाँ अठारह पुराण की संख्या-निर्धारण सम्बन्धी प्रश्न उठाया जा सकता है। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पुराण के स्थान पर महापुराण शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन स्तर से सम्बन्ध रखता है[१६३]। प्राचीन ग्रन्थों में पुराण शब्द का ही प्रयोग मिलता है। जहाँ तक पुराणों का सम्बन्ध है, इसका उल्लेख भागवत (३।२।७) तथा भविष्य (४।१३१) में प्राप्त होता है, जब कि अन्य पुराण-ग्रन्थ निरन्तर पुराण शब्द का ही प्रयोग करते हैं। पुराणों की अष्टादश-संख्या का विवेचन करते हुये, पंडित मधुसूदन ओझा[१६४] ने इसे साभिप्राय एवं सहेतुक माना है। इनकी समीक्षा के अनुसार पुराण-ग्रन्थों का मौलिक वर्ण्य-विषय सृष्टि-प्रतिपादक है, जिसमें सांख्य दर्शन-प्रक्रिया का निर्वाह दिखाई देता है। सृज्यमान तत्त्व गणना में अठारह होते हैं। अतएव इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा में सम्भवतः पुराणों की संख्या का निर्धारण किया गया था। इसके अतिरिक्त इन विद्वान् ने कतिपय अन्य युक्तियों की संभावना की है, जिनके द्वारा पुराण-संख्या के अष्टादश होने का समाधान व्यक्त हो जाता है। यद्यपि इन युक्तियों की स्वीकृति में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं दिखाई देती है, पर इनसे पुराण शब्द के महापुराण में रूपांतर तथा अष्टादश संख्या के निर्धारण का समय सुनिश्चित नहीं हो पाता। इसके साथ-साथ यदि यह

---

१६२. द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ४४३

१६३. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० २, पाद टिप्पणी १६

१६४. पुराणोत्पत्ति-प्रसंग, पृ० ५-१०

कहें कि गीता में अठारह अध्यायों का परिकल्पन, महाभारत में अठारह पर्वों का निर्धारण एक ही मूलभूत प्रवृत्ति के आलोक में हुआ था, तो निष्कर्ष कुछ संगत सा लगता है। ऐसी संभावना भी की जा सकती है कि भारत शब्द का महाभारत में, काव्य का महाकाव्य में, तथा पुराण का महापुराण में रूपान्तर समान प्रवृत्ति के कारण और संभवतः सम परिस्थिति में हुआ था। अष्टादश-संख्या के काल-निर्णय में मत्स्य पुराण का एक स्थल अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस पुराण के अध्याय तिरपन में अठारह पुराण उल्लिखित हैं, तथा इसकी तिथि भी निश्चित् की जा चुकी है। हाज़रा के अनुसार इस अध्याय को ५५० ई० तथा ६५० ई० के अन्तर्वर्ती काल में रखा जा सकता है[१६५]। अतएव पुराणों की अष्टादश-संख्या का समय भी इसी के आस-पास मान सकते हैं। यहाँ इस बात का निर्देश कर सकते हैं कि संभवतः पुराणों की अष्टादश-संख्या का निर्धारण तथा पुराण शब्द का महापुराण में रूपान्तरण, इन दोनों का समय एक ही है। इसी काल के आस-पास काव्य का महाकाव्य में परिणयन हो चुका था, तथा इसे निश्चित् परिभाषा भी मिल चुकी थी। महाकाव्य की रूप-रेखा दण्डी ने अपने काव्यादर्श में प्रस्तुत किया है। दण्डी का काल ८०० ई० के पहले तथा ५०० ई० के बाद माना जाता है[१६६]। अतएव सामान्य रूप में लगभग सातवीं शताब्दी को वह स्तर कहा जा सकता है, जब कि महाकाव्य की भाँति महापुराण शब्द आलोक और प्रचलन में आ चुका था, तथा अष्टादश पुराण सम्बन्धी संख्या का निर्धारण हो चुका था।

---

१६५. हाज़रा, वही, पृ० ३

१६६. द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०६, पृ० ८४१

आलोचित-पुराण : तिथि-निर्देश

वायु पुराण

प्रतिपाद्य विषयों की प्राचीनता की दृष्टि से, तथा अन्य परंपरा-निबद्ध प्रमाणों के आधार पर वायु पुराण को सर्वप्राचीन पुराण-रचना मानते हैं[१]। कुछ पुराणों की अष्टादश महापुराण की तालिका में वायु पुराण के स्थान पर शैव पुराण अथवा शिव पुराण का उल्लेख मिलता है। अतएव कभी-कभी वायु पुराण के महापुराण होने में संदेह प्रकट किया जाता है। पर, ऐसे निष्कर्ष में याथार्थ्य के लिये अवकाश नहीं दिखाई देता है[२]। अष्टादश पुराण की चर्चा करने वाले पौराणिक स्थल बाद में जोड़े गये हैं, जब कि पुराण-ग्रन्थ अपने मूल स्तर से च्युत हो चुके थे। इसके अतिरिक्त इस पुराण में बहुत से ऐसे अध्याय तथा मूल अध्याय के कुछ श्लोक हैं, जिनका स्वरूप शैवात्मक है। इन्हें मूल ग्रन्थ का अंग नहीं माना जा सकता है[३]। यह संभव है कि इन्हीं स्थलों की विशिष्टता के कारण वायु पुराण को शैव अथवा शिव पुराण नाम दे दिया गया है। प्रायः सभी विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि उपलब्ध शिव पुराण महापुराण नहीं माना जा सकता[४]। इस सन्दर्भ में आधारभूत जितने कारण प्रस्तुत किये गये हैं, वे पुष्ट तथा विश्वसनीय हैं। पर, इनके साथ वक्ष्यमाण अतिरिक्त बातों का भी उल्लेख किया जा सकता है— (१) वायु पुराण की प्रामाणिकता प्राचीन ग्रन्थों में स्वीकार की गई है[५]। इसके विपरीत शिव पुराण की प्रामाणिकता के प्रतिपादक उल्लेख उत्तरकालीन ग्रन्थों में मिलते हैं[६]। प्राचीन

---

१. हाज़रा, वही, पृ० १३; दीक्षितार, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ वायु पुराण, पृ० ४६; पुसाल्कर, वही, पृ० ३६

२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४७

३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३३, ५३-५५

४. उपाध्याय, वही, पृ० १००, पुसाल्कर, वही, पृ० ८६

५. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३३

६. उदाहरण के लिये द्रष्टव्य, नित्याचार-प्रदीप, पृ० १६; भागवत, १२।१३।४ पर श्रीधरीय भाष्य तथा वीरमित्रोदय; परिभाषा-प्रकाश, पृ० १३। इनकी विशद समीक्षा हाज़रा महोदय ने किया है, वही, पृ० १३, पाद टिप्पणी १२। ऐसे उल्लेखों का कारण इन्होंने सांप्रदायिक प्रवृत्ति को माना है, वही, पृ० १४

ग्रन्थों में ऐसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। (२) वायु-प्रोक्त पुराण से, जिसकी एक विशिष्ट शाखा के रूप में आज ब्रह्माण्ड पुराण उपलब्ध है, वायु पुराण की एकता विवाद-रहित है। पर, शिव पुराण इससे मेल नहीं खाता।

जिन प्राचीन ग्रन्थों में वायु पुराण का उल्लेख, उद्धरण अथवा प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में हुआ है, उनमें महाभारत, हरिवंश तथा बाणभट्ट की दोनों कृतियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। महाभारत की पंक्तियों में वायु पुराण की तीन प्रमुख विशेषताओं पर बल दिया गया है—(१) अतीत और अनागत का आख्यान (२) इसके साथ ऋषि का परिचय, तथा (३) वायु द्वारा इसका 'प्रोक्त' होना। यहाँ 'अनागत का आख्यान' महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। अनागत का संकेत राजवंश-वर्णन की ओर है। राजवंश-वर्णन की शैली भविष्योक्ति के रूप में है। अतएव महाभारत के काल तक वायु पुराण में राजवंश-वर्णन के स्थलों का समावेश हो चुका होगा। दूसरी विशेषता अर्थात् ऋषि के साथ इसका परिचय, वायु पुराण की आदरणीयता को व्यक्त करता है। तीसरी विशेषता इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है, क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थों में भी वायु पुराण के लिये 'वायु-प्रोक्त' अभिधान का प्रयोग प्राप्त होता है[७]। हरिवंश के स्थलों में वायु पुराण का उल्लेख एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मिलता है। हाप्किंस की समीक्षा के अनुसार हरिवंश और वायु पुराण के स्थलों में अनेकत्र शाब्दिक समता प्राप्त होती है[८]। बाणभट्ट ने कादम्बरी तथा हर्षचरित दोनों में ही वायु पुराण का उल्लेख किया है। जैसा कि आचार्य उपाध्याय ने आलोचित करने की चेष्टा की है, कादम्बरी में इसका निर्देश परिसंख्या अलंकार के एक सुन्दर उदाहरण के रूप में हुआ है। मूल पंक्ति इस प्रकार है—'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' अर्थात् पुराणों में वायु का कथन उपलब्ध होता

---

७. एतत् सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्॥ वनपर्व १९१।१३; इस श्लोक के मूल रूप की समीक्षा आचार्य उपाध्याय ने किया है। इनके मतानुसार प्रस्तुत श्लोक में निर्दिष्ट 'वायुप्रोक्त' से वायु पुराण की एकता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि प्रचलित वायु पुराण में भी राजवंशों के विवरण का समाहार प्राप्त होता है। वही, पृ० २०

८. हार्प्किस, दि ग्रेट एपिक, पृ० ४०; द्रष्टव्य, विन्टरनित्स, वही, पृ० ५३३; हाज़रा, वही, पृ० १३

है[९]। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि बाण के समय तक विरचित सभी पुराणों में सबसे अधिक प्रामाणिक वायु पुराण ही माना जाता था। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि प्राथमिक पुराण भी अपने बहुत से स्थलों के लिये वायु पुराण के ऋणी हैं; यद्यपि इस संदर्भ में कम से कम राजवंश-विवरण की दृष्टि से पार्जीटर ने मत्स्य पुराण का ही आभार अन्य प्राथमिक पुराणों पर माना है[१०]। हर्षचरित में उल्लेख है कि वायु पुराण का सर्वसाधारण में पठन-पाठन प्रचलित था। इसी प्रसंग में वायु पुराण के लिये 'मुनिगीतम्' 'अतिपृथु', 'जगद्व्यापि' तथा 'पावन' जैसे विशेषण भी प्रयुक्त मिलते हैं[११]। इन विशेषणों द्वारा वायु पुराण की लोकप्रियता, प्रामाणिकता तथा आकार-विस्तार का बोध होता है। प्रस्तुत प्रसंग में शंकराचार्य की महत्त्वपूर्ण पंक्ति उल्लेखनीय है। मूल संस्कृत रूप में यह पंक्ति इस प्रकार है : 'पुराणे चातीतानागतानां कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम्'[१२]। प्रस्तुत पंक्ति में पुराण की जो विशेषता अतीत और अनागत के रूप में व्यक्त की गई है, वह ठीक वैसे ही है जैसे महाभारत के उपर्युक्त उद्धरण में[१३]। अतएव यह सम्भव है कि यहाँ संकेत वायु पुराण की ओर ही है। इस प्रसंग में आचार्य उपाध्याय ने ब्रह्माण्ड पुराण, १।४।३०-३२ को शंकराचार्य की उक्त पंक्ति का मंतव्य बताया है। इनके मत की आदरणीयता स्वीकार करते हुये, यहाँ इतना और कहा जा सकता है कि इस पंक्ति का विवरण वायु पुराण, ५।४३-४४ में भी मिलता है। अतएव शंकराचार्य का यहाँ मंतव्य वायु पुराण से भी माना जा सकता है। सम्भवतः शंकराचार्य की पंक्ति का आधारभूत पुराण-ग्रन्थ वायु पुराण ही था। इस विवेचना से निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) वायु पुराण की प्रतिष्ठा आख्यान और राजवंश-विवरण के रूप में प्रचलित हो चुकी थी। अतएव इसे प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता था।

(२) न केवल महाभारत और हरिवंश ही, जो वायु पुराण का उल्लेख स्पष्ट

---

९. कादम्बरी, पूर्व भाग, जाबालि मुनि के आश्रम का वर्णन; उपाध्याय, वही, पृ० ३४

१०. पार्जीटर, डाइनेस्टीज़ ऑफ़ दि कलि एज, भूमिका, पृ० १४

११. हर्षचरित, ३।४, ५; विशेष समीक्षा के लिये द्रष्टव्य उपाध्याय, वही, पृ० ३५

१२. वेदान्तसूत्र, २।१।३६ पर भाष्य

१३. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७

रूप में करते हैं, अपितु अन्य प्राथमिक पुराण भी, विशेषतया ब्रह्माण्ड पुराण 'वायुप्रोक्त' पुराण का ऋणी है।

(३) वर्द्धन-सम्राट् हर्ष के काल (६०६-६४७ ई०) तक वायु पुराण का प्रथम और प्रामाणिक संस्करण तैयार हो चुका था।

इस दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है कि वायु पुराण सातवीं शताब्दी ई० के पहले की रचना है। पर, इस पुराण का प्रथम संस्करण सातवीं शताब्दी ई० के पूर्व किस विशेष काल में तैयार किया गया था, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। इस संदर्भ में दीक्षितार महोदय[१४] का मत है कि वायु पुराण के प्राथमिक अंशों का काल पाचवीं शताब्दी ई० पू० माना जा सकता है। पर, प्राथमिक अंश इसके किन विशिष्ट स्थलों को कह सकते हैं, इस दिशा में इन विद्वान् की समीक्षा विशद और विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। इनका पहला तर्क है महाभारत, हरिवंश तथा बाण की कृतियों में वायु पुराण का उल्लेख। पर, इस आधार पर वायु पुराण का इन ग्रन्थों से पूर्ववर्ती होना ही सिद्ध हो सकता है, न कि इसके काल-विशेष का स्पष्टीकरण। दूसरा तर्क है कि याज्ञवल्क्य स्मृति और वायु पुराण के कतिपय स्थलों की समता। जब तक यह निश्चित् न हो जाय कि ये स्थल अपना सम्बन्ध मूल वायु पुराण से रखते हैं, कोई विशेष निष्कर्ष इनके आधार पर नहीं निकाला जा सकता है। इनमें मोक्ष-प्राप्ति में सहायक कतिपय यौगिक क्रियाओं का उल्लेख है। पर, मूल वायु पुराण में इन स्थलों की स्थिति इस दृष्टि से संदिग्ध हो जाती है, क्योंकि ये ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलते हैं, जब कि उपलब्ध ब्रह्माण्ड पुराण में मूल वायु-प्रोक्त वायु पुराण के महत्त्वपूर्ण स्थलों का समाहार किया गया है। वर्त्तमान वायु और ब्रह्माण्ड पुराण के विषम स्थल दोनों पुराणों में उत्तरकालीन समावेश की सूचना देते हैं। तीसरा तर्क है कि वायु पुराण में बौद्ध और जैन धर्मों का उल्लेख नहीं मिलता, जिनका आविर्भाव पाँचवीं-चौथी शताब्दी ई० पू० ही में हो चुका था। यहाँ इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि पुराणों में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तत्त्वों के द्विविध उल्लेख हैं—एक तो साक्षात् तथा दूसरे सांकेतिक। प्रस्तुत प्रबन्ध में आगे यह दिखाने की चेष्टा की जायगी कि नग्न शब्द से पौराणिक तात्पर्य वेद-विरोधी धर्म के अनुयायियों की ओर है। इसका व्यवहार वायु पुराण में भी किया गया है। पौराणिक मायामोह-आख्यान में वेद-विरोधियों को पथ-भ्रष्ट करने वाले बुद्ध की, या तो स्पष्ट रूप में या परोक्ष रूप में चर्चा की गई है। इस आख्यान के विवरण के अनुसार इन्होंने अपना उपदेश नग्न व्यक्तियों को दिया था। इस

---

१४. दीक्षितार, पुराण-इण्डेक्स, भूमिका, पृ० १८-२१

दृष्टि से वायु पुराण के उद्धरण को सांकेतिक माना जा सकता है, जिसमें नग्न शब्द से संकेत बौद्धों की ओर है। चौथा तर्क है कि वायु पुराण में ऐसे यौगिक क्रियाओं और यौगिक विधानों का उल्लेख, जो स्वरूप और प्रकार की दृष्टि से अतीव प्राचीन हैं। इन विद्वान् के अनुसार इनकी प्राचीनता ताम्रकालीन विश्वसभ्यता के सैन्धव स्वरूप में भी स्पष्ट है। अतएव वायु पुराण के स्थल प्राचीनता के द्योतक हैं, यद्यपि इन्हें सैन्धवकालीन नहीं मान सकते हैं। इस मत को मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ब्रह्माण्ड पुराण में तत्सम स्थलों के अभाव के कारण, मूल वायु पुराण से इनका सम्बन्ध ही नहीं स्थापित हो पाता। प्रस्तुत विवेचन को अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा आगामी अनुच्छेदों में की जायगी। यहाँ मात्र निर्देश ही किया जा सकता है कि वर्त्तमान, विश्वसनीय तथा साक्ष्य-समर्थित अनुसंधानों में उपलब्ध वायु पुराण के पाशुपत-योग का निरूपण करने वाले स्थल प्रक्षिप्त अतएव उत्तरकालीन माने जाते हैं[१५]। पाँचवाँ तर्क है, वायु पुराण में आर्ष और अपाणिनीय प्रयोगों का मिलना। कहा गया है कि इस प्रकार की शैली भास के नाटकों में भी प्राप्त होती है, जिनका काल छठीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है। पर, यह तर्क भी पुष्ट नहीं लगता। आर्ष और अपाणिनीय प्रयोग अन्य अनेक पुराणों में भी मिलते हैं। इनसे केवल पौराणिक संरचना में लोक-ग्राह्य शैली का ही पता चल सकता है, न कि किसी विशेष पुराण के काल का। छठाँ तर्क है, वायु पुराण में तंत्र-परक स्थलों का अभाव। पर, यह तर्क भी पूर्ण नहीं लगता है। यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है कि वायु पुराण के किस संस्करण में तंत्र-परक स्थलों का अभाव है; मूल रूप में अथवा उपलब्ध रूप में। इसमें संदेह नहीं कि वायु पुराण का मूल रूप तांत्रिक प्रवृत्ति से मुक्त रहा होगा। पर, इसके उपलब्ध रूप में राधा[१६] की चर्चा तथा शाक्त दर्शन के साथ-साथ तंत्र से सम्बन्धित विवरण भी प्राप्त होते हैं। अतएव उक्त कथन समग्र वायु पुराण के सन्दर्भ में चरितार्थ नहीं माना जा सकता है।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपलब्ध वायु पुराण किस सीमा तक वायु प्रोक्त मूल वायु पुराण के निकट है अथवा दोनों में तादात्म्य स्थापित हो सकता है या नहीं? इस प्रकार के संदेह की सम्भावना शिव पुराण के कारण की जाती है, जिसका निर्देश पीछे किया जा चुका है। जहाँ तक इसके मूल वायु पुराण

---

१५. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० १५

१६. वायु पुराण के ये उद्धरण, ग्रन्थ के अध्याय १०४ में प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अध्याय के उत्तरकालीन संयोजन के समर्थन में उक्त प्रमाण हाज़रा द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं; वही, पृ० १३,

के निकट होने का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में यह कह सकते हैं कि उपलब्ध अनेक पुराण-ग्रन्थ अपने मूल संस्करण से न्यून या अधिक रूप में पृथक् प्रतीत होते हैं, तथा वायु पुराण इस सामान्य स्थिति का अपवाद नहीं माना जा सकता है । इसके अतिरिक्त वायु पुराण की जितनी प्रतियाँ तैयार हुई थीं, आज वे सभी नहीं मिलती हैं । अतएव मूल और रूपान्तर की समता और विषमता का निर्धारण निश्चिय के साथ नहीं किया जा सकता । उदाहरणार्थ, श्रीधर स्वामी ने वायु पुराण के नाम में एक श्लोक उद्धृत किया है । यह श्लोक उपलब्ध वायु पुराण में मिलता तो है, पर इसका रूप भिन्न है[१७] । अतएव यह अनुमान समीचीन ही प्रतीत होता है कि श्रीधर स्वामी को वायु पुराण की ऐसी प्रति विदित थी, जो आज उपलब्ध नहीं है । इस श्लोक की समीक्षा अग्रिम अनुच्छेद में की जायगी । यही हाल निबंधकारों द्वारा उद्धृत वायु पुराण के श्लोकों का है । अधिकांश रूप में तो ये श्लोक वायु पुराण में मिल जाते हैं । पर, ऐसे श्लोक भी है, जो वायु पुराण के नाम में निबंधकारों की कृतियों में उद्धृत किये गये हैं[१८] । किन्तु, वायु पुराण की उपलब्ध प्रतियों में ये श्लोक नहीं मिलते हैं । ऐसी स्थिति में यह निश्चित् करना कठिन हो जाता है कि उपलब्ध वायु पुराण, मूल वायु पुराण के निकट किस सीमा तक है । इसके अतिरिक्त मूल वायु पुराण के लिये प्राचीन ग्रन्थों में बहुधा वायु-प्रोक्त पुराण की संज्ञा प्रयुक्त मिलती है । यह नाम उपलब्ध पुराणों में केवल वायु और ब्राह्माण्ड के सन्दर्भ में संगत लगता है, क्योंकि इनके आंतरिक विवरणों तथा अध्याय-परिशिष्टों में इन्हीं दोनों को वायु-प्रोक्त घोषित किया गया है । कतिपय अध्यायों तथा बीच-बीच में कहीं-कहीं कुछ श्लोकों को छोड़कर वायु पुराण का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण के साथ चलता है । दोनों के संबंध का विश्लेषण अग्रिम अनुच्छेदों में किया जायगा । प्रासंगिकता की दृष्टि से यहाँ इतना कह सकते हैं कि इन दोनों पुराणों की परस्पर समता मूल वायु पुराण से इनकी निकटता को पुष्ट कर देती है । वायु पुराण के उपलब्ध संस्करणों में एक संस्करण ऐसा भी है, जिसमें विषय-विभाजन सम्बन्धी भिन्नता दिखाई देती है । अधिकतर प्रतियों में इनका विषय-गठन पाद-क्रम के अनुसार किया गया है । ये निम्नांकित हैं—(१) प्रक्रिया-पाद (अध्याय १ से लेकर अध्याय ६ तक) (२) अनुषंग-पाद (अध्याय ७ से लेकर अध्याय ६४ तक), (३) उपोद्घात-पाद (अध्याय ६५ से लेकर अध्याय ९९ तक) तथा

---

१७. इस मत के विश्लेषण के लिये द्रष्टव्य, उपाध्याय, वही, पृ० ९९-१००

१८. द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ० १४

(४) उपसंहार-पाद (अध्याय १०० से लेकर अंतिम अध्याय तक)[१९]। पर, अड्यार से उपलब्ध एक हस्तलेख में इस पुराण का विषय-विभाजन दूसरे प्रकार का मिलता है। इसमें दो खंड हैं, पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। दोनों में अध्यायों का विभाजन खंडानुसार अलग-अलग किया गया है[२०]। इस प्रकार की भिन्नता वायु पुराण के मौलिक संस्करण की संभावना को प्रबल कर देती है, जिन पर इस पुराण के उपलब्ध संस्करण की प्रतियाँ आधारित प्रतीत होती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि अनेक आवश्यक उत्तरकालीन संयोजन के होते हुये भी, वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण की प्रतियों में इनकी मौलिकता तथा प्रचीन विशेषताओं का संतोषजनक निर्वाह किया गया है। ऐसा विचार नितांत समीचीन ही प्रतीत होता है कि इसके भिन्न-भिन्न अध्यायों में पुराण के पाँचों लक्षण अर्थात् सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश तथा वंशानुचरित विद्यमान हैं[२१]। यह निश्चित् है कि इसका मूल नाम वायुप्रोक्त पुराण वायवीय पुराण ही था। जिन संकलनकर्त्ताओं ने इसके संस्करणों तथा प्रतिसंस्करणों को तैयार किया, उन्होंने इसका नाम बदलने की चेष्टा किया था। पर, नवीन प्रस्तावित नाम के साथ-साथ उन्हें मौलिक नाम को रखना पड़ा था। इस प्रवृत्ति का निर्देश वायु पुराण की उस प्रति द्वारा मिलता है, जो इस समय इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के अध्याय परिशिष्टों में वायु पुराण शब्द तो प्रयुक्त है, इसके अतिरित्त साथ-साथ शिवापराह्वय अर्थात् नामान्तर के रूप में इसे शिव पुराण भी कहा गया है[२२]। पर, पुराना नाम इतना प्रचलित हो चुका था, तथा इसके प्रवक्ता के रूप में वायु को इतनी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी कि इसे शिव पुराण की संज्ञा नहीं मिल सकी। इसके अतिरिक्त शिव पुराण के नाम से जो पृथक् पुराण प्रकाश में आया, वह वायु पुराण का रूपांतर भी नहीं हो सका। वायु पुराण का तिरोभाव ब्रह्माण्ड पुराण की रचना के कारण भी संभव था। जैसा कि अग्रिम

---

१९. विवरण के लिये द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० १५

२०. इस हस्तलेख का निर्देश आचार्य उपाध्याय ने दिया है। इनके मतानुसार सम्भवतः प्राचीन काल में वायु पुराण के दो ही खंड थे। वही, पृ० १००

२१. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५५४, उपाध्याय, वही, पृ० १०३

२२. इग्लिंग, कैटलाग ऑफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ़ दि इण्डिया आफ़िस, भाग ४; क्रम-संख्या ३५८७, ३५८८, ३५८९ तथा ३५९५; द्रष्टव्य, पुसाल्कर, वही, पृ० ३२

अनुच्छेदों में स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी, ब्रह्माण्ड पुराण मूल वायु पुराण पर आधारित है । पर, इस विशिष्ट पुराण के अध्याय-परिशिष्टों में भी 'वायुप्रोक्ते ब्रह्माण्डपुराणे' शब्दों का प्रयोग मिलता है । अतएव इस नामान्तर की योजना से 'वायुप्रोक्त' पुराण को प्रसार और संज्ञा-विस्तार का सुयोग मिला, न कि प्राचीन पुराण के अंतर्भाव का। कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष शिव पुराण के उस खंड की समीक्षा से भी निकलता है, जिसे वायवीय संहिता के नाम से अभिहित किया गया है । वायवीय संहिता, विस्तृतकाय शिव पुराण का सातवां खंड है। इसके दो भाग हैं—(१) वायवीय संहिता पूर्व भाग, तथा (२) वायवीय संहिता उत्तर भाग। वायवीय संहिता की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे 'वायु द्वारा कथित' घोषित किया गया है[२३] । इससे व्यक्त होता है कि प्राचीन और प्रामाणिक वायु पुराण के नाम पर इस नवीन पुराण-संहिता को प्रचलित करने का प्रयास किया गया था। ऐसा प्रयास केवल वायु पुराण की प्रसिद्धि का प्रतिफल ही माना जा सकता है। इस संदर्भ में श्री चौधुरी का विचार है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के आस-पास शिव पुराण द्वारा वायु पुराण संभवतः अपदस्थ हो चुका था[२४] । पर, इस मत के विरुद्ध दो आपत्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—(१) एक तो, यह कि किस क्षेत्र-विशेष से वायु पुराण के प्रविलीन होने की संभावना थी। (२) दूसरे, यह कि किस प्रवृत्ति की क्रियाशीलता के कारण ऐसी संभावना चरितार्थ हो सकती थी । पहली आपत्ति के संबंध में यह कह सकते हैं कि केवल दक्षिण में न कि पूरे भारत में वायु पुराण के विस्मृत होने की संभावना थी। दक्षिण भारत के शैव उपासकों में शिव पुराण वायवीय संहिता के नाम से प्रचलित था। पुराणों के प्रख्यात भाष्यकार श्रीधर स्वामी ने भागवत, १।१।४ के प्रसंग में एक श्लोक का उद्धरण दिया है, जो अपने मूल रूप में इस प्रकार है—'एतन्मनोरमं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते । यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः ।' भाष्यकार ने इस श्लोक का संबंध वायवीय संहिता से माना है, जो 'तथा च वायवीये' शब्दों से स्पष्ट है । यह श्लोक शिव पुराण के वायवीय संहिता खंड में मिलता है। अतएव ऐसे निष्कर्ष की संभावना सबल सी प्रतीत होती है कि दक्षिण भारत के शैव उपासकों में शिव पुराण, वायवीय पुराण के नाम से ख्यात था। इस विवेचन के प्रसंग में अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व एक बार यह फिर से प्रश्न

---

२३. वायवीय संहिता १।१।२२-२३

२४. जे० बी० बी० आर० यस०, १५, पृ० १८६; समीक्षा के लिये द्रष्टव्य, पुसाल्कर, वही, पृ० ३६

किया जा सकता है कि श्रीधर स्वामी द्वारा निर्देशित उक्त श्लोक शिव पुराण का मौलिक अंश है, अथवा उद्धृत एवं प्रभावित। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के स्थलों से यही प्रतीत होता है कि शिव पुराण का यह मौलिक श्लोक नहीं है। शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ यही श्लोक इन दोनों पुराणों में इस प्रकार उल्लिखित मिलता है—

भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत ।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम् । वायु पु०, २।७
गच्छतस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्विशीर्यते ।
पुण्यः स देशो मन्तव्यः प्रत्युवाच तदा प्रभुः । ब्रह्माण्ड पु०, १।१।१५८

इस दृष्टि से यह कह सकते हैं कि श्रीधर स्वामी का 'तथा च वायवीये' शब्दों से तात्पर्य वायु पुराण ही से है। यह सम्भव है कि वायु पुराण की जिस प्रति को इन्होंने अपने उल्लेख का आधार बनाया था; उसी प्रति से उक्त श्लोक शिव पुराण में उद्धृत किया गया था। पर, यह प्रति आज उपलब्ध नहीं है। वायु पुराण की प्राचीनता और प्रामाणिकता से उत्तरकालीन पुराण परिचित थे, यह नारदीय पुराण के विवरण से स्पष्ट है। नारदीय पुराण का तत्सम्बन्धित विवरण इस प्रकार है: 'वायु पुराण में चौबीस सहस्र श्लोक हैं। श्वेतकल्प के प्रसंग में इसका प्रवचन वायु द्वारा हुआ था। इसमें दो भाग हैं। पूर्व भाग में सर्ग, वंश, मन्वन्तर का निरूपण है। इसी भाग में गयासुर की कथा, मास-माहात्म्य, दान-धर्म, राजधर्म और व्रत आदि का उल्लेख किया गया है। उत्तर भाग में रेवा-माहात्म्य तथा शिव-माहात्म्य का वर्णन मिलता है[२५]। नारदीय पुराण के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरकालीन अनेक संयोजनों के होते हुये भी वायु पुराण की, सर्ग आदि पंचलक्षण के कारण अतीतकालीन प्रामाणिकता तिरोहित नहीं हुई थी। यहाँ उल्लेखनीय है कि वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण के आलोक में नारदीय पुराण की दो उक्तियाँ विरोध में जाती हैं। एक तो, यह कि वायु पुराण में श्वेतकल्प का निरूपण नहीं मिलता है। पर, इसका समाधान वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण के स्थल द्वारा ही किया जा सकता है। जैसा कि हाज़रा महोदय का विचार है, वायु पुराण में वराह-कल्प पर अधिक बल अवश्य दिया गया है। पर, इसके विवरणों में वराहकल्प तथा श्वेतकल्प में तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है[२६]। दूसरे, गया-

२५. नारदीय पु०, १।९५।१-१६; इस श्लोक की विशद समीक्षा के लिये द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० १४; पुसाल्कर, वही, पृ० ३३-३४।

२६. द्रष्टव्य, वायु पु०, ६।११, १३; २१।१२, २३; २३।६३, ११४ के आधार पर हाज़रा की समीक्षा, वही, पृ० १४

माहात्म्य वायु पुराण के उपलब्ध संस्करणों के द्वितीय खंड में प्राप्त होता है, न कि प्रथम खंड में। इसके अतिरिक्त गया-माहात्म्य से सम्बन्धित अध्याय इस पुराण के अभिन्न अंग नहीं हैं। ये बाद में जोड़े गये थे[२७]। इस विरोध का समाधान भी किया जा सकता है। एक तो, यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि नारदीय पुराण का उक्त विवरण उस समय का है जब कि तीर्थों की सातिशय महत्ता का प्रतिपादन हो चुका था। अतएव यह सम्भव है कि नारदीय पुराण के संकलनकर्त्ता ने गया-तीर्थ की महत्ता को ध्यान में रखते हुये वायु पुराण की विषय-अनुक्रमणी में परिवर्तन लाकर इसे उत्तर भाग से पूर्व भाग में स्थानांतरित किया हो। दूसरे, गया-माहात्म्य भले ही वायु पुराण में उत्तरकालीन स्तर पर जोड़ा गया हो, पर गय के सम्बन्ध में इसके उल्लेख को प्रक्षिप्त मानने में कठिनाई प्रतीत होती है। नारदीय पुराण गया-माहात्म्य शब्द का उल्लेख नहीं करता। इसमें केवल इतना वर्णित है कि वायु पुराण में गय के सिर काटने का सविस्तार वर्णन मिलता है। स्मरणीय है कि गय के सिर काटने के दो परस्पर-भिन्न विवरण वायु पुराण में मिलते हैं। दोनों वर्णन दो अध्यायों में है। इस बात को तीर्थ-विषयक अध्याय में स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी। गय का उल्लेख प्राचीन है। वैदिक छन्दों में भी इसे दास, राक्षस आदि से सम्बन्धित किया गया है[२८]। अतएव वायु पुराण के गय-सम्बन्धी पूर्ववर्ती अध्याय को वैदिक आख्यान का पौराणिक विस्तार माना जा सकता है, और इस प्रकार इसकी प्राचीनता एवं वायु पुराण के मूल रूप से इसका सम्बन्ध भी विवाद-रहित है।

उक्त विवेचनों से वायु पुराण की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। पर, इसके प्राथमिक अंशों को काल-गणना के किस विशेष स्तर से सम्बन्धित किया जाय, इस दिशा में आधारभूत निश्चित् साक्ष्य नहीं मिलता है। डी० आर० पाटिल महोदय ने पाँचवीं शताब्दी ई० पू० सम्बन्धी मत को मान्यता देने की चेष्टा की है[२९]। पर, इनके मत के आधार दीक्षितार के तर्क हैं, जिनके विरुद्ध संभावित आपत्तियों का विश्लेषण किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं है कि गुप्त नरेशों के काल तक वायु पुराण का प्रथम संस्करण प्रस्तुत हो चुका था[३०]। कारण यह है कि

---

२७. गया-माहात्म्य के उत्तरकालीन संयोजन के लिये निर्देशित प्रमाणों के लिये द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० १३, पाद टिप्पणी ९

२८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १४०-१४१

२९. कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृ० ४

३०. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० १५; उपाध्याय, वही, पृ० ५४५

इसका वंशानुचरित-अंश गुप्त वंश के आदिम राज्य-विस्तार के वर्णन तक समाप्त हो जाता है। गुप्त-साम्राज्य की सीमा का जो विवरण इसमें निरूपित है, वह समुद्रगुप्त के राज्य-विस्तार का पूर्वकालीन प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त का शासन-काल ३३० ई० से लेकर ३७५ ई० तक माना जाता है। ऐसी स्थिति में वायु पुराण के प्रथम संस्करण के संपादन का अंतिम स्तर ३०० ई० से लेकर ४०० ई० के बीच में कहीं रखा जा सकता है[३१]।

प्रामाणिक पुराण-संरचना होने के कारण वायु पुराण के संस्करण तथा प्रतिसंस्करण की प्रक्रिया उक्त निर्धारित तिथि के बाद भी चलती रही। सामान्यतया उत्तरकालीन स्थलों को प्रक्षिप्तांश की संज्ञा देते हैं। पर, वायु पुराण तथा इसी प्रकार अन्य अनेक पुराणों में उत्तरकालीन स्थलों को मात्र प्रक्षिप्तांश कहना, इनकी सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्ता के प्रति अन्याय होगा। इस दृष्टि से इनका तिथि-निर्धारण आवश्यक है। हाज़रा महोदय के अनुसार वायु पुराण के निम्नांकित अध्याय उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं: अध्याय १६-१७; अध्याय १८; अध्याय ५७-५६; अध्याय ७३-८३; अध्याय १०१ तथा अध्याय १०५-११२। इन विद्वान् के मत में इन्हें वायु पुराण का मौलिक अंश नहीं माना जा सकता है। अध्याय १६-१७ की उत्तरकालीनता के प्रतिपादन में इन्होंने दो महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किया है। एक तो, इनका निरूपण बहुत विस्तार के साथ मिलता है, जब कि तत्सम विवरण अर्थात् पाशुपत योग का स्वरूप मार्कण्डेय पुराण में संक्षिप्त रूप में है। इन्होंने मार्कण्डेय पुराण के तत्सम्बन्धी स्थलों को अधिक प्राचीन माना है। पाशुपत योग का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलता है, जब कि यह पुराण मूल वायु पुराण का रूपांतर है। इस तर्क से भी वायु पुराण के अध्याय १६-१७ का उत्तरकालीन होना सम्भावित लगता है। अध्याय १८ में यतियों के प्रायश्चित्त का निरूपण है। इसका उल्लेख भी ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलता, अतएव इसकी उत्तरकालीनता स्पष्ट है। अध्याय ५७-५८ युग-धर्म का वर्णन करते हैं। इनकी तिथि के निर्धारण में हाज़रा ने दो बातों पर बल दिया है। एक तो, इनमें राजनीतिक इतिहास की ऐसी रूप-रेखा है, जिसमें नंद-वंश से लेकर आन्ध्र-वंश तक का चित्रण मिलता है, जिसके आधार पर इनकी तिथि २०० ई० के पहले मानी जा सकती है। दूसरे, मत्स्य पुराण के तत्सम उद्धरणों का इन पर आधारित होना, जिससे प्रतीत होता है कि इन अध्यायों का समावेश तृतीय शताब्दी ई० के पूर्व हुआ था। ऐसी स्थिति में हाज़रा के निष्कर्ष के

---

३१. हाज़रा, वही, पृ० १५-१७

आलोक में ही ऐसा कह सकते हैं कि पंचलक्षण से बाहर होने पर भी वायु पुराण में इन अध्यायों का समावेश उस काल में किया गया था, जब कि इस पुराण की संरचना में प्रथम संस्करण की प्रक्रिया अभी चल रही थी। अध्याय ७३-८३ का सम्बन्ध श्राद्ध-वर्णन से है। इनकी उत्तरकालीनता के सन्दर्भ में हाज़रा दो महत्त्व-पूर्ण प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं। पहला प्रमाण यह है कि श्राद्ध के प्रसंग में योगियों को जो महत्ता इन अध्यायों में दी गई है, वह मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में नहीं मिलती। इसके विपरीत समान उल्लेख उपलब्ध पांचरात्र संहिताओं में प्राप्त होते हैं। अतएव इन्हें उक्त स्मृतियों के बाद का ही माना जा सकता है। दूसरा प्रमाण है नग्न अभिधान वाले व्यक्तियों का उल्लेख, जिन्हें श्राद्ध-वर्जित घोषित किया गया है। हाज़रा की समीक्षा के अनुसार नग्नों से तात्पर्य यहाँ जैन और बौद्ध मत मानने वालों से है। अतएव इन अध्यायों के रचना-काल को उस स्तर से सम्बन्धित कर सकते हैं, जब कि उक्त धर्मों का ह्रास हो रहा था। अध्याय १०१ में दुष्कर्मों के परिणाम में विभिन्न नरकों की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। इनकी तिथि के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता; पर इन्हें, अध्याय ७३-८३ के समकालीन होने की सम्भावना व्यक्त की गई है। अध्याय १०५-११२ में गया-माहात्म्य का निरूपण है। इन्हें वायु पुराण का मौलिक अंश दो दृष्टियों से नहीं माना जा सकता है। एक तो, वायु पुराण के सभी संस्करणों में इनका समावेश नहीं मिलता। दूसरे, यह अंश स्वतन्त्र तथा वायु पुराण से पृथक् रचना के रूप में भी प्राप्त होता है। इन दोनों तर्कों के साथ हाज़रा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गया-माहात्म्य को परिशिष्ट के रूप में १४०० ई० के आस-पास संयुक्त किया गया होगा। प्रस्तुत निष्कर्ष में एक सुधार प्रस्तावित किया जा सकता है। गया-माहात्म्य के नाम में मिलने वाले ये सभी अध्याय अमौलिक नहीं प्रतीत होते हैं। कारण यह कि गय-असुर के प्रसंग में उत्पत्ति-कथा अध्याय १०५ तथा अध्याय ११२, इन दोनों में प्राप्त होती है। इसका निर्देश पीछे किया जा चुका है। यह सम्भव है कि अध्याय १०५ का कोई मूल रूप वायु पुराण में रहा हो और वर्णन की समता तथा अनुकूलता के कारण इसी अध्याय के साथ इन नवीन स्थलों को जोड़ कर गया-माहात्म्य को वायु पुराण का ही अंश बनाने का प्रयास किया गया था।

वायु पुराण के उत्तरकालीन अन्य अध्यायों की समीक्षा*—प्रस्तुत

---

*यह समीक्षा लेखक के सम लेट चैप्टर्स ऑफ़ दि वायु पुराण नामक निबन्ध (पुराण-पत्रिका, भाग ६, अंक २, पृ० ३६७-३७७) पर आधारित है।

प्रसंग में उन अध्यायों की समीक्षा अधिक आवश्यक है, जो स्वरूप और प्रकार की दृष्टि से मूल वायु पुराण के अंश नहीं प्रतीत होते हैं, तथा इनका निर्देश अभी तक नहीं किया गया है। ये अध्याय निम्नांकित हैं—

अध्याय ११-२०—इनमें पाशुपत-योग का निरूपण मिलता है। इनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता उन विभिन्न नियमों की दृष्टि से है, जो एक योगी के लिये अपेक्षित माने गये हैं। उक्त अनुच्छेद में हाज़रा द्वारा पर्यालोचित अध्याय १६-१८ का उल्लेख किया जा चुका है, जो इसी अध्याय-श्रृंखला के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। इस प्रसंग में इन विद्वान् के दोनों तर्कों की पुनः चर्चा की जा सकती है, जिनके आधार पर इनका रचना-काल ४०० ई० के अनन्तर बताते हैं। पहला तर्क है, मार्कण्डेय पुराण में इनका याथातथ्य-पूर्ण तथा सूक्ष्म वर्णन, जिन पर वायु पुराण के वर्णन विस्तारित प्रतीत होते हैं। दूसरा तर्क है, ब्रह्माण्ड पुराण में तत्सम वर्णन की अनुपलब्धि, जिसके कारण इन अध्यायों का 'वायुप्रोक्त' मूल संहिता में विद्यमान होना संदिग्ध सा लगता है। प्रसंग की अनुकूलता के कारण दीक्षितार महोदय के मत का एक बार पुनः उल्लेख कर सकते हैं, जो पाशुपत-योग से सम्बन्धित वायु पुराण के विवरण की तिथि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक ले जाने के पक्ष में हैं। हाज़रा महोदय के तर्कों को सहसा स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि (१) सूक्ष्म और सविस्तार वर्णनों के आधार पर पुराणों की तुलनात्मक पूर्वकालीनता अथवा उत्तर-कालीनता के बारे में तब तक निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक कि इस निष्कर्ष का समर्थन इन पुराणों का आन्तरिक वर्णन-वैशिष्ट्य न करता हो। (२) ब्रह्माण्ड पुराण में इन वर्णनों का न होना संकलनकर्त्ता की रुचि-विशिष्टता का भी परिचय दे सकता है, न कि केवल मूल संहिता में इनकी अविद्यमानता का। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि इन अध्यायों के अंतरंग प्रमाणों के आधार पर उक्त निष्कर्ष के औचित्य-अनौचित्य की परीक्षा की जाय। इनकी आन्तरिक समीक्षा से यह व्यक्त होता है कि इनमें वे सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्व सन्निहित हैं, जिनका पौराणिक संरचना में समावेश उत्तरकालीन स्तरों पर हुआ था। अध्याय ११ के आठवें और नवें श्लोक में निर्देश है कि अतीत, आधुनिक और अनागत तत्त्वों के दर्शन से योगियों ने बुद्धत्व को प्राप्त किया था। अध्याय १२ के चौबीसवें श्लोक के अनुसार मनस् तत्त्व का साक्षात्कार होने पर, तथा सार्वजनीन बुद्धि के अवगत होने पर योगी, बुद्ध होता है। अध्याय १६ के सत्रहवें श्लोक में अहिंसा को योगी का अनिवार्य व्रत बताया गया है। अध्याय १८ में उल्लेख है कि अज्ञान-वश भी हिंसा करने पर योगी को चान्द्रायण व्रत का आचरण करना चाहिये। इस प्रकार यह

स्पष्ट है कि आलोचित अध्यायों के वर्णन बौद्ध धर्म से प्रभावित हैं। पौराणिक संरचना में बौद्ध धर्म का सन्निवेश प्रारम्भ में नहीं हुआ था। सामान्यतया इसका काल पाँचवीं शताब्दी ई० मानते हैं। इस दृष्टि से वायु पुराण के इन अध्यायों में निरूपित श्लोकों का रचना-काल पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्व नहीं माना जा सकता है।

उक्त अध्यायों की उत्तरकालीनता इनके साम्प्रदायिक स्वरूप द्वारा भी स्पष्ट हो जाती है। अन्य प्रारम्भिक पुराणों की भाँति वायु पुराण भी, कम से कम इसका मूल रूप, साम्प्रदायिक तत्त्व से मुक्त था, इसमें सन्देह नहीं है। इस दृष्टि से इसका उद्देश्य था, दैवी समन्वयवाद का चित्र उपस्थित करना। पर, आलोचित अध्यायों में ऐसी बात नहीं दिखाई देती है। इनमें शिव के उपास्य तत्त्व पर ही विशेष बल दिया गया है। उदाहरणार्थ, अध्याय १२ के तीसरे श्लोक में योग के विभिन्न उपादानों का सम्बन्ध महेश्वर से स्थापित किया गया है। अध्याय २० के ग्यारहवें श्लोक में वर्णन है कि ध्यान-वैशिष्य द्वारा योगी शिव के आलय को प्राप्त करता है। इसके पूर्व इसी अध्याय के छठें श्लोक में विष्णु के तीन पदों का वर्णन है, पर इसका सम्बन्ध न तो योगी से किया गया है और न इनके दैवी तत्त्व पर ही बल दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि वायु पुराण के किसी पूर्व-कालीन संस्करण में प्रस्तुत अध्याय का सांप्रदायिकता से रहित सामान्य स्वरूप रहा होगा। इन वर्णनों का साम्प्रदायिक रूप तथा उत्तरकालीन संयोजन अध्याय २० के अंतिम श्लोकों द्वारा निश्चित् रूप में सिद्ध हो जाता है। ये सभी श्लोक शिव के गौरव-गान के निमित्त प्रणीत हैं। इनमें श्लोक-संख्या ३१ में शिव की आराधना को अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा उत्कृष्ट बताई गई है।

हाजरा द्वारा पर्यालोचित अध्यायों के सन्दर्भ में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि इन विद्वान् के अनुसार वायु पुराण के पाशुपत-योग से सम्बन्धित अध्याय मौलिक नहीं है, बल्कि उद्धृत हैं। यह निष्कर्ष इस दृष्टि से संगत माना जा सकता है कि इन अध्यायों में सुनिर्धारित उस वर्णन-योजना का अभाव दिखाई देता है, जो एक ही समय में एक ही संकलनकर्त्ता द्वारा प्रणीत होने पर सम्भव बन पाता है। अध्याय १७ के दूसरे श्लोक में इस बात का निर्देश है कि यौगिक क्रिया के प्रशिक्षण के उपरान्त योगी को आचार्य से अनुमति लेकर देशाटन करना चाहिये, जिसके कारण ज्ञान-सार का लाभ सम्भव होता है। स्मरणीय है कि इसी प्रकार का वर्णन अध्याय १६ के छठें श्लोक में मिलता है। दो स्थितियों में इस प्रकार की सौष्ठव-विहीन विवरण-योजना सम्भव मानी जा सकती है। या तो यह कह सकते

हैं कि मूलतः इसमें एक ही अध्याय था, जिसका बाद में विस्तार किया गया। विस्तार करते समय विवेच्य-विषय के पूर्वापर सम्बन्ध पर ध्यान नहीं दिया गया। अथवा इस बात की सम्भावना भी की जा सकती है कि वायु पुराण के मूल रूप में ऐसे अध्यायों का समावेश था ही नहीं, किसी उत्तरकालीन स्तर पर ग्रन्थ के आकार-विस्तार के लिये, शिव की उपासना को प्रकर्षमय और प्रकाशमय बनाने के लिये तथा प्रामाणिकता और प्रचार के लिये, किसी अन्य ग्रन्थ से सम्भवतः मार्कण्डेय पुराण से ही इन्हें उद्धृत कर वायु पुराण में संयोजित किया गया हो। इस प्रकार इन अध्यायों को मूल वायु पुराण का अंश न मानकर, उत्तरकालीन संयोजन ही मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अध्याय २१-२२—इन अध्यायों के वर्णन का विषय है, कल्प निरूपण। पूर्वगामी अनुच्छेदों में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि कल्प, पुराण-संरचना का प्राथमिक वर्ण्य-विषय है। अतएव विषय की दृष्टि से इन अध्यायों की मौलिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। पर, विवेचन का उल्लेखनीय पक्ष यह है कि इन अध्यायों के विवरण ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलते हैं। ऐसी स्थिति में, विषय-विस्तार की दृष्टि से इनकी मौलिकता संदिग्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त इनकी वर्णन-शैली तथा श्लोकों की योजना में भी ऐसी बातें मिलती हैं, जिनके कारण इन अध्यायों को मौलिक मानना आपत्तिजनक प्रतीत होता है। अध्याय २१ में नैमिषारण्य के ऋषियों के अग्रणी सावर्णि अपनी दो पृच्छाओं को वायु के समक्ष रखते हैं। इनकी पहली पृच्छा का सम्बन्ध है ब्रह्मा की उत्पत्ति से, विष्णु और शिव की मित्रता से तथा इस ज्ञातव्य से कि रुद्र-शिव की आराधना किस कारण से विष्णु सम्पन्न करते हैं (श्लोक संख्या ४-७)। इसके पूर्व कि इन पृच्छाओं का समाधान अनुवर्त्ती विवरण में कराया जाय, वायु के समक्ष दूसरी पृच्छा रखी जाती है, जिसका सम्बन्ध है कल्प के कारण और विस्तार से। इस प्रकार की वर्णन-योजना तथा शैली-समावेश के कारण प्रस्तुत अध्याय का स्वरूप विकृत सा लगता है। इसका एकमात्र कारण यही मान सकते हैं कि इस अध्याय के वर्णन के साथ हस्त-प्रक्षेप एक से अधिक संकलन-कर्त्ताओं ने किया था, तथा इसके स्थल अधिकांशतः उत्तरकाल के हैं। वर्ण्य-विषय के प्राथमिक स्वरूप की दृष्टि से कल्प का उल्लेख पूर्वकालीन मान भी लिया जाय तो पुनः विष्णु, रुद्र आदि देवताओं का विवेचन यहाँ प्रसंग के अनुकूल नहीं माना जा सकता है। इन देवताओं के वर्णन में भी पुराण-संकलनकर्त्ता ने उत्तरकालीन शैली-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। जैसा कि पूर्व अनुच्छेद में दिखा चुके हैं, पौराणिक संरचना के प्रारम्भिक स्तरों में किसी देवता-विशेष को अन्य देवता की अपेक्षा उत्कृष्ट

अथवा अपकृष्ट वर्णित न कर, उसके सामान्य उपास्य तत्त्व पर बल दिया गया था। पर, प्रस्तुत अध्याय के विवरण में रुद्र-शिव का केवल गौरव-गान ही नहीं किया गया है, अपितु इनकी अपेक्षा विष्णु की स्थिति को गौण सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है। अध्याय २२ की विशेषता यह है कि इसका वर्णन-विषय अध्याय २१ के समान है और सामान्यतया इसमें कल्प-निरूपण का स्वरूप अधिक व्यवस्थित है। पर, यह व्यवस्था अंतिम श्लोकों में भंग हो गई है। इसके अंतिम श्लोकों में वर्णित है कि धर्म का व्यवस्थापन करने के उपरान्त ब्राह्मण रुद्रलोक में प्रवेश करते हैं, जहाँ से उनका पुनरावर्त्तन नहीं होता[३२]। पूरे अध्याय की समीक्षा से व्यक्त होता है कि इसकी समाप्ति उन्नीसवें श्लोक में ही मन्तव्य थी, जिसमें ब्राह्मणों के ब्रह्मलोक में प्रवेश तथा अपुनरावर्त्तन की चर्चा मिलती है। प्रस्तुत श्लोक में साम्प्रदायिक तत्त्व का भी अभाव है। अतएव उपलब्ध अध्याय के अन्तिम श्लोकों को उत्तरकालीन प्रक्षेप ही माना जा सकता है— ऐसे संकलनकर्त्ता द्वारा जो शैव मतावलम्बी था तथा काव्यात्मक प्रतिभा के अभाव के कारण जिसने इस अध्याय में कहे हुये वर्णनों को फिर से दुहराकर अपने शैव-परक विचारों को साकार करने का प्रयास किया था।

अध्याय २३—इस अध्याय की तिथि-निर्धारण सम्बन्धी निम्नांकित विशेषताएँ दिखाई देती हैं। श्लोक संख्या ९३ में ध्यान-योग की महत्ता पर ध्यान आकर्षित किया गया है। इस बात पर बल दिया गया है कि ध्यान-योग, तीर्थ-फल की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अतएव यह कह सकते हैं कि इस अध्याय का वर्णन, पौराणिक संरचना में तीर्थ-सम्बन्धी स्थलों के समावेश के बाद का है। हाज़रा की समीक्षा के अनुसार पुराणों में तीर्थपरक अध्यायों के समाहार का काल छठीं शताब्दी ई० के उत्तरकाल में ही माना जा सकता है[३३]। श्लोक संख्या १०० में वराह-अवतार का सम्बन्ध तो विष्णु से किया ही गया है, इसके अतिरिक्त विष्णु और नारायण में तादात्म्य भी स्थापित किया गया है। यह सहसा हम नहीं कह सकते कि ये स्थल उत्तरकाल के हैं, क्योंकि वराह का विष्णु से सम्बन्ध तथा विष्णु और नारायण में तादात्म्य पौराणिक धार्मिक गतिविधि की ही विलेषताएँ हैं[३४]। पर, वास्तविकता यह है कि ये वर्णन, वायु पुराण के सामान्य वर्णन से मेल नहीं खाते हैं।

३२. प्राणायामपरा युक्ता...ब्रह्मलोकं व्रजन्ति।

३३. हाज़रा, वही, पृ० १५९

३४. द्रष्टव्य, वैष्णव धर्म-विषयक अध्याय, पृष्ठ ९ तथा १९

प्रमाण के रूप में इस पुराण के छठें अध्याय को प्रस्तुत कर सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ब्रह्माण्ड पुराण में छठाँ अध्याय का वर्णन मिलता है, पर तेईसवें का वर्णन नहीं मिलता। अतएव छठें अध्याय का पूर्वकालीन होना सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि छठें अध्याय में नारायण और वराह का उल्लेख मिलता है, पर इनका तादात्म्य ब्रह्मा से किया गया है। वराह और ब्रह्मा का तादात्म्य वैदिक वर्णनों के निकट मान सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि अध्याय २३ वायु पुराण के मूल संस्करण में नहीं था, तथा यह उत्तरकालीन संयोजन है। कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष इस अध्याय के श्लोक-संख्या २०६ से भी निकलता है। इसमें वासुदेव एवं श्रीकृष्ण की एकता प्रकाश में लाई गई है। श्रीकृष्ण को विष्णु का अंशावतार बताया गया है। हाज़रा की समीक्षा के अनुसार अंशावतार की कल्पना वैष्णव धर्म का उत्तरकालीन रूप है, तथा इस कल्पना का परिपाक भागवत में मिलता है। यदि इस समीक्षा को याथातथ्य-रूप में स्वीकार कर लिया जाय, तो इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वायु पुराण के प्रस्तुत अध्याय का काल भागवत के पहले नहीं माना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत अध्याय के श्लोक संख्या ५७ तथा इसके परवर्ती अनेक श्लोकों में श्वेतकल्प का निरूपण मिलता है। पूर्ववर्ती विवेचन में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वायु पुराण का अधिक बल वराह कल्प पर है, जो ब्रह्माण्ड पुराण में भी प्राप्त होता है। श्वेतकल्प-निरूपण को मूल वायु पुराण का अंश न भी माने, पर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उत्तरकालीन स्तरों पर श्वेतकल्प-निरूपण, वायु पुराण की वर्णन-विशेषता मानी जाती थी। इसका सुस्पष्ट उल्लेख नारदीय पुराण में हुआ है, यह पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिखाया जा चुका है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत अध्याय के समावेश का काल भागवत और नारदीय पुराणों के रचना-काल की अंतर्वर्ती अवधि में कहीं रखा जा सकता है। यदि इन दोनों पुराणों की रचना-काल के प्रसंग में हाज़रा के मत[३५] को माना जाय तो इस अध्याय को सातवीं एवं नवीं शताब्दी ई० के मध्य में रखा जा सकता है।

अध्याय २४—अध्याय २३ की ही भाँति इस अध्याय के भी अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जिनके द्वारा इसका उत्तरकालीन होना प्रमाणित किया जा सकता है। श्लोक-संख्या १०३ के अनुसार शिव, व्रतों के पालयिता हैं, तथा श्लोक-संख्या

---

३५. वही, पृ० ५५ तथा पृ० १२९

११७ के अनुसार इनमें अहिंसा का सन्निधान है । स्मरणीय है कि व्रतों का निरूपण पुराणों का प्राथमिक वर्ण्य-विषय नहीं है । हाज़रा की समीक्षा के अनुसार पुराणों में व्रत-विधानों का सन्निवेश उस समय हुआ, जब कि उत्तरवर्ती कालों में उनके स्थलों को प्रचुर रूप में परिवर्द्धित किया गया था । उदाहरण के लिये मत्स्य पुराण के तत्सम स्थल उल्लेखनीय हैं, जिनका काल व्रत-निरूपण की प्रचुरता के कारण ६०० ई० से लेकर ६०० ई० के बीच माना गया है[३६] । अहिंसा-निर्देश के आधार पर भी इस अध्याय का काल अध्याय १२ के आस-पास ही रखा जा सकता है, जिसके उत्तरकालीन तत्त्व की आलोचना पीछे की जा चुकी है । उत्तरकालीन संयोजन एवं एक से अधिक संकलनकर्त्ताओं के हस्त-प्रक्षेप के कारण ही इस अध्याय के विवरण पुराण के अन्य विवरणों से मेल नहीं खाते हैं । श्लोक-संख्या ७३ से लेकर श्लोक संख्या ७६ तक इस अध्याय में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तथा वायु द्वारा अंडभेद का उल्लेख किया गया है । यह स्मरणीय है कि इस पुराण के अध्याय ३, श्लोक-संख्या ५६ में समान विषय का निरूपण मिलता है । अतएव दोनों वर्णनों के मौलिक और उत्तरकालीन होने के प्रश्न पर सहज विचार किया जा सकता है । प्रतीत होता है कि इन दोनों में अध्याय ३ का विवरण ही मौलिक है, क्योंकि इसका निरूपण ब्रह्माण्ड पुराण (१।५) में भी मिलता है । इसके अतिरिक्त दोनों पुराणों के सम वर्णनों में अंडभेद की क्रिया का संबंध वायु से नहीं अपितु त्वष्टा से है[३७] । समग्र अध्याय शैवपरक है तथा दृष्टिकोण सांप्रदायिक है । श्लोक-संख्या ५७ से लेकर अध्याय के अंत तक शिव के प्रशंसा-वचन हैं, जिनमें बीच-बीच में ब्रह्मा और विष्णु की अपेक्षा शिव को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाणों का उल्लेख है । श्लोक-संख्या २६० में शिव के यज्ञ-प्रकल्पन के कारण होने का निर्देश है । यह वर्णन ऐसा है, जिसका मंतव्य है केवल शिव को उच्च पद पर आसीन करना; अन्यथा इसका विरोध न केवल सामान्य पौराणिक भावना से ही है, अपितु स्वयं अपने वर्णन से भी है । मत्स्य १३।१४, ब्रह्माण्ड २।१३।७२ तथा वायु २१।१ में शिव याज्ञिक आमंत्रणार्थ निषिद्ध किये गये हैं । इस विरोधात्मक वर्णन की संभावना उसी दशा में मानी जा सकती है ,जब कि यह स्वीकार कर लिया जाय कि प्रस्तुत अध्याय के संकलनकर्त्ता को वायु पुराण के सामान्य विवरण और वर्णन-विस्तार का ज्ञान नहीं था । यह भी संभव है कि प्रस्तुत अध्याय का स्वरूप एक से अधिक संकलनकर्त्ता

---

३६. वही, पृ० ४२-४३

३७. वायु पु०, २२।२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।५६।२८

द्वारा और संभवतः दो भिन्न कालों में तैयार किया गया था। इसका समर्थन प्रस्तुत अध्याय के दो परस्पर भिन्न धार्मिक मान्यताओं के निर्देश द्वारा होता है। श्लोक-संख्या २१ में ब्रह्मा और नारायण में तादात्म्य स्थापित किया गया है, पर श्लोक-संख्या ५३ में नारायण और विष्णु का तादात्म्य मिलता है। इनमें पहली प्रवृत्ति पूर्वकालीन है, तथा दूसरी का विकास उत्तर काल में हुआ था। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

अध्याय २५—इस अध्याय का वर्ण्य-विषय है मधु और कैटभ की उत्पत्ति और विनाश। इसके कुछ श्लोकों में (उदाहरणार्थ, श्लोक-संख्या २० से २१ तक) शिव और विष्णु में समन्वय स्थापित किया गया है, और इस प्रकार इसे वायु पुराण के मूल स्वरूप के साथ समाहित करने का प्रयास भी किया गया है। पर, यह प्रवृत्ति पूरे अध्याय के साथ सामान्य रूप में नहीं मिलती। विस्तार में पुराण के इस अध्याय का दृष्टिकोण भी सांप्रदायिक तत्त्व के प्रभाव से मुक्त नहीं है। ऐसी संभावना का समर्थन अध्याय के उस विवरण से होता है, जिसके अनुसार विष्णु ने, मधु और कैटभ का विनाश शिव की अनुकंपा तथा वरदान-उपलब्धि के परिणाम में किया था। श्लोक-संख्या ६ में विष्णु के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग भी इस अध्याय के उत्तरकालीनता की संभावना को सुस्पष्ट कर देता है। इस दृष्टि से यह संदेहरहित हो जाता है कि इस अध्याय के विवरण का संबंध पौराणिक संरचना के उस स्तर से है, जब कि अवतारवाद की भावना पर्याप्त रूप में विकसित हो चुकी थी। इसे भागवत का समकालीन अथवा उसके बाद का ही माना जा सकता है। जैसा कि हाज़रा[३८] की समीक्षा से व्यक्त होता है, पौराणिक संरचना के प्राथमिक स्तरों पर श्रीकृष्ण विष्णु के अल्पांश-अवतार माने गये हैं, पर उत्तरवर्ती स्तरों पर उन्हें विष्णु के पूर्ण अवतार के रूप में अथवा स्वयं विष्णु के रूप में ही प्रतिष्ठा प्रदान की गई है।

अध्याय २६—प्रस्तुत अध्याय को वायु पुराण की वर्णन-शैली तथा विवरण-विस्तार में व्यवस्था-व्यतिक्रम का सुस्पष्ट प्रमाण माना जा सकता है। इसमें द्विविध पौराणिक विषय एक साथ निरूपित किये गये हैं। इनमें एक है सृष्टीकरण, जिसमें वर्ण्य-विषय की प्राचीनता और प्राथमिकता का सन्निधान है। दूसरा है देवोपासना का वर्णन-वैभव, जिसे पौराणिक संरचना का उत्तरकालीन स्वरूप माना जाता है। सृष्टीकरण-विषय के परिधान से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत

---

३८. हाज़रा, वही, पृ० २२

अध्याय का प्राथमिक स्वरूप अवश्य रहा होगा, पर अपने उपलब्ध रूप में इसकी प्राथमिकता सिद्ध नहीं हो पाती । इस अध्याय के प्रथम चार श्लोकों में शिव के अवतारों के विषय में सूत की पृच्छा का निरूपण है । पर, इसकी प्रासंगिकता अर्थ-विहीन लगती है, क्योंकि शिव के अवतारों का निरूपण पूर्ववर्ती अध्याय २३ में ही किया जा चुका है । इसके अतिरिक्त पृच्छा-संबंधी श्लोकों के अनुवर्ती विवरण में शिव के अवतारों का निर्देश-मात्र भी नहीं मिलता । इसके विपरीत प्रस्तुत विवरण से संबंधित श्लोकों में पुराण-प्रवक्ता वायु का निर्देश कर, उनके माध्यम से सर्ग-निरूपण का विस्तार दिया गया है । समग्र अध्याय में प्रथम चार श्लोकों को छोड़कर ब्रह्मा द्वारा सृष्टीकरण तथा इसके परिणाम में स्वरोत्पत्ति का सविस्तार वर्णन निरूपित किया है । अध्याय के परिशिष्ट में भी स्वरोत्पत्ति का ही निर्देश है । यहाँ स्मरणीय है कि स्वरोत्पत्ति के निरूपण में 'अ' से लेकर 'औ' तक के स्वरों का प्रस्तुत अध्याय में अतीव लालित्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है । वस्तुतः यह व्याकरण का ही विषय प्रतीत होता है । पौराणिक वर्ण्य-विषयों में इन्हें प्रारंभ में कदापि स्थान नहीं मिला था । इसे आख्यानात्मक शैली द्वारा वर्णित कर इसे पौराणिक रूप अवश्य दिया गया है । पर, द्विविध वर्णनों के संश्लेष तथा व्यतिक्रम के कारण, इसे उत्तरकालीन संयोजन का परिणाम मात्र ही माना जा सकता है ।

अध्याय २३ से लेकर अध्याय २६ तक वायु पुराण में जो विवरण प्राप्त होता है, उसकी उत्तरकालीनता के प्रतिपादन में अध्याय २७ के प्रथम श्लोक को भी प्रस्तावित किया जा सकता है । स्वरूप तथा वर्णन-वैशिष्य की दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक का सम्बन्ध अध्याय २७ से ही है । इस अध्याय के वर्णनों को पृच्छात्मक विधि से प्रस्तुत करना इस श्लोक मूल मन्तव्य है । जहाँ तक इस श्लोक की मौलिकता और इससे संबंधित अध्याय की प्राथमिक विद्यमानता का प्रश्न है, इस संदर्भ में संदेह के लिये अवकाश नहीं है । ब्रह्माण्ड पुराण में इसकी उपलब्धि के कारण उक्त दोनों बातें विवाद-रहित हो जाती हैं । पर, ऐसी विशेषता के होते हुये भी, अन्य दृष्टियों से विचार करने पर यह सुस्पष्ट होता है कि इस श्लोक का वायु पुराण में जो पाठ मिलता वह अपने मौलिक रूप में नहीं है, जब कि ब्रह्माण्ड पुराण में इसका मूल रूप सुरक्षित है । दोनों पुराणों के पाठ वक्ष्यमाण प्रकार से हैं :—

> अस्मिन् कल्पे त्वया चोक्तः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
> महादेवस्य रुद्रस्य साधकैर्मुनिभिः सह ।। वायु पुराण
> अस्मिन् कल्पे त्वया नोक्तः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
> महादेवस्य रुद्रस्य साधकैर्ऋषिभिः सह ।। ब्रह्माण्ड पुराण

सामान्यतया दोनों श्लोकों में समरूपता ही दिखाई देती है । दोनों में यदि अंतर है तो वह **चोक्तः** और **नोक्तः** पाठान्तरों के कारण है। यह अंतर भी ऐसा है कि जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । वायु पुराण के अनुसार इसका अर्थ है कि इस अध्याय के पूर्व महादेव तथा अन्य साधक मुनियों के अवतार का वर्णन किया जा चुका है । ब्रह्माण्ड पुराण में इसका अर्थ है कि इस अध्याय के पूर्व अभी तक अन्य ऋषियों के साथ महोदव के अवतार का वर्णन नहीं किया गया है। दोनों वर्णनों के औचित्य-अनौचित्य की समीक्षा निम्नांकित दृष्टि से कर सकते हैं। जहाँ तक वर्णन-प्रसंग का प्रश्न है, इस श्लोक में पूरे अध्याय की पूर्वपीठिका तथा पृच्छा अभीष्ट है। इस तथ्य की निष्पत्ति ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ से तो हो जाती है, पर वायु पुराण के पाठ से नहीं। वायु पुराण में तो इसके द्वारा वर्णन के उपसंहार का निष्पादन होता है, अतवए अध्याय के आदि में इसका उल्लिखित होना संगत भी नहीं लगता है। दूसरे, इन दोनों पुराणों में ही उसी अध्याय के परवर्ती श्लोकों में शिव के प्रादुर्भाव तथा इनके साथ अनेक रुद्रों के अवतरण का उल्लेख प्राप्त होता है । इस दृष्टि से 'चोक्तः' की अपेक्षा 'नोक्तः' पाठ की यथार्थता व्यक्त है। ऐसी सम्भावना का निश्चथ एक अन्य दृष्टि से भी होता है। पूर्ववर्ती अध्याय २३ में वायु पुराण ने शिव के अवतारों का उल्लेख किया है, जो ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित नहीं हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि 'चोक्तः' का संकेत इस पूर्ववर्ती अध्याय की ओर ही है । ऐसी स्थिति में यह संगत लगता है कि मूल वायु पुराण का पाठ 'नोक्तः ही था, तथा इसमें शिव के अवतारों का परिकल्पन नहीं किया गया था। अतएव 'नोक्तः' के स्थान पर 'चोक्तः' का पाठ आकस्मिक नहीं, अपितु अभिलषित-परक ही माना जा सकता है। इससे दो वातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो, यह परिवर्त्तन अवांतरकालीन वर्णन-संयोजन का परिणाम है, जिसके आलोक में वायु पुराण का प्रति संस्करण प्रस्तुत किया गया था। दूसरे, अध्याय २३ से लेकर अध्याय २६ के संकलनकर्त्ता ने ही अतीव कौशल के साथ मौलिक अध्याय के मूल शब्द में अल्प परिवर्तन की योजना द्वारा अपनी शैव-परक सांप्रदायिक प्रवृत्ति का समाधान करने का प्रयास किया था।

अध्याय ३२—प्रस्तुत अध्याय का वर्ण्य-विषय है, युग-धर्म। पर, इसमें विशेषतया प्रमुख देवताओं के स्वरूप-निर्णय पर प्रकाश डाला गया है। इसके वर्णन की विशिष्टता है, ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि और इन्द्र की अपेक्षा शिव की महत्ता को व्यक्त करना, जो पुराण-संरचना के देव-समन्वयवाद संबंधी प्राथमिक विशेषता के प्रतिकूल है। श्लोक-संख्या २ से लेकर ४ तक शिव का गौरव-वर्णन निरूपित है। इसके अनुसार

अक्षर ब्रह्म और महेश्वर एक हैं, जिनका आदि, मध्य और अंत लोक हित के लिये व्यक्त होता है। वर्णन-विस्तार के साथ बताया गया है कि सप्तर्षि, इन्द्र, अन्य ऋषि तथा देवता के उत्पत्ति-स्थान शिव ही हैं। श्लोक संख्या १६ के अनुसार यज्ञ का प्रवर्तन शिव ने ही किया है। यह वर्णन उत्तरकालीन संयोजन का ही परिणाम माना जा सकता है। यज्ञ और शिव का संबंध पुराणों के प्राथमिक स्वरूप के विपरीत है। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। आलोचना की दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय में श्लोक-संख्या २१ अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसमें वर्णन है कि कृतयुग में ब्रह्मा, त्रेता में यज्ञ तथा द्वापर में विष्णु की उपासना होती है, पर शिव की उपासना सार्वकालिक तथा सार्वयुगीन होती है। इस वर्णन के द्वारा अध्याय का सांप्रदायिक दृष्टि कोण सुव्यक्त हो जाता है।

अध्याय ३४-४९—इन अध्यायों के वर्ण्य-विषय का सम्बन्ध भुवनकोश से हैं। इन अनेक अध्यायों में केवल अध्याय ३४, ४५, ४६, ४७ तथा ४९ के वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण के तत्सम अध्यायों में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त वायु पुराण, अध्याय ३४ के श्लोक-संख्या ३६, ३७ से लेकर ४५ पर्यन्त वर्णन भी ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलते है। इस ृष्टि से वायु पुराण के इन अध्यायों की मौलिकता सन्दिग्ध सी लगती है। प्रतीत होता है कि वायु पुराण के इन अध्यायों तथा वर्णनों के संयोजन की पृष्ठभूमि में सांप्रदायिक प्रवृत्ति क्रियाशील थी। इनके वर्णन का स्वरूप कुछ ऐसा है कि भूगोल का विवेचन तो इसमें गौण हो चुका है तथा शैवोपासना को ही प्रधानता मिली है। अध्याय ३४ के श्लोक संख्या ३६ से ४७ में शंकर का तादात्म्य सृष्टा देव से स्थापित किया गया है तथा इस बात पर बल दिया गया है कि पर्वत और नदियों के साथ समस्त विश्व इनके द्वारा सृष्ट है। अध्याय ४२ के श्लोक-संख्या ३९ में शिव को महादेव का अभिधान प्रदान किया गया है तथा करंज पर्वत को इनका आवास माना गया है। अध्याय ४० में देवकूट पर्वत का उल्लेख करते हुये, सिद्ध, ऋषि, गन्धर्व तथा नागेन्द्र-गण को शिव का उपासक उद्घोषित किया गया है। शिव को, यहाँ पुनः महादेव कौ संज्ञा दी गई है, जो विश्व का मंगल निष्पन्न करते हैं। अध्याय ४२ के श्लोक संख्या ३७ में गंगा की पवित्रता का निरूपण है, जो शिव के स्पर्श से द्विगुणित पवित्र होकर पापात्माओं का उत्तारण करती हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत वर्णन में उत्तरकालीन संयोजन का प्रमाण है, क्योंकि इसका निरूपण अध्याय ४७ में ही हो चुका है, जो ब्रह्माण्ड पुराण २।१९ में भी मिलता है। अध्याय ४३ के श्लोक-संख्या में ३८ में भद्राश्व के निवासियों का वर्णन है तथा इनके द्वारा शंकर और गौरी की उपासना, यज्ञ और अर्चना

द्वारा व्यक्त की गई है । शंकर और यज्ञ के सम्बन्ध का उल्लेख यहाँ भी वर्णन की उत्तरकालीनता पर ही प्रकाश डालता है। गौरी के लिये परमवैष्णवी (प्रभविष्णवी भी पाठ कुछ संस्करणों में) विशेषण दिया गया है। यह शब्द अपने यौगिक रूप में अर्थात् व्यापनशीलता का तात्पर्य बोध कराता है, पर इससे यह भी स्पष्ट है कि वैष्णव मत के प्रसिद्ध देवता विष्णु के अभिधान को मतांतरित करना यहाँ सांप्रदायिक प्रवृत्ति ही द्योतक है।

उक्त आलोचित स्थलों की उत्तरकालीनता एक अन्य दृष्टि से भी प्रस्तावित की जा सकती है, जिससे यह व्यक्त हो जाता है कि वायु पुराण के ये कतिपय अध्याय मूल वायुप्रोक्त पुराण में विद्यमान नहीं थे तथा इन्हें परवर्ती कालों में कभी संयोजनात्मक प्रवृत्ति के कारण में प्रकाश में लाया गया था। इस कथन की यथार्थता तथा पुष्टीकरण के लिये अध्याय ३४ के श्लोक संख्या ३६ से श्लोक-संख्या ४५ पर्यन्त विवरण की पुनः व्याख्या की जा सकती है। प्रसंग तथा वर्णन के स्वरूप के आलोक में इन श्लोकों का औचित्य प्रस्तुत अध्याय में संगत नहीं लगता। श्लोक संख्या ३५ में माल्यवान् पर्वत के वर्णन का निर्देश है तथा श्लोक-संख्या ३६ की उपलब्ध तीन पंक्तियों के पूर्वांश में मेरु पर्वत का वर्णन मंतव्य हैं। पर, अनुवर्ती श्लोकों में श्लोक संख्या ४५ तक विषयांतर-निष्पत्ति के कारण मेरु का वर्णन पूर्ण नहीं हो पाता, जब कि इन अनुवर्ती श्लोकों में वह वर्णन अभीष्ट था। मेरु के वर्णन को पुनः गति दी गई है ४६ श्लोक में। स्मरणीय है कि इन अन्तर्वर्ती श्लोकों के वर्णन का निर्देश ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलता, पर मेरु का विवरण इस पुराण में ठीक वैसे ही है जैसा वायु पुराण में। इन श्लोकों में भी वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण की सांप्रदायिक प्रवृत्ति व्यक्त हो जाती है। इनमें शिव को महादेव, जगत्-ज्येष्ठ, महेश्वर, महायोगी जैसे नाम तो दिये ही गये हैं इसके अतिरिक्त इन्हें प्रजापति-पति, ब्रह्मा और ईशान जैसे विशेषण भी प्रदान किये गये हैं, इस प्रसंग में इनके द्वारा निष्पन्न क्रिया-कलाप को 'वैष्णव' अभिधान दिया गया है। वैष्णव शब्द यहाँ भी अपने यौगिक रूप अर्थात् व्यापनशीलता का द्योतक है। इस प्रकार वैष्णव शब्द का प्रचलित और प्रतिष्ठित मान्यता से शैव-मतांतरित होना प्राचीन पौराणिक प्रवृत्ति के प्रतिकूल ही माना जा सकता है। यह स्मरणीय है कि प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्माण्ड पुराण में ये श्लोक नहीं मिलते, अतएव इसके विवरण की मौलिकता संदिग्ध सी प्रतीत होती है। अतिरिक्त एवं उत्तरकालीन श्लोकों के संयोजन के अतिरिक्त वायु पुराण के संकलनकर्त्ता ने मूल शब्दों में भी परिवर्द्धन लाने की चेष्टा किया है। ऐसी सम्भावना का समर्थन वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के इस विवरण में

उन श्लोकों द्वारा होता है, जो स्वरूप में प्रायः समान हैं, पर वर्णन-विस्तार में शब्दान्तरों के चयन के कारण इनमें महत्त्वपूर्ण भिन्नता भी दिखाई देती है। एक का वर्णन सांप्रदायिक प्रवृत्ति का परिचय देता है तो दूसरा, मूल वायुप्रोक्त पुराण के निकट प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, प्लक्षद्वीप के बारे में ब्रह्माण्ड पुराण का कथन है कि यहाँ के निवासी प्लक्ष-वृक्ष की उपासना करते हैं[३९]। पर, वायु पुराण में इनके उपास्य देवता के विषय में शिव का निर्देश है[४०]। इन्हीं वर्णनों में एक स्थल पर दैवी शक्ति को ब्रह्माण्ड पुराण ने अनंतदेव की संज्ञा दी है[४१]। पर, वायु पुराण ने उसी प्रसंग में समान श्लोक में अनंत शब्द को शब्दांतर शिव द्वारा व्यक्त किया है[४२]। दोनों ग्रन्थों के श्लोक इस प्रकार हैं—

तमसोंते विख्यातमाकाशांते ह्यभास्वरम्।
मर्यादायामनंतस्य देवस्यायतनं महत्॥ ब्रह्माण्ड पुराण
तमसोऽन्ते विख्यातमाकाशांते च भास्वरम्।
मर्यादायामतस्तस्य शिवस्यायतनं महत्॥ वायु पुराण

दोनों श्लोकों की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर यही अनुमान निकल सकता है कि मूल वायु प्रोक्त पुराण में तमसोंते पाठ था, जिसका व्याकरणगत सुधार वायु पुराण के तमसोऽन्ते शब्द में व्यक्त है। जिस संकलनकर्त्ता ने इस सुधार को निष्पन्न किया, उसने अपनी शैव-परक प्रवृत्ति को साकार करने के लिये अनंतस्य देवस्य के मूल पाठ को भी अतस्तस्य शिवस्य में परिणत किया होगा। इस सन्दर्भ में वायु पुराण के कतिपय अन्य श्लोकों का उल्लेख भी किया जा सकता है, जिनके अर्थ और स्वरूप में शैव-परक प्रवृत्ति की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। भुवनकोश के प्रसंग में शाकद्वीप का वर्णन करते हुये संकलनकर्त्ता ने इस द्वीप की नदियों के लिये सामान्य नाम 'शिवोदका' दिया है[४३]। प्रसंग की अनुकूलता की दृष्टि से यहाँ शिवोदका के प्रयोग में संकलनकर्त्ता का औचित्य-निर्णय तुलनात्मक दृष्टि से कर सकते हैं।

---

३९. ब्रह्माण्ड पु०, २।१९।२९
४०. वायु पु० ४९।२७; शिव के लिये स्थाणु शब्द का व्यवहार हुआ है। स्थाणु, शिव का ही नामांतर था, द्रष्टव्य, अमरकोश १।१।३० (स्थाणु रुद्र उमापतिः)
४१. ब्रह्माण्ड पु०, २।१९।१६८
४२. वायु पु०, ४९।१६०
४३. वही, ४९।९३

शाकद्वीप की नदियों का सामान्य नामकरण ब्रह्माण्ड पुराण में मिलता है। इसका वर्णन वायु पुराण के समान ही है, पर इसमें विचारणीय विभेद है शिवोदका के स्थान पर शीततोयवहा शब्द का प्रयोग[४४]। इन्हीं वर्णनों में दोनों पुराणों ने शाकद्वीप की विशिष्ट गौण नदियों का भी उल्लेख किया है। विशिष्ट नदियों के विषय में इनका विचार है कि ऐसी नदियाँ सात की संख्या में हैं। गौण नदियों के विषय में इनका मत है कि ये हजारों की संख्या में बहती हैं तथा इनका नाम नहीं गिनाया जा सकता है। दोनों पुराणों के विवरण का विचारणीय पक्ष यह है कि ब्रह्माण्ड पुराण में निर्देशित संख्या के अनुसार सात ही नदियों का परिगणन है, पर वायु पुराण के वर्णन में इनकी संख्या चौदह तक जाती है। स्मरणीय है कि विष्णु पुराण[४५] और शिव पुराण[४६] के वर्णन में भी सात की संख्या में ही शाकद्वीप की नदियों का उल्लेख मिलता है। चारों पुराणों में वर्णित नामों की तालिका इस प्रकार है :—

वायु पुराण	ब्रह्माण्ड पुराण	विष्णु पुराण	शिव पुराण
सुकुमारी	सुकुमारी	सुकुमारी	सुकुमारी
गङ्गा	कुमारी	कुमारी	कुमारी
शिवजला	नलिनी	नलिनी	नलिनी
अनुतप्ता	वेणुका	धेनुका	वेणुका
कुमारी	इक्षु	इक्षु	इक्षु
सिद्धा	वेणुका ?	वेणुका	रेणुका
सती	गभस्ति	गभस्ति	गभस्ति
नन्दा	—	—	—
पार्वती	—	—	—
शिवेतिका	—	—	—
त्रिदिवा	—	—	—
इक्षु	—	—	—
ऋतु	—	—	—
धेनुका	—	—	—

---

४४. ब्रह्माण्ड पु०, २।१६।६७

४५. विष्णु पु०, २।४।६५

४६. शिव पु०, उ० सं०, १८।५५

उक्त तालिका से दो विशेष बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो, यह कि पौराणिकों द्वारा स्वीकार की गई, शाकद्वीप की नदियों की संख्या सात ही है। दूसरे, इन नामों का स्वरूप सामान्य था। वायु पुराण की संख्या इसके अपने उल्लेख से ही विरोध रखती है, क्योंकि अन्य पुराणों की भाँति इसमें भी इन नदियों की निर्धारित संख्या सात है, जब कि विवरण दिया गया है चौदह नदियों का। अतएव इस तथ्य की संभावना सुदृढ़ हो जाती है कि इसका वर्णन मौलिक नहीं है। इसमें उत्तरकालीन किसी संकलनकर्त्ता द्वारा हस्तप्रक्षेप अवश्य किया गया है। इस प्रक्षेप का प्रयोजन सांप्रदायिक उद्भावना को ही मान सकते हैं, क्योंकि शिवजला, सती, नन्दा, पार्वती तथा शिवेतिका जैसे नामों में शिव तथा शैव देवतत्त्वों का स्पष्ट प्रणिधान है। यहाँ ऐसा अनुमान भी कर सकते हैं कि मूल वायु पुराण में परिगणित नदियों की संख्या सात ही रही होगी, जिसका सुस्पष्ट निर्वाह ब्रह्माण्ड पुराण के विवरण में दिखाई देता है। शिव पुराण में साम्प्रदायिक तत्त्व से मुक्त तथा अन्य दोनों पुराणों से मेल रखने वाली इन नदियों की तालिका से भी दो विशेष बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो, यह कि किसी स्तर पर शिव पुराण का स्वरूप भी इसके वर्त्तमान शैवात्मक आकार-प्रकार से भिन्न रहा होगा। उस संभावित स्तर पर इसे प्राथमिक पुराण की मान्यता मिली होगी, जिसके कारण अष्टादश-महापुराण की तालिका में कभी-कभी वायु पुराण के स्थान पर शिव पुराण का ही नाम उल्लिखित मिलता है[४७]। खेद यही है कि इसका वर्त्तमान आकार और स्वरूप कुछ ऐसा हो चुका है कि प्राथमिक पुराण की संज्ञा इसे दी ही नहीं जा सकता है। दूसरे, यह कि वायु पुराण का संभावित प्रतिसंस्करण उस समय संपन्न किया गया होगा, जब कि शिव पुराण अपने विद्यमान रूप में आ चुका था।

यहाँ इस बात का निर्देश कर सकते हैं यद्यपि अनेक बहिरंग तथा बहुविध आन्तरिक प्रमाणों द्वारा वायु पुराण की प्रचीनता सिद्ध हो जाती है, तथापि इसके उपलब्ध स्वरूप को 'प्राचीन' अभिधान से विशिष्ट करना संगत नहीं लगता तथा इस कारणवश ब्रह्माण्ड पुराण का स्रोत-ग्रन्थ वायु पुराण के किसी प्राचीन संस्करण को ही माना जा सकता है। जिन संभावित परिस्थितियों के प्रकर्ष के कारण इसे प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया होगा, उनका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ इसकी झलक दे सकते हैं कि इन दोनों पुराणों में कहीं-कहीं ऐसे वर्णन मिलते हैं, जो सामान्यतया तो विषम नहीं प्रतीत होते; पर वैषम्य उनमें मन्तव्य है, यह निश्चित हो जाता है। इस दृष्टि से दोनों पुराणों के तुलनात्मक स्वरूप पर इनके अंतरंग

---

४७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ५०-५१

साक्ष्यों के आधार पर विचार किया जा सकता है। वायु पुराण के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में ही महादेव ईशान को नमस्कार किया गया है। पर, इस प्रसंग में ब्रह्माण्ड पुराण हरि का उल्लेख करता है, जिनके रूप का व्यंजक विश्व को माना गया है। अध्याय ४९।१६९ में वायु पुराण अपने वर्ण्य-विषय को शिव से संबंधित करता है (य एष शिवनाम्ना हि तद्वः कार्त्स्न्येन कीर्त्तितः)। पर, इस प्रसंग के समान विवरण में ब्रह्माण्ड पुराण के वर्ण्य-विषय का संबंध पद्मनाभ अर्थात् विष्णु से उद्घोषित किया गया है (यः पद्मनाभनाम्ना तु तत्कार्त्स्न्येन च कीर्त्तितः)। दोनों पुराणों में प्रथम अध्याय के अंतिम विवरण में अंतर-वैशिष्य अधिक स्पष्ट होता है। इस विवरण में इनके वर्ण्य-विषय का उद्देश्य निरूपित किया गया है। वायु पुराण का संकलनकर्त्ता इस ग्रन्थ का सम्बन्ध महेश्वर से बताता है (महेश्वरः सर्वमिदं पुराणम्)। इसके विपरीत ब्रह्माण्ड पुराण में तत्संबंधी देवता नारायण बताये गये हैं (नारायणः सर्वमिदं पुराणम्)। दोनों पुराणों के श्लोकों में कभी-कभी स्वरूप-निर्धारण समान है, या विषय-विशिष्ट देवता भिन्न हैं। वायु पुराण अध्याय ४९।१७१ में सभी लोकों के यजन-विधि के विषय महायोगी महेश्वर वर्णित हैं (अनेकधा विभक्तांगो महायोगी महेश्वरः। सर्वलोकेषु लोकेश इज्यते बहुधा प्रभुः)। पर समान प्रसंग के विवरण में ब्रह्माण्ड पुराण २।१९।१८० में महायोगी जनार्दन का उल्लेख है (अनेकधा विभक्तांगो महायोगी जनार्दनः। सर्वलोकेषु लोकेश इज्यते बहुधा प्रभुः)। ऐसे संदर्भ भी हैं जहाँ वायु पुराण का प्राथमिक असाम्प्रदायिक स्वरूप अप्रतिहत और सुरक्षित है, पर ब्रह्माण्ड पुराण में संकलनकर्त्ता की धर्मपरक प्रवृत्ति व्यक्त हुई है। उदाहरणार्थ, वायु पुराण अध्याय ६।१४ में वराह की गति की उपमा सिंह की गति से दी गई है (पीनवृत्तायतस्कन्धं सिंहविक्रान्तगामिनम्)। पर ब्रह्माण्ड पुराण १।५।१४ के उसी वर्णन में सिंह के स्थान पर विष्णु शब्द का प्रयोग मिलता है (पीनवृत्तायतस्कंधं विष्णु विक्रमगामि च)।

उक्त अनेक तथ्य तथा प्रमाण के बल पर अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि वायु पुराण की संरचना में मूल संस्करण की भाँति अवान्तरकालीन प्रतिसंस्करण का भी विशेष स्थान रहा है। इसके मूल संस्करण की दो आधारभूत विशेषताएँ रही हैं। एक तो, इस स्तर पर वायु पुराण सांप्रदायिक तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त था। देवताओं के स्वरूप-निधारण में इसका दृष्टिकोण सामान्य और समन्वयात्मक था। पुराणों की प्राथमिक परिभाषा अर्थात् पंचलक्षण इसमें अपने परिपाक को प्राप्त थी। इसकी प्राचीनता सर्वसम्मत थी, अतएव इसे अनेक रचनाओं का आधार और स्रोत-ग्रन्थ होने का सुयोग मिला था। इसका सामान्य अभिधान वायु पुराण अवश्य

था, पर प्रामाणिकता प्रस्तुत करने के लिये इसे वायुप्रोक्त पुराण अथवा पवमानप्रोक्त पुराण की संज्ञा से विशिष्ट किया जाता था। जैसा कि अग्रिम विवेचन में अधिक सुस्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी, चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के लगभग मूल वायु पुराण अथवा वायु प्रोक्त पुराण अपने प्राथमिक स्तर से प्रभिन्न होकर दो शाखाओं के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रभेद का कारण धार्मिक सम्प्रदायों के क्रिया-कलाप को माना जा सकता है। इन धार्मिक सम्प्रदायों में प्रमुखता दो को ही दी जा सकती है—शैव सम्प्रदाय अथवा वैष्णव सम्प्रदाय। दोनों ने ही मूल ग्रन्थ में अध्याय-संयोजन द्वारा अथवा मूल अध्यायों में श्लोक-संयोजन द्वारा अथवा मूल श्लोकों के शब्द-संयोजन द्वारा परिवर्त्तन और परिवर्द्धन लाने का प्रयास किया। इन संयोजन-परक प्रवृत्तियों की भी दो विशेषताएँ थीं। एक तो, इसमें किसी निश्चित पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया था। मूल ग्रन्थ के किसी भी स्थल पर, अध्याय में अथवा श्लोक में शैली-अन्विति की अवहेलना कर केवल इच्छानुसार नवीन स्थलों का समावेश किया गया था। दूसरे इन परिवर्त्तनों में शैवात्मक अथवा वैष्णवात्मक धर्म-प्रवण प्रवृत्ति को प्रकाश में लाया गया। शैव मत के अनुयायियों ने इसे प्राचीन नाम के अनुसार वायु पुराण कहना ही संगत माना। पर, वैष्णव सम्प्रदाय में इसका प्रचलन ब्रह्माण्ड पुराण के नाम से हुआ। प्रसंगतः यहाँ उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न अध्याय-परिशिष्टों में दोनों ही पुराण वायु प्रोक्त होने का उद्घोष करते हैं, जब कि बाणभट्ट अपने परिचित पुराण को पवमान प्रोक्त अथवा वायु प्रोक्त कहते हैं। अतएव यह सम्भव है कि बाण के अविर्भाव काल अर्थात् सातवीं शताब्दी ई० तक वायु प्रोक्त पुराण एक ही था तथा दो शाखाओं में इसका विभाजन इस काल के उपरांत हुआ। अतएव वायु पुराण के शैवमत-परिचायक प्रतिसंस्करण का काल सातवीं शताब्दी ई० के उत्तरवर्ती अवधि में ही माना जा सकता है।

ब्रह्माण्ड पुराण

इस पुराण के नामकरण के दो कारण दिये जाते हैं। एक मत के अनुसार इसमें भुवन-कोश का वर्णन अधिक विस्तार के साथ दिया गया है, और इस प्रकार ब्रह्माण्ड-विवरण इसका उद्देश्य है; अतएव ब्रह्माण्ड पुराण इसका सार्थक नाम है[1]। दूसरे मत के अनुसार मूल अण्ड के आविर्भाव के विवरण को प्रकाश में लाने के कारण इसे ब्रह्माण्ड पुराण की संज्ञा दी गई है[2]। अष्टादश-महापुराण की तालिका में प्रायः इसे अठारहवें क्रम पर रखा गया है, पर इससे इसकी महत्ता तथा प्राचीनता पर व्याघात नहीं पहुँचता। इसे वायवीय-ब्रह्माण्ड का अभिधान देना प्रसिद्ध पुराण-प्रवक्ता वायु से इसका सम्बन्ध व्यक्त करता है[3]। ऐसे निर्देश से स्पष्ट होता है कि स्वरूप तथा प्रचलन के आलोक में यह वायु पुराण के समकक्ष माना जाता था। इस पुराण की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं— (१) उपलब्ध वायु पुराण के स्थलों से इसकी समता तथा (२) इसके अध्याय-परिशिष्टों में इसे वायु-प्रोक्त पुराण घोषित करना। पौराणिक अनुसंधान-प्रक्रिया में सर्वप्रथम पार्जीटर ने इस बात का निर्देश किया था कि वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण पहले एक थे; पर बाद में मूल वायु पुराण से प्रभिन्न होकर एक नवीन पुराण प्रकाश में आया, जिसे ब्रह्माण्ड पुराण के नाम से ख्याति मिली[4]। पार्जीटर के इस मत से बहुत से विद्वान् सहमत हैं। इस सन्दर्भ में हाज़रा ने कुछ ऐसे श्लोकों का प्रमाण प्रस्तुत किया है, जो निबंधकारों द्वारा वायु पुराण अथवा वायवीय पुराण के नाम में उद्धृत किये गये हैं, पर ये मिलते हैं, ब्रह्माण्ड पुराण में। इस वर्ग के ऐसे प्रमाणभूत श्लोक भी हैं जो ब्रह्माण्ड पुराण के नाम में उद्धृत हैं, पर इस समय ये वायु पुराण में मिलते हैं। इस आधार पर पार्जीटर की भाँति हाज़रा भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ में उपलब्ध वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण का समाहार एक ही मूल पुराण में था[5]। प्रस्तुत

---

१. उपाध्याय, वही, पृ० १६१

२. हाज़रा, वही, पृ० १८

३. कूर्म पुराण १।१।१३-१५

४. पार्जीटर, वही, पृ० २३।७७

५. हाज़रा, वही, पृ० १८

विषय के विवेचन में विन्टरनित्स कूर्म पुराण में उल्लिखित वायवीय ब्रह्माण्ड के निर्देश को प्रमाणभूत मानते हैं। इनका निष्कर्ष है कि ब्रह्माण्ड पुराण अपने मूल रूप में वायु पुराण का प्रतिसंस्करण मात्र है[६]। आचार्य उपाध्याय इन विश्लेषणों तथा इनके आधार पर उक्त विद्वानों के निष्कर्ष को आदरणीय नहीं मानते। इस प्रसंग में इन्होंने नारदीय पुराण के एक महत्त्वपूर्ण वाक्य का प्रमाण दिया है, जिसका आशय इस प्रकार है। प्रभञ्जन अर्थात् वायु के मुख से जो कुछ प्रकाश में आया, उसे व्यास ने प्राप्त किया। इसे प्रमाण मानकर व्यास ने इस लोक में श्रेष्ठ पुराण (ब्रह्माण्ड पुराण) का प्रवर्त्तन किया[७]। इसमें सन्देह नहीं है कि नारदीय पुराण की यह उक्ति ब्रह्माण्ड पुराण के स्वरूप-निर्णय की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा पौराणिक परंपरा में ब्रह्माण्ड पुराण की महत्ता व्यक्त हो जाती है। यह भी स्पष्ट होता है कि इसे वायु पुराण से भिन्न पुराण-ग्रन्थ माना जाता था। प्रश्न यह है कि नारदीय पुराण के इस वाक्य से वायु और ब्रह्माण्ड की मौलिक एकता स्थापित हो सकती है अथवा नहीं। इसका उत्तर देने के पूर्व यहाँ निर्देशित कर सकते हैं कि प्रायः सभी पुराणों में कम से कम प्राचीन पौराणिक रचनाओं में मूलभूत एक ही परम्परा का निर्वाह किया गया था। आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्प निरूपण के माध्यम से पुराण-संरचना का मूल संहिताकरण किया गया। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित उनके प्रथम तथा प्रधान लक्षण बने। इसी प्रकार अन्य अनेक पौराणिक उपादान इन रचनाओं के प्रारम्भिक विकास में समान परम्परा तथा प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित हुये थे[८]। इसी मूलभूत विशेषता के कारण आदि पुराणों में परस्पर वर्ण्य-विषयों की समता, अध्यायों की समता तथा श्लोकों की समता न्यून अथवा अधिक मात्रा में दिखाई देती है। इस प्रकार समता के तत्त्व तो प्रायः सभी पुराणों में दृष्टिगोचर होते हैं। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की विशेषता केवल इतनी है कि इनमें समता इस सीमा तक दिखाई देती है कि कभी-कभी दोनों ग्रन्थ एक ही मूल ग्रन्थ के दो भिन्न नाम प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों के अध्याय-परिशिष्ट में इन्हें वायुप्रोक्त कहा गया है, अतएव

---

६. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५७८

७. व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत् प्रभञ्जनमुखोद्‌गतम्
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन् प्रावर्तयदनुत्तमम्। द्रष्टव्य उपाध्याय, वही, पृ० १६२

८. द्रष्टव्य पृष्ठांक १५-२५

यह निश्चित् करना दुष्कर सा हो जाता है कि मूल वायुप्रोक्त पुराण किसे कहा जाय, वायु पुराण को अथवा ब्रह्माण्ड पुराण को। पूर्वगामी अनुच्छेदों के प्रसंगानुकूल स्थलों में इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि पुराणेतर प्राचीन ग्रन्थों में भी प्रायः वायुप्रोक्त के नाम से ही इस पुराण की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। अतएव इनमें प्रयुक्त 'वायुप्रोक्त' शब्द से यह निर्णीत नहीं हो पाता कि इनका तात्पर्य वायु पुराण से है अथवा ब्रह्माण्ड पुराण से।

इस बात का उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि सातवीं शताब्दी ई० के कवि बाण ने भी अपने परिचित पुराण को 'वायुप्रोक्त', 'पवमानप्रोक्त' तथा 'वायुप्रलपितं पुराणं' ही नाम दिया है। अतएव ब्रह्माण्ड पुराण के नामकरण का समय अर्थात् मूल वायुप्रोक्त पुराण से इसके पृथक्कीकरण का काल बाणोत्तर कालावधि में मानना समीचीन प्रतीत होता है। इस संदर्भ में हाज़रा महोदय ने ब्रह्माण्ड पुराण के कुछ अध्यायों के प्रति संकेत मात्र किया है, जिनका स्वरूप वैष्णव-प्रचुर प्रतीत होता है। ये अध्याय उपलब्ध वायु पुराण में नहीं मिलते। अतएव ब्रह्माण्ड पुराण के पृथक् संरचना की पृष्ठभूमि में साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा को माना जा सकता है। यहाँ इतना और अधिक कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड पुराण में न केवल वैष्णव-परक अध्याय ही हैं, अपितु अन्य सामान्य अध्यायों में भी अनेकत्र वैष्णव प्रवृत्ति का प्रतिपादन करने वाले श्लोक भी हैं। इनके द्वारा हाज़रा का मत समर्थित हो जाता है। उक्त प्रकार के श्लोकों की समीक्षा पूर्वगामी अनुच्छेद में की जा चुकी है। पूर्वगामी अनुच्छेद में इसका विवेचन भी हुआ है कि यदि ब्रह्माण्ड पुराण में वैष्णव-परक स्थल मिलते हैं तो उपलब्ध वायु पुराण के तत्सम प्रसंगों में शैव-परक स्थल भी प्राप्त होते हैं। अतएव मूल वायुप्रोक्त पुराण अपने अतीत रूप में न तो वायु पुराण और न ब्रह्माण्ड पुराण में ही सुरक्षित माना जा सकता है। यह कथन सम्भवतः असंगत न होगा कि ये दोनों पुराण वायुप्रोक्त पुराण के प्रतिसंस्कृत रूप के प्रदर्शन प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्माण्ड पुराण का स्रोत वायु पुराण नहीं है अपितु वायुप्रोक्त अतीतकालीन पुराण है, जो इस समय अपने मौलिक रूप में नहीं मिलता है। इस बात की समीक्षा एक अनुगामी अनुच्छेद में की जायगी कि इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी में वायु पुराण की एक ऐसी प्रति सुरक्षित है जिसके स्थल, विशेषतया राजवंश-परक स्थल; वायु पुराण के उपलब्ध संस्करणों से पर्याप्त रूप में भिन्न है। इनकी समता मत्स्य पुराण से दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में मूल वायुप्रोक्त पुराण का वास्तविक प्रतिनिधित्व उपलब्ध वायु पुराण में किस सीमा तक है, इस प्रश्न का उत्तर संदिग्ध हो जाता है।

ब्रह्माण्ड-पुराण के तिथि-निर्धारण के विषय में हाज़रा महोदय ने इस ग्रन्थ में उपलब्ध ऐतिहासिक घटनाओं की तालिका की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसमें राजनीतिक घटनाओं का विवरण वहीं तक दिया हुआ है, जहाँ तक कि वायु पुराण में, अर्थात् दोनों पुराणों में आदि गुप्तकालीन इतिहास तक राजवंश-निरूपण प्राप्त होता है। अतएव ब्रह्माण्ड पुराण के पृथक्कीकरण का काल ४०० ई० के बाद ही माना जा सकता है[९]। हाज़रा महोदय की प्रस्तुत गवेषणा-पूर्ण उक्ति के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुये, कुछ ऐसे तथ्य का प्रस्तवन किया जा सकता है, जिस पर इन विद्वान् का ध्यान नहीं गया है। इस कथन का औचित्य-निर्धारण कठिन है कि ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ वायु पुराण के उपलब्ध सस्करणों पर आधारित हैं। अतएव जिस साक्ष्य को आधारभूत मानते हैं, उसकी अनिश्चित् स्थिति में अवान्तर निष्कर्ष पर पहुँचना संगत नहीं प्रतीत होता। ब्रह्माण्ड पुराण के राजवंश-विवरण में ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थल निरूपित मिलते हैं, जिनका वायु पुराण से मेल नहीं बैठता, तथा कभी-कभी ऐसे स्थलों से भिन्न ऐतिहासिक सूचना की सम्भावना भी बनी रहती है। ऐसे सभी स्थलों का विश्लेषण प्रस्तुत विवेचन की प्रासंगिकता तथा आयाम-सीमा में सम्भव नहीं है, तथापि अपने कथन के यथार्थ-निर्णय के लिये एक विशिष्ट स्थल का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य स्थल का सम्बन्ध है, पौराणिक राजवंश विवरण के उस अंश से जहाँ कण्व नरेशों के शासनांत तथा आंध्र-सातवाहन नरेशों के शासन-प्रारंभ का वर्णन किया गया है। इस स्थल के ब्रह्माण्ड पुराणान्तर्गत श्लोक की विशिष्टता का उल्लेख सर्वप्रथम पार्जीटर ने किया था। पर, यह उल्लेख पाद टिप्पणी में निर्देश-मात्र था[१०]। इन्होंने इसकी आलोचनात्मक उपादेयता के विषय में कुछ नहीं कहा था। हाल ही में डॉक्टर सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इस श्लोक का विश्लेषण करने का प्रयास किया है[११]। इनकी समीक्षा के अनुसार प्रस्तुत श्लोक न केवल स्वरूप में ही, अपितु वर्णन-विस्तार तथा ऐतिहासिक व्यक्तीकरण में भी, अन्य पुराणों की अपेक्षा भिन्न है। अपने विवेचन में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस श्लोक के विवरण के अनुसार सातवाहन नरेशों के शासन-काल की प्रारंभिक सीमा अन्य पुराणों के विवरण से भिन्न प्रतीत होती है। यदि डॉक्टर चट्टोपाध्याय के इस निष्कर्ष को मान्यता प्रदान की जाय तो निम्नांकित तथ्यों को भी मानना

---

९. हाजरा, वही, पृ० १८

१०. डाइनेस्टीज़ ऑफ़ दि कलि एज, द्वितीय संस्करण, पृ० ३५, पाद टिप्पणी ४२

११. जर्नल ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री, अंक ४४, भाग २, पृ० ३५६

पड़ेगा। एक तो, हाज़रा का यह कथन कि ब्रह्माण्ड पुराण में, वायु पुराण के राजवंश-विवरण का समावेश प्राप्त होता है; निराकृत हो सकता है। दूसरे, ब्रह्माण्ड पुराण की प्रामाणिकता और मौलिकता भी वायु पुराण की अपेक्षा सिद्ध हो सकती है, तथा इस दृष्टि से ब्रह्माण्ड पुराण को ४०० ई० के पूर्व की रचना मानना पड़ेगा। तीसरे, उन सभी पुराण-सम्मत ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी सुधार करने का प्रश्न प्रस्तुत होगा, जहाँ ब्रह्माण्ड पुराण का वर्णन वायु पुराण अथवा अन्य प्रारम्भिक पुराणों की अपेक्षा भिन्न है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुये प्रस्तुत अनुच्छेद में ब्रह्माण्ड पुराण के आलोचित श्लोक की समीक्षा करना तथा उक्त विद्वान् के मत के औचित्य-अनौचित्य का निश्चय करना समीचीन प्रतीत होता है[१२]। अपने मूल रूप में ब्रह्माण्ड पुराण का आलोच्य श्लोक इस प्रकार है—

काण्वायनास्तु चत्वारश्चत्वारिंशच्च पञ्च च।
समा भोक्ष्यन्ति पृथ्वीम् पुनरन्ध्रान्गमिष्यति ॥

डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार इसका अनुवाद निम्नांकित है—चार काण्व नरेश पृथ्वी का शासन पैंतालिस वर्ष तक करेंगे, इसके बाद (यह पृथ्वी) फिर आन्ध्रों के पास जायगी'। श्लोक की ऐतिहासिक व्याख्या के विषय में ये दो बातों पर बल देते हैं। एक तो, यह कि शिमुक के राज्यारोहण के पूर्व आन्ध्र-सातवाहन शक्ति अवस्थित थी, पर काण्व नरेशों के प्रभुत्व के कारण इस राजवंश को राजनीतिक गुरुता न मिल सकी थी। दूसरे, शिमुक द्वारा काण्व नरेश सुशर्मा के पराजित होने के उपरांत आन्ध्र-सातवाहन के शक्ति-प्रसार में एक नवीन अवस्था का सूत्रपात हुआ था। उक्त विद्वान् ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि सातवाहन-वंश का इतिहास लिखते समय अभी तक केवल वायु और मत्स्य पुराणों पर ही बल दिया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण के आलोच्य श्लोक से, इनके मतानुसार, सातवाहन-वंश के दो परस्पर-भिन्न स्तर दिखाई देते हैं; प्रथम स्तर उस कालावधि को मान सकते हैं, जब कि कण्व वंश का आविर्भाव नहीं हुआ था, द्वितीय स्तर का सम्बन्ध उस समय-संवर्तन से है, जब कि कण्व वंश का राजनीतिक गौरव विलुप्त हो चुका था। समग्र विवेचन को ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक पर आधारित कर, ये निम्नांकित सामान्य ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। आन्ध्र-सातवाहन नरेशों की शक्ति का आविर्भाव तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ था। कण्व-वंश का उत्थान होने पर

---

१२. प्रस्तुत विवेचन लेखक के 'एनलिसिस ऑफ़ ए वर्स फ्राम ब्रह्माण्ड पुराण इन हिस्टारिकल पर्स्पेक्टिव' नामक निबंध पर आधारित है; द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ़ दि ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, (बड़ौदा); भाग १७, अंक १

इन्होंने अपनी स्वतंत्रता खो दिया था। इनकी प्रभुता का पुनः स्थापन इस वंश के शिमुक नामक नरेश ने किया। आन्ध्र-सातवहन नरेशों की संख्या सब मिलाकर तीस थी। इनमें ग्यारह नरेशों का आविर्भाव कण्व-वंश के काल का पूर्वगामी माना जा सकता है। शिमुक तथा उसके उत्तरवर्ती आन्ध्र-सातवाहन नरेशों की संख्या उन्नीस थी, इनका आविर्भाव कण्व-वंश के पराभाव के उपरांत हुआ था। इस निष्कर्ष में यदि कोई नई बात दिखाई देती है, तो वह है शिमुक द्वारा आन्ध्र सातवाहनों की विलुप्त स्वतंत्रता का पुनः स्थापित किया जाना, अन्यथा अन्य अनेक बातों की ओर विद्वानों ने पहले भी संकेत किया था। इस प्रसंग में विचारणीय यह है कि ब्रह्माण्ड पुराण के 'पुनरन्ध्रान्गमिष्यति' श्लोक-वाक्य में संकलनकर्त्ता का वास्तविक मन्तव्य है क्या? इसका विश्लेषण भी समीचीन है कि वायु और मत्स्य पुराणों के तत्सम स्थलों से इससे कहाँ तक भिन्न निष्कर्ष निकल सकता है। इसकी समीक्षा भी की जा सकती है कि इन विद्वान् ने 'पुनः' शब्द का तात्पर्य प्रसंग और संकलनकर्त्ता के मंतव्य के अनुकूल ही निकाला है अथवा इस शब्द का विश्लेषण भिन्न अर्थ में किया है।

वायु तथा मत्स्य पुराणों की अपेक्षा ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ में जो कुछ भिन्नता है, वह ब्रह्माण्ड पुराण में पुन (रन्ध्रान्गमिष्यति) शब्द के प्रयोग के कारण है। इसके स्थान पर वायु और मत्स्य पुराणों में पर्यायकाले (भूमिरन्ध्रान्गमिष्यति) पाठ मिलता है[१३]। वस्तुस्थिति यह है कि पौराणिक श्लोकों के क्रम, स्वरूप और व्यवहार में इतना व्यवधान आ जाता है कि इनसे ऐतिहासिक सूचना का चयन उसी दशा में किया जा सकता है, जब कि उनके याथातथ्य-वर्णन को प्रधान न मानकर श्लोकों के तात्पर्य तथा श्लोक-संकलनकर्त्ता के मन्तव्य को समझने का प्रयास किया जाय। पुनः, किल, वै, च तथा अपि ये शब्द इनमें बहुधा अपने वास्तविक अर्थ का द्योतन नहीं करते, अतएव इनकी अपेक्षा रखते हुये पौराणिक श्लोकों का मौलिक और मन्तव्य अर्थ भी नहीं निकाला जा सकता। प्रायः इनका व्यवहार छन्द-संरचना की पूर्णता के लिये मिलता है, इसीलिये पौराणिक श्लोकों के अर्थ-निर्णय में इन्हें सार्थक भी नहीं माना जा सकता है। इन श्लोकों में प्रायः ये अन्तर्वर्ती, अतिरिक्त शब्द-निर्देशक के रूप में प्रयुक्त मिलते हैं; तथा इस प्रकार इनका सम्बन्ध श्लोकार्थ से न होकर मात्र श्लोक-गठन से रहता है। पौराणिक वर्णन सामान्य रूप में तथा राजवंश-विवरण विशेष रूप में, ऐसे शब्दों के प्रयोग से ओत-प्रोत मिलता है।

---

१३. वायु पु०, ६६।३४७; मत्स्य पु०, २७२।३७

प्रस्तुत संदर्भ की अनुकूलता के लिये ऐसे दो पौराणिक श्लोकों का प्रमाण दिया जा सकता है, जिनमें चापि और पुनः का प्रयोग हुआ है; पर श्लोक के अर्थ पर इनका कोई भी प्रभाव नहीं है। इनमें प्रथम श्लोक के वर्णन के अनुसार शुंग-वंश के अग्निमित्र का उत्तराधिकारी वसुज्येष्ठ था, जिसने सात वर्ष तक शासन किया[१४]। इस संदर्भ में वायु, ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य के श्लोक में वसुज्येष्ठ शब्द के बाद चापि/चैव शब्द का प्रयोग हुआ है जब कि विष्णु तथा भागवत के स्थलों में इस प्रकार का कोई श्लोक नहीं मिलता। यदि यहाँ वायु ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य के श्लोक की व्याख्या चापि/चैव शब्द के अनुसार की जाय तो एक ऐसा अर्थ प्रकाश में आयेगा, जो इतिहास-सम्मत कदापि नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि अग्निमित्र के बाद वसुज्येष्ठ भी नरेश हुआ, उस शुंग नरेश के अतिरिक्त जिसके नाम का पता लगाने के लिये अनावश्यक छान-बीन करनी पड़ेगी। दूसरे, श्लोक के वर्ण्य-विषय हैं उत्तरकालीन शुंग-नरेश घोष तथा वज्रमित्र। इसमें पुनः शब्द का उल्लेख वज्रमित्र के शासन-कालावधि के वर्णन में हुआ है (राजा घोषस्ततश्चापि वर्षाणि भविता त्रयः। सप्त वै वज्रमित्रस्तु समा राजा ततः पुनः)। विचार करने पर प्रतीत होगा कि यहाँ भी पुनः शब्द श्लोक-गठन के लिये ही, न कि श्लोकार्थ को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। यदि कोई संभावित अर्थ यहाँ पुनः शब्द के कारण माना भी जाय तो वह केवल यही है कि घोष के उपरान्त क्रमानुसार वज्रमित्र का राज्यारोहण होगा। इसके विपरीत यदि पुनः के शाब्दिक अर्थ के अनुसार श्लोक की व्याख्या किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि वज्रमित्र का राज्यारोहण एक बार पहले हो चुका था तथा घोष के बाद वह फिर राज्याभिषिक्त हुआ। इस प्रकार शुंग-वंश के इतिहास-सम्मत घटना-क्रम तथा राजवंश-तालिका में परिवर्तन तथा अनावश्यक संशोधन करना पड़ेगा। इस समीक्षा से सामान्य निष्कर्ष यही निकलता है कि इन पौराणिक विवरणों में पुनः का शाब्दिक अर्थ ग्रहीत नहीं है, प्रत्युत इस शब्द का प्रयोग अन्य तत्सम शब्दों की ही भाँति श्लोक-संरचना में गठन तथा छन्द-व्यवस्था लाने के लिये किया गया है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि आलोच्य श्लोक में 'पुनः' का व्यवहार शाब्दिक अर्थ-द्योतन के लिये हुआ है, तब भी प्रश्न होता है कि तात्पर्य यहाँ पृथ्वी के अन्ध्र-साहवहनों के पास पुनर्गमन से है अथवा क्रमानुसार कण्व-वंश से आन्ध्र-

---

१४. वायु पु०, अध्याय ६१; ब्रह्माण्ड पु०, म० भा० उपो० पा०, अध्याय, ७४ मत्स्य पु०, अध्याय २७२ (पार्जीटर द्वारा उद्धृत 'फ' हस्तलिपि के अनुसार स्वीकृत पाठ)

सातवाहनों के पास जाने से है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं, सुधाकर चट्टोपाध्याय ने पहले अर्थ को ही माना है। उल्लेखनीय है इस वर्णन के पूर्व एक श्लोक में कहा गया है कि पृथ्वी शुंग वंश से कण्व वंश को जायगी (तेभ्यः कण्वं गमिष्यति)। चार श्लोकों के व्यवधान के बाद वर्णित कि है पृथ्वी कण्व-वंश से आन्ध्र-वंश को जायगी। इस संदर्भ में जाने की क्रिया का बोध कराने के लिये संकलनकर्त्ता ने गमिष्यति शब्द का ही चयन किया है। गमिष्यति शब्द का प्रयोग करते समय, उसने इस प्रश्न पर विचार अवश्य किया होगा कि इस शब्द का प्रयोग एक निकटवर्ती श्लोक में किया जा चुका है। अतएव काव्य-सौष्ठव तथा संतुलन की दृष्टि से उसने गमिष्यति के स्थान पर पुनर्गमिष्यति का प्रयोग आवश्यक समझा होगा। प्रतीत होता है कि पुनर्गमिष्यति शब्द का संबंध मूर्त्त रूप में परिकल्पित पृथ्वी की गमन-क्रिया से है। श्लोक में व्यंजना यह है कि अभी तक पृथ्वी काण्वों के साथ रही, पर कालक्रम के अनुसार इनके संरक्षण तथा संयमन शक्ति के शिथिल होने पर स्वभावतः उसे फिर से आगे बढ़ना पड़ा, तथा ऐसे राजवंश का संश्रय लेना पड़ा, जो इसके संरक्षण और संयमन के लिये सशक्त और समर्थ था।

इस बात का निश्चय करना समीचीन प्रतीत होता है कि अंततः किस दृष्टि से वायु/मत्स्य तथा ब्रह्माण्ड पुराण के इस आलोच्य श्लोक में अंतर माना जाय। सामान्य विचार करने से तो केवल यही लगता है कि यह अन्तर शब्दों के चयन में थोड़ा हेर-फेर के कारण है। जब कि वायु/मत्स्य पुराण के पाठ में पर्यायकाले शब्द का प्रयोग है, ब्रह्माण्ड पुराण में 'पुनः' का प्रयोग मिलता है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि पर्यायकाले का अर्थ किस सीमा तक अथवा किस रूप में पुनः से भिन्न माना जा सकता है। इस प्रश्न का समाधान यदि काव्यशास्त्रों के लक्षण तथा काव्यों के उदाहरण के संदर्भ में किया जाय तो प्रतीत होगा ये दोनों परस्पर-भिन्न अथवा पृथक् नहीं प्रत्युत संबंधित ही माने गये हैं। इन दोनों शब्दों का प्रयोग क्रमशः अलंकार-लक्षण तथा अलंकार-उदाहरणों में प्राप्त होता है। 'पर्याय' एक विशेष प्रकार का अलंकार माना गया है। मम्मट ने 'पर्याय' के विषय में कहा है कि यह एक ऐसा अलंकार है, जिसमें एक ही वस्तु का क्रमशः अनेक व्यक्ति अथवा स्थान में गमन-निर्देश का बोध व्यक्त किया जाता है (एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः)[१५]। साहित्य दर्पण में भी 'पर्याय' की गणना अलंकारों के अंतर्गत हुई है तथा इसके उक्त प्रकार के समान परिभाषा ही दी गई है[१६]। पाणिनीय परिभाषा

१५. काव्य प्रकाश, १०।८०

१६. क्वचिदेकमनेकस्मिन्नेकगं क्रमात्
भवति क्रियते वा तदा पर्याय इष्यते। साहित्य-दर्पण, १०।८०

के अनुसार पर्याय का अर्थ क्रम होता है तथा इसमें 'इण्' धातु को घञ् प्रत्यय तथा परि से उसी दशा में व्यवस्थित करते हैं, जब कि गमन-क्रिया में क्रमानुसारिता का बोध कराना होता है[१७]। पर्याय अलंकार के उदाहरण-बोध के लिये मम्मट ने जिस श्लोक का प्रमाण दिया है, वह इस प्रकार है :—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्[१८]।

प्रस्तुत श्लोक में कालकूट की गमन-क्रिया का विवरण है। इसके विषय-भूत क्रमशः तीन स्थानों का निर्देश है, (१) समुद्र का हृदय, (२) शिवकंठ तथा (३) दुराचारी व्यक्तियों की वाणी। श्लोक के वर्णन का स्मरणीय पक्ष है अथ और पुनः शब्दों का प्रयोग। समुद्र-हृदय से शिवकंठ तक गमन-क्रिया की क्रमानुसारिता का बोध कराने के लिये अथ शब्द व्यवहृत है तथा शिवकंठ से दुराचारी व्यक्ति के पास उसी वस्तु की गमन-क्रिया की क्रमानुसारित को व्यक्त करने के लिये पुनः शब्द का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि यदि कवि को यह वर्णन करना रहे कि वस्तु की गमन-क्रिया के विषयीभूत कई स्थान हैं, तथा उनमें कोई विशेष स्थान गमन और प्रत्यागमन दोनों का विषय है, तो ऐसी दशा में केवल पुनः शब्द का प्रयोग पर्याप्त नहीं होता है। ऐसी स्थिति में पुनः शब्द को एव से संयुक्त करना प्रायः अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था कालिदास ने रघुवंश के एक श्लोक में अपनाया है। प्रस्तुत श्लोक का वर्ण्य-विषय है गोसेवा में रत दिलीप के क्रमानुसारी क्रिया-कलाप का वर्णन, जो इस ग्रन्थ के दूसरे सर्ग, श्लोक २३ में निबद्ध मिलता है। इसके अनुसार दिलीप प्रतिदिन नियमतः तथा क्रमानुसारतः अन्य अनेक आवश्यक कर्त्तव्यों को समाप्त करने के उपरांत गोसेवा में फिर से रत हो जाते थे। यह श्लोक अपने संस्कृत रूप में इस प्रकार है :—

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्॥

पुनरेव शब्द से यहाँ ध्वनि यही निकलती है कि दिलीप प्रारंभ में गोसेवा-संपन्न करते थे तथा क्रमशः अन्य कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के उपरांत फिर गोसेवा

---

१७. परावनुपात्यय इणः ३।३८ क्रमप्राप्तस्य अनतिपातः अनुपात्ययः। तव पर्यायः। अनुपात्यये किम्। कालस्य पर्यायः। अतिपातः इत्यर्थः। सिद्धांतकौमुदी।

१८. यह श्लोक भल्लटशतक ४ में मिलता है।

में रत हो जाते थे। इससे स्पष्ट होता है कि पुनः शब्द का प्रयोग पर्याय-अलंकार के उदाहरण अथवा स्फुट अलंकार-योजना से विहीन श्लोक में वस्तु की गमन-क्रिया की क्रमानुसारिता को ही व्यक्त करता है, इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति या स्थान के पास वस्तु के प्रत्यागमन को द्योतन करना हो तो ऐसी स्थिति में पुनः को एव से संयुक्त करना अपेक्षित हो जाता है अतः पुनः शब्द-संयोजन से श्लोक से एक विशेष प्रकार के आलंकारिक अथवा काव्यात्मक रूप की ध्वनि निकलती है, तथा इस वर्ग के श्लोक वस्तु-विशेष की विभिन्न दशाओं एवं कालावधि में गति-प्रकर्ष का क्रमिक परिचय देते हैं। वस्तु के गति-प्रकर्ष में समरूपता रहती है, पर व्यक्ति अथवा स्थान में वस्तुस्थिति की यथार्थता अथवा कवि के परिकल्पन के अनुसार अंतर प्रदर्शित रहता है। वस्तु की क्रिया-क्रमबद्धता को स्पष्ट करने के लिये पुनः, अथ और ततः जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बहुधा ये शब्द का प्रयुक्त नहीं मिलते, पर इनके संयोजन से पद्य-रचना की पूर्णता तथा भावना के स्पष्टीकरण में विशेष बल आ जाता है।

जिन विविध दृष्टिकोण से ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक की समीक्षा विगत अनुच्छेदों में की गई है, उनसे वक्ष्यमाण तथ्यों की सूचना प्राप्त होती है। (१) ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक में प्रयुक्त पुनः शब्द तथा वायु और मत्स्य पुराणों में प्रयुक्त पर्यायकाले शब्द समान अर्थ तथा समरूप मन्तव्य के द्योतक हैं। काव्य-परंपरा में यदि शास्त्रीय दृष्टि से इन शब्दों के समानार्थक होने का प्रमाण मिल सकता है, तो पौराणिक परंपरा में इनका एतत्सम होना संदिग्ध नहीं माना जा सकता है। (२) यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वायु और मत्स्य पुराणों में पर्याय शब्द अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त है, जब कि यह एक विशिष्ट अलंकार का नाम है। इस अलंकार के उदाहरण में पुनः शब्द का प्रयोग मिलता है, न कि पर्याय शब्द का। इस विवेचन में आगे चलकर यह दिखाने की चेष्टा की जायगी कि ब्रह्माण्ड पुराण में ऐसे अनेक स्थल तथा अध्याय हैं, जिन्हें अतीव काव्यात्मक ढंग से वर्णित किया गया है। इन अध्यायों के रचना-काल को कालिदासोत्तर माना जा सकता है। अतएव यह बहुत कुछ संभव है कि वायु और मत्स्य पुराणों का मौलिक श्लोक ब्रह्माण्ड पुराण में परिवर्तित कर दिया गया है। इस परिवर्त्तन में लक्षण और उदाहरण में शब्द की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुये संकलनकर्त्ता द्वारा पर्यायकाले के स्थान पर पुनः शब्द का चयन किया गया होगा। (३) राजवंश-विवरण में अधिक प्राचीन मत्स्य और वायु के ही स्थल माने जा सकते हैं; न कि ब्रह्माण्ड पुराण के वे स्थल जिनमें काव्य-शास्त्रीय अनुकूलता तथा उपादेयता के आलोक

में सुधार का प्रमाण प्राप्त होता है। (४) राजवंश-विवरण में श्लोकों की जो संख्या ब्रह्माण्ड पुराण में प्राप्त होती है वह वायु पुराण की अपेक्षा कम है। यदि गणना की जाय तो वायु पुराण की तुलना में इनकी संख्या लगभग आधी ठहरती है। आलोचित श्लोक को ही यदि देखा जाय तो यह वायु पुराण और मत्स्य पुराण में वर्णित अनेक श्लोकों का संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है। उल्लेखनीय है कि ब्रह्माण्ड पुराण में श्लोकों की संख्या में काट-छाँट करने का एक विशेष कारण था। प्रस्तुत प्रबंध में यह दिखाया जायगा कि ब्रह्माण्ड पुराण के अड़तीस की संख्या में ऐसे अध्याय हैं, जो उत्तरकाल के संयोजन हैं, इन्हें किसी प्रकार भी वायुप्रोक्त मूल पुराण का अंग नहीं माना जा सकता है। मूल पुराण के आकार की अपेक्षा रखते हुये नवीन अध्यायों का संयोजन उसी दशा में सम्भव था, जब कि मौलिक वर्णन-विस्तार को संक्षिप्त रूप प्रदान किया जाय। ब्रह्माण्ड पुराण के इन वर्णनों के संक्षिप्त होने का सामान्य निर्देश पार्जीटर ने पहले ही कर दिया था। इनका मत था कि राजवंश-विवरण का मूल रूप मत्स्य पुराण में प्रतिष्ठित है। इस मत को अन्यथा सिद्ध करने के लिये न तो कोई विशेष तर्क और न अतिरिक्त प्रमाण एवं साक्ष्य के लिये ही अवकाश दिखाई देता है। आलोचित श्लोक के संदर्भ में केवल इतना कहा जा सकता है कि यह एकाकी संख्या में वायु तथा मत्स्य पुराणों के श्लोक-समूह पर आधारित है। यह स्वयं में न तो पूर्ण है और न सातवाहनों के इतिहास के लिये नवीन अथवा पृथक् सामग्री प्रस्तुत करने में समर्थ ही है।

उपर्युक्त समीक्षा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक पुराणों में उपलब्ध राजवंश-विवरण अपने मौलिक रूप में पूर्णतया सुरक्षित नहीं है। इसका एकमात्र कारण इनके उत्तरकालीन संकलनकर्त्ताओं की अनैतिहासिक प्रवृत्ति को ही माना जा सकता है। नवीन सामग्री का चयन तथा प्रारम्भिक पुराणों में इनका समाहार करते समय इन्होंने प्राथमिक स्थलों के विवरण में सन्निहित मन्तव्य पर ध्यान नहीं दिया। राजवंश-विवरण की शैली सामान्य थी। उत्तरकालीन संकलनकर्त्ताओं ने इसमें काव्य-सौष्ठव लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयास के परिणाम में भाषा-प्राञ्जलता को बल तो अवश्य मिला, पर इन वर्णनों के मौलिक अर्थ पर इसके द्वारा आघात भी पहुँचा। इस प्रवृत्ति का परिचय न केवल ब्रह्माण्ड पुराण की पंक्तियों में ही प्राप्त होता है अपितु इसके समर्थन के उदाहरण वायु पुराण के स्थलों में भी मिलते हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है कि उपलब्ध वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनेक स्थल शैव एवं वैष्णव मतों द्वारा प्रभावित प्रतीत होते हैं, जब कि इनका संभावित स्वरूप मूल वायुप्रोक्त पुराण में साम्प्रदायिक तत्त्व के प्रभाव से मुक्त था। ये

उत्तरकालीन शैव तथा वैष्णव मत के अनुयायी संकलनकर्त्ता स्वधर्म-परक तथा स्वमत-विशिष्ट स्थलों का संयोजन करने में तो सिद्धहस्त थे तथा भाषा-परिष्कार की प्रक्रिया में भी इन्हें पटुता प्राप्त थी। पर, ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव होने के कारण वंशानुचरित-खंड के प्राथमिक स्थलों की याथातथ्यपूर्ण अवतारणा कर पुराणों की परिवर्द्धित प्रतियों में इनका अविकल समाहार करना इनके वश की बात नहीं थी। ऐसी प्रवृत्ति के परिणाम में वंश-वृत्त का, जो चित्र वायु पुराण के भी अनेक संस्करणों में प्रस्तुत है, वह प्रत्येक संस्करण में उतना विश्वसनीय नहीं हो सकता जितना कि कभी-कभी मान लिया जाता है। इस प्रकार की संभावना का स्पष्टीकरण वायु पुराण के एक श्लोक द्वारा होता है, जो सभी मुद्रित संस्करणों में उपलब्ध होता है, पर इसकी एक हस्तलेख-प्रति में भिन्न पाठ मिलता है। प्रस्तुत श्लोक शुंग-वंश के सन्दर्भ में लिखा गया है। जिन अन्य श्लोकों के साथ इसका उल्लेख वायु पुराण में हुआ है वे अन्य वंश-वृत्त का वर्णन देने वाले पुराणों में भी प्राप्त होते हैं[१९]। पर आलोच्य श्लोक द्वारा अभिव्यंजित विशेषताएँ केवल वायु पुराण (मुद्रित संस्करणों) में प्राप्त होती हैं। अन्य पुराणों में केवल ब्रह्माण्ड पुराण का श्लोक इससे मिलता-जुलता है, पर इसकी सूचना भिन्नार्थ में है। दोनों पुराणों के श्लोक वक्ष्यमाण प्रकार से उल्लिखित हैं[२०] :—

पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः। वायु पुराण
अग्निमित्रो नृपश्चाष्टौ भविष्यति समा नृपः। ब्रह्माण्ड पुराण

यहाँ यदि याथातथ्य-रूप में वायु पुराण के श्लोक का अनुवाद किया जाय तो इसका आशय यही निकलेगा कि पुष्यमित्र के आठ पुत्र समान रूप में शासन कर रहे थे। कुछ विद्वानों ने इसी अर्थ को विश्वसनीय मानकर यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि पुष्यमित्र ने अपने साम्राज्य का सामन्तोचित वर्गीकरण किया था, जिसके शासक इस नरेश के आठ पुत्र थे[२१]। अतएव यह विचारणीय है कि प्रस्तुत श्लोक की ऐसी समीक्षा, वस्तुस्थिति के निकट किस सीमा तक पहुँच सकती है।

---

१९. मत्स्य पु०, अध्याय २७२; विष्णु पु०, ४।२४; भागवत १२।१
२०. वायु पु०, उत्तर भाग ३७।३३२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।१५१
२१. उदाहरार्थ, स्वर्गीय डा० रमाशंकर त्रिपाठी अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिस्ट्री ऑफ़ एंशेण्ट इण्डिया में लिखते हैं कि पुष्यमित्र ने अपने बृहत् साम्राज्य का सामन्तोचित वर्गीकरण किया था, क्योंकि वायु पुराण के एक संस्करण में वर्णन है कि "पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः" अर्थात् पुष्यमित्र के आठ पुत्र साथ-साथ शासन करेंगे।

प्रस्तुत विवेचन का ध्यातव्य पक्ष यह है कि सामान्य गठन और शब्द-सञ्चयन की दृष्टि से वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के श्लोक में वैषम्य स्पष्ट है, इसके अतिरिक्त इनसे सम्भाव्य ऐतिहासिक सूचना में भी अंतर दिखाई देता है। वायु पुराण के श्लोक से ध्वनि निकलती है कि जिस साम्राज्य को पुष्यमित्र ने अपने पराक्रम से स्थापित किया था वह उसके उत्तराधिकारियों के काल में एकीभूत नहीं रह सका, क्योंकि इस पर आठ व्यक्तियों का अधिकार था। ये आठ अधिकारी पुष्यमित्र के पुत्र ही थे, जिनमें प्रत्येक शासक बनने के लिये लोलुप था। अतएव पुष्यमित्र ने उत्तराधिकार-युद्ध की भावी सम्भावना को रोकने के लिये अपने जीवनकाल में ही साम्राज्य को आठ शासकीय इकाइयों में विभाजित कर दिया था। इन शासकीय इकाइयों की संख्या का निर्धारण पुत्रों की संख्या को ध्यान में रखकर किया गया था। दूसरे शब्दों में पुष्यमित्र के आठ पुत्र थे, जिनमें प्रत्येक को एक ही समय में शासक बनने का सुयोग प्राप्त हुआ था। ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक से जो व्यंजना स्फुटित होती है, वह इससे नितांत भिन्न है। इसकी व्याख्या के अनुसार पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी एक ही व्यक्ति था, जिसका नाम था अग्निमित्र और जिसने आठ वर्ष तक शासन किया था। इन स्वतोविरोधी पौराणिक सूचनाओं में सही किसे माना जाय, अर्थात् वायु पुराण का विवरण इतिहास-सम्मत है अथवा ब्रह्माण्ड पुराण की उक्ति इतिवृत्तात्मक है—ये शंकाएँ ऐसी हैं जिनका समाधान दोनों श्लोकों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर ही किया जा सकता है। पौराणिक वृत्तों और विवरणों की समीक्षा के अनुसार इस संदर्भ में जिज्ञासा का स्वरूप होगा यह सुनिर्णीत करना कि दोनों में कौन सा श्लोक प्राचीन और प्राथमिक है, जिसे ऐतिहासिक अनुसंधान का वास्तविक आधार मानकर उचित निष्कर्ष निकाला जाय। दूसरी ओर यदि पुराण-संरचना की परंपरागत शैली को देखा जाय तो प्रतीत होगा कि प्रारम्भिक पुराणों के अंतिम सम्पादन के उपरान्त भी श्लोक-प्रक्षेप तथा स्थल-प्रक्षेप की प्रवृत्ति इनकी काया-परिकल्पन में क्रियमाण रही है। ऐसी स्थिति में किसी श्लोक के प्राचीन अथवा अवांतरकालीन स्वरूप का निर्धारण मात्र स्रोत के आधार पर ही निश्चित् करना समीचीन नहीं माना जा सकता है। ऐसे स्थलों पर जहाँ पौराणिक वर्णन एकमत नहीं है, वहाँ किसी विशेष पुराण के काल को ध्यान में रखकर अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचना उतना श्रद्धेय नहीं हो सकता जितना कि सामग्री-विशेष के काल और स्वरूप का पूर्ण विवेचन करना। इस दृष्टि से विचार करने पर आलोच्य श्लोक के सन्दर्भ में दो तथ्य महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। एक तो, यह कि प्रस्तुत श्लोक का समाहार जिस वायु पुराण में मिलता है, उसकी प्राचीनता का

प्रश्न विवाद का विषय नहीं बन सकता। पर यह भी संदेह-रहित है कि इसके प्रत्येक स्थल अथवा श्लोक को प्राचीनता का विशेषण नहीं दिया जा सकता है। इस ग्रन्थ में न केवल अवान्तरकालीन अध्याय ही हैं अपितु इसके आदि अध्यायों में भी अवान्तरकालीन स्थल और श्लोक समाहृत प्रतीत होते हैं। दूसरे, वायु पुराण के प्राथमिक अध्याय, वृत्त और विवरण ब्रह्माण्ड पुराण में सामान्यतया मिल जाते हैं, क्योंकि दोनों का निर्गमन एक ही स्रोतभूत ग्रन्थ वायुप्रोक्त पुराण से हुआ है। अतएव वायु पुराण के प्रस्तुत श्लोक की प्राचीनता और विश्वसनीयता का प्रश्न विवादास्पद हो जाता है।

उक्त सम्भावना की यथार्थता उस समय व्यक्त होने लगती है, जब कि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि पौराणिक वंश-विवरण की सामान्य शैली के निकट ब्रह्माण्ड पुराण का श्लोक तो प्रतीत होता है, पर वायु पुराण का श्लोक इससे पृथक् है। दोनों पुराणों के श्लोक में प्रयुक्त अष्टौ तथा समा शब्दों के अर्थ पर विशेषतया विचार किया जा सकता है, क्योंकि दोनों ग्रन्थों में इनके द्वारा परस्पर-पृथक् तात्पर्य अभिव्यंजित होता है। पौराणिक राजवंश-विवरण में समा शब्द का अर्थ वर्ष है। संख्या-सूचक शब्द के संयोग से इसके द्वारा शासकों के राज्यत्व-काल की अवधि का बोध होता है। ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक को देखें तो प्रतीत होगा कि इसमें अष्टौ और समा के द्वारा पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी अग्निमित्र के शासन-काल की अवधि मन्तव्य है, अतएव इसकी शैली भी पौराणिक शैली के अनुकूल मानी जा सकती है। इसके विपरीत वायु पुराण के श्लोक-गठन में इनका प्रयोग कुछ ऐसा है कि सामान्य पौराणिक शैली में इसे अनुकूलता के लिये अवकाश ही नहीं है, यहाँ तक कि इसी ग्रन्थ के वर्णनों में इनके प्रयोग का समाधान नहीं हो पाता है। इसके अनुवर्ती अथवा पूर्ववर्त्ती श्लोकों में अष्टौ और समा का अर्थ शासन-काल की अवधि ही द्योतित हुई है, इनमें कहीं भी समा शब्द समान के अर्थ में व्यक्त नहीं है। ऐसी समीक्षा से वायु पुराण में उपलब्ध श्लोक का उत्तरकालीन संयोजन होना नितांत सम्भाव्य है। एक अन्य दृष्टि से विचार करने पर भी कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष निकलता है। पुष्यमित्र का पुत्र और उत्तराधिकारी अग्निमित्र था—इसका निर्देश अन्य वंशानुचरित-सम्पन्न सभी पुराण-ग्रन्थों में स्पष्ट अथवा सांकेतिक रूप में अवश्य हुआ है। वायु पुराण की उपलब्ध वंश-तालिका में अग्निमित्र का नामोल्लेख नहीं है। इसका निर्देश यदि किसी भी श्लोक में हो सकता था तो केवल वर्त्तमान श्लोक में, पर वर्त्तमान गठन में इसका तात्पर्य कुछ दूसरा ही है। अतएव यह सम्भावना प्रबलतर हो जाती है कि वायु पुराण में

उपलब्ध श्लोक इसके किसी अतीतकालीन शब्द-गठन का प्रतिसंस्कृत रूप है, जो इस समय मन्तव्य और मौलिक अर्थ का द्योतन नहीं कर सकता है[२२]।

ऐसा प्रतीत होता है कि वायु पुराण के मुद्रित संस्करणों के आधारभूत वायुप्रोक्त पुराण के प्रतिसंस्करण को जिस संकलनकर्त्ता ने प्रस्तुत किया था, उसने ऐतिहासिक जानकारी के अभाव के कारण पुष्यमित्र के उपरान्त शुंग-वंश के नरेशों के अविर्भाव एवं उत्तराधिकार-क्रम पर ध्यान नहीं दिया। पौराणिक वंश-विवरण की सामान्य तथा निर्धारित शैली के अनुसार यदि अनुमान लगाया जाय तो आलोचित श्लोक का सम्भावित अतीत रूप निम्नांकित प्रकार का होना चाहिये था :— "पुष्यमित्रसुतश्चाष्टौ भविष्यति समा नृपः"[२३]। सम्भवतः वायु पुराण के मूल संस्करण में, जिसका प्रतिसंस्करण किसी उत्तरकालीन संकलनकर्त्ता ने प्रस्तुत किया, यही पंक्ति थी। यहाँ दो बातों पर ध्यान देना उचित है। एक तो, यह कि इस पंक्ति में अग्निमित्र के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, यद्यपि मंतव्य अग्निमित्र से ही है। दूसरे, वायु पुराण की प्रतियों में पुष्यमित्र के उत्तरवर्ती जिन शुंग-नरेशों का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है, उनकी संख्या वस्तुतः आठ ही है। प्रतिसंस्करण-कर्त्ता ने, सम्भवतः वंशानुचरित-परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण, यह समझा कि उक्त पंक्ति के आठ संख्या का निर्देश पुराण में स्पष्टतया उल्लिखित हुये आठों शुंग-नरेशों

---

२२. वायु पुराण के प्रस्तुत श्लोक के असामान्य स्वरूप का निर्देश पार्जीटर ने पहले ही कर दिया था (वही, पृ० ३१, पाद टिप्पणी संख्या १०)। इनके संक्षिप्त निर्देश की व्यंजना यही है कि इस श्लोक में प्रयुक्त सुताः तथा नृपाः शब्द सुतः तथा नृपः शब्दों के भ्रामक तथा त्रुटिपूर्ण बहुवचनात्मक प्रयोग हैं। श्लोक में मन्तव्य शब्द सुतः और नृपः ही हैं। अष्टौ और समा शब्द, सुताः और नृपाः के संयोग में इन शब्दों के विशेषण बन जाते हैं, तथा इनका अर्थ होता है आठ समान शासक। इसके विपरीत यही दोनों शब्द सुतः और नृपः के साथ प्रयुक्त होने पर 'आठ वर्ष' का तात्पर्य सूचित करते हैं, जो पौराणिक वंश-वृत्त की सामान्य शैली से मेल भी रखता है।

२३. श्लोक के प्रस्तुत गठन के लिये द्रष्टव्य पार्जीटर, वही, पृ० ३१। पार्जीटर ने जिन अन्य पुराणों अथवा उनके प्रतिसंस्करणों के उद्धरणों को दिया है, उनमें अग्निमित्र के शासन-काल का स्पष्ट अथवा व्यक्त रूप में अवश्य निर्देश मिलता है। इन उद्धरणों में पुष्यमित्र के एक ही पुत्र और उत्तराधिकारी का उल्लेख किया गया है।

की ओर है, तथा इस दृष्टि उसने मौलिक पंक्ति व्याकरणगत सुधार लाने के लिये सुतः, भविष्यति तथा नृपः शब्दों को इनके बहुवचन-अनुकूल रूपों में परिणत कर दिया। इस प्रकार उसने एक ऐसी पंक्ति में सुधार और परिवर्तन लाने का प्रयास किया, जो अन्यथा अपने मूल रूप में सही तथा इतिवृत्त के अनुकूल भी थी।

यदि उपर्युक्त समीक्षा के आधारभूत तर्कों को अनुमानजन्य मानकर इन्हें इतिहास के लिये उपादेय न भी समझा जाय, फिर भी इस निष्कर्ष के लिये विश्वसनीय साक्ष्य है कि वायु पुराण के आलोचित श्लोक का तात्पर्य इसके वर्त्तमान गठन के याथातथ्य-पूर्ण अर्थ से भिन्न था। इस सन्दर्भ में वायु पुराण के एक हस्तलेख का उद्धरण दिया जा सकता है, जिसका उल्लेख पार्जीटर ने किया है[२४]। यह संस्करण इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। इसमें आलोचित श्लोक का निम्नांकित रूप मिलता है: 'तत्सुतोऽग्निमित्रोऽष्टौ भविष्यति समा नृपः'[२५]। प्रस्तुत पाठ के अनुसार कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है। प्रतीत होता है कि मूल वायुप्रोक्त पुराण में यही पंक्ति थी, क्योंकि ब्रह्माण्ड पुराण में भी प्रायः यही पंक्ति प्राप्त होती है। इसके विपरीत वायु पुराण के मुद्रित संस्करण की पंक्ति भ्रामक तथा अवांतरकालीन संयोजन मानी जा सकती है। यही पंक्ति मत्स्य पुराण में भी रही होगी, क्योंकि मत्स्य पुराण के अन्य अनेक स्थल, वायु पुराण की इसी प्रति से साम्य रखते हैं[२६]। मत्स्य पुराण के उपलब्ध संस्करण में प्रस्तुत पंक्ति के न मिलने का कारण सकलनकर्त्ताओं के अवांतरकालीन हस्त-प्रक्षेप को माना जा सकता है। इस प्रक्षेपशील प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है कि मत्स्य पुराण के अनेक मौलिक स्थल तथा उद्धरण इसकी वर्त्तमान प्रति में उपलब्ध नहीं हैं।

जिन सम्भावित तर्क और प्रमाणों के आलोक में आलोचित श्लोक का अध्ययन यहाँ किया गया है, उनसे हम निम्नांकित सामान्य निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं:—(१) वायु पुराण के मुद्रित संस्करणों में श्लोक का जो स्वरूप मिलता है, वह विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है। इसका मूल रूप वर्त्तमान गठन से भिन्न था। इसमें परिवर्द्धन उस समय किया गया होगा जब कि पौराणिक वंश-विवरण की शैली को लोग भूल चुके थे तथा मूल अर्थ से अपरिचित होकर मात्र प्रतिसंस्कार

२४. पार्जीटर, वही, पृ० १३ (भूमिका), ३३ (भूमिका), तथा ३१

२५. पार्जीटर द्वारा सुधार किये हुये पाठ के अनुसार।

२६. दोनों रचनाओं में समता-सम्बन्धी समीक्षा के लिये द्रष्टव्य पार्जीटर, वही, पृ० ३३ (भूमिका)

के लिये प्राथमिक स्थलों और स्थलांशों को बदला जा रहा था। (२) शुंग-वंश की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के लिये इसे तभी आधारभूत माना जा सकता है, जब कि ब्रह्माण्ड पुराण तथा वायु पुराण के उक्त संस्करण के आशय को समझ कर इसमें सुधार कर लिया जाय। (३) अपने मूल और वास्तविक रूप में इस श्लोक का मन्तव्य पुष्यमित्र के साम्राज्य का सामन्तोचित वर्गीकरण वर्णित करना नहीं है, अपितु अग्निमित्र के शासन-काल की अवधि को प्रकाश में लाना है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में जहाँ-कहीं भी भिन्नता-बोधक तत्त्व प्राप्त होते हैं, वहाँ उत्तरकालीन संकलन-कर्त्ताओं की वैयक्तिक अभिरुचि तथा उनके ज्ञान की सीमा अथवा आयाम को ही कारण माना जा सकता है। इन भिन्नताओं से दोनों पुराणों के सम्भावित एकत्व की सामान्य मान्यता पर किसी प्रकार भी व्याघात नहीं पहुँचता। दोनों पुराणों की भिन्नता के द्योतक कतिपय स्थलों तथा श्लोकों का उल्लेख वायु पुराण के रचना-काल के सन्दर्भ में किया जा चुका है। ऐसे स्थल तथा श्लोक साभिप्राय एवं सोद्देश्य हैं, इसकी समीक्षा भी विगत अनुच्छेदों में हो चुकी है। प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्माण्ड पुराण के उस महत्त्वपूर्ण खण्ड की समालोचना समीचीन प्रतीत होती है, जो इस ग्रन्थ में अतीव विस्तार के साथ वर्णित है और जिसके तत्सम स्थल एवं अध्याय वायु पुराण में नहीं मिलते हैं। इस खण्ड का वर्ण्य-विषय जामदग्न्य-राम का पराक्रम है। इस खण्ड में ३८ अध्याय (३।२१-५८) प्राप्त होते हैं। इन सभी अध्यायों के विवरण का सारांश इस प्रकार है: जमदग्नि और रेणुका की अनुमति प्राप्त कर राम ने अपने पितामह के आश्रम का दर्शन किया। इसके उपरान्त वे अपने प्रपितामह ऋचीक के आश्रम में गये। ऋचीक ने राम को, अभीष्ट की पूर्त्ति के लिये, भगवान् शंकर की आराधना करने का आदेश दिया। इस आदेश को प्राप्त कर राम ने हिमालय पर्वत पर घोर तपश्चर्या सम्पन्न किया। प्रसन्न होने पर भगवान् शंकर ने उन्हें व्याध के रूप में दर्शन दिया। एक सुदीर्घ विमर्श-विवाद के उपरान्त राम को पता चला कि व्याध के रूप में वस्तुतः दर्शन-प्रदान के समुत्सुक शंकर ही हैं। शंकर ने उन्हें सम्पूर्ण वसुंधरा की परिक्रमा का आदेश दिया। राम ने उनके आदेश को पूरा किया तथा वरदान के रूप में उनसे परशु प्राप्त किया। इस परशु को प्राप्त करने के उपरान्त राम ने देवासुर-संग्राम में देवताओं के पक्ष से दैत्यों को परास्त किया। इसके उपरान्त राम ने स्वगृह की ओर प्रस्थान किया। घर आने पर उन्होंने कुलगुरु की आज्ञा से पुनः तपश्चर्या प्रारम्भ किया। इसी बीच जमदग्नि के आश्रम में ससैन्य तथा आखेट-विहारी नृप कार्त्तवीर्य आये। ऋषि ने उनका यथोचित सम्मान सुरधेनु की सहायता से

सम्पन्न किया। जिस समय कार्त्तवीर्य राजधानी लौटने की योजना बना रहे थे, उनके दुरात्मा सचिव ने उन्हें ऋषि से सुरधेनु प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया। ऋषि ने अनिच्छा प्रकट की। फलस्वरूप, नृप कार्त्तवीर्य ने बल का प्रयोग किया। बल-साधन के परिणाम में ऋषि की मृत्यु हुई। इसे सुनकर ऋषि-पत्नी ने भी मरण का निश्चय किया। किन्तु, एक दैवी वाणी ने उन्हें इस निश्चय से रोका। इसी अन्तर्वर्ती काल में ऋषि भृगु आये, तथा उन्होंने संजीवनी विद्या के बल से जमदग्नि को पुनरुज्जीवित किया। इन सभी वृत्तान्तों से जब राम अवगत हुये, उन्होंने क्षात्र-वंश को इक्कीस बार विनष्ट करने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि उनकी माता ने वैधव्य-व्यवसन के अवसर पर इक्कीस बार अपने वक्षस्थल को पीटा था। इस भीषण प्रतिज्ञा को सुनकर जमदग्नि ने राम को ब्रह्मा का आदेश प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया। ब्रह्मलोक जाने पर राम को ब्रह्मा ने शिवलोक जाने का आदेश दिया। शिवलोक में राम ने शिव से बहुविध शस्त्रास्त्रों को प्राप्त किया। तदुपरांत ऋषि अगस्त्य की आज्ञा से राम ने श्रीकृष्ण की अराधना कर उनसे क्षात्र-वंश के विनाश का वर प्राप्त किया। इसी क्रम में उन्होंने कार्त्तवीर्य की सेना को माहिष्मती में परास्त कर ससैन्य नृप को नष्ट किया। इसके बाद वे फिर शिवलोक गये। वहाँ गणेश ने उन्हें प्रवेश-निषिद्ध करने का प्रयास किया। क्रोधावेश में राम ने गणेश को ताडित कर उनके एक दाँत को तोड़ डाला। पार्वती ने शिव-भक्त के इस दुस्साहस को देखकर पितृ-गृह जाने की धमकी दी। शिव ने उन्हें मनाने के लिये राधा के साथ श्रीकृष्ण का स्मरण किया। राधा के अनुनय के परिणाम में पार्वती मान गईं। राम ने पार्वती की अर्चना किया। श्रीकृष्ण और राधा स्वनिकेत को प्रत्यावर्तित हुये। पुत्र द्वारा क्षात्र-विनाश का समाचार सुनकर जमदग्नि को चिन्ता हुई। उन्होंने राम को महेन्द्राचल पर तपश्चरण के द्वारा पाप-मुक्त होने की आज्ञा दिया। राम ने पिता की आज्ञा का अनुसरण किया। राम की अनुपस्थिति में कार्त्तवीर्य के पुत्रों ने जमदग्नि के आश्रम पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में उन्होंने अपने पिता के हन्ता के पिता को जानबूझ कर मार डाला। पति की मृत्यु के उपरान्त रेणुका ने भी अपना जीवनांत कर दिया। इस वृत्तांत को सुनने के उपरान्त राम ने माहिष्मती पर आक्रमण किया तथा क्रमशः इक्कीस बार क्षात्र-वंश को विनष्ट कर अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को पूरा किया। इसे सम्पन्न कर राम कुरुक्षेत्र की ओर बढ़े तथा वहाँ समन्त-पंचक नामक सरोवर को उत्खनित कर क्षात्र-रक्त से इसे भरा। यह क्रिया इनकी प्रतिज्ञा की ही एक अंग थी। राम के समक्ष उनके पितृगण प्रकट हुये तथा इस कुकृत्य से उऋण होने के लिये उन्हें तपश्चर्या का आदेश दिया। उन्होंने राम से पुनः

ऐसा न करने के लिये वचन लिया, जिससे उनका स्ववांस सम्भव हो सका। राम ने पृथ्वी की पुनः तीन बार परिक्रमा किया तथा सिद्धाश्रम में तपश्चर्या सम्पन्न किया। मुनियों के आदेश से उन्होंने अश्वमेध-यज्ञ आहूत किया तथा दक्षिण में अध्वर्यु कश्यप को समस्त पृथ्वी का दान किया। स्वयं के लिये उन्होंने केवल महेन्द्राचल सुरक्षित रखा। यह स्थल उनकी तपश्चर्या का केन्द्र बना।

यदि ब्रह्माण्ड पुराण के इस खण्ड की रचनापरक समीक्षा की जाय तो प्रतीत होगा कि इसमें ऐसे अनेक तत्त्व हैं, जो इसके उत्तरकालीन संयोजन होने का परिचय देते हैं। इस विस्तृत खण्ड का प्रारम्भ होता है 'इत्थं प्रवर्तमानस्य' जैसे शब्दों से, जिनका अर्थ है 'इस प्रकार के क्रिया-कलाप सम्पन्न करने वाले'। इनसे प्रतीत होता है कि विवरण के प्रारम्भिक भाग का अधिकांश संकलनकर्त्ता द्वारा छोड़ दिया गया है, तथा जहाँ से इसका प्रारम्भ पुराण में प्रदर्शित किया गया है वह वस्तुतः बीच का कोई स्थल है। पूर्ववर्ती अनेक अध्यायों में श्राद्ध-कल्प का निरूपण है, अतएव इनसे 'इत्थं' का तारतम्य नहीं बैठता, क्योंकि इसका सम्बन्ध विषयांतर से है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना विस्तृत होने पर भी इसके विवरण में जामदग्न्य-राम के प्रारम्भिक जीवन पर कोई भी प्रकाश नहीं डाला गया है। अन्य ग्रन्थों में जहाँ-कहीं इस आख्यान का विवरण है, उनमें राम के प्रारम्भिक जीवन का उल्लेख अवश्य है। ऐसे ग्रन्थों में राम की पितृभक्ति तथा इसके निमित्त राम द्वारा मातृ-शिरश्छेद किये जाने का विवरण अनिवार्यतः प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आख्यान के लेखक तथा संकलनकर्त्ता का लक्ष्य था इसमें नवीनता का पुट देना, अतएव उसने इसके प्राचीन स्वरूप के अनेक अंशों को छोड़ दिया है। इसके उत्तरकालीन संयोजन होने के द्योतक वे अनेक वृत्त अथवा वृत्तांश हैं, जिनमें नवीनता तो है, पर इनके कारण बहुत सी स्वतोविरोधी बातें भी आ गई हैं, जो इसके प्राथमिक स्वरूप में सम्भाव्य नहीं मानी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये, व्याध के वेश में शिव, राम के कुकृत्यों में मातृ-शिर के उच्छेद की भर्त्सना करते हैं। किन्तु, सम्पूर्ण आख्यान में कहीं भी ब्रह्माण्ड पुराण ने शिव-राम के वार्त्तालाप के पूर्व इस घटना का उल्लेख नहीं किया है। राम न केवल पितृभक्त के रूप में ही, अपितु मातृ-श्रद्धालु के रूप में भी प्रारम्भ से ही दिखाये गये हैं। प्रतीत होता है कि इन विशिष्ट और सुविदित विवरणों को छोड़कर, इनकी क्षति-पूर्त्ति के लिये तथा आख्यान के परिवर्द्धित रूप की काया-वृद्धि को ध्येय मानकर, संकलन-कर्त्ता ने अप्रासंगिक घटनाओं को बीच-बीच में समावेशित करने का प्रयास किया है। इन घटनाओं के उल्लेख से आख्यान में विशिष्टता एवं नवीनता तो आ गई है, पर इससे

आख्यान के प्रवाह तथा विवरण के संतुलन में व्यवधान तथा व्यतिक्रम भी आ गया है। इस खण्ड की रचना-संबंधी एक विशेषता यह भी है कि इसमें कभी-कभी इसी ग्रन्थ में वर्णित कथा अथवा अन्तर्कथा का पुनरुल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिये, गंगोद्भव का वर्णन भुवनकोश-खण्ड में पहले ही निरूपित हो चुका है। भुवनकोश-खण्ड में यह वर्णन केवल एक अध्याय में मिलता है। भूमि-संस्थान में वर्णित होने के कारण मौलिकता का सन्निवेश इसी वर्णन में माना जा सकता है। अन्य प्राथमिक पुराणों के तत्सम प्रसंग में सन्निहित होना, इसकी मौलिकता का दूसरा प्रमाण है। प्रतीत होता है कि इस खण्ड के समावेश के उपरांत भी इसमें उत्तरकालीन हस्त-प्रक्षेप की प्रक्रिया चलती रही। उत्तरकालीन हस्त-प्रक्षेप की क्रियाशीलता का ही परिणाम है कि कहीं-कहीं इस खण्ड में विरोधात्मक बातें मिलती हैं। उदाहरणार्थ, अध्याय २१ में वर्णन है कि राम ने तपश्चर्या के लिये अपने प्रपितामह से आदेश प्राप्त किया था। पर, अध्याय २५ में निरूपित है कि उन्हें यह आदेश कुलगुरु से प्राप्त हुआ था।

यदि ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित जामदग्न्य-राम के आख्यान की समीक्षात्मक तुलना महाभारत के तत्सम वर्णन से की जाय तो व्यक्त होगा कि इसके मूल रूप की प्रतिष्ठा महाभारत में ही है तथा ब्रह्माण्ड पुराण में इसे विस्तार देने का प्रयास किया गया है। मूल आख्यान का स्वरूप दोनों ग्रन्थों में समान है, पर ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णन में अनेकत्र परिवर्द्धन तथा संशोधन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिए, जमदग्नि ऋषि तथा नृप कार्तवीर्य के सम्मिलन तथा संघर्ष को प्रस्तावित किया जा सकता है, जिसका उल्लेख दोनो ही ग्रन्थों में हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण के संकलनकर्त्ता ने कहीं-कहीं मूल वर्णन की विशिष्ट घटनाओं में परिवर्तन लाने का प्रयास किया है, जिसे उत्तरकालीन संयोजन का द्योतक ही माना जा सकता है[२७]। महाभारत के अनुसार जिस समय कार्त्तवीर्य ने ऋषि के आश्रम में प्रवेश किया, उनका स्वागत ऋषि-पत्नी रेणुका ने किया[२८]। इसके विपरीत ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि इस अवसर पर नृप का स्वागत स्वयं ऋषि ने किया था[२९]।

---

२७. उदाहरण के लिये बाल और व्याघ्र की कथा उल्लेखनीय है। ब्रह्माण्ड पु०, में ३।२५।५० से ३।२५।७५ तक इसी कथा का विवरण प्राप्त होता है।

२८. महाभारत, ३।११६।१६

२९. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२६।४३

महाभारत के विपरीत ब्रह्माण्ड पुराण में नृप कार्त्तवीर्य के चरित्र को उज्वल बनाने का प्रयास किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णन में कार्त्तवीर्य ऋषि-धेनु को, ब्रह्मण की संपत्ति होने के कारण, अपनाने में हिचकते हैं। इसे प्राप्त करने के लिये वे केवल निवेदन के पक्ष में हैं, बल का प्रयोग करने में वे सहमत नहीं हैं। बल-प्रयोग की योजना वे स्वयं नहीं बनाते अपितु उनका दुरात्म सचिव, जिसे वे प्रारम्भ में अस्वीकार करते हैं। ऋषि से संघर्ष करने में कार्त्तवीर्य प्रायः पृष्ठभूमि में ही निरूपित किये गये हैं, प्रत्यक्ष रूप में यह कार्य उनका सचिव सम्पन्न करता है। इसके विपरीत महाभारत के वर्णन में कार्त्तवीर्य को एक नितांत अविनीत, एवं अवलेप से उन्मत्त नृपति के रूप में वर्णित किया गया है। ऋषि-पत्नी द्वारा प्रस्तुत सत्कार का आभार मानने के स्थान पर, वे उद्दण्ड-पूर्ण तथा हिंसात्मक ढंग से धेनुवत्स स्वहस्तगत करते हैं। यदि ब्रह्माण्ड पुराण के जामदग्न्य-राम से सम्बन्धित वर्णन को एक काव्यपरक कृति मान लिया जाय तो इसमें खलनायक की भूमिका का निर्वाह कार्त्तवीर्य नहीं अपितु उनका दुरात्म सचिव करता है, जब कि महाभारत में इसका पूर्ण परिपाक कार्त्तवीर्य के स्वरूप में दिखाया गया है। इस ग्रन्थ में निरूपित वर्णन के अनुसार कार्त्तवीर्य का सचिव विशाल सेना के साथ ऋषि-आश्रम में जाता है। यह देखकर कि ऋषि किसी प्रकार भी सुरधेनु को देने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं, वह सैनिकों को एक उद्धत सेनापति के अनुकूल आदेश देता है। सैनिकों के भयंकर आघात के परिणाम में अन्ततोगत्वा ऋषि की मृत्यु होती है। जामदग्न्य-राम के आख्यान का यह भाग तथा इसके अतिरिक्त मरण के लिये प्रस्तुत रेणुका का अदृश्यवाणी द्वारा रोका जाना तथा भृगु द्वारा प्रयुक्त संजीवनी विद्या की सहायता से ऋषि का पुनरुज्जीवित होना ब्रह्माण्ड पुराण के नवीन संयोजन हैं, ये वर्णन महाभारत में नहीं मिलते हैं। महाभारत में ऋषि जमदग्नि की मृत्यु केवल एक बार दिखाई गई है, जो उनकी अन्तिम मृत्यु है। इसके विपरीत ब्रह्माण्ड पुराण में इनकी मृत्यु दो बार प्रदर्शित की गई है, फलतः जामदग्न्य-राम क्षात्र-विनाश की प्रतिज्ञा दो बार उद्घोषित करते हैं। क्षात्र-रक्त से पितरों का सन्तर्पण, क्षात्र-विनाश के अतिरिक्त उनकी दूसरी प्रतिज्ञा है; जब कि महाभारत में ये दोनों एक ही प्रतिज्ञा के मूलभूत अंग हैं। महाभारत का आख्यान वर्णनात्मक एवं मौलिक है, जिसमें प्रत्यक्ष अथवा व्यज्यमान रूप में कहीं भी राम की कृति के संदर्भ में भर्त्सनात्मक अथवा प्रशंसात्मक विचारों का व्यक्तीकरण नहीं हुआ है। इसके विपरीत ब्रह्माण्ड पुराण में राम की कृति को कुत्सित मानते हुये वर्णित है कि क्षत्रियों के विनाश तथा उनके रक्त से श्राद्ध-सन्तर्पण करने के परिणाम में उन्हें दो बार प्रायश्चित्त करना पड़ा था। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के

वर्णन-भेद की समीक्षा से स्पष्ट है कि महाभारत के वर्णन में आख्यान का मौलिक स्वरूप प्रतिष्ठित है, जिसे ब्रह्माण्ड-पुराण में नवीन स्थलों और अन्तर्कथाओं के संयोग से विस्तार देने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत आख्यान में राजनीति-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न स्थलों पर मिलता है। विवरण के काल-निर्णय में इन शब्दों की व्याख्या महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। इनमें सर्वप्रथम सामन्त शब्द विवेचनीय है। आख्यान-विवरण में यह कहा गया है कि नृप कार्त्तवीर्य की सहायता के लिये उसके चारों ओर अपनी सेनाओं के साथ सामन्त सज्जित थे। प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में सामन्त शब्द का अर्थ सामान्य और सरल था, जिससे सीमान्त प्रदेश के शासक की ध्वनि निकलती थी। इसी अर्थ में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सामन्त का उल्लेख किया है[३०]। आगे चलकर सामन्त शब्द का विषयान्तर तथा अर्थान्तर में प्रयोग होने लगा। उत्तरकालीन साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने रूढ और प्रचलित प्रयोग में सामन्त अधीनस्थ करद राजा का बोधक है। उदाहरणार्थ, बराबर के गुहा-लेख में अनंतवर्मन् के पिता को सामन्त-चूडामणि की उपाधि दी गई है, जिसका समय ५०० ई० के लगभग माना जाता है[३१]। इसी प्रकार मन्दसोर के अभिलेख में यशोधर्मन् स्वयं को उत्तरी भारत के सामन्तों का विजेता होने का उद्घोष करता है[३२]। इन अभिलेखों में सामन्त अधीनस्थ राजा के रूप में वर्णित हैं, तथा इनमें एवं इन्हीं की भाँति अन्य वर्णनों में निरूपित सामान्त शब्द की व्याख्या के आधार पर विद्वानों का ऐसा निष्कर्ष है कि सातवीं शताब्दी के सामन्त सम्राट् के अधीनस्थ तो माने ही जाते थे, इसके अतिरिक्त इनका आवश्यक कर्त्तव्य था युद्ध-भूमि में अपनी सेनाओं द्वारा सम्राट् की सहायता पहुँचाना[३३]। जैसा कि उक्त पंक्तियों में निर्देश किया जा चुका है, आलोच्य आख्यान में भी इस तथ्य का ही निरूपण है कि सामन्त द्वारा सम्राट् की सहायता की माध्यमभूत, युद्धभूमि में

---

३०. अर्थशास्त्र १।६, यहाँ सामन्त शब्द के प्रयोग की व्याख्या के लिये द्रष्टव्य, आर० यस० शर्मा, ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ पोलिटिकल आइडियाज़ ऐण्ड इंस्टिट्यूशंस इन एंशेण्ट इण्डिया, पृ० २१२

३१. का० इं० इं०; भाग ३;४६।१-४

३२. से० इं०, पृ० २१३

३३. इस प्रसंग के महत्त्वपूर्ण विवेचन के लिए द्रष्टव्य—आर० यस० शर्मा; वही, पृ० २१३

उनकी सेना थी। ऐसी स्थिति में जामदग्न्य-राम के आख्यान का समय पांचवीं-छठीं शताब्दी ई० के पश्चात् ही रखा जा सकता है।

आख्यान-वर्णन में हिमालय पर्वत का उल्लेख भी आता है। इस पर्वत की उपमा किसी महान् नरेश से दी गई है, जिसका दर्शन सभी के लिये सुलभ नहीं होता है[३४]। नरेश शब्द की आख्या के लिये जिस शब्द का व्यवहार हुआ है, वह है महाराजाधिराज। यहाँ सामन्त शब्द की भाँति ही महाराजाधिराज शब्द का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। काल-निर्देश की दृष्टि से यहाँ उल्लेखनीय है कि महाराजाधिराज शब्द का प्रथम व्यवहार गुप्तकाल के अभिलेखों में हुआ है। गुप्त-नरेशों के नाम के साथ इसे बहुधा ऐसे प्रसंग में संयुक्त किया गया है, जहाँ उनकी सार्वभौमिक सत्ता का द्योतन करना मन्तव्य है। इससे मिलती-जुलती उपाधि महाराज शब्द से व्यक्त होती थी[३५], जिसे प्रायः अधीनस्थ नरेश धारण करते थे। महाराजाधिराज शब्द की दूसरी विशेषता है कि वस्तुतः यह शब्द कुषाण-नरेशों की सुविदित उपाधि महरज (महाराजा) रजतिरज (राजाधिराज) का रूपान्तर अथवा पर्याय था। कहीं-कहीं गुप्त-लेखों में सम्राट् के नाम के साथ सामान्य और सरल उपाधि महाराज का प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिये, कुमारगुप्तकालीन मानु-कुंवर का लेख प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें कुमारगुप्त को महाराज कहा गया है। पर, इसे अभिलेख-कर्त्ता की असावधानी के कारण ही मान सकते हैं; क्योंकि समानकालीन दामोदरपुर के ताम्रपत्र-लेख में इसी सम्राट् को महाराजाधिराज की ही उपाधि दी गई है[३६]। मथुरा के स्तंभ-लेख में चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज की उपाधि प्रदान की गई है,[३७] जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त सम्राटों ने अपने विश्रुत विरुद को कुषाण-कालीन विरुद के आधार पर ही अपनाया था तथा इससे उनके सार्वभौमिक शक्ति का परिचय व्यक्त होता था। ऐसी समीक्षा से यह संदेह-रहित हो जाता है कि प्रस्तुत आख्यान का संकलनकर्त्ता जिस राजनीति-विशिष्ट परिवेश तथा प्रशासन-विधि से परिचित था, उसे गुप्तकाल अथवा गुप्तोत्तर काल का ही मान सकते हैं।

सामान्य रूप में आख्यान के संकलनकर्त्ता ने कान्यकुब्ज के भूप का भी

३४. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२२।५८

३५. द्रष्टव्य, बेनीप्रसाद; स्टेट इन एंशेण्ट इण्डिया, पृ० २९०

३६. से० इं०, पृ० २८८ तथा २८३

३७. एपिग्रैफिया इण्डिका, २१, पृ० ८

निर्देश किया है। वर्णन की कथा-शैली में निरूपित होने के कारण, यहाँ विवेचनीय पक्ष को अधिक स्पष्ट तो नहीं किया जा सकता है; पर इससे एक महत्त्वपूर्ण सूचना अवश्य मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत आख्यान के रचना-काल तक कान्यकुब्ज को, राजनीतिक केन्द्र होने का सुयोग प्राप्त हो चुका था। भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह व्यक्त होता है कि गुप्तों के शासन-काल तक राजनीतिक उन्नयन की दृष्टि से काव्यकुब्ज एक नगण्य नगर था। यह गौरव कान्यकुब्ज को नहीं, अपितु पाटलिपुत्र को प्राप्त था। गुप्त-नरेशों के शासन-काल के उपरांत उत्तरी भारत के राजनीति की संघीभूत सत्ता पाटलिपुत्र से स्थानांतरित होकर कान्यकुब्ज में प्रतिष्ठित हुई[३८]। इस सन्दर्भ में आलोचना की दृष्टि से भूप शब्द का प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता है। पर, यहाँ स्मरणीय है कि जिन नरेशों ने कान्यकुब्ज के राजनीतिक गौरव को प्रतिष्ठित किया था, वे थे मौखरि-वंश के नरेश जिनके नाम के साथ सरल और सामान्य उपाधि नृप का उल्लेख मिलता है। यह संभव है कि भूप शब्द नृप का ही द्योतक है, अतएव आख्यान में वर्णित कान्यकुब्ज के भूप का तात्पर्य मौखरि-नरेशों से ही अभीष्ट है। इस समीक्षा से ब्रह्माण्ड पुराण के आलोचित खण्ड के गुप्तोत्तर-काल में विरचित होने की संभावना प्रबल हो जाती है।

प्रस्तुत खंड में मंडलेश्वर शब्द का प्रयोग भी मिलता है। सामन्त शब्द की भाँति मंडलेश्वर शब्द की विवेचना भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। इस शब्द की विवेचना विशेषतया इस दृष्टि से रुचिकर एवं आवश्यक है, क्योंकि आलोचित खण्ड में बहुशः सामन्तोचित राजनीतिक परिधान का स्वरूप चित्रित मिलता है। यह सुविदित है कि मंडलेश्वर शब्द मंडल से प्रसूत है तथा इसका मूल तात्पर्य है द्वादश-राज के संघ से, जिनके द्वारा विजिगीषु नरेश को परिवृत माना जाता था[३९]। राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ मंडल तथा तदुद्भूत मंडलेश्वर शब्द अर्थ-विस्तार तथा अर्थ-परिवर्द्धन से विशिष्ट हुये। गुप्तोत्तर अभिलेखों के आधार पर इन शब्दों की दो प्रकार से व्याख्या की गई है। एक मत के अनुसार मंडल शब्द का अर्थ है केन्द्रीय शासन की अंगभूत इकाई, जिसके प्रशासक को मंडलेश्वर की संज्ञा दी जाती थी[४०]। दूसरी व्याख्या के अनुसार मंडल शब्द से सामन्तोचित परिधि की सूचना मिलती है, जिसकी प्रशासकीय सत्ता उस व्यक्ति में सन्निहित

---

३८. द्रष्टव्य, रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ़ कनौज, पृ० ३१

३९. द्रष्टव्य, बेनी प्रसाद, वही, पृ० २५५

४०. रमेशचन्द्र मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग १, अध्याय १

होती थी, जिसे मंडलेश्वर शब्द से अभिहित किया जाता था[४१]। जहाँ तक ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णन का संबंध है, इसके द्वारा दूसरे मत की वस्तुस्थिति की यथार्थता पर ही प्रकाश पड़ता है। इसमें निरूपित है कि युद्ध-भूमि में नृप कार्त्तवीर्य की सहायता, अपनी सेनाओं के साथ मंलेश्वर सम्पन्न कर रहे थे[४२]। इस वर्णन का विशिष्ट पक्ष यह है कि एक ही श्लोक में साथ-साथ सामन्त और मंडलेश्वर शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया गया है। इससे दोनों के विशिष्ट स्तर की इयत्ता का पता तो नहीं चलता, पर इन दोनों का सार्वभौम सम्राट् के अधीनस्थ होना व्यक्त हो जाता है। प्रस्तुत समीक्षा भी इस निष्कर्ष के लिये प्रबल प्रमाण है कि आलोचित खण्ड की रचना गुप्त-काल के उत्तरवर्ती स्तरों में ही कभी सम्पन्न हुई होगी।

जिस रचना-शैली को आदर्श मानकर इस खण्ड के संकलन-कर्त्ता ने काव्य-सम्मित श्लोकों को प्रणीत किया है, वह वैदर्भी-रीति प्रतीत होती है। पौराणिक-संरचना में सरल, सामान्य तथा समलंकरण से विहीन स्थलों के साथ-साथ सुमधुर, सत्काव्य तथा लालित्य से परिपूर्ण वर्णन भी प्राप्त होते हैं—ऐसे कथन के लिये ब्रह्माण्ड-पुराणान्तर्गत जामदग्न्य-चरित वर्णन प्रमाणभूत माना जा सकता है। इसके निदर्शन में पार्जीटर इत्यादि का यह कथन अपूर्ण और असारगर्भित प्रतीत होता है कि पौराणिक शैली प्राकृत परिवेश में परिपुष्ट हुई थी। वस्तुस्थिति तो यह है कि साहित्य के सृजन में भाषा सदा भावानुसारिणी होती है। अतएव, यदि वंशानुचरित खण्ड में पुराणकारों ने सामान्य भाषा का प्रयोग किया है तो इसका अनन्य कारण यही है कि ऐसे वर्णन में साहित्य का लालित्य उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता था। पार्जीटर के इस तर्क के औचित्य-अनौचित्य का वर्णन पीछे किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना निर्देश कर सकते हैं कि साहित्य का सौष्ठव पुराणों में अनेकत्र प्राप्त होता है तथा ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित वक्ष्यमाण अनेक श्लोक इस बात के उदाहरण हैं कि पुराणों के संकलनकर्त्ता उच्चकोटि के साहित्यकार थे अन्यथा पुराण-प्रवक्ता को रोमहर्षण नाम नहीं दिया जा सकता था। जहाँ तक प्रस्तुत विवेचन की प्रासंगिकता का प्रश्न है, यह उल्लेखनीय है कि जामदग्न्य-चरित के सामान्य विवरण में तो याथातथ्य के विधायक सरल श्लोकों का ही उल्लेख है। पर, ऋचीक-आश्रम के वर्णन में, जो सुरधेनु के गौरव से सुरम्य नगर में परिणत

---

४१. ब्रजनाथ सिंह यादव, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ दि सोसाइटी ऑफ़ नार्दर्न इण्डिया, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, पृ० १८५

४२. ब्रह्माण्ड पु०, ३।३८।२०

हो गया था, संकलनकर्त्ता एक उच्चकोटि के कवि का समकक्ष निर्विरोध रूप में माना जा सकता है। प्रस्तुत वर्णन का पहला वाक्य है[४३] —

अथाश्रमम्ं तत्सुरराजसद्मनिकाशमासीद् भृगुपुङ्गवस्य।
विभूतिभेदैर्भवनैरनेकैरनन्यसाध्यं सुरभिप्रभावात्॥

इस श्लोक के शब्द-चयन और वाक्य-गठन को देखा जाय तो व्यक्त होगा कि इसमें संस्कृत-काव्य के उन समस्त लक्षणों का पूर्ण परिपाक है, जो वैदर्भी-रीति का प्रतिपादन करते हैं (माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते)[४४]। पौराणिक कवि ने इस शैली का निर्वाह आश्रम-नगर के वर्णन में सर्वत्र किया है।

उक्त विशेषता के होते हुये भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इस वर्णन में कहीं-कहीं पुराण-संकलनकर्त्ता किसी पूर्ववर्ती कवि की रचनाओं से प्रभावित प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों में एक काव्यकार की तो कम, पर पुराणकार की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। व्यक्त होता है कि उसने काव्यात्मक कल्पना की प्रेरणा किसी पूर्ववर्ती कवि से प्राप्त किया था। उसकी प्रेरणा का विषय-भूत कवि वही हो सकता है, जिसकी रचनाओं में वैदर्भी रीति का सर्वाधिक परिपाक मिलता है। इस कोटि के कवि थे कालिदास, जिन्हें वैदर्भी-रीति के संदर्शन में विशिष्ट माना जाता है (वैदर्भीरीतिसंदर्शे कालिदासो विशिष्यते)। इस संदर्भ में आश्रम-नगर का वर्णन करने वाले उन महत्त्वपूर्ण श्लोकों की आलोचना की जा सकती है, जिन पर कालिदास-रचित श्लोकों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कुमारसम्भव में वर्णित है कि प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ के उपकरणों को उत्पन्न करने में हिमालय के सामर्थ्य को देखकर, इसे पर्वतराज उद्घोषित किया था[४५]।

यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमञ्च।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्॥—कुमारसंभव

ब्रह्माण्ड पुराण के आश्रम-नगर के सन्दर्भ में भी वर्णन है कि याज्ञिक उपकरणों की उपलब्धि को ध्यान में रख कर ब्रह्मा ने हिमालय को सभी पर्वतों का आधिपत्य प्रदान किया था (अहोऽयं सर्वशैलानामाधिपत्येऽभिषेचितः, ब्रह्मणा

४३. वही, ३।२१।१

४४. साहित्यदर्पण, ६।२

४५. कुमारसम्भव, १।१७

यज्ञभाक्चैव स्थाने संप्रतिपादितः)[४६]। शिव को पति-रूप में पाने के लिये तपश्चर्या सम्पन्न करने वाली पार्वती के विषय में कालिदास का कथन है कि वे वायु-प्रचुर वर्षा में भी निकेत-विरक्त होकर शिला पर आसीन रहती थीं (शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु)[४७]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी वर्णित है कि जामदग्न्य-राम वर्षा-काल में निकेत-विहीन परिवेश में रह कर शिव-दर्शन के लिये तपश्चर्या सम्पन्न कर रहे थे(अनिकेतः स वर्षासु)[४८]। कालिदास के अनुसार ग्रीष्म काल में पार्वती चतुर्विध प्रज्वलित अग्नि द्वारा परिवेष्टित रहती थीं (शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां)[४९]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन है कि ग्रीष्म-काल में जामदग्न्य-राम पंचाग्नि के मध्य स्थित होकर तपश्चर्या कर रहे थे (ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थश्चचारैवं तपश्चिरम्)[५०]। कालिदास द्वारा वर्णित पार्वती पौष की रात्रियों को जलवास करती हुई बिता रही थीं (सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा)[५१]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित जामदग्न्य-राम भी शिशिर ऋतु को जल-संश्रित होकर व्यतीत कर रहे थे (शिशिरे जलसंश्रयः)[५२]। कालिदास के अनुसार जिस समय पार्वती कठोर तपस्या कर रही थीं, उनका दर्शन ऋषियों के लिये भी अभीष्ट बन गया। इस सम्बन्ध में अर्थान्तर न्यस्त करते हुये कवि का कथन है कि धर्म में अग्रिम व्यक्ति के आयु की समीक्षा नहीं की जाती है (दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन् न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते)[५३]। ब्रह्माण्ड पुराण का भी कथन है कि शंसित व्रत वाले, ज्ञान और कर्म में वयोवृद्ध ऋषि जामदग्न्य-राम की तपश्चर्या को देखने आया करते थे (दिदृक्षवः समाजग्मुः कुतूहलसमन्विताः)[५४]।

कुमारसम्भव की भाँति ही प्रस्तुत वर्णन के श्लोकों पर मेघदूत का प्रभाव भी दिखाई देता है। आश्रम-नगर के राजप्रासादों के संदर्भ में ब्रह्माण्ड पुराण का वर्णन है कि इनके शिखर आकाश को छूते हुये प्रतीत हो रहे थे (पूर्णेन्दुशुभ्रा-

---

४६. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२२।४८-४६
४७. कुमारसम्भव, ५।२५
४८. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२२।७
४६. कुमारसम्भव, ५।२०
५०. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२२।७२
५१. कुमारसम्भव, ५।२६
५२. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२२।७१
५३. कुमारसम्भव, ५।१६
५४. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२३।२-३

अविषक्तश्रृङ्गैः परिवीतमन्तः)[५५]। उत्तरमेघ में अलकापुरी के नगर-प्रासादों की ऊँचाई के विषय में तत्सम उक्ति कालिदास की भी है (अभ्रंलिहाग्राः प्रासादाः)[५६]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित आश्रम-नगर की ललनाएँ श्रोणी-भार के कारण चलने में खेद का अनुभव कर रही थीं (श्रोणीभाराक्रमणखेद...)[५७]। उत्तरमेघ में भी यक्ष जिस पुरललना के पास अपना संदेश भेजता है, वह भी श्रोणी-भार के कारण अलस-गमना थी (श्रोणीभारादलसगमना)[५८]। ब्रह्माण्ड पुराण के प्रस्तुत खण्ड में ही हैहय-राज के पुरमार्ग का वर्णन मिलता है। इसके निरूपण में पुराणकार का कथन है कि जब इस पर हैहय-राज प्रस्थान कर रहा था, सौध-स्थित पुरललनाएँ उसका स्वागत संपन्न कर रही थीं (तं प्रस्थितं राजपथात्समंतात्पौरांगनाश्चन्दन-वारिसिक्तैः। प्रसूनलाजाप्रकरैरजस्रमवीवृषन्सौधगताः सुहृद्यैः)[५९]। इस वर्णन पर रघुवंश के उस श्लोक का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है, जिसमें निरूपित है कि पुरमार्ग से प्रस्थित होने वाने वाले अज का सम्मान वे पुरांगनाएँ सम्पन्न कर रही थीं, जो सौध-स्थित थीं (वरं स बध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम्। ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु)[६०]।

उपर्युक्त तुलनात्मक समीक्षा से यही व्यक्त होता है कि ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत आलोचित खण्ड की रचना उस समय हुई, जब कि वैदर्भी रीति तथा इसके लब्धप्रतिष्ठ कवि अधिक ख्याति तथा प्रचार में आ चुके थे तथा कवि, प्रशस्तिकार एवं आख्यान-रचयिता अपनी कृतियों में लालित्यपूर्ण पदावलियों का समावेश रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत की सम्प्रेरणा में सम्पन्न कर रहे थे। ये विश्रुत ग्रन्थ वैदर्भी-रीति की प्रतिनिधि-भूत रचनाएँ हैं, जिनके रचनाकाल के उपरान्त ही ब्रह्माण्ड पुराण के प्रस्तुत अध्यायों का समय मानना समीचीन प्रतीत होता है।

इस खण्ड के रचना-काल का अनुमान, इसके धर्मपरक स्थलों के आधार पर भी लगाया जा सकता है। इसमें राधा का उल्लेख श्रीकृष्ण की भार्या के रूप में किया गया है। अध्याय छत्तीस में राधाकान्त शब्द की चर्चा है, जो श्रीकृष्ण के विशेषण रूप में प्रयुक्त है। अध्याय तैंतालीस तथा इसके अनुवर्ती अध्यायों

---

५५. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।५७
५६. उत्तरमेघ, श्लोक संख्या १
५७. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।५
५८. उत्तरमेघ, श्लोक संख्या १९
५९. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।२,२५-२६
६०. रघुवंश, ७।४-५

में ऐसी कथा का निरूपण मिलता है कि जिस समय शिव के प्रिय भक्त जामदग्न्य ने गणेश का दाँत तोड़ दिया, वे रुष्ट होकर पितृगृह जाने लगीं। उन्हें शान्त करने के लिये शिव ने श्रीकृष्ण का स्मरण किया, जो वहाँ पर राधा के साथ प्रस्तुत हुए। इसी वृत्तान्त में निरूपित है कि श्रीकृष्ण ने पार्वती को अनुनीत करने का यथेष्ट प्रयास किया, पर वे सफल नहीं हुये। यह केवल राधा के प्रयास का परिणाम था कि पार्वती शान्त हो सकीं। यहाँ ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि प्रस्तुत आख्यान के स्थलों में राधा के दैवी और उपास्य व्यक्तित्व को श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी उन्नततर करने का प्रयास किया गया है, जो भण्डारकर के मतानुसार वैष्णव धर्म का अवनतिपरक उत्तरकालीन स्वरूप है[६१]। प्रस्तुत वर्णन में राधा को विश्व की जननी माना गया है, जिनके रोम-रोम में ब्रह्माण्ड के अवयव प्रतिष्ठित हैं। इनकी उपासना विश्व के सर्जन, संचालन और संहरण के समय सर्वदा सम्पन्न की जाती है[६२]। यदि तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो राधा के स्वरूप का यह परिकल्पन ब्रह्मवैवर्त पुराण में वर्णित श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड के समकक्ष है, जिसमें राधा को विश्वमातृ-पद पर आसीन कर उपासना का विषय माना गया है[६३]। विद्वानों के मतानुसार ब्रह्मवैवर्त पुराण के रचना-काल का प्रथमांश आठवीं शताब्दी ई० हो सकता है[६४]। यदि ब्रह्मवैवर्त पुराण का वर्णन मौलिक एवं ब्रह्माण्ड पुराण का वर्णन विषयान्तर होने के कारण प्रभावित मान लिया जाय, तो आलोचित स्थलों का काल आठवीं शताब्दी ई० के बाद ही रखा जा सकता है।

ब्रह्माण्ड पुराण के आलोचित खण्ड में अवतारवाद का जो चित्र है, उसमें वैष्णव धर्म के विकसित एवं उत्तरकालीन स्वरूप की ही झाँकी मिलती है। पौराणिक धर्म में वैष्णव अवतार के तीन स्तर प्रदर्शित किये गये हैं—(१) पहले स्तर पर कृष्ण, विष्णु के अंश-अंशावतार हैं। (२) दूसरे स्तर पर कृष्ण, विष्णु के अंशावतार हैं। (३) तीसरे स्तर पर कृष्ण स्वयं भगवान् विष्णु हैं, अर्थात् विष्णु और कृष्ण में पूर्ण तादात्म्य स्थापित किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णन का

---

६१. आर० जी० भण्डारकर, वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ८६-८७

६२. ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२।८-६

६३. द्रष्टव्य, हाज़रा, स्टडीज़ इन दि पुराणिक रेकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, पृ० १६६

६४. हाज़रा, वही, पृ० १६६ उपाध्याय, (नवम-दशम शताब्दी) वही, पृ० ५५६

सामञ्जस्य तीसरे स्तर से ही प्रतीत होता है। इसके अनुसार कृष्ण स्वयं देव (विष्णु) हैं, जो केवल लीला दिखाने के लिये शरीर धारण करते हैं[६५]। प्रस्तुत खण्ड में ही एक ऐसा विवरण भी है जिसके आधार पर उक्त तीनों स्तरों के अतिरिक्त चौथे स्तर की सम्भावना भी की जा सकती है। इस विवरण के अनुसार जामदग्न्य-राम, श्रीकृष्ण से वर प्राप्त करते हैं कि उन्हें विश्व में श्रीकृष्ण का अवतार माना जायगा[६६]। अन्यत्र पौराणिक विवरणों में, यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्माण्ड पुराण में ही, जामदग्न्य-राम, विष्णु के अवतार स्वीकार किये गये हैं तथा श्रीकृष्ण स्वयं एक अवतार हैं न कि अवतारों के मूलभूत स्रोत[६७]। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड पुराण का आलोचित स्थल वैष्णव धर्म के उस उत्तरकालीन स्वरूप का द्योतन करता है, जब कि विष्णु और श्रीकृष्ण का उपास्य तथा परिकल्प्य तत्त्व परस्पर संभिन्न हो चुका था, तथा जैसा कि विलसन का विचार है, श्रीकृष्ण का समारोपण उस स्रोतभूत परमशक्ति में करते थे, जो कारण-विशेष से सम्प्रेरित होकर विग्रहान्तर, अवतार अथवा अंशों में व्यक्त होती है[६८]।

प्रस्तुत खण्ड में ऐसे स्थल भी हैं, जिन पर तांत्रिक विधि-विधानों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। हैहय-राज की विजय-यात्रा के सन्दर्भ में वर्णित है कि उन्होंने आखेट-अभियान को आरंभ करने के पूर्व तन्त्र-मन्त्रों से सम्मत क्रियाओं को पूरा किया था[६९]। अध्याय तैंतीस का सम्पूर्ण अंश, जिसके वर्ण्य-विषय श्रीकृष्ण हैं, तांत्रिक विधि की उपासना से ओत-प्रोत प्रतीत होता है। इनका यहाँ पर विवरण देना प्रसंगानुकूल नहीं है, पर इस बात का निर्देश करना आवश्यक है कि देवोपासना में तांत्रिक विधान का निरूपण पौराणिक संरचना का उत्तरकालीन स्वरूप है। कूर्म, लिङ्ग, नारदीय और स्कन्द पुराणों में तन्त्र-विधि का पूर्ण परिपाक मिलता है, तथा इनके तदनुकूल अध्यायों की रचना का काल ८०० ई० के उपरान्त माना गया है[७०]। इस सम्भावना के आलोक में कि तन्त्रोक्त विधि आदि पुराणों का विषय नहीं है, यह कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड पुराण में प्रस्तुत खण्ड का समावेश नवीं शताब्दी के उपरान्त ही हुआ होगा।

---

६५. ब्रह्माण्ड पु०, ३।३६।१४
६६. वही, ३।३७।२६
६७. द्रष्टव्य, वैष्णव धर्म विषयक अध्याय, पृ० १६
६८. रिलीजस सेक्ट्स ऑफ़ इण्डिया, पृ० ६१
६९. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२६।१६
७०. हाज़रा, वही, पृ० १३६

जिन अनेक सम्भावित पहलुओं से उक्त अनुच्छेदों में ब्रह्माण्ड पुराण के जामदग्न्य-राम विषयक अध्यायों की समीक्षा की गई है, उनके आधार पर हम निम्नांकित सामान्य निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं:—(१) इस खण्ड में अनेक अध्याय इस उद्देश्य से समावेशित किये गये प्रतीत होते हैं कि ब्रह्माण्ड पुराण का स्वरूप-वैशिष्ट्य तथा पार्थक्य सुस्पष्ट हो सके। जामदग्न्य-राम का आख्यान भले ही प्राचीन हो, पर ब्रह्माण्ड पुराण में इसका जो स्वरूप मिलता है, उसे उत्तरकालीन संयोजन माना जा सकता है। वायु पुराण में इन अध्यायों का न मिलना इस बात को संदेह-रहित कर देता है कि एक तो मूलभूत वायुप्रोक्त पुराण में ये अनेक अध्याय और सम्भवतः इनके मूलरूप भी विद्यमान नहीं थे, दूसरे इस पुराण को उपलब्ध वायु पुराण के समानान्तर और वैष्णव प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विरचित किया गया था। वायुप्रोक्त पुराण के मौलिक अध्यायों में यथास्थान वैष्णव स्थलों का समावेश एक पृथक् पुराण-संरचना में केवल अंशतः सहायक था। अनेक अध्यायों में निबद्ध प्रस्तुत खण्ड उक्त उद्देश्य की पूर्णता का विधायक प्रतीत होता है। (२) मूल वायुप्रोक्त पुराण से इसके पृथक्कीकरण का काल ४०० ई० के आस-पास मानना तर्क-संगत तो अवश्य लगता है, पर विश्वसनीय नहीं[७१]। यदि ऐसी स्थिति रहती तो फिर बाणभट्ट ने परिचित पुराण का विशिष्ट नाम दिया होता, पवमानप्रोक्तं पुराणं अथवा वायुप्रलपितं पुराणं जैसे बाणोक्त उल्लेखों से उसके काल तक एक ही वायुप्रोक्त पुराण की ध्वनि निकलती है[७२]। अतएव ऐसी सम्भावना अनौचित्य-पूर्ण नहीं मानी जा सकती कि ब्रह्माण्ड पुराण का पृथक्कीकरण सातवीं शताब्दी के उपरान्त हुआ। (३) यह सम्भव है कि सुदीर्घ काल तक कतिपय नगण्य भिन्न स्थलों के साथ यह ग्रन्थ वायु पुराण के नाम से ही इसका एक संस्करण मात्र था। पर, भिन्न अध्यायों की संख्या विस्तृत होने पर इसे पृथक् संज्ञा से विशिष्ट करना आवश्यक हुआ हो तथा विषयान्तरों के सुग्राह्य होने के कारण इसे एक पृथक् पुराण की सत्ता मिली हो। (४) इसके काल-संवर्तन के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि यदि सातवीं शताब्दी ई० में इसका पृथक्कीकरण हुआ तो मध्यकालीन निबन्धकारों के काल तक इसका प्रामाणिक और उद्धरणीय संस्करण प्रस्तुत हो चुका था।

---

७१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ८४

७२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ५४-५५

विष्णु पुराण

आदि पुराण-ग्रन्थों में विष्णु पुराण एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी प्राचीनता का व्यक्तीकरण, मात्र इसी तथ्य से हो जाता है कि इसमें पुराण-पंचलक्षण का समाहार संतोषजनक रूप में सुरक्षित है। अन्य अनेक पुराणों में या तो पंचलक्षण मिलता ही नहीं अथवा यदि मिलता भी है तो केवल आंशिक और अपूर्ण रूप में। इस दृष्टि से विष्णु पुराण को पुराण-विशिष्ट सांस्कृतिक तत्त्वों के अध्ययन के लिये एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है। इसकी रचनापरक प्रवृत्ति धर्मोन्मुखी है, जिसमें वैष्णव मत का समुचित परिपाक प्राप्त होता है। पर, इसके स्थलों के रचयिता तथा अध्यायों के संकलनकर्त्ता ने कुछ इस ढंग से वैष्णव देवता के उपास्य तत्त्व का निरूपण किया है कि स्थल-निर्देशों और अध्याय-विवरणों में साम्प्रदायिकता का आवरण नहीं आ सका है। विष्णु पुराण की यह विशेषता इसकी प्राचीनता सिद्ध करने में प्रबल प्रमाण मानी जा सकती है। इतना होते हुये भी कुछ विद्वानों ने इसे उत्तरकालीन रचना माना है। इस सन्दर्भ में पार्जीटर महोदय ने तीन बातों पर विशेष बल दिया है। एक तो, यह कि इसके वर्ण्य-विषयों के प्रतिपादन तथा रचना-शैली के सन्निवेश में समरूपता दिखाई देती है; जिसका वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में अभाव है। यह तभी सम्भव माना जा सकता है जब कि यह ग्रन्थ पौराणिक संरचना के उत्तरवर्ती स्तरों में निश्चित योजना के साथ लिखा गया हो। दूसरे, प्राथमिक पुराण-रचना की भाँति इस ग्रन्थ में स्थल-प्रक्षेप के प्रमाण नहीं मिलते हैं। तीसरे, इसमें जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रतिपादक स्थल प्राप्त होते हैं, जिसके आधार पर इसका रचना-काल लगभग पाँचवीं शताब्दी ई० माना जा सकता है[१]। फ़र्क्यूहर की समीक्षा के अनुसार विष्णु पुराण तथा हरिवंश के वर्ण्य-विषयों में अनेक बातों के कारण समता दिखाई देती है। यदि हरिवंश का रचना-काल ४०० ई० माना जाय, तो इसी के आस-पास विष्णु पुराण की तिथि भी स्वीकृत की जा सकती है[२]। सी० वी० वैद्य महोदव विष्णु पुराण की तिथि को नवीं शताब्दी ई०

---

१. पार्जीटर, वही, पृ० ८०

२. फ़र्क्यूहर, ऐन आउट लाइन ऑफ़ दि रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इण्डिया, पृ० १४३

में निश्चित करते हैं। इनकी समालोचना का आधार है विष्णु पुराण, ४।२४।१६; जहाँ कैंकिल नामक यवनों का उल्लेख हुआ है। कैंकिल यवन ५७५-६०० ई० के अन्तर्वर्ती काल में आन्ध्र के शासक थे[३]।

जिन विद्वानों ने विष्णु पुराण को पौराणिक संरचना की प्राथमिक कृतियों के अन्तर्गत रखा है; उनमें विन्टरनित्स, हाज़रा तथा आचार्य उपाध्याय के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। विन्टरनित्स के गवेषणापरक, पाण्डित्यपूर्ण तथा साक्ष्य-समर्थित तर्क इस प्रकार पुनरावृत्त किये जा सकते हैं। विष्णु पुराण एक वैष्णव-प्रवण पुराण-संरचना है। इसके वर्ण्य-विषयों में विष्णु के आराध्य पक्ष को प्रधानता दी गई है। इनके स्वरूप में विश्व का सृजन, संरक्षण तथा संहरण सन्निहित मिलता है। अन्य देवद्वय अर्थात् ब्रह्मा एवं शिव इनके स्वरूप के साथ समाहित हैं, पृथक् नहीं। इस वैष्णव-विशिष्ट लक्षण से ओत-प्रोत होते हुये भी विष्णु पुराण में वे अनेक लक्षण नहीं मिलते, जिनके कारण इसे संप्रदाय-सम्मित ग्रन्थ माना जाय अथवा इसके रचना-काल को उत्तरकालीन स्तरों पर रखा जाय। वैष्णव व्रत, वैष्णव अनुष्ठान, वैष्णव तीर्थ और वैष्णव मंदिर—इनके उल्लेखों का विष्णु पुराण में सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण को प्राथमिक कृति मानना ही उचित प्रतीत होता है। विन्टरनित्स ने विष्णु पुराण के स्थलों में पंचलक्षण-निर्वाह के प्रति भी ध्यान आकर्षित किया है, जिसे इस पुराण की प्राचीनता प्रतिपादित करने में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जा सकता है। इस संदर्भ में विन्टरनित्स का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि माहात्म्य आदि के इसके विवरणों में परिबद्ध न होने से प्रतीति यही होती है कि इसका पाठक एक प्राचीन ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा है। इनके कथन का तात्पर्य यह है कि कभी-कभी पुराण-रचनाओं में, यहाँ तक कि मूल अध्यायों में भी; देव-माहात्म्य, देवाख्यान-माहात्म्य और देवोचित स्थान-माहात्म्य वर्णित मिलते हैं। ये बहुधा खण्डों के रूप में पृथक् मिलते हैं तथा इनके परिशिष्टों में प्रायः इन्हें किसी पुराण का अंग बताया जाता है। ऐसी रचनाएँ प्रायः उत्तरकाल की विरचित होती हैं, पर, प्रामाणिकता के लिये इनके संकलनकर्त्ता इन्हें पुराणांग उद्घोषित करते हैं। ऐसी कृतियाँ पुराण की मूल अंश भले ही न हों, पर इनके संयोजन से मूल पुराण के स्वरूप में भी उत्तरकालीन सांस्कृतिक कलेवर का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। इन विशेषताओं के साथ विष्णु पुराण का जो आकार आज उपलब्ध है, उसे प्राचीन ही माना जा सकता है। जहाँ तक

---

३. सी० वी० वैद्य, हिस्ट्री ऑफ़ मेडीवल इण्डिया, भाग १, पृ० ३५० तथा ज० बां० ब्रां० आर० ए० सो०, पृ० १५५

विष्णु पुराण के समय का प्रश्न है, विन्टरनित्स सामान्य निर्देश करते हुये पार्जीटर द्वारा निश्चित पाँचवीं शताब्दी ई० के मत को आदरणीय नहीं मानते हैं[४]।

हाज़रा महोदय ने निम्नांकित आधारभूत साक्ष्यों के आलोक में विष्णु पुराण की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनका पहला तर्क यह है कि विष्णु पुराण में जो वैष्णव-परक स्थल हैं, उनमें कूर्म पुराण की अपेक्षा प्राचीनता का पुट अधिक मात्रा में सन्निहित है। इसका कारण यह है कि कूर्म पुराण के एतद्विषयक स्थलों में शाक्त तत्त्वों का निर्वाह मिलता है, जब कि विष्णु पुराण के वैष्णव-परक स्थल शाक्त तत्त्वों से मुक्त हैं। इसके केवल कुछ इने-गिने श्लोक में ही शाक्त तत्त्व का प्रभाव दिखाई देता है[५], जिन्हें प्रक्षेपात्मक अपवाद के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, मूल पुराणांग के रूप में नहीं। इस दृष्टि से विष्णु पुराण, कूर्म पुराण का पूर्ववर्ती ग्रन्थ प्रतीत होता है। यदि कूर्म पुराण के वैष्णव-परक स्थलों की रचना का काल ५५० ई० एवं ६५० ई० की अंतर्वर्ती अवधि में मान लिया जाय[६] तो विष्णु पुराण को सातवीं शताब्दी ई० के पहले की रचना मानना संगत लगता है[७]। हाज़रा महोदय का दूसरा तर्क है कि विष्णु पुराण में कथाओं का जो स्वरूप प्राप्त होता है तथा अवतारवाद का परिकल्पन जिस स्तर पर है, वह भागवत के एतद्विषयिक विवरणों की अपेक्षा प्राचीन है। जिन प्रमुख कथाओं का निर्देश हाज़रा ने दिया है, वे ध्रुव, वेण, पृथु, प्रह्लाद, जड भरत तथा श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं। इन विद्वान् के अनुसार विष्णु पुराण में ये कथाएँ संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं, जिन्हें भागवत में विस्तार दिया गया है। विष्णु पुराण में निरूपित वैष्णव अवतार का स्वरूप वे भागवत की अपेक्षा इस दृष्टि से अविकसित मानते हैं; क्योंकि एक में श्रीकृष्ण, विष्णु के अल्पांश रूप में वर्णित हैं, जब कि दूसरे के वर्णन में वे अंशावतार अथवा स्वयं विष्णु घोषित किये गये हैं। दोनों ग्रन्थों की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि विष्णु पुराण भागवत के काल से (हाज़रा के मत से सातवीं शताब्दी ई०) पहले की रचना है[८]।

इनके कथन का तीसरा तर्क विष्णु पुराण में निरूपित नक्षत्रों के गणना-क्रम पर आधारित है। इसमें नक्षत्रों का निर्देश देते हुए इनका प्रारंभ कृत्तिका से किया

४. विन्टरनित्स, वही, पृ० ५४४-५४५
५. विष्ण पु०, १।८।१५-३२
६. हाज़रा, वही, पृ० २२
७. वही, पृ० २१-२२
८. वही, पृ० २२

गया है[९]। वराहमिहिर ने नक्षत्र-क्रम की जिस व्यवस्था का अनुसरण किया है, वह अश्विनी से प्रारंभ होती है। यह भी ज्ञात होता है कि वराहमिहिर के काल में कृत्तिका से प्रारंभ करने की नक्षत्र-क्रम पद्धति पुरानी मानी जाती थी। अतएव, ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण को वराहमिहिर के काल (पाँचवीं शताब्दी ई०) से पूर्व मानने में कोई असंगति नहीं दिखाई देती है[१०]। हाज़रा महोदय ने विष्णु पुराण की तिथि-विषयक समीक्षा अन्य अनेक साक्ष्यों के आलोक में किया है तथा इनके आधार पर इनका सम्मिलित और सामान्य निष्कर्ष यह है कि इस ग्रन्थ की रचना प्रथम और चतुर्थ शताब्दी के मध्यवर्ती काल में सम्पन्न हुई होगी[११]।

आचार्य उपाध्याय ने विष्णु पुराण के रचना-काल के सन्दर्भ में जिन विशिष्ट तर्कों पर बल दिया है, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है तत्त्ववैशारदी नामक टीका में वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) द्वारा उद्धृत विष्णु पुराण के श्लोकों की समीक्षा। प्रस्तुत टीका में तीन स्थलों (२।३२; २।५२; २।५४) पर विष्णु पुराण के श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इस प्रसंग में उक्त विद्वान् ने भाष्य की टीका में उपलब्ध 'स्वाध्यायाद्योगमासीत्' भाष्य पर वाचस्पति की निम्नांकित टीका का उल्लेख किया है—'अत्रैव वैयासिको योगमासीत्'। इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि 'अत्रैव' इत्यादि व्यास-परम्परा का वचन है। इसका मूल रूप विष्णु पुराण में श्लोकबद्ध मिलता है (स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमावसेत्, ६।६।२)। अपने कथन को विस्तार देते हुये आचार्य उपाध्याय पुनः प्रतिपादित करते हैं कि उक्त टीका के आधारभूत ग्रन्थ योगभाष्य का एक निर्देश (३।१३) न्यायभाष्य में प्राप्त होता है। इस प्रकार योगभाष्य का समय वात्स्यायन के न्यायभाष्य (द्वितीय-तृतीय शती) से प्राचीनतर प्रतीत होता है। इस समीक्षा के आधार पर यह प्रमाणित किया गया है कि विष्णु पुराण प्रथम शताब्दी ई० के पूर्व की रचना है[१२]। अपनी समीक्षा को विवृत करते हुये आचार्य उपाध्याय ने प्रो० दीक्षितार द्वारा आलोचित विष्णु पुराण के तिथि-विषयक उस विशिष्ट विवेचन का निर्देश दिया है[१३], जो तामिल साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ पर आधारित है।

---

९. विष्णु पु०, २।८।१६

१०. हाज़रा, वही, पृ० २२-२३

११. वही, पृ०, २४

१२. उपाध्याय, वही, पृ० ५४३-५४४

१३. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ७, १९३१, पृ० ३७०-३७१

आलोचित तामिल काव्य का नाम है मणिमेखलै, जिसके प्रसंगानुकूल स्थलों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है। काव्य में वर्णित अधिष्ठातृ-देवी का नाम मणिमेखला है, जिनसे सामुद्रिकों की सुरक्षा प्रार्थित की गई है। जिन लोगों के द्वारा मणिमेखला की प्रार्थना सम्पन्न हुई थी, वे निम्नांकित थे—वेदान्ती, शैववादी, विष्णुवादी, आजीवक, निर्ग्रन्थ, सांख्य-आचार्य, वैशेषिक-आचार्य तथा भूतवादी। इसी प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण पंक्ति का उल्लेख हुआ है, जिसका मूल तामिल रूप इस प्रकार है :—कललवणं पुराणमोदियन्। इसका तात्पर्य उस व्यक्ति से है, जिसने विष्णु पुराण में पाण्डित्य प्राप्त किया था। प्रस्तुत प्रसंग में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है—एक तो कललवणं पुराण का वास्तविक अर्थ तथा दूसरे इस पंक्ति के स्रोतभूत ग्रन्थ मणिमेखलै का रचना-काल। इस सन्दर्भ में विद्वानों का ऐसा विचार है कि संगम-युग में विष्णु शब्द का प्रयोग नहीं मिलता तथा इस देवता के लिये तिरुमाल अथवा कललवण शब्दों का ही प्रयोग मिलता है। अतएव, आलोचित तामिल काव्य की पंक्ति का तात्पर्य वैष्णव मत का प्रतिपादन करने वाले पुराणों से सामान्यतः न होकर नामतः विष्णु पुराण से ही है। ऐसी धारणा नितान्त समीचीन है कि मणिमेखलै के रचना-काल में पुराणों का प्रवचन एवं श्रवण होता होगा। इनमें लोकप्रियता विष्णु पुराण को प्राप्त रही होगी, यह भी स्पष्ट है। मणिमेखलै का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी ई० माना जाता है। यहाँ विवेचनीय पक्ष यह है कि यदि विष्णु पुराण को प्रवचन के निमित्त चुना गया था तो द्वितीय शताब्दी ई० के कम से कम एक शताब्दी पूर्व विष्णु पुराण का एक प्रवचनीय संस्करण अपने आकार में आ चुका होगा। ऐसी स्थिति में योगभाष्य तथा मणिमेखलै के साक्ष्यों को सम्मिलित कर अन्तिम निष्कर्ष निकाला गया है कि विष्णु पुराण की रचना ईसवी पूर्व में कभी, सम्भवतः द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में, सम्पन्न हुई होगी[१४]।

वंश-विवरण में यह पुराण गुप्त-वंश के आविर्भाव-पर्यन्त घटनाओं का चित्र प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार गुप्तों के अधिगत क्षेत्र साकेत, प्रयाग और मगध थे। इन स्थानों के निर्देश से यह स्पष्ट हो जाता है कि विष्णु पुराण के संकलनकर्त्ता को चन्द्र गुप्त प्रथम (३२० ई०-३२७ ई०) की राज्य-सीमा का ज्ञान था। इस आधार पर ३०० ई० के आस-पास इस पुराण के एक निश्चित संस्करण का काल माना जा सकता है।

---

१४. उपाध्याय, वहीं, पृ० ५४५

इस बात का विवेचन यहाँ किया जा सकता है कि यद्यपि ऐसी सम्भावना के पक्ष में बहुत से विद्वान् नहीं हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य प्राथमिक पुराणों की भाँति विष्णु पुराण भी उत्तरकालीन संयोजन की प्रक्रिया से मुक्त नहीं रहा है। जैसा कि पूर्वगामी अनुच्छेद में दिखाया जा चुका है, पार्जीटर महोदय इस पुराण को एक ही काल की संकलित रचना मानते हैं, जो तत्कालोत्तर के उपकरणों से विशिष्ट नहीं है। इस संदर्भ में हाज़रा महोदय ने इस पुराण के प्रथम अंश, अध्याय एक के कतिपय श्लोकों तथा तृतीय अंश के अध्याय सत्रह एवं अठारह की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इन विद्वान् की समीक्षा के अनुसार विष्णु पुराण के ये स्थल, ग्रन्थ के मूल अंश नहीं माने जा सकते हैं[१५]। उल्लेखनीय है कि हाज़रा द्वारा निर्दिष्ट उक्त स्थलों के अतिरिक्त ऐसे अन्य प्रकरण भी हैं, जिनमें विष्णु पुराण की मौलिकता सुरक्षित नहीं है। इनमें जड भरत के आख्यान का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। सामान्यता यही माना जाता है कि जड भरत के आख्यान का जो स्वरूप विष्णु पुराण में मिलता है, वह भागवत की अपेक्षा प्राचीन है[१६]। पर, इस उक्ति की सार्थकता विष्णु पुराण में निरूपित भरत-आख्यान के विवरण से समाहित नहीं होती। इसकी समीक्षा वक्ष्यमाण विवेचन में विष्णु पुराण के अन्तरंग परीक्षण के आधार पर की जा सकती है[१७]।

विष्णु पुराण में भरत-आख्यान का विवरण भुवनकोश-खण्ड में प्राप्त होता है। इस पुराण के अंश दो में प्रधानतया भुवनकोश का ही विवरण सुरक्षित है। प्रस्तुत अंश के अध्याय एक में भरत तथा इनके पूर्वजों का चरित निरूपित किया गया है। इसके श्लोक-संयोजन तथा स्थल-गठन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अध्याय का अतीत रूप कुछ भिन्न रहा होगा। जहाँ तक बाह्य आकार-प्रकार का प्रश्न है अध्याय में कोई ऐसा संकेतभूत आधार नहीं है, जिसके कारण इसकी मौलिकता के विषय में संदेह प्रकट किया जा सके। इसका विवरण सामान्यतया वही है; जो वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय पुराण का है[१८]। इन तीनों पुराणों के

---

१५. हाज़रा, वही, पृ० २४-२६

१६. वही, पृ० २२

१७. प्रस्तुत विवेचन लेखक के 'ऑन दि डेट ऑफ़ विष्णु पुराणाज़ चैप्टर्स ऑफ़ भरत ऐण्ड भुवन कोश' नामक निबंध पर आधारित है, द्रष्टव्य पुराण-पत्रिका, भाग ७, अंक २, जुलाई १९६६

१८. वायु पु०, अध्याय ३३; ब्रह्माण्ड पु० अनु० अध्याय १४; मार्कण्डेय पु०, अध्याय ५०

प्रसंगानुकूल अध्यायों में मिलने के कारण वर्णन की मौलिकता संदेहरहित प्रतीत होती है। वंश-विवरण से सम्बन्धित होना भी इसकी मौलिकता का अनालोच्य प्रमाण है। चारों पुराण इस बात पर बल देते हैं कि वंश के पूर्ववर्त्ती प्रत्येक नरेश ने अपने उत्तराधिकारी को राज्याभिषिक्त करने के उपरान्त वानप्रस्थ-जीवन का आश्रय लिया था। इससे प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण तथा उक्त अन्य तीनों पुराणों के स्थल उस काल का निर्देश करते हैं; जब कि आश्रम-व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी तथा स्मार्त नियम, समाज के नियमन तथा संगठन में क्रियाशील थे। ऐसी स्थिति में आलोचित स्थल चतुर्थ शती ई० के आस-पास रखे जा सकते हैं, क्योंकि पुराणों में स्मार्त तत्त्वों के समाहार का यही काल माना गया है[१९]। यहाँ तक तो विष्णु पुराण तथा अन्य तीनों पुराणों के स्वरूप में समानता दिखाई देती है। पर, विष्णु पुराण के आलोचित अध्याय में ही ऐसे श्लोक भी हैं; जिनकी समीक्षा से यह व्यक्त होता है कि इसके संकलनकर्त्ता का मन्तव्य वंश-विवरण को प्रस्तुत करना उतना नहीं है जितना कि शालग्राम तीर्थ[२०] की महत्ता पर बल देना, जो अन्य तीन ग्रन्थों में वर्णित नहीं है। अतएव ऐसी संभावना की जा सकती है कि विष्णु पुराण के आलोचित अध्याय का प्रतिसंस्करण पौराणिक संरचना के उस महत्त्वपूर्ण स्तर पर प्रस्तुत किया गया, जब कि इसमें तीर्थ-महत्ता के विधायक स्थलों का समावेश किया जा रहा था। ऐसा काल लगभग ७०० ई० माना गया है[२१], जिसके आस-पास विष्णु पुराण के आलोचित अध्याय के प्रतिसंस्कृत स्वरूप को भी रख सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में शालग्राम-तीर्थ का समावेश संकलन-कर्त्ता की साम्प्रदायिक-प्रवृत्ति का परिचय देता है, जिससे विष्णु पुराण अपने सामान्य स्वरूप में मुक्त है। वस्तुतः शालग्राम को तीर्थोचित स्तर पर उन वैष्णव उपासकों ने आसीन किया, जिनके क्रिया-कलाप का सन्निवेश वैष्णव उपपुराणों में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में तथा विष्णु पुराण के विवरण में घोर समता दिखाई देती है। विष्णु पुराण के स्थलों में दो राजाओं के विषय में उल्लेख है कि इन्होंने शालग्राम-तीर्थ में रहकर वानप्रस्थ-आश्रम के लिये विहित क्रियाओं को सम्पन्न किया था। वैष्णव उपपुराणों में तत्सम वर्णन मिलते हैं। उदाहरणार्थ, नरसिंह पुराण में वर्णित तीर्थों की तालिका

---

१९. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० ६

२०. विष्णु पु०, २।१।२४, ३४

२१. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, क्रोनोलाजिकल टेबुल ऑफ़ दि पुराणिक चैप्टर्स, पृ० १७७

में शालग्राम एक वैष्णव तीर्थ उद्घोषित किया गया है (अध्याय, ६५-६६)। इस ग्रन्थ में पुण्डरीक नामक एक ब्राह्मण के विषय में वर्णन है कि इन्होंने गृहस्थ-आश्रम को स्वीकार किये बिना ही शालग्राम तीर्थ में रहकर विष्णु की उपासना किया था (अध्याय, ६४)। विष्णुधर्म पुराण में निरूपित एक क्षत्रिय ने कठोर तपश्चर्या के निमित्त शालग्राम का आश्रम लिया था (अध्याय, ६९-७०)। बृहन्नारदीय पुराण में विष्णु का आदेश अनुसरण करने वाले उस मृकण्डु का उल्लेख मिलता है, जिसने शालग्राम में तपश्चर्या किया था (अध्याय, ४-५)[२२]। इस समीक्षा से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस समय सम्प्रदाय-विशिष्ट वैष्णव उपपुराणों की रचना सम्पन्न हो रही थी तथा इनमें वैष्णव तीर्थ शालग्राम का समावेश किया जा रहा था, प्राथमिक पुराण-संरचना के मूल अध्याय को दुहरा कर इसे एक नया रूप प्रदान किया गया। इसका उद्देश्य था शालग्राम के गौरव को प्राचीनता के साथ समाहित करना और यह उसी दशा में संभव था जब कि प्राथमिक और विशिष्ट पुराण-ग्रन्थ के स्थलों में इसका समाहार किया जाय।

विष्णु पुराण के प्रस्तुत विवरण की उत्तरकालीनता का प्रमाण अध्याय एक के ही उन कतिपय श्लोकों द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनके तत्सम अथवा तद्रूप अन्य तीनों पुराणों में नहीं मिलते हैं। श्लोक-संख्या ३५ में अनुवर्ती वर्णन का परिचय निबद्ध है, जिनमें मन्तव्य है भरत-चरित का निरूपण[२३]। पर, वास्तविक स्थिति यह है कि पुराण-विवरण में भरत का चरित इस अध्याय के आठ श्लोकों तथा प्रस्तुत खण्ड के अठारह अध्यायों के लंबे व्यवधान के उपरान्त ही निरूपित है। अतएव, संभावना इसी बात की लगती है कि आलोचित श्लोक, पुराण के मूल रूप में विद्यमान नहीं थे। वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय पुराणों में इस तात्पर्य के श्लोक का न मिलना उक्त सम्भावना को पुष्ट कर देता है। यहाँ दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि विष्णु पुराण के वर्णन में भरत-चरित का उल्लेख दो बार हुआ है। एक तो द्वितीय अंश के प्रारंभ में तथा दूसरी बार पुनः इस अंश के अंतिम अध्यायों में, जब कि अंतर्वर्ती अनेक अध्याय विषयान्तर का वर्णन करते हैं। विष्णु पुराण के अंतिम अध्यायों में निरूपित भरत-चरित का निर्देश अन्य तीनों पुराणों में नहीं मिलता। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो, यह

---

२२. इन उपकरणों के विषय-विवेचन के लिये द्रष्टव्य, हाजरा, स्टडीज़ इन दि उप पुराणाज़, भाग १

२३. अजायत च विप्रोऽसौ योगिनां प्रवरे कुले, मैत्रेय तस्य चरितं कथयिष्यामि ते पुनः।

कि अंतिम अध्यायों में निरूपित भरत-चरित विष्णु पुराण के मूल संस्करण का अंग नहीं माना जा सकता और दूसरे, आलोचित श्लोक-संख्या ३५ भी ग्रन्थ में अतिरिक्त अध्यायों का संयोजन करते समय मूल अध्याय में जोड़ा गया। अधिक स्पष्ट शब्दों में यह कह सकते हैं कि विष्णु पुराण में न केवल नये अध्याय संयोजित हुये, अपितु इसके मूल अध्याय के स्वरूप और गठन में भी परिवर्तन लाने की चेष्टा की गई। कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष आलोचित अध्याय के श्लोक-संख्या ३० तथा श्लोक-संख्या ३१ की समीक्षा से भी निकलता है। इन श्लोकों में नृप ऋषभ का उल्लेख है, जो भरत से पूर्ववर्ती थे। इनके विषय में वर्णन मिलता है कि इन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपने के बाद वीराध्वान प्राप्त किया था। ऐसी गति पाने के पूर्व इन्होंने नग्न रहकर तथा मुँह में पाषाण-खण्ड रखकर कठोर तपश्चर्या सम्पन्न की थी। भाष्यकार श्रीधर ने इस संदर्भ में वीराध्वान की एकता महाप्रस्थान से मानी है। इसी तात्पर्य को लेकर विलसन अपनी टिप्पणी में समझाते हैं कि जिस विधि से ऋषभ की तपस्या का वर्णन मिलता है, वह दिगम्बर जैनों की तपस्या-विधि के समकक्ष है। अतएव, ऐसी दृष्टि से विष्णु पुराण के आलोचित अध्याय के उपलब्ध कलेवर का काल पाँचवीं शती ई० के पहले नहीं रखा जा सकता है; क्योंकि इसी काल के लगभग पुराणों में जैन और बौद्ध धर्मों से संबंधित स्थलों का समावेश अनुमानित किया गया है[२४]। ऐसे निष्कर्ष की सार्थकता और अधिक संभावित होती है, जब कि हम यह देखते हैं कि ऋषभ के विषय में उक्त अतिरिक्त विवरण विष्णु पुराण में ही प्राप्त होते हैं; अन्य तीनों पुराणों में नहीं। विष्णु पुराण के विपरीत इन तीनो में व्यवस्थित, संयत और संतुलित आख्यानक निबद्ध है तथा ऋषभ के विषय में कोई विशेष बात नहीं कही गई है। इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि वैष्णव मत के उत्तरकालीन अनुयायियों ने वैष्णवेतर तत्त्वों को स्वकीय मत में समीकृत करना चाहा और प्रामाणिकता के उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने अतीत-कालीन ग्रन्थ के सुविदित स्थलों को परिवर्द्धित कर स्वीकृत मान्यताओं में प्राचीन परिवेश का अधान करने का प्रयास भी किया। आलोचित अध्याय की श्लोक-संख्या ३२ से भी विष्णु पुराण के विवरण का उत्तरकालीन स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अपने मूल रूप में यह श्लोक इस प्रकार है—'ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते। भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रतिष्ठता वनम्'। इस सन्दर्भ में दो बातें स्मरणीय हैं। (१) प्रस्तुत श्लोक समान तात्पर्य के साथ अन्य तीनों पुराणों में प्राप्त होता है। (२) अन्य तीनो पुराणों में यह श्लोक सार्थक है तथा मूलमन्तव्य को व्यक्त कर

---

२४. पार्जीटर, वही, पृ० ८०

देता है, पर विष्णु पुराण के वर्त्तमान श्लोक-समवाय में इसकी संगति नहीं दिखाई देती है। प्रतीत होता है कि इस श्लोक में 'भारतं वर्षं' का निर्देश पूर्ववर्ती श्लोक संख्या २७ के 'हिमाह्वं वर्षं' के प्रति है। पर; मध्यवर्ती श्लोक संख्या २८, २९, ३० और ३१ के व्यवधान के कारण, जो अन्यथा प्रसंगान्तर से सम्बद्ध है, संकलनकर्त्ता का मूल मन्तव्य व्यक्त नहीं हो पाता। इसके विपरीत वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय पुराणों में 'हिमाह्वं वर्षं' तथा 'भारतं वर्षं' एक ही श्लोक में सन्निबद्ध हैं (हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्। तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः)[२५]। यहाँ भारतं वर्षं निर्व्यवहित रूप में हिमाह्वं वर्षं से संश्लिष्ट होकर श्लोक के तात्पर्य को व्यक्त कर रहा है। अतएव यह कह सकते हैं कि विवरण का प्राथमिक एवं मौलिक स्वरूप इन्हीं तीनों ग्रन्थों में सुरक्षित है, जब कि विष्णु पुराण में प्रतिसंस्करण के द्योतक श्लोकों के कारण भरत-आख्यान अपने मौलिक रूप में नहीं है।

विष्णु पुराण के स्थलों की तिथि-विषयक समीक्षा तब तक अपूर्ण सी लगती है, जब तक कि इन्हें भागवत के स्थलों के आलोक में आलोचित न किया जाय। यह सुविदित है कि दोनों के विवेच्य विषय अधिकांशतः समान हैं, तथा इनके आधार पर विद्वानों ने निष्कर्ष यह निकाला है कि एक ग्रन्थ के स्थल दूसरे के स्रोत-भूत रहे हैं। समान्यतया यही माना जाता है कि दोनों ग्रन्थों के समान विवरणों का मूल एवं प्राथमिक स्वरूप विष्णु पुराण में सुरक्षित है। भागवत के विवरणों में विष्णु पुराण के संक्षिप्त स्थलों को विस्तार मिला है। इस दृष्टि से भागवत; विष्णु पुराण की अपेक्षा उत्तरकालीन माना जाता है। यह वर्णन-साम्य श्रीकृष्ण, पृथु-वैन्य, ध्रुव, प्रह्लाद एवं भरत से संबंधित आख्यान के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है, जिनका उल्लेख दोनों ही ग्रन्थों में मिलता है। विवेचन की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुये प्रस्तुत सन्दर्भ में दोनों ग्रन्थों में निबद्ध भरताख्यान के तुलनात्मक स्वरूप की पुनः समीक्षा समीचीन प्रतीत होती है। यहाँ विवेचन का विचारणीय पहलू यह है कि विष्णु पुराण में भरताख्यान का उपलब्ध स्वरूप, भागवत के विवरण की अपेक्षा प्राचीन माना जा सकता है अथवा नहीं। पूर्वगामी अनुच्छेद में यह दिखाया जा चुका है कि इस ग्रन्थ के एक ही अंश में भरताख्यान का विवरण दो बार मिलता है। ये दोनों विवरण एक ही संकलनकर्त्ता द्वारा अथवा एक ही योजना के साथ अथवा एक ही काल में लिखे हुये नहीं लगते। यदि पुराणों में भरत-चरित का मूल रूप ढूँढ़ना है तो इस दिशा में वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण एवं मार्कण्डेय

---

२५. वायु पु०, ३३।५२; ब्रह्माण्ड पु०, २।१४।६१-६२; मार्कण्डेय पु०, ५१।४१-४२

पुराण को तो प्रमाण माना जा सकता है; पर विष्णु पुराण का विवरण, श्लोक-प्रक्षेप और अध्याय-प्रक्षेप के कारण उत्तरकालीन ही माना जा सकता है, मौलिक नहीं। अतएव इस दृष्टि से विष्णु पुराण के स्थलों को भागवत का आधारभूत मानना संगत नहीं लगता है। यदि भागवत के स्थलों को देखें तो प्रतीत होगा कि इसमें भरत-आख्यान को विस्तार तो अवश्य दिया गया है, पर ऐसी व्यवस्था के साथ; जिसके कारण वर्णन की अन्विति में कोई दोष नहीं दिखाई देता। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें वंश के सभी नरेशों के संदर्भ में स्वतन्त्र और पृथक् अध्याय वर्णित हैं। इसे भरत-चरित के मूल वर्णन का आयत स्वरूप इसलिये मान सकते हैं, क्योंकि मूल वर्णन में सभी नरेशों का वर्णन एक ही अध्याय में निरूपित है। विष्णु पुराण में वर्णन-अन्विति में व्यवधान का कारण इसके उन अध्यायों का संयोजन है, जो पृथक् रूप में केवल भरत को विषय बनाकर लिखे गये हैं। अतएव भरत-चरित के विषय में दोनों पुराणों की निहित शैली-योजना विष्णु पुराण की ही उत्तरकालीनता प्रमाणित करती है।

यह भी विचारणीय है कि वैष्णव मत की सम्प्रदाय-विशिष्ट प्रवृत्ति विष्णु पुराण के उपलब्ध भरत-चरित में अधिक स्पष्ट है, पर भागवत के विवरण में ऐसी बात नहीं दिखाई देती है। पूर्वगामी अनुच्छेद में शालग्राम का निर्देश दिया जा चुका है। इसका उल्लेख विष्णु पुराण में एक विशिष्ट और पवित्र स्थान के नामार्थ हुआ है। समान प्रसंग में ही भागवत भी शालग्राम का उल्लेख करता है, पर इस ग्रन्थ में शालग्राम शब्द का प्रायौगिक स्वरूप भिन्न है। इसका तात्पर्य स्थान-नाम से नहीं, अपितु स्थान के विशेषण से है। जिस पंक्ति-विशेष में यह प्रयुक्त है, वहाँ इसके द्वारा पुलहाश्रम की विशिष्टता प्रकट होती है—ऐसा पुलहाश्रम जहाँ शाल नामक वृक्षों की अधिकता थी (शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम, ५।८।३१)। भागवत के भाष्य में श्रीधर ने पुलस्त्यपुलहाश्रम के संयोग में शालग्राम शब्द को विशेषण के रूप में ही ग्रहण किया है तथा अर्थ शाल-वृक्षों से उपलक्षित (स्थान) माना है (शालवृक्षोपलक्षितं पुलस्त्यपुलहाश्रमं प्रत्याजगाम)। पर, वंशीधर शर्मा के भाष्य में शालग्राम का अर्थ शालग्राम-क्षेत्र लिया गया है (शालग्रामं तदाख्यं क्षेत्रम्)। प्रस्तुत भाष्य-मत भागवत पर कम एवं विष्णु पुराण पर ही अधिक आधारित प्रतीत होता है। श्रीधर की टीका, अपेक्षाकृत प्राचीन होने के कारण, वस्तुस्थिति के निकट है; अतएव भागवत में वर्णित शालग्राम पुलहाश्रम का विशेषण-बोधक ही माना जा सकता है। इस समीक्षा से स्पष्ट है कि भागवत के स्थलों की रचना उस काल में सम्पन्न हुई थी, जब कि तीर्थ-विशेष के अर्थ में शालग्राम का

या तो प्रचलन नहीं हुआ था अथवा शब्द का आविष्कार ही नहीं हुआ था। इसके विपरीत विष्णु पुराण के स्थलों में संप्रदाय-विशिष्ट भावना का सन्निधान है, जिसका मन्तव्य एक अतिरिक्त वैष्णव तीर्थ को प्रकाश में लाकर वैष्णव मत को प्रसार देना प्रतीत होता है।

विष्णु पुराण में प्राप्त भरताख्यान-विवरण के सम्प्रदाय-बहुल स्वरूप का स्पष्टीकरण इसके सामान्य वैष्णव परिवेश से भी होता है। इन सन्दर्भ में हाज़रा द्वारा आलोचित वैष्णव उपपुराण क्रियायोगसार का उल्लेख विशेषतया किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में स्थल-स्थल पर वैष्णव उपासक के लिये संपाद्य बहुविध दैनिक क्रियाएँ तथा अनुष्ठान विहित किये गये हैं। इसमें वैष्णवोचित मन्त्रों और इनके बहुविध फल का उल्लेख भी मिलता है[२६]। विष्णु पुराण के भरताख्यान में भी कुछ इसी प्रकार के निर्देश की ओर संकेत प्राप्त होता है। इसमें विष्णु-भक्त भरत के दैनिक धर्मानुष्ठानों का विशद वर्णन है तथा कहा गया है कि विष्णु-नाम के अतिरिक्त स्वप्न में भी वे और किसी का संकीर्त्तन नहीं करते थे। इस सन्दर्भ में विष्णु पुराण के संकलनकर्त्ता ने भरत द्वारा प्रयोक्तव्य निम्नांकित वैष्णव मन्त्र का भी उल्लेख किया है—'यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधव...नमोऽस्तु ते'[२७]। हाज़रा महोदय क्रियायोगसार के सम्प्रदाय-विशिष्ट स्वरूप पर बल देते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारंभ में यह ग्रन्थ एक उपपुराण के रूप में पृथक् प्रतिष्ठित था, पर उत्तरवर्त्ती काल में प्रामाणिकता की दृष्टि से इसे पद्मपुराण से संयुक्त कर दिया गया[२८]। इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है। पर, इसके साथ-साथ वक्ष्यमाण सम्भावना की भी याथातथ्यपूर्ण स्थिति ही थी। पुराण-संरचना में अष्टादश पुराण-संख्या निश्चित होने के उपरान्त, इनसे प्रायः साम्य रखने वाले जो ग्रन्थ प्रणीत हुये, उन्हें उपपुराण नाम दिया गया। इन उत्तरकालीन ग्रन्थों के संकलनकर्त्ताओं ने, एक ओर अतीतकालीन ग्रन्थों के स्थल-विस्तार की दृष्टि से तथा दूसरी ओर नवविरचित पुराण-सम रचनाओं की प्रामाणिकता के लिये इन्हें पूर्व संकलित रचनाओं में पुनः संकलित किया। उल्लेखनीय है कि अनेक उपपुराण स्वयं में ही पर्याप्त विस्तृत थे, अतएव सभी उपपुराणों को महापुराणों में संचित करना सम्भव नहीं था। पर, क्रियायोगसार जैसा उपपुराण

२६. क्रियायोगसार, अध्याय ११-१४
हाज़रा, स्टडीज इन दि उपपुराणाज़, भाग १, पृ० २७१-२७४

२७. विष्णु पु० २।१३।४-१०

२८. हाज़रा, वही २६८-२६९

ग्रन्थ, जो आकार में विष्णुधर्मोत्तर आदि उपपुराणों की अपेक्षा में अल्पकाय है, महापुराण में सुगमता के साथ संयुक्त किया जा सकता था। इस समय यह पद्मपुराण के एक खंड के रूप में संयुक्त मिलता है। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति आख्यान एवं उपाख्यान के संदर्भ में भी दिखाई देती है। आख्यानों को पुराणांग माना जाता था। पर, इनकी सत्ता बहुधा स्वतन्त्र भी मानी जाती थी। पुराणों के प्राथमिक वर्ण्य-विषयों में प्रमुख होने के कारण इन्हें सुविधा के साथ पुराण-संरचना का अंग बनाया जा सकता था। इस दृष्टि से सम्भावना इसी बात की लगती है कि विष्णु पुराण में द्वितीय अंश के अंतिम चार अध्यायों (अध्याय-संख्या १३, १४, १५ और १६) में भरत-चरित का विवरण प्रारंभ में एक वैष्णव आख्यान था, जब कि इस अंश का प्रथम अध्याय विष्णु पुराण का मूल अंग है। भरताख्यान को विष्णु पुराण में सम्मिलित करने में दो बातों के कारण सुविधा थी—एक तो इस ग्रन्थ में भरत का विवरण पहले से विद्यमान था, पर आकार में यह लघुकाय था। दूसरे, भरताख्यान में वैष्णव प्रवृत्तियों का समाहार था; अतएव मूल वैष्णव पुराण में इसे जोड़ कर, प्राचीन ग्रन्थ का स्थल-विस्तार किया जा सकता था।

उपर्युक्त अनेक दृष्टिकोण से विचार करने पर निम्नांकित महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं—भरत-आख्यान अपने मूल रूप में वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय पुराणों में प्राप्त होता है। इन पुराणों ने आख्यान के प्राथमिक स्वरूप को संतोष-जनक सीमा के साथ सुरक्षित रखा है। भरताख्यान का मौलिक एवं प्राथमिक स्वरूप, भागवत में केवल वर्णन-विस्तार का परिचय देता है, उत्तरकालीन वैष्णवोचित साम्प्रदायिक तत्त्वों के सन्निवेश का नहीं। यदि इस वर्णन-विस्तार के स्रोत की जिज्ञासा की जाय तो इसका उत्तर वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय के स्थल ही दे सकते हैं। इसके विपरीत विष्णु पुराण में भरताख्यान का प्राथमिक रूप उत्तरकालीन श्लोकों और अध्यायों के संयोजन से इतना संश्लिष्ट हो चुका है कि इसे भागवत का आधार मानना आपत्तिजनक लगता है।

यहाँ पुनः उल्लेख किया जा सकता है कि विष्णु पुराण का द्वितीय अंश, जिसमें भरताख्यान का वर्णन मिलता है, अन्यत्र भी अपने मौलिक रूप में सुरक्षित नहीं है। इसके सामान्य गठन, वर्ण्य-विषय तथा श्लोकों और स्थलों की उपलब्ध व्यवस्था को आलोचित करने से व्यक्त होता है कि मूल संस्करण के संपादनोपरान्त इसका प्रतिसंस्करण भी प्रस्तुत किया गया; जिसकी पृष्ठभूमि में वह प्रवृत्ति क्रियाशील थी, जिसे सम्प्राय-सम्मित एवं मत-विशिष्ट पद्धति का अभिधान दिया जा सकता है। जिन अध्यायों की आलोचना यहाँ मन्तव्य है, वे हैं अध्याय दो, तीन और चार।

इन अध्यायों का वर्ण्य-विषय भुवन-कोश है, जो अतीतकालीन पुराणांग होने के कारण प्रायः मौलिक ही माना जा सकता है। अन्य प्रारम्भिक पुराणों में एतत्सम वर्ण्य-विषय संकलित हैं, अतएव विवरण की मौलिकता पुष्ट और प्रमाणित हो जाती है। पर, विस्तृत परिधि में इसके परीक्षण से दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि उक्त अध्यायों में स्थल-स्थल पर ऐसे श्लोक हैं, जिनका स्वरूप उत्तरकालीन है तथा दूसरे कहीं-कहीं पूर्वकालीन श्लोकों के भी आकार-प्रकार में परिवर्त्तन लाकर उन्हें उत्तरकालीन प्रवृत्ति से प्रतिच्छायित रूप प्रदान किया गया है। ऐसे श्लोकों का उत्तरकाल में विरचित होना अथवा उत्तरकाल में इनका मूलरूप-परिवर्त्तन उस स्थिति में सुव्यक्त हो जाता है, जब कि इनकी स्वरूप-समीक्षा वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समस्थलीय श्लोकों के आलोक में की जाती है। विष्णु पुराण के विवरणों के संदर्भ में अपनी पांडित्य-पूर्ण टिप्पणी में विलसन महोदय ने इस बात की ओर संकेत किया है कि भुवनकोश के वर्णन पुराणों में प्रायः समान हैं, पर वर्णन-विस्तार की दृष्टि से इनमें विशिष्ट वैषम्य भी दिखाई देता है[२९]। विलसन महोदय के इस संक्षिप्त किन्तु तर्क-प्रचुर कथन के साथ निम्नांकित कतिपय उल्लेखनीय बातों का निर्देश उचित प्रतीत होता है—एक ही आदर्श और परंपरा से प्रेरित होने के कारण पुराण-ग्रन्थों में वर्ण्य-विषयों की समता का होना स्वाभाविक था। पर, इनके संकलनकर्त्ताओं ने विशिष्टता के बोधक स्थलों का इनमें समाहार कर इन्हे व्यक्तिगत स्वरूप भी प्रदान किया है। इनके विशिष्ट स्वरूप का कारण पौराणिक 'समुपबृंहण' शैली को भी माना जा सकता है, जिसकी प्रेरणा में पौराणिकों ने अतीतकालीन तत्त्वों के साथ-साथ नवोदित मान्यताओं का समाहार किया। नवोदित मान्यताओं का आकार-प्रकार काल-संवर्त्तन के अनुसार तो निर्धारित हुआ ही था, इसके अतिरिक्त इन्हें विशिष्ट और वैयक्तिक स्वरूप क्षेत्रीय एवं साम्प्रदायिक भिन्नताओं के कारण मिला था। पौराणिक भुवनकोश-विवरण की समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि पौराणिक स्थल-वैभिन्य स्थान-विशेष के वर्णन की दृष्टि से उतना अधिक नहीं है, जितना कि सम्प्रदाय-गत विषमताओं के सन्निवेश के कारण है। इन स्थलों की आलोचना यदि मूल एवं प्रधान विवरण से पृथक् मानकर की जाय, तो ऐसी सम्भावना की प्रबलता प्रतीत होने लगती है कि इन पुराणों का आकार-आयाम एवं स्थल-संवर्द्धन, पुराणों में मूलभूत एकता का परिधान लाने वाले सूतों के

---

२९. द्रष्टव्य, विलसन-कृत विष्णु पुराण का अनुवाद, तृतीय संस्करण, पृ० १३५, पा० टि० १

द्वारा नहीं हुआ था; अपितु उन संकलनकर्त्ताओं द्वारा हुआ था, जिनके धार्मिक विचार परस्पर-पृथक् और कहीं-कहीं परस्पर-विरुद्ध भी थे।

विष्णु पुराण के जिन उद्धरणों से उपर्युक्त सम्भावना की यथार्थता व्यक्त होती है; उनमें ऐसे स्थल विशेषतया आलोचनीय हैं, जो शाकद्वीप के सन्दर्भ में संकलित हैं। इसमें संदेह नहीं है कि पुराण-वर्णन में शाकद्वीप का भौगोलिक पक्ष उत्तरकालीन नहीं माना जा सकता, क्योंकि भूमिसंस्थान-निर्देश पुराण के प्राथमिक वर्ण्य-विषय हैं। पर, इस वर्णन के धार्मिक पक्ष की विशेषताओं को निश्चय के साथ उत्तरकाल का संयोजन ही कह सकते हैं। इस द्वीप में चार जातियों का सन्निवेश माना गया है, जो इस प्रकार वर्णित हैं—(१) वङ्ग (२) मागध (३) मानस तथा (४) मादंग। ये चारों जातियाँ क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की प्रतिनिधि मानी गई हैं। इनके धार्मिक क्रिया-कलाप का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि ये सम्यक् पूर्वक नियत रूप में सूर्य की उपासना करते हैं, जो वास्तव में विष्णु ही हैं[३०]। प्रतीत होता है कि इस वर्णन का मौलिक रूप वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में सुरक्षित है, क्योंकि इनके तद्विषयक स्थलों में मात्र यही कहा गया है कि शाकद्वीप के निवासी शाक-वृक्ष की उपासना करते हैं[३१]। विष्णु पुराण की भाँति इनमें शाकद्वीप के निवासियों द्वारा उपास्य देवता के साथ स्वमत-परिचित देवता को समाहित करने का प्रयास नहीं मिलता है। इस सन्दर्भ में अग्निपुराण का निर्देश है कि शाकद्वीप के निवासी सूर्य के आकार की उपासना करते हैं[३२]। इन पौराणिक वर्णनों की समीक्षा धार्मिक पक्ष के आलोक में करने से इनमें तीन विशिष्ट स्तरों का सन्निधान सुव्यक्त होता है। प्रथम स्तर पर वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के वर्णन को रख सकते हैं, जब कि भारतीय, शाकद्वीप से तो परिचित थे; पर उनके सूर्योपासना की महत्त्वपूर्ण जानकारी इन्हें नहीं थी। अग्निपुराण के उद्धरण से द्वितीय स्तर की सूचना प्राप्त होती है, जब कि शाकद्वीपीय पुरोहितों का आगमन भारत में हो चुका था तथा उनकी सौर मूर्त्ति-उपासना को श्रद्धेय माना जाता था। विष्णु पुराण के उद्धरण में तीसरा स्तर सन्निहित प्रतीत होता है, जब कि शाकद्वीपीय मग पुरोहितों को भारतीय समाज के साथ समाहित कर लिया गया था तथा उनके सौरोपासना-विधान को पृथक् न मानकर, भारतीय वैष्णव धर्म का ही अनन्य अंग उद्घोषित किया गया था। प्रस्तुत सन्दर्भ में हाज़रा महोदय द्वारा निर्देशित सौर ग्रन्थ

---

३०. विष्णु पु०, २।४।६८-७०

३१. वायु पु०, २।८७; ब्रह्माण्ड पु०, २।१६।६४

३२. अग्नि पु०, ११६।२१

सांब पुराण तथा पौराणिक सौर उद्धरणों की समीक्षा उल्लेखनीय है। इनके अनुसार सांब पुराण की रचना तथा भविष्य एवं ब्रह्म पुराणों के मौलिक उद्धरणों का संशोधन शाकद्वीपीय मग पुरोहितों के भारत में आगमन के उपरान्त सौर प्रतिमा-पूजा को मान्यता देने के निमित्त किया गया था[३३]। सौर प्रतिमा-उपासना भारत के लिये अविदित थी, पर सर्वसाधारण के लिये इसमें आकर्षण था; अतएव एक नवीन पुराण की रचना तथा पूर्वविरचित पुराणों में स्थल-परिवर्त्तन, अतीव स्वाभाविक एवं संगत सा लगता है। ऐसी प्रवृत्ति को पूर्व-विवेचित दूसरे स्तर से संबंधित कर सकते हैं। विष्णु पुराण के उद्धरण से यह संदेह-रहित हो जाता है कि मगों की सौरोपासना-विधि के सर्वसम्मत होने के उपरान्त प्रधानतः स्वमत-विस्तार के लिये तथा प्रकारांतर से एक नवीन धर्म के विकास-पार्थक्य को अवरुद्ध करने के लिये, वैष्णवों ने मगीय सौर धर्म को वैष्णव धर्म का अंग बनाना चाहा। ऐसी चेष्टा को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिये उन्होंने अतीत-विरचित वैष्णव पुराण के मूल स्थल में आवश्यक संशोधन भी किया। अतएव, कालक्रम की दृष्टि से विष्णु पुराण के आलोचित स्थल के प्रतिसंस्कृत रूप को अग्नि पुराण तथा सांब पुराण जैसे उत्तरकालीन पौराणिक रचनाओं का भी उत्तरवर्ती माना जा सकता है।

विष्णु पुराण के द्वितीय अंश में वे स्थल भी मूल रूप में सुरक्षित नहीं प्रतीत होते हैं, जिनका वर्ण्य-विषय प्लक्षद्वीप है। शाकद्वीप के स्थलों की भाँति ही, आलोच्य स्थल भूमि-संस्थान के सन्दर्भ में विरचित हैं; अतएव इनकी मौलिकता के प्रति सामान्यतया संदेह नहीं किया जा सकता। पर, उपलब्ध रूप में इनके द्वारा वैष्णव प्रवृत्ति का निर्वाह द्योतित होता है, और इस प्रकार उत्तरकालीन स्तरों पर इनका प्रतिसंस्कृत होना विवाद-रहित है। इस द्वीप के निवासियों की धार्मिक प्रवृत्ति पर बल देते हुये पुराण का कथन है कि वे हरि की उपासना करते हैं[३४]। इस प्रसंग में हरि शब्द से विष्णु-नाम का ही बोध होता है। स्मरणीय है कि यदि विष्णु पुराण के संकलनकर्त्ता ने यहाँ वैष्णव परिवेश चित्रित किया है, तो वायु पुराण के तत्समान स्थल में शैवात्मक विचारधारा का सन्निवेश किया गया है। इसके अनुसार प्लक्षद्वीप-वासी स्थाणु अर्थात् शिव की उपासना करते हैं[३५]। विदित होता है कि अपने मूल रूप में ये स्थल सम्प्रदाय एवं मत-वैशिष्य के प्रभाव से सर्वथा भिन्न थे।

---

३३. हाजरा, वही, पृ० ५७, ८३

३४. विष्णु पु०, २।४।१६

३५. वायु पु०, ४६।२७

इनका प्राथमिक एवं अविकृत स्वरूप ब्रह्माण्ड पुराण में सुरक्षित है, जिसके वर्णन में देवता-विशेष का उल्लेख न करते हुये प्लक्ष-द्वीप के निवासियों की मात्र वृक्ष-उपासना का निर्देश किया गया है[३६]।

भद्राश्व नामक भूक्षेत्र के निर्देश में भी विरचित विष्णु पुराण के स्थल अपने प्राथमिक स्वरूप से पृथक् होकर मत-विशिष्ट के परिचायक ही प्रतीत होते हैं। ये स्थल मार्कण्डेय पुराण, वायु पुराण और लिङ्ग पुराण में भी कालांतरोचित संयोजन का परिचय देते हैं। इनके विपरीत कूर्म पुराण में तद्विषयक मौलिक स्वरूप सम्भावित लगता है। परस्पर समान प्रवृत्ति का परिचय प्रस्तुत करते हुये विष्णु और मार्कण्डेय पुराणों के स्थलों का कथन है कि भद्राश्व-वासी, जनार्दन के उस रूपान्तर के उपासक हैं, जिसका अभिधान अश्वशिरस् है[३७]। इन दोनों पुराणों के ठीक विपरीत वायु पुराण उल्लेख करता है कि भद्राश्व-वासी, शंकर और गौरी के उपासक हैं[३८]। लिङ्ग पुराण का निर्देश वायु पुराण के ही समान है। इसके अनुसार भद्राश्व-वासियों के जीवन को शिव की अनुकम्पा से स्फूर्त्ति मिलती है[३९]। कूर्म पुराण का सामान्य विवरण तो लिङ्ग पुराण के समान ही है, पर इसके एतद् विषयक श्लोक में शिव का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें केवल इतना ही कहा गया है कि भद्राश्व के निवासियों का जीवन अन्न पर निर्भर है[४०]।

उपर्युक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि—(१) विष्णु पुराण के द्वितीय अंश में स्थल-प्रक्षेप उस काल-विशेष में हुआ, जब कि अनेक पुराण संकलित हो चुके थे तथा पुराण-संरचना का सामान्य विकास उत्तरकालीन धार्मिक तत्त्वों के आलोक में हो रहा था। (२) ये उत्तरकालीन तत्त्व, विष्णु पुराण के अतिरिक्त अन्य प्राथमिक पुराणों में भी, इन ग्रन्थों के समरूप प्राथमिक स्थलों में परस्पर-पृथक् सम्प्रदायोचित अधिष्ठातृ-देवता के स्वरूप-समाहार का परिचय देते हैं। अतएव, स्थल-प्रक्षेपक प्रवृत्तियों में प्रमुख स्थान सम्प्रदाय-विशिष्ट क्रिया-कलापों को ही दिया जा सकता है। (३) पौराणिक प्राथमिक वर्ण्य-विषय, प्रारम्भिक पुराणों में यदि मूल स्तर से असम्पृक्त हैं, तो प्रायः उत्तरकालीन रचनाओं में याथातथ्य रूप में सुरक्षित

---

३६. ब्रह्माण्ड पु०, २।१६।३०

३७. मार्कण्डेय पु०, ५५।१०; विष्णु पु०, २।२।५०; विष्णु पुराण में हयशिरा पाठ मिलता है।

३८. वायु पु०, ५२।३०

३९. लिङ्ग पु०, ५२।१४

४०. कूर्म पु०, ४७।२

हैं। इससे ऐसी प्रतीति होने लगती है कि स्थल-प्रक्षेप की पृष्ठभूमि में निहित उद्देश्य पुराण-संरचना का विकास उतना नहीं था, जितना कि उत्तरकालीन धार्मिक मान्यताओं को पूर्वकालीन रचनाओं में समाहृत कर इन्हें अतीतकालीन मूल काया का अभिन्न अवयव सिद्ध करना।

विष्णु पुराण के आलोचित अंश के उत्तरकालीन परिवर्द्धन का अनुमान इसमें प्रयुक्त किये गये विष्णुपद एवं विष्णुपाद जैसे शब्दों के आधार पर भी लगाया जा सकता है। दोनों ही शब्द समानार्थक हैं, पर भिन्न अध्यायों में प्रयुक्त मिलते हैं। इन्हें गंगा नदी का स्रोत बताया गया है। विष्णुपाद का उल्लेख भूमिसंस्थान-विवरण में तथा विष्णुपद का निर्देश ज्योतिश्चक्र-निरूपण में हुआ है[४१]। इस सन्दर्भ में तीन महत्त्वपूर्ण तर्कों को प्रस्तुत किया जा सकता है। एक तो, यह कि इन दोनों शब्दों के समानार्थक और समान-प्रसंगीय प्रयोग द्वारा संकलनकर्ता ने वर्णन-संतुलन का निर्वाह किस सीमा तक किया है। दूसरे, दोनों शब्दों तथा इनके स्थलों में प्राथमिकता किसे दी जा सकती है। तीसरे; वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय पुराणों के समस्थलीय विवरण में इन शब्दों का व्यवहार किस अर्थ और प्रसंग में किया गया है। इन तीनों पृच्छाओं के सम्मिलित आलोक में यही कह सकते हैं कि दोनों शब्दों का एक ही अंश के दो विवरणों में व्यवहार होना उतना नहीं खटकता है, जितना कि दोनों शब्दों से एक ही निर्देश का ज्ञापन कराना। भुवनकोश-विवरण में गंगा नदी का उल्लेख अन्य तीन पुराणों ने भी किया है। इनके स्थल विष्णु पुराण के समानार्थक विवरण प्रस्तुत करते हैं। इससे वर्णन की मौलिकता सिद्ध हो जाती है। सामान्य विचार से भी गंगा का उल्लेख भुवनकोश-विवरण में होना संगत प्रतीत होता है। ज्योतिश्चक्र-निरूपण में वायु पुराण और विष्णु पुराण के स्थलों में मूलभूत समानता दिखाई देती है[४२]। प्रस्तुत विवरण में दोनों पुराणों ने भिन्न-भिन्न ग्रहों और नक्षत्रों की गति एवं परस्पर सन्निकर्ष और विप्रकर्ष का निरूपण किया है। विष्णुपद का निर्देश भी इन दोनों ग्रन्थों में ग्रह-व्याप्त शून्य की एक विशेष स्थिति के लिये हुआ है। पर, जब कि विष्णु पुराण ने विष्णुपद को गंगा का उद्भव मानकर एक बार फिर भुवनकोश में निबद्ध गांगविवरण को यहाँ दुहराया है, वायु पुराण केवल विष्णुपद का उल्लेख करता है। गांगविवरण के विषय में

४१. विष्णु पु०, २।२।३३; २।८।१०८

४२. तुलना के लिये द्रष्टव्य, विष्णु पु०, २।८।८९-९८ तथा वायु पु० ४९।२१४-२२१

वायु पुराण यहाँ मौन है। वायु पुराण के समान ही स्थल-योजना ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलती है। यह ग्रन्थ भी विष्णुपद को ज्योतिश्चक्र-आवर्तन की केवल एक विशेष स्थिति मानता है। गंगा एवं विष्णुपद के सम्बन्ध के विषय में यह पुराण भी मौन है[४३]। इससे लगता है कि पुराण-संरचना में गांगविवरण का स्थान भूमिसंस्थान अथवा भुवनकोश का विवरण है, न कि ज्योतिश्चक्र का। अतएव, वर्णन की पुनरावृत्ति तथा अन्य पुराणों के स्थल-निर्देश एवं वर्ण्य-विषय की व्यवस्था की दृष्टि से ज्योतिश्चक्र के स्थलों में गंगा का विवरण उत्तरकालीन संयोजन ही माना जा सकता है। ऐसा संयोजन किस प्रवृत्ति की प्रेरणा के अनुसार तथा किन परिस्थितियों में किया गया होगा, इसका उत्तर वक्ष्यमाण समीक्षा के आलोक में दिया जा सकता है। विष्णुपद तथा विष्णुपाद, इन दोनों में पहले शब्द का प्रयोग प्राचीन है। ऋग्वेद[४४] में उस परम विष्णुपद का वर्णन है, जिसे ऋषि ने माधवी स्रोत की विशिष्टता से संबंधित वर्णित किया है। इस वैदिक वर्णन की परंपरा को परिवर्द्धित करने के लिये पौराणिकों ने स्वभावतः विष्णुपद को गंगा का स्रोत सिद्ध किया, जिसके जल को पार्थिव एवं धार्मिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय एवं पवित्र माना जाता था। प्राथमिक पौराणिक संरचना में प्रथमतः विष्णुपद को ही ग्रहण कर इसे गंगा का स्रोत बताया गया, इसकी पुष्टि भागवत के स्थलों द्वारा होती है। विष्णु पुराण की भाँति ही भागवत में भी इसके एक ही स्कन्ध में भुवनकोश तथा ज्योतिश्चक्र, दोनों का उल्लेख किया गया है। पर, गांगवर्णन भुवनकोश के स्थलों में ही प्राप्त होता है। इन्हीं स्थलों में गंगा का उद्भव विष्णुपद से वर्णित किया गया है। शब्द की प्राचीनता तथा वर्णन के संतुलन की दृष्टि से भागवत की स्थल-व्यवस्था विष्णु पुराण की अपेक्षा प्राचीन मानी जा सकती है। प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण के भुवनकोश-प्रसंग में मूल शब्द विष्णुपद ही था, पर विष्णु के चरणों से गंगोद्भव के आख्यान के प्रकाशित होने के उपरान्त किसी उत्तरकालीन संकलनकर्त्ता ने इसी तात्पर्य का बोध कराने के लिये मूल शब्द का स्वरूप बदलकर इसे विष्णुपाद बना दिया। किन्तु, वह मूल वर्णन-व्यवस्था भी सजीव रखना चाहता था, अतएव गंगा नदी के विवरण को उसने ज्योतिश्चक्र-विवरण में जोड़ दिया। इस संयोजन में सुगमता भी थी, क्योंकि ज्योतिश्चक्र-विवरण में विष्णुपद का निर्देश पहले से ही विद्यमान था।

---

४३ ब्रह्माण्ड पु०, २।२१।१६५-१७६

४४. ऋग्वेद, १।१५४।५

विष्णु पुराण में स्थल-प्रक्षेप के प्रमाण इस ग्रन्थ के तृतीय अंश में भी उपलब्ध होते हैं* । प्रस्तुत अंश का एक महत्त्वपूर्ण विवरण मायामोह का आख्यान है (अध्याय १४ तथा अध्याय १५)[४५] । जिन वरिष्ठ विद्वानों ने इस विवरण की तिथि-विषयक समीक्षा प्रस्तुत किया है उनमें विलसन, पार्जीटर तथा हाज़रा के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। विष्णु पुराण के विशद अनुवाद की पांडित्य-गर्भित टिप्पणी में विलसन महोदय ने मायामोह-आख्यान में वर्णित 'नग्न' और 'अर्हंत' शब्दों तथा अहिंसा-अनुयायियों के निर्देश पर विशेष बल दिया है। इनकी समीक्षा के अनुसार विष्णु पुराण का संकेत ग्यारहवीं और बारहवीं शती में सक्रिय, पश्चिम-भारत के जैन धर्म की ओर है। अतएव इसी कालावधि के अंतर्गत विष्णु पुराण की तिथि का भी निर्णय संगत लगता है[४६] । पार्जीटर की समीक्षा के अनुसार 'अर्हंत' आदि शब्दों का तात्पर्य जैन एवं बौद्ध, दोनों धर्मों से है। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण का काल पाचवीं शती के उपरान्त ही माना जा सकता है, जब कि ब्राह्मण-धर्म का प्रतिक्रियात्मक स्वरूप अपनी प्रमुखता को प्राप्त कर चुका था[४७] । इस संदर्भ में हाज़रा महोदय की समीक्षा अधिक सारगर्भित एवं विचारणीय है। इनकी समीक्षा का सर्वोत्कृष्ट पक्ष यह है कि विष्णु पुराण के मायामोह-आख्यान को इस ग्रन्थ का मूल अंग नहीं माना जा सकता है। अतएव, इसके आधार पर विवरण-विशेष का ही समय निश्चित करना उचित है, न कि पूरे विष्णु पुराण का। इस विवरण के प्रक्षिप्तांश होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह दिया गया है कि इसमें बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया है; पर इस पुराण में वैष्णव अवतारों की जो तालिका मिलती है, उसमें बुद्ध का निर्देश नहीं है। हाज़रा महोदय का निष्कर्ष यह है कि विष्णु पुराण में उल्लिखित मायामोह का आख्यान, मत्स्य पुराण के तत्प्रासंगिक विवरण की अपेक्षा उत्तरकालीन है। मत्स्य पुराण का विवरण चतुर्थ शती के

---

* प्रस्तुत विवेचन लेखक के 'डेट ऑफ़ विष्णु पुराणस् चैप्टर्स ऑन मायामोह-लीजेण्ड' (द्रष्टव्य, पुराण-पत्रिका, भाग ७, अंक २, जुलाई १९६६) पर आधारित है।

४५. भागवत, ५।१७; ५।२२

४६. विष्णु पुराण-अनुवाद, भाग ३, पृ० २७०, पा० टि०, १ द्रष्टव्य, प्रबन्ध-पृष्ठांक ३८५-३८७ (परिशिष्ट)

४७. पार्जीटर, वही, पृ० ६८,८०

प्रथमांश में रखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण में उपलब्ध मायामोह-आख्यान का रचना-काल चतुर्थ शती के उपरान्त ही मानना उचित है[४८]।

हाज़रा महोदय के मत की आदरणीयता को स्वीकार करते हुये यहाँ कुछ ऐसे तथ्यों को प्रस्तुत करना अतीव आवश्यक सा लगता है, जिन पर इन विद्वान् ने ध्यान नहीं दिया है। मत्स्य पुराण में मायामोह-आख्यान का वर्ण्य-विषय है रजिपुत्रों का क्रिया-कलाप। रजिपुत्र इतने शक्तिशाली हो गये थे कि उन्होंने स्वर्गीय राज्य पर भी अधिकार कर लिया था, जिसके फलस्वरूप इन्द्र पद-च्युत हो गये। इस विवश परिस्थिति में इन्द्र ने बृहस्पति से सहायतार्थ याचना की। बृहस्पति ने अनेक क्रियाओं एवं अनुष्ठानों द्वारा इन्द्र की शक्ति को अभिवृद्ध किया। उन्होंने रजिपुत्रों को पथ-भ्रष्ट एवं निर्बल बनाने के लिये उन्हें वेद-विरोधी, 'जिन' धर्म की शिक्षा दिया। इसके परिणाम में इन्द्र के शत्रु पराजित हुये तथा इन्द्र को अपना राज्य मिला[४९]। अपनी समीक्षा में हाज़रा इस बात पर बल देते हैं कि मत्स्य पुराण का यही आख्यान हरिवंश और देवी भागवत के स्थलों में उद्धृत है, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में इन्द्र-शत्रु में व्यामोह उत्पन्न करने वाले बृहस्पति ही माने गये हैं[५०]। यदि मत्स्य पुराण में वर्णित मायामोह-आख्यान की तुलना, विष्णु पुराण के तद्विषयक आख्यान से की जाय तो यही निष्कर्ष निकल सकता है कि पहले ग्रन्थ में विवरण का स्वरूप दूसरे की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार हाज़रा ने विष्णु पुराण के इन स्थलों के तिथि-विषयक जिस आधार का संदर्भ दिया है, उसके प्रति संदेह नहीं किया जा सकता है। पर, वक्ष्यमाण स्थिति के कारण यह समीक्षा पूर्ण नहीं मानी जा सकती। इन्होंने विष्णु पुराण के जिस मायामोह-आख्यान (विष्णु पुराण, ३।१४,१५) का विवरण दिया है और जो इनके द्वारा निर्देशित महत्त्वपूर्ण आधार के आलोक में वस्तुतः मत्स्य पुराण-अंतर्गत विवरण की अपेक्षा उत्तरकालीन है, उसके अतिरिक्त भी अंशान्तर में (४।६) विष्णु पुराण ने मायामोह-आख्यान का पूर्वांश से पृथक् विवरण दिया है। यह विवरण अपने आकार-प्रकार में मत्स्य पुराण में वर्णित आख्यान के समान ही उल्लिखित है। अतएव, विष्णु पुराण-अंतर्गत एतद् विषयक स्थलों की समीक्षा उसी दशा में औचित्य-पूर्ण एवं तथ्य-संगत मानी जा सकती है, जब कि प्रस्तुत विवरण को भी तुलनात्मक विवेचन का अंग बनाकर चला जाय। तिथि-विषयक आलोचना की दृष्टि से यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा यही की जा सकती

---

४८. हाज़रा, पुराणिक रेकर्ड्स, पृ० २४-२५
४९. मत्स्य पु०, २४।४३-४९
५०. द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० २५

है कि (१) विष्णु पुराण के इन दोनों आख्यानों को समकालीन अथवा मूल पुराण का अंग माना जाय; अथवा (२) एक को दूसरे की अपेक्षा पूर्वकालीन माना जाय; अथवा (३) दोनों को दो भिन्न विषयों का निर्वाहक माना जाय। इस जिज्ञासा-त्रय के तीसरे पक्ष से ही प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा किया जाय तो प्रतीत होगा कि दोनों आख्यानों में पात्र-चयन की भिन्नता अवश्य है, पर वर्णन-विषय समान है। एक (अंश ४) में आख्यान का नायकत्व बृहस्पति के स्वरूप में सन्निहित है तो दूसरे (अंश ३) में आख्यान के नायकत्व का सन्निधान वैष्णव देवता के अवतार में किया गया है। पर, विषय दोनों के ही समान हैं, क्योंकि दोनों में ही दैवी तत्त्व के क्रिया-चातुर्य द्वारा आसुरी-तत्त्व का पराजय दिखाया गया है। पहले तथा दूसरे पक्ष का जहाँ तक संबंध है, इनके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आख्यान के दो विवरण एक ही संकलनकर्त्ता की लेखिनी से उद्भूत नहीं माने जा सकते। विवरण-द्वय को काल-भेद से सहज रूप में समाहित करना पड़ेगा। इनमें चतुर्थ अंश का विवरण मत्स्य पुराण तथा हरिवंश में प्राप्त होता है[५१], जो साम्प्रदायिक प्रभाव से मुक्त भी है; अतएव काल-विषयक प्राथमिकता भी इसी विवरण को प्रदान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक सम्भावना इसी बात की लगती है कि मायामोह-आख्यान का मूल रूप विष्णु पुराण में पहले से विद्यमान था; पर कालांतर में इसी आख्यान के वैष्णव रूपांतर का प्रकाशन होने पर, प्रचार और प्रामाणिकता की दृष्टि से इसे दो नवीन अध्यायों में निबद्ध कर विष्णु पुराण का ही अंग बना लिया गया।

उल्लेखनीय है कि मायामोह-आख्यान का एक विशिष्ट स्वरूपान्तर पद्म पुराण में भी प्राप्त होता है। इसकी विशेषता इस दृष्टि से है कि इसमें आख्यान के दोनों विवरणों को सम्मिश्रित कर एक नया आकार लाने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें आख्यान का कलेवर अन्य पुराणों के तद्विषयक वर्णन की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इस सन्दर्भ में हाज़रा महोदय का विचार है कि पद्म पुराण-अंतर्गत विवरण विष्णु एवं मत्स्य पुराणों पर आधारित है। इस कथन में निहित तर्क को मान्यता देते हुये, वस्तुस्थिति की समीक्षा एक अन्य दृष्टि से भी की जा सकती है। पूर्वगामी अनुच्छेद में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि हाज़रा महोदय ने विष्णु पुराण-अन्तर्गत मायामोह-आख्यान के पूर्वकालीन रूप पर ध्यान नहीं दिया है। अतएव, ऐसी विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है कि अन्ततः किस परिस्थिति-विशेष में इस पुराण में प्रस्तुत आख्यान के स्वरूपान्तर का समावेश किया

---

५१. इस विवरण की समीक्षा के लिये द्रष्टव्य, हाज़रा, वही, पृ० २५

गया था। आख्यान के अन्तर्गठन तथा विवरण से यही स्पष्ट होता है कि इसका स्वरूप-संवरण एवं एक प्राथमिक पुराण ग्रन्थ में सन्निवेश सम्प्रदायोचित प्रवृत्तियों की प्रेरणा में हुआ था। इसके प्राथमिक रूप में देवगुरु बृहस्पति के कर्म-कौशल का सन्निधान था, जिसे वैष्णव आवरण देने के लिये नवीन आख्यान में गुरु के स्थान पर वैष्णव धर्म के प्रमुख देवता विष्णु के ही देवोचित कौशल को प्रकाश में लाया गया। विष्णु और पद्म पुराणों में आख्यान के सन्निवेश-स्थल तथा वर्णन-व्यवस्था के आधार पर यदि प्रस्तुत विवेचन की समीक्षा किया जाय तो ऐसी सम्भावना आपत्तिजनक प्रतीत होती है कि विष्णु-पुराणान्तर्गत मायामोह का वैष्णव स्वरूप पद्म पुराण का पूर्ववर्ती है। स्थिति को सुस्पष्ट करने के लिये वक्ष्यमाण प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। (१) पद्म पुराण के विवरण (सृष्टि खण्ड, अध्याय १३) में आख्यान के प्राथमिक एवं वैष्णव दोनों ही स्वरूपों को संश्लिष्ट कर एक ही साथ वर्णित किया गया है। वैष्णव आख्यान इस ग्रन्थ में एक बार पुनः भूमिखण्ड अध्याय ३६-३९ में भी प्राप्त होता है। इसके विवरण में न तो कोई व्यवस्था और न अन्विति ही दिखाई देती है। इसका सबसे अधिक खटकने वाला शैली-दोष यह है कि वैष्णव आख्यान का पृथक् अस्तित्व स्पष्ट ही नहीं हो पाता, जब तक कि यह पहले से ही मानकर न चला जाय कि दोनों वर्णन परस्पर-पृथक् हैं। इस दोष का सम्यक् परिहार विष्णु पुराण में किया गया है, जिसमें दोनों विवरण दो परस्पर-पृथक् स्थलों में सन्निवेशित हैं। इसमें वैष्णव आख्यान का पार्थक्य भी सिद्ध हो जाता है तथा इसके अतिरिक्त ऐसी स्थल-योजना द्वारा वैष्णवों का यह सम्भावित उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध वस्तुतः वैष्णव अवतार थे। प्रतीत होता है कि सृष्टि-खण्ड के शैली-दोष को दूर करने के लिये ही, इसमें आख्यान-द्वय के सन्निवेश के उपरान्त विष्णु पुराण की स्थल-योजना के अनुकरण में पद्म पुराण के संकलनकर्त्ता को एक बार फिर भूमि-खण्ड में वैष्णव आख्यान को निरूपित करना पड़ा। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण के स्थलों को सृष्टि-खण्ड का नहीं अपितु भूमि-खण्ड का पूर्ववर्ती मानना संगत लगता है। (२) उक्त सम्भावना की यथार्थता तृतीय अंश के ही अध्याय ६ की उपलब्ध योजना द्वारा स्पष्ट हो जाती है। इसकी समीक्षा से यह व्यक्त होता है कि विष्णु पुराण के मूल रूप को उत्तरकालीन वैष्णव-सम्मित परम्परा के अनुसार संवारने की चेष्टा की गई थी तथा विष्णु पुराण का मायामोह-आख्यान पद्म पुराण की संस्करण-समाप्ति के उपरान्त संकलित हुआ था। आलोच्य अध्याय के विषय में विलसन महोदय ने यह पहले ही निर्देशित कर दिया था कि इसका संकलन उत्तरकाल में हुआ होगा, क्योंकि इसमें अष्टादश-पुराण की तालिका

प्राप्त होती है। इनकी समीक्षा के अनुसार प्रस्तुत अध्याय में अष्टादश-पुराण का सन्दर्भ मिलना विष्णु पुराण के मूल संस्करण में स्थल-प्रक्षेप का एक प्रमाण माना जा सकता है[५२]। विलसन महोदय के कथन के साथ यहाँ इतना और अधिक कहा जा सकता है कि स्थल-प्रक्षेप की पृष्ठभूमि में वैष्णवमत-प्रकाशन की प्रवृत्ति क्रियाशील थी, जिसका याथातथ्य-बोधक श्लोक संख्या २७ है। प्रस्तुत श्लोक में वर्णित है कि विष्णु पुराण में निरूपित सर्ग, प्रतिसर्ग तथा मन्वन्तरादि के विषय विष्णु हैं (सर्गे च प्रतिसर्गे च वंशमन्तरादिषु कथ्यते भगवान्विष्णुरशेष्वेव सत्तम)। यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत श्लोक के गठन में पूर्वाकालीन सामान्य रूप को साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्त्तित करने की चेष्टा हुई है। स्मरणीय है कि संकलनकर्त्ता ने एक समीपवर्ती श्लोक ही (श्लोक संख्या २५) में पुराण के सामान्य रूप को समझाते हुये अतीतकालीन पुराण-पंचलक्षण का भी निर्देश किया है। इसी के पूर्ववर्ती श्लोक (श्लोक संख्या २४) में उसने इस बात पर भी बल दिया है कि ये लक्षण सभी पुराण में मिलते हैं, पर विष्णु पुराण की विशेषता यह है कि इसमें (श्लोक संख्या २६-२७) विष्णु का संकीर्त्तन किया गया है। इन निर्देशों के आलोक में अध्याय ६ का उत्तरकालोचित-संकलन होना तो सिद्ध होता ही है, इसके अतिरिक्त निम्नांकित दो बातों के कारण संकलनकर्त्ता की योजना-शैली में पद्म पुराण की विशिष्टता भी व्यक्त हो जाती है—एक तो, पुराण-तालिका में अन्य पुराणों के साथ पद्म पुराण स्पष्ट उल्लिखित है; दूसरे, संकलनकर्त्ता ने विष्णु पुराण की अपेक्षा आनुक्रमिक प्राथमिकता देते हुये पद्म पुराण का उल्लेख अनुवर्ती श्लोक में भी किया है। ऐसी स्थिति में यह सम्भावना नितान्त संगत सी लगती है कि जिस संकलनकर्त्ता ने प्रस्तुत अध्याय को विष्णु पुराण के मूल संस्करण में संयोजित किया, वैष्णव मत-विशिष्ट मायामोह-आख्यान का संकलन भी उसी ने किया था। दोनों विवरणों की प्रेरणात्मक प्रवृत्ति में तो समानता दिखाई ही देती है, इसके अतिरिक्त इनका संकलन-काल भी पद्म पुराण का अनुवर्ती प्रतीत होता है।

विष्णु पुराण-गत स्थल-प्रक्षेप का प्रमाण तृतीत अंश, अध्याय ४ की समीक्षा के आधार पर भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अध्याय के अधिकांश श्लोक गठन, स्वरूप और तात्पर्य की दृष्टि से, वायु पुराण के तद्विषयक श्लोकों के समान चलते हैं। किन्तु; जब कि वायु पुराण ने इस सन्दर्भ में वर्णन की मौलिकता को सुरक्षित रखा है, विष्णु पुराण में उत्तरकालीन धार्मिक प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। दोनों पुराणों ने ऋषि कृष्णद्वैपायन तथा उनके सुयोग्य शिष्यों

---

५२. विलसन, वही, भूमिका, पृ० १३

के वेद-संकलन, वेद-संरक्षण तथा वेद-विस्तार के प्रति योगदान का उल्लेख किया है। पर, विष्णु पुराण ने स्वविवरण में महाभारत का भी सन्दर्भ दिया है, वायु पुराण इस विषय में मौन है[५३]। इससे प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण में विवरण-संकलन उस समय किया गया, जब कि महाभारत का अंतिम सम्पादन हो चुका था। वायु पुराण का विवरण महाभारत का पूर्ववर्ती ही माना जायगा, जिसका संकलन एवं प्रचार महाभारत के स्थलों में स्पष्ट किया गया है[५४]। तीनों ग्रन्थों की तिथि-विषयक तुलनात्मक दृष्टि से विष्णु पुराणान्तर्गत स्थल; वायु पुराण एवं महाभारत, इन दोनों की अपेक्षा उत्तरकालीन सिद्ध होता है। विष्णु पुराण के इसी विवरण में कृष्णद्वैपायन को स्वयं नारायण उद्घोषित किया गया है[५५]। तिथि-निर्धारण की दृष्टि से यह विवरण उपयोगी है, क्योंकि इसमें अवतारवाद के विकास का एक विशिष्ट स्तर सन्निहित मिलता है। हाज़रा की समीक्षा से विदित होता है कि पुराण-विवेचित वैष्णव अवतार के निम्नांकित तीन स्तर हैं—पहले स्तर पर विष्णु के अल्पांश अवतार का परिकल्पन है, दूसरे स्तर पर अंशावतार को व्यक्त किया गया है तथा तीसरे स्तर पर अवतरण में विष्णु का पूर्ण तादात्म्य परिकल्पित मिलता है[५६]। प्रसंगतः यहाँ उल्लेखनीय है कि वायु पुराण के प्रस्तुत विवरण में ही कृष्णद्वैपायन को विष्णु का अंश कहा गया है[५७]। यदि हाज़रा द्वारा निर्देशित तीनों स्तरों से इन वायु और विष्णु पुराणों के विवरण को सम्बद्ध किया जाय तो इन्हें क्रमशः दूसरे तथा तीसरे स्तर से समाहित करना पड़ेगा, क्योंकि एक में कृष्ण-द्वैपायन को अंशावतार-मात्र माना गया है, पर दूसरे में विष्णु का इनसे पूर्ण तादात्म्य स्थापित किया गया है। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण के विवरण का रचना-काल वायु पुराण के तद्विषयक विवरण के उत्तरकाल में ही रखा जा सकता है।

विष्णु पुराण-वर्णित मायामोह-आख्यान की काल-सीमा के संतोषजनक निर्धारण के लिये, इसकी समीक्षा भागवत के तत्प्रकरणीय स्थलों के आलोक में की जा सकती है। जैसा कि एक पूर्वगामी अनुच्छेद में आलोचित किया जा चुका

---

५३. विष्णु पु०, ३।४।५-७; वायु पु०, ६०।२-१२

५४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ५४

५५. कृष्णद्वैपायनं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
कोऽन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद्भवेत्॥ विष्णु पु०, ३।४।५

५६. हाज़रा, वही, पृ० २२

५७. अस्मिन् युगे कृतो व्यासः पराशर्यः परन्तपः।
द्वैपायन इति ख्यातो विष्णोरंशः प्रकीर्त्तितः॥ वायु पु०, ६०।११

है, इन दोनों पुराण-ग्रन्थों में अनेक विवरण समान प्रकार के मिलते हैं; अतएव इस आधार पर कतिपय विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ग्रन्थ का दूसरे पर आभार है। सामान्यतया यही माना गया है कि विष्णु पुराण के स्थल स्रोतभूत हैं, जिनको भागवत में विस्तार देने का प्रयास किया गया है। इस विवेचन की महत्ता तथा प्रस्तुत प्रकरण में प्रयोजनीयता की दृष्टि से यह पुनः उल्लेखनीय है कि विवरण का मात्र संक्षिप्त होना उसके पूर्वकालिक प्रणयन का परिचायक नहीं हो सकता है, जब तक कि यह न सिद्ध हो जाय कि विवरण-विशेष में निबद्ध संस्कृति के पोषकभूत तत्त्व भी पूर्वकालिक ही हैं। पुराण-स्थल के काल-निर्णय में इस आधारभूत पहलू के आलोक में हम यह देख चुके हैं कि भागवत में निरूपित भरताख्यान विष्णु पुराण के तद्विषयक स्थल की अपेक्षा पूर्वकालिक प्रतीत होता है। इस आख्यान, के वैष्णव रूपान्तर के सन्दर्भ में भागवत के स्थल मौन हैं। इसका जो स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्त होता है, उसमें आख्यान का वही सरल विवरण निबद्ध है, जिसका उल्लेख मत्स्य पुराण में हुआ है। इसकी समानता विष्णु पुराण के अंशान्तर में उल्लिखित विवरण से भी दिखाई देती है। यदि स्थल-आकार की दृष्टि से इसकी समीक्षा करें तो प्रतीत होगा कि विष्णु पुराण की अपेक्षा यह संक्षिप्त भी है। जब कि विष्णु पुराण का एक पूरा अध्याय ही इस आख्यान का वर्णन देता है; भागवत में समग्र विवरण केवल पाँच श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया गया है[५८]। ऐसी स्थिति में निम्नांकित विचारणीय तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं—(१) स्वरूप-सरलता के कारण भागवत में वर्णित आख्यान पुराण-संरचना के पूर्वकालिक स्तर को ही व्यक्त करता है। (२) इसका विवरण संक्षिप्त अवश्य है किन्तु, मात्र संक्षिप्त होने के आधार पर ही तिथि-विषयक कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं लिया जा सकता। यह सम्भव है कि इसके संकलनकर्त्ता ने स्वरुचि-वैशिष्ट्य के अनुसार अन्य पुराणों में उपलब्ध विस्तृत विवरण को संक्षिप्त कर इसमें आकार-लाघव विन्यस्त करने का प्रयास किया हो। (३) भागवत का सरल विवरण विष्णु पुराण के सम्प्रदाय-सम्मित विवरण की अपेक्षा प्राचीन है। अतएव, विष्णु पुराण की स्थल-रचना उस समय-विशेष से सम्बद्ध की जा सकती है; जब कि भागवत के एक प्रामाणिक संस्करण का सम्पादन प्रस्तुत हो चुका था।

विष्णु पुराण के आलोच्य स्थलों की कालविषयक समीक्षा के लिये वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के विवरण भी उपादेय प्रतीत होते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में विष्णु पुराण-वर्णित मायामोह-आख्यान तो नहीं मिलता; पर, स्थल-संबंधी समता

५८. भागवत, ६।१७।१२-१६

के कतिपय महत्त्वपूर्ण तत्त्व अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। उल्लेखनीय है कि यद्यपि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में अन्यथा अनेकत्र उत्तरकालीन स्थल मिलते हैं, तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में इन ग्रन्थों ने स्थल-मौलिकता का निर्वाह निश्चय के साथ किया है। ऐसी सम्भावना की यथार्थता का स्पष्टीकरण इन दोनों पुराणों में निर्देशित 'नग्न' शब्द की व्याख्या द्वारा होता है। प्रतीत होता है कि इनमें 'नग्न' शब्द का व्यवहार सरल अर्थ में हुआ है। इस शब्द के तात्पर्य को समझाते हुये इनमें वर्णित है कि उन व्यक्तियों को नग्न का अभिधान दिया जा सकता है, जो मोहवश वेदाध्ययन का परित्याग करते हैं। इनके उल्लेखानुसार वेदत्रयी जगत् का संवरण है, इसका परित्याग करने वाले नग्न व्यक्तियों को श्राद्ध में निमंत्रित करना उचित नहीं है[५९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के स्थलों का महत्त्वपूर्ण एवं ध्यातव्य पक्ष यह है कि इन्होंने जिस श्राद्ध-विषयक वर्णन में नग्न का सन्दर्भ दिया है, वहीं पर इसके तात्पर्य को समझा भी दिया है। दोनों ही वायु-प्रोक्त पुराणों में वर्णनैक्य का होना भी इनके स्थल की मौलिकता का परिचय देता है। विष्णु पुराण की वर्णन-व्यवस्था इनसे भिन्न है। इसमें एक अध्याय में तो नग्न शब्द का उल्लेख-मात्र हुआ है और वह भी वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान-विषयक विवरण में, तथा अध्ययान्तर में नग्न शब्द की व्याख्या दी हुई है[६०]। इसकी व्याख्या का बोधक श्लोक गठन और ध्वनि की दृष्टि से वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान ही है। पर, विशेषता यह है कि दूसरे अध्यायों में इसी श्लोक को आधारभूत बनाकर नग्न शब्द की पुनर्व्याख्या देने के लिये संकलनकर्त्ता ने मायामोह के लम्बे-चौड़े आख्यान को भी विवृत किया है[६१]। यह अधिक सम्भव है कि विष्णु पुराण के 'नग्न' शब्द का व्याख्या-बोधक श्लोक भी वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की ही भाँति पहले श्राद्ध-विवरण में ही था। इस आधार पर विष्णु पुराण-गत मायामोह-आख्यान, वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण के रचनाकाल का उत्तरवर्त्ती ही माना जा सकता है। पर, मायामोहाख्यान को ग्रन्थ के मूल अध्यायों के साथ संयोजनार्थ इनमें पूर्व-विद्यमान नग्न शब्द को मूलस्थान से हटाकर संयोजित अध्यायों की भूमिका के ज्ञापनार्थ स्थलान्तर में निबद्ध किया होगा।

मायामोह-आख्यान के स्थलभूत विष्णु पुराण, तृतीय अंश में उत्तरकालीन हस्त-प्रक्षेप का मूल्यांकन एक अन्य दृष्टि से भी किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में

---

५९. वायु पु०, १६।२४-२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।३४-३६

६०. विष्णु पु०, ३।१६।१२,१३

६१. वही, ३।१७।५,६

श्राद्ध का उल्लेख करने वाले अध्यायों में विवरण की पूर्णता एवं विवेच्य विषय की स्पष्टता का अभाव दिखाई देता है। प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के उपलब्ध संस्करण में वे संभावित अध्याय विद्यमान नहीं हैं, जिनके कारण श्राद्ध-विवरण मूल संस्करण में स्वरूप-सम्पन्न एवं परिपूर्ण रहा होगा। ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि उत्तरकालीन संकलनकर्ता ने ग्रन्थ की मौलिक आयाम-व्यवस्था को अक्षीण रखने के लिये, नवीन स्थलों को जोड़ते समय, पुराने अध्यायों की संख्या में कमी कर दिया है। अन्य पुराणों में श्राद्ध-विवरण पर्याप्त, पूर्ण एवं विस्तृत है। उदाहरणार्थ, वायु पुराण में इनकी संख्या बारह है तथा ब्रह्माण्ड पुराण में दस। पर, विष्णु पुराण के उपलब्ध संस्करण में इनकी संख्या केवल चार है (विष्णु पु०, तृतीय अंश, अध्याय १३, १४, १५ और १६)। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के वे अध्याय, जो विष्णु पुराण में नहीं मिलते, इन ग्रन्थों में उत्तर-कालीन स्तरों पर जोड़े गये हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि ऐसे अध्यायों में न केवल आशय की सुस्पष्टता ही दिखाई देती है, अपितु इनमें प्राचीन परिवेश का चित्र भी समुपस्थित मिलता है। उदाहरण के लिये, इन्हीं अध्यायों में उपलब्ध एक महत्त्वपूर्ण श्लोक का उद्धरण दिया जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक उस श्लोक-समवाय का अंग है, जिसमें श्राद्ध-निमंत्र्य प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का विवरण निरूपित है। इसमें ऐसे 'द्विज' की ओर संकेत किया गया है, जो बार्हस्पत्य-शास्त्र का ज्ञाता हो[६२]। बार्हस्पत्य-शास्त्र का यहाँ पौराणिक मन्तव्य उस अर्थशास्त्र-परक ग्रन्थ ही से सम्भावित किया जा सकता है, जिसके रचयिता कौटिल्य के पूर्ववर्ती आचार्य बृहस्पति थे। इस आधार पर यह सहसा तो नहीं कहा जा सकता कि आलोचित श्लोक-विषयक अध्याय पूर्वकौटिल्य-काल के हैं, पर इससे पौराणिक विवरण की प्राचीनता का प्रतिपादन अवश्य हो जाता है। यदि इस विवरण के रचना-काल को जिज्ञासा का ही विषय बनाया जाय तो प्रसंग की समता के लिये भास-कृत प्रतिमा नाटक के एक महत्त्वपूर्ण स्थल का उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें प्रस्तुत पौराणिक विवरण का समता-ज्ञापक तत्त्व उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के विवरण में ब्राह्मण-वेशस्थ रावण, पितृश्राद्ध के लिये प्रस्तुत राम को प्रभावित करने के लिये स्वयं को बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र का ज्ञाता बताता है[६३]। भास की तिथि-विषयक समीक्षा के महत्त्वपूर्ण तर्कों में पुसालकर महोदय प्रतिमा-नाटक के इस स्थल पर विशेष बल देते हैं तथा बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र

---

६२. बार्हस्पत्ये तथा शास्त्रे पारं यश्च द्विजो गतः। वायु पु०, १४।५८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१५।८२

६३. प्रतिमा नाटक, अंक ५

के निर्देश के आधार पर नाटक के रचयिता को पूर्व मौर्य-कालीन भी मानते हैं[६४]। पौराणिक विवरण के रचना-काल को इतना प्रारम्भिक सिद्ध करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि विद्वत्समीक्षा[६५] के अनुसार पौराणिक-संरचना में श्राद्ध-परक स्थलों का समावेश ही मौर्य-काल की अपेक्षा बहुत बाद में हुआ था। अतएव, ऐसी स्थिति में अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में श्राद्ध-प्रसंग की प्राचीनता सुरक्षित है, पर विष्णु पुराण का तत्प्रासंगिक विवरण उत्तरकालीन संशोधन और संयोजन के परिणाम में अपने मौलिक स्तर से पृथक् हो चुका है।

विष्णु पुराण-गत श्राद्ध-विवरण अपने मौलिक रूप में सुरक्षित नहीं है, ऐसी सम्भावना का संतोषजनक समर्थन ग्रन्थ के तद्विषयक तृतीय अंश, अध्याय १६ द्वारा भी होता है। प्रस्तुत अध्याय में उन भोज्य उपकरणों का निरूपण प्राप्त होता है, जो पितरों के लिये प्रिय एवं दातव्य माने गये हैं। सामान्यतया इस अध्याय की मौलिकता के विषय में भी संदेह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि समप्रासंगिक विवरण वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में भी मिलते हैं। पर, इस सन्दर्भ में विवेचनानुकूल पक्ष यह है कि आलोच्य अध्याय में आरंभोचित आशय की पूर्णता ही नहीं स्पष्ट हो पाती, जब तक कि इसका अध्ययन पुराणान्तर के आलोक में न किया जाय। इसके अतिरिक्त इसका शैली-समाधान भी अविकल नहीं लगता, जो अन्यथा इसी पुराण के समवर्ती अन्य अध्यायों में सुरक्षित मिलता है। अन्य अध्यायों के अनुकूल जो शैली-व्यवस्था अपेक्षित है, वह है किसी नये विवरण को अध्याय में वर्णित करने के पूर्व परिचयार्थक श्लोकों का सन्निवेश। पर, प्रस्तुत अध्याय में परिचयार्थक श्लोक नहीं प्राप्त होते हैं। समीपवर्ती अध्याय १५ को ही देखें तो प्रतीत होगा कि इसका वर्ण्य-विषय है श्राद्ध में निमंत्र्य ब्राह्मणों का विवरण देना, तथा एतद्विषयक परिचय पुराणकार ने अध्याय के प्रथम श्लोक में ही दे दिया है। अध्याय १७ का वर्ण्य-विषय है नग्नाभिधान व्यक्तियों का उल्लेख करना, जिसका परिचयार्थक श्लोक अध्याय के प्रारंभ में ही वर्णित है। इससे प्रतीति यही होती है कि आलोचित अध्याय का भी कोई प्राथमिक रूप अवश्य था, जिसमें इसके विवरण का आशय-बोधक श्लोक अथवा श्लोक-समवाय पूर्व-निबद्ध था। प्रस्तुत सम्भावना का स्पष्टीकरण मत्स्य पुराण के समप्रासंगिक विवरण के आलोक में भी किया जा सकता है। व्यक्त होता है कि दोनों पुराणों का वर्ण्य-विषय एक ही है—अर्थात् उन

---

६४. पुसालकर, वही, पृ० ६५,८१

६५. हाज़रा, वही, पृ० ६

विभिन्न पशु-पक्षियों के मांस का विवरण देना, जो पितृगण की संतृप्ति का कारण माने जाते हैं। पर, दोनों की वर्णन-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण विषमता यह है कि मत्स्य पुराण में तद्विषयक विवरण को प्रारंभ करने के पूर्व ही इसका परिचय-बोधक श्लोक यथास्थान निबद्ध हो चुका है। इस सन्दर्भ में मत्स्य पुराण उल्लिखित करता है कि 'मांस से सभी पितर संतृप्त होते हैं, ऐसा केशव का वचन है[६६]'। इस प्रकार सामान्य पौराणिक वर्णन-व्यवस्था यही दिखाई देती है कि वर्णनान्तर का उल्लेख करने वाले उसी अध्याय में नया वर्णन देना हो अथवा नये वर्णन को अध्यायन्तर में निरूपित करना हो, इन दोनों ही दशा में एक ऐसा श्लोक अवश्य वर्णित रहता है जिससे अग्रिम वर्णन का परिचय-बोध हो जाता है।

समीक्षा के आधारभूत अंतरंग और बहिरंग उक्त प्रमाणों के आधार पर निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं— मायामोह-आख्यान किसी संकलनकर्त्ता द्वारा विष्णु पुराण के मौलिक अंश के मूल अध्यायों के साथ संयुक्त किया गया, जो वैष्णव धर्म का अनुयायी था। जिस स्तर पर यह वर्णन-संयोजन किया गया, वैष्णव धर्म में अहिंसात्मक प्रवृत्ति का समाहार हो चुका था। इसीलिये 'इत्याह केशवः' आदि शब्दों से मत्स्य पुराण मांसाहार को दैवी मान्यता दे रहा है, पर इस श्लोक का अथवा एतत्सम अन्य श्लोक का विष्णु पुराण में अभाव दिखाई देता है। इस प्रकार मायामोह-आख्यान के संकलनकर्त्ता ने इस वैष्णव विवरण को जोड़ते समय मूल ग्रन्थ से ऐसे श्लोकों को हटाया जिनका समाधान तत्कालीन वैष्णव प्रवृत्तियों के साथ नहीं हो सकता था तथा जिनका निराकरण करने से ग्रन्थ के संयोजित रूप की संगति इसके प्राचीन आकार-आयाम से भी बैठ सकती थी। काल-निर्धारण की दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि मायामोह-आख्यान का विष्णु पुराण में संयोजन अथवा दूसरे शब्दों में विष्णु पुराण का प्रतिसंस्करण वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और भागवत पुराणों के संस्करण-काल के उपरान्त ही प्रस्तुत हुआ होगा। इन ग्रन्थों में भागवत का काल प्रायः नवीं शती माना जाता है[६७], अतएव ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण का प्रतिसंस्करण-काल नवीं शती के उपरान्त ही रखा जा सकता है।

---

६६. मांसं प्रीणाति वै पितृनित्याह केशवः। मत्स्य पु०, १७।३०

६७. सी० वी० वैद्य, जर्नल ऑफ़ बाम्बे ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९२५, पृ० १४४; फ़र्क्यूहर, वही, पृ० २२९; पार्जीटर, वही, पृ० ८०, विन्टरनित्स, वही, भाग १, पृ० ५५६; पर हाज़रा ने भागवत का काल छठीं शती माना है, वही, पृ० ५५

विष्णु पुराण की तिथि-विषयक समीक्षा की दृष्टि से पंचम अंश भी महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। प्रस्तुत अंश में ३८ अध्याय हैं, जिनका वर्ण्य-विषय है श्रीकृष्ण-आख्यान का निरूपण। इसमें संदेह नहीं कि श्रीकृष्ण-आख्यान पौराणिक विवेचन का एक रोचक पक्ष है, तथा पौराणिक शोध-प्रक्रिया के प्रारंभिक स्तरों से ही इस आख्यान के काल-निर्धारण में विद्वानों ने अपने महत्त्वपूर्ण विचारों को प्रकट किया है। वैष्णव-परक विवरण होने के कारण स्वभावतः विष्णु पुराणान्तर्गत श्रीकृष्ण-आख्यान की आलोचना बहुधा सामान्य रूप में ही भागवत के समप्रासंगिक विवरण से की गई है। इस सन्दर्भ में विद्वत्समीक्षा का निष्कर्ष एकार्थक रूप में यही है कि विष्णु पुराण-वर्णित श्रीकृष्ण-आख्यान भागवत-निबद्ध विवरण की अपेक्षा पहले की रचना है। उक्त निर्देश सर्वप्रथम विन्टरनित्स ने किया था। इन विद्वान् ने दोनों ग्रन्थों में वर्णित आख्यान के आकार-आयाम को ही अपने रुचिकर निष्कर्ष का आधार बनाया था। विष्णु पुराण-गत आख्यान के आकार-लाघव तथा भागवत-गत आख्यान के आकार-विस्तार के अनुसार इन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि पहला ग्रन्थ दूसरे का आभार-निर्वाह द्योतित करता है[६८]। सामान्यतया इस निष्कर्ष के श्रद्धेय पक्ष को मान्यता देने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है, कारण यह है कि भागवत में यह आख्यान दो स्कन्धों के १२१ अध्यायों में विवृत मिलता है, जिसकी तुलना में विष्णु पुराण का विवरण अल्पाकार ही प्रतीत होता है। विन्टरनित्स के साथ स्वीकारोक्ति प्रस्तुत करते हुये हाज़रा ने इस सन्दर्भ में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किया है—दोनों ही ग्रन्थों में श्रीकृष्ण, विष्णु के रूपान्तर परिकल्पित किये गये हैं। पर, दोनों में दैवी तत्त्व का निर्देशन परस्पर-भिन्न है। विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण, विष्णु के अल्पांश-अवतरण हैं। इसके विपरीत भागवत-वर्णित श्रीकृष्ण, विष्णु के अंशावतार एवं पूर्ण तादात्म्य-निर्वाह का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार हाजरा की समीक्षा के अनुसार विष्णु पुराण में अवतारवाद का जो स्वरूप विवेचित है, वह भागवत की अपेक्षा पूर्ववर्ती रूप का द्योतन करता है। अतएव, इन विद्वान् की सम्मति में विष्णु पुराण का समय भागवत के रचनाकाल से पहले रखा जा सकता है[६९]। दोनों पुराणों के समस्थलीय विवरणों की काल-समीक्षा विलसन ने विष्णु पुराण की अनुवाद-टिप्पणियों में प्रसंगानुसार विवेचित किया है, जिसे आदर्श तो माना जा सकता है पर अंतिम रूप में इसे पर्याप्त नहीं कह

६८. विन्टरनित्स, वही, भाग १, पृ० ५५५

६९. हाजरा, वही, पृ० २२,५५

सकते हैं। वक्ष्यमाण विवेचन में उन अंतरंग प्रमाणों की समीक्षा मन्तव्य है, जिन पर उक्त विद्वानों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। पर, सामान्यार्थ में श्रीकृष्ण-आख्यान की पौराणिक वस्तुस्थिति एवं विशेषार्थ में विष्णु पुराण एवं भागवत के समस्थलीय तिथि-विषयक आलोचना में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

आलोचित समस्या पर वैष्णव अवतार-परिकल्पन की समीक्षा से महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है, जिसका निरूपण दोनों पुराणों के स्थलों में प्राप्त होता है। प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण के वैष्णव अवतार-ज्ञापक स्थल तीन प्रकार के हैं। पहले प्रकार के वे स्थल हैं, जो विष्णु और श्रीकृष्ण में तद्रूप-द्योतक अभेद स्थापित करते हैं। इनमें विष्णु शब्द से श्रीकृष्ण का ही ज्ञापन अभिलक्षित है[७०]। दूसरे प्रकार के स्थलो में श्रीकृष्ण, विष्णु के अंशावतार माने गये हैं[७१]। तीसरे प्रकार के स्थलों में श्रीकृष्ण का उल्लेख वैष्णव अंश-अंशावतार के रूप में किया गया है। इस सन्दर्भ में विष्णु पुराण, विष्णु के कृष्णाभ एवं शुक्लाभ केशों का उल्लेख करता है, जिनमें कृष्णाभ का अवतरण श्रीकृष्ण के स्वरूप-माध्यम से हुआ था[७२]। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि हाज़रा ने श्रीकृष्ण के जिस वैष्णव अवतरण-विषयक सन्दर्भ को विष्णु पुराण के तिथि-निर्धारण का मूलभूत साक्ष्य माना है, वह वस्तुतः इस पुराण के तत्प्रासंगिक त्रिविध विवरण का अंगमात्र है। अन्य दोनों विवरणों पर बिना विचार किये केवल एक साक्ष्य के अनुसार ज्ञापित निष्कर्ष वस्तुस्थिति की पूर्णता का परिचायक नहीं माना जा सकता है। स्मरणीय है कि विष्णु पुराण में वर्णित उक्त पहले और दूसरे क्रम के विवरण भागवत में भी प्राप्त होते हैं। अतएव ऐसी उक्ति में कोई संगति नहीं दिखाई देती है कि श्रीकृष्ण को वैष्णव अंशावतार अथवा तद्रूप मानने की प्रवृत्ति केवल भागवत-गत है, विष्णु पुराण-वर्णित नहीं। इस स्थिति में दोनों पुराणों के विवरण समस्थलीय होने के कारण इनमें निबद्ध धार्मिक परम्परा की समकालीनता का तो परिचय दे सकते हैं, पर इनसे एक की अपेक्षा दूसरे का पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती होना किसी दृष्टि से भी समर्थित नहीं हो सकता है। यहाँ विचारणीय है कि विष्णु पुराण में अंश-अंशावतार का परिकल्पन अथवा प्रकारान्तर से विष्णु के कृष्णाभ केश का श्रीकृष्ण में परिकल्पन, जिसका निर्देश भागवत नहीं करता है,

---

७०. उदाहरणार्थ, द्रष्टव्य, विष्णु पु०, ५।२०।१०५

७१. वही, ५।२२।१३; ५।२३।२६

७२. वही, ५।३७।४

अवतारवाद के क्रम में पूर्वकालीन स्तर का द्योतन करता है अथवा उत्तरकालीन स्तर का। जैसा कि पूर्वगामी अनुच्छेद में दिखाया जा चुका है, हाज़रा महोदय इसका सम्बन्ध पूर्वकालीन स्तर से करते हैं। इस सन्दर्भ में दो तथ्यों का स्पष्ट हो जाना आवश्यक प्रतीत होता है। एक तो, यह कि अंश-अंशावतार का याथातथ्य-परिचायक अर्थ क्या है ? दूसरे, सामान्यतः अंश-अंशावतार का परिकल्पन पौराणिक संरचना के किस स्तर पर किया गया था ? व्यक्त होता है कि अंश-अंशावतार शब्द-समवाय से एक ही साथ दो अवतारों की ध्वनि निकलती है, और ऐसी स्थिति में हाज़रा द्वारा मान्य अर्थ 'अतिशय न्यून भाग' संदिग्ध लगता है। इनमें एक अंश का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है तथा दूसरे का बलराम से। विष्णु पुराण का यह आख्यानात्मक कथन कि श्रीकृष्ण के साथ विष्णु का दूसरा अंशावतरण उनके शुक्लाभ केश के माध्यम से हुआ था, बलराम की ओर ही संकेत करता है[७३]। एक अन्य प्रसंग में यह पुराण स्पष्टतया वर्णित करता है कि अवतारोद्देश्य पूरा होने के उपरान्त श्रीकृष्ण, (विष्णु के) दूसरे अंश के साथ वैष्णव लोक को प्रत्यावर्तित हुये थे[७४]। भाष्यकार श्रीधर ने इस सन्दर्भ में श्लोकांतर्गत अंश शब्द का तात्पर्य बलराम, प्रद्युम्न आदि सभी से माना है[७५]। पर, ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अंश शब्द से केवल बलराम मन्तव्य हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती श्लोक में श्रीकृष्ण के साथ संयुक्त उल्लेख बलराम का ही हुआ है। अतएव, वर्णन-गठन एवं पुनरावृत्ति-परिहार की दृष्टि से पुराणकार ने सहज रूप में अंश शब्द का व्यवहार किया है, जिसके द्वारा मूलस्रोत से सहजन्मा का उद्देश्य-पूर्ति के उपरान्त सहप्रत्यावर्तन भी ध्वनित होता है। यहाँ तक तो हुआ अवतारवाद के सन्दर्भ अंश-अंशावतार शब्द के तात्पर्य का निरूपण। विवेचन की प्रासंगिता की दृष्टि से इस बात का निर्देश भी यहाँ संगत लगता है कि विष्णु पुराण के प्रस्तुत अंश के ही अध्यायान्तर में बलराम को शेष का अवतार माना गया है[७६]। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि विष्णु पुराण में अवतारवाद की द्विविध विचारधारा की संगत-विन्दु का द्योतन हुआ है। एक में बलराम शेष के अवतार वर्णित हैं और दूसरे में इनका प्रदर्शन वैष्णव अवतार के रूप में हुआ है। विवेचन का द्रष्टव्य पक्ष

---

७३. विष्णु पु०, ५।१।५९-६०
७४. वही, ५।३७।४
७५. सांश बलप्रद्युम्नादि सहितः। श्रीधरीय भाष्य
७६. विष्णु पु० ५।३६।५४

यह है कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ समकालीन हैं अथवा दोनों का सम्बन्ध परस्पर-भिन्न स्तरों से है। बहिरंग प्रमाणों के आलोक में यदि प्रस्तुत प्रश्न को सुलझाने का प्रयास किया जाय तो प्रतीत होगा कि दूसरी सम्भावना ही वस्तुस्थिति के अधिक निकट है। भागवत (५।२,८-९) में यह स्पष्ट कहा गया है कि बलराम और श्रीकृष्ण क्रमशः शेष और विष्णु के अवतार हैं। अध्यायान्तर (५।२।५) में इस ग्रन्थ ने बलराम को अनन्त का अवतार माना है। अनन्त का प्रयोग वस्तुतः शेष के नामार्थ ही होता था[७७]। समानार्थक प्रवृत्ति हरिवंश और पद्म पुराण में भी प्राप्त होती है, जिनके तत्प्रासंगिक स्थल बलराम और शेष का ही तादात्म्य व्यक्त करते हैं[७८]। इस प्रकार पुराण-कल्प और पौराणिक रचनाएँ प्रायः बलराम और शेष की ही तादात्म्य-बोधक प्रवृत्ति से परिचित प्रतीत होती हैं। जहाँ तक बलराम के वैष्णव अवतरण-विषयक भावना का सम्बन्ध है, इसके निश्चित स्थल उपपुराण-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुधर्म पुराण में बलराम का निरूपण विष्णु के अंश-द्वय के अन्तर्गत हुआ है[७९]। नरसिंह पुराण में वैष्णव अवतारों की जो तालिका मिलती है, उसमें बलराम का भी नाम सम्मिलित है[८०]। प्रसंग-वैशिष्ट्य की दृष्टि से यहाँ उल्लेखनीय है कि उपपुराण-ग्रन्थ, पौराणिक संरचना के उत्तरवर्ती स्तरों में प्रणीत हुये थे तथा कालनिर्धारण की आपेक्षिक दृष्टि से उद्धृत उपपुराण भागवत के कालोपरान्त ही विरचित माने जा सकते हैं। दूसरे, ये दोनों उपपुराण वैष्णव सम्प्रदाय-सम्मत ग्रन्थ है; जिनमें बलराम को वैष्णव अवतार मानने का उद्देश्य स्वमत-प्रकाशन प्रतीत होता है। अतएव, सम्भव यही लगता है कि जिन वैष्णव उपासकों ने वैष्णव उपपुराणों को प्रकाश में लाया; उन्होंने ही पूर्वविरचित विष्णु पुराण के मूल स्थलों में ऐसे स्थलों का सन्निवेश भी किया, जिनसे उनके मत की प्रामाणिकता को बल मिल सकता था। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराणगत श्रीकृष्ण-आख्यान में निरूपित अवतारवाद का विवरण भागवत के तद्विषयक विवरण का उत्तरवर्ती ही माना जा सकता है।

विष्णु पुराण एवं भागवत के स्थलों की आपेक्षिक तिथि-विषयक समीक्षा इन दोनों ग्रन्थों में वर्णित पारिजातहरण-कथानक के आधार पर भी की जा सकती है। यदि तिथि-निर्धारण का मूल, कथानक-आयाम को मानकर चलें तो व्यक्त होगा

---

७७. अमर कोश, १।८।४

७८. हरिवंश, विष्णु पर्व २।३१; पद्म पु०, उत्तर खंड, २८२।२७

७९. विष्णुधर्म पु०, ७६।१२७

८०. नरसिंह पु०, ३६।७-९

कि विष्णु पुराण का विवरण पर्याप्त रूप में विस्तृत है, जब कि इसकी तुलना में भागवत का विवरण नितान्त न्यून है। विष्णु पुराण का आख्यान अस्सी श्लोकों में निबद्ध है, पर भागवत में केवल दो श्लोकों द्वारा आख्यान विवृत मिलता है। अतएव, विन्टरनित्स आदि विद्वानों का यह कथन कि श्रीकृष्ण-आख्यान विष्णु पुराण में संक्षिप्त है और इसे भागवत की अपेक्षा पूर्वकालीन माना जा सकता है, प्रस्तुत कथानक के आलोक में संगत नहीं लगता। इसके अतिरिक्त पारिजात-कथानक के सन्दर्भ में दो अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। एक तो, यह कि इस कथानक का जो स्वरूप भागवत में मिलता है, वह विष्णु पुराण से कुछ भिन्न है तथा इसकी समता हरिवंश एवं पद्म पुराण के एतद्विषयक विवरण से दिखाई देती है। दूसरे, विष्णु पुराण के विवरण में वैष्णव मत की उत्तरकालीन प्रवृत्ति का निर्वाह व्यक्त है, जब कि भागवत में ऐसी कोई बात नहीं मिलती है। भागवत के अनुसार पारिजात-पुष्प का हरण श्रीकृष्ण ने सत्यभामा की उस इच्छा-पूर्त्ति के लिये किया था, जिसके अनुसार वह शची का मान-मर्दन करना चाहती थीं; क्योंकि शची ने सत्यभामा को मानवी समझकर दैवी पुष्प से उसका स्वागत नहीं किया था। सत्यभामा की प्रेरणा से श्रीकृष्ण ने इस पुष्प का बलात् हरण कर स्व-उद्यान में आरोपित किया था[८१]। कथानक का यही स्वरूप हरिवंश और पद्म पुराण में भी प्राप्त होता है। इन तीनों ग्रन्थों में मूलभूत समानता इस दृष्टि से है कि इनके स्थल पारिजात-पुष्प के वास्तविक हरण तथा पृथ्वी पर इसके आरोपण का वर्णन देते हैं। पूरे वर्णन को पढ़ने से ऐसा लगता है कि इनमें सत्यभामा के चरित्र की निर्बलता को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। कथानक के मूल तत्त्व विष्णु पुराण में, उक्त तीनों ग्रन्थों के समान ही चलते हैं[८२]। पारिजात-पुष्प के लिये सत्यभामा का सस्पृह होना, इन्द्र और श्रीकृष्ण का युद्ध तथा अन्त में श्रीकृष्ण का विजयी होना—इन विवरणों के कारण विष्णु पुराण के स्थल भागवत तथा अन्य दोनों ग्रन्थों के समस्तरीय ही प्रतीत होते हैं। पर, विष्णु पुराण की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके विवरण में सत्यभामा के चरित्र को मानवीय स्तर से ऊपर उठाने का भी प्रयास किया गया है। जिस समय युद्ध में श्रीकृष्ण विजयी होते हैं और पारिजात पुष्प-पादप उनके हस्तगत होता हैं, सत्यभामा अपना पूर्व निर्णय बदल देती हैं तथा वे ऐसी स्थिति के लिये उद्यत नहीं होती हैं कि स्वर्गीय सुमन को देव-सान्निध्य से

८१. भागवत, १०।५९।३८-३९

८२. विष्णु पु०, ५।३०

हटाया जाय[८३]। स्वर्गाधिप इन्द्र का स्वागत शची पारिजात के अभाव में करे, यह सत्यभामा के लिये सह्य नहीं है[८४]। सत्यभामा से संलाप करते समय इन्द्र उन्हें मानवी रूप में नहीं देखते हैं, अपितु देवतोचित सम्बोधन से विभूषित कर उनके समक्ष अपने विनय भाव को प्रदर्शित करते हैं[८५]। तुलनात्मक दृष्टि से, यदि भागवत एवं विष्णु पुराण के पारिजात हरण-आख्यानक को वैष्णव धर्म के आविर्भाव एवं विकास-परक सुविदित स्तरों से समाहित करने का प्रयास किया जाय तो प्रतीत होगा कि एक का विवरण सरल तथा सामान्य है; पर दूसरे के विवरण में उस पृष्ठभूमि का आभास प्रस्तुत है, जिसका पूर्ण परिपाक वैष्णवी देवी राधा के व्यक्तित्व में हुआ और जो वैष्णव आराधना की विषय बनीं[८६]। इस प्रकार विष्णु पुराण के आलोचित अध्याय में वैष्णव धर्म का उत्तरकालीन आदर्श निगूढ है, जिसकी अपेक्षा भागवत का तत्प्रासंगिक विवरण पूर्वकालीन ही माना जा सकता है।

विष्णु पुराण-गत आलोचित अंश के अध्याय ३२ एवं अध्याय ३३ में श्रीकृष्ण और बाणासुर के संग्राम का निरूपण मिलता है। प्रस्तुत कथानक का विवेचनीय पहलू यह है कि इसके अनुसार श्रीकृष्ण के विपक्षी बाणासुर की सहायता, शिव और स्कन्द ने पहुँचाई थी। समग्र विवरण के ध्वनि-परक पक्ष पर बल देते हुये, विलसन महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसके द्वारा वैष्णवों और शैवों के साम्प्रदायिक संघर्ष की यथार्थता का परिचय मिलता है[८७]। उक्त निष्कर्ष के औचित्य-निर्धारणार्थ यह आवश्यक है कि विष्णु पुराण-वर्णित कथानक की समीक्षा भागवत की तुलना में की जाय, क्योंकि श्रीकृष्ण और बाणासुर के संग्राम का विवरण भागवत में भी प्राप्त होता है। दोनों ग्रन्थों में निरूपित कथानक की समानता इस दृष्टि से है कि इनमें बाणासुर के बलावलेप, उद्धत चरित्र तथा शिवभक्ति-निरूपण में प्रायः एकार्थक स्थल प्राप्त होते हैं। एक ही विवरण में मूल कथानक के साथ-साथ ये पुराण एक

---

८३. विष्णु पु०, ५।३०।७३

८४. वही, ५।३०।७१

८५. वही, ५।३०।७८-८०

८६. भण्डारकर के अनुसार इसी प्रवृत्ति के परिणाम में वैष्णव धर्म का स्वरूप भी विकृत हुआ था, समीक्षा के लिये द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध 'ऑन कम्पेरेटिव क्रोनोलॉजी ऑफ़ दि विष्णु ऐण्ड भागवत पुराणाज़, पुराण-पत्रिका, अंक १०, भाग १, पृ० ५९

८७. विलसन, वही, पृ० ४६९, पाद टिप्पणी, ५

अवान्तर कथानक का उल्लेख भी करते हैं, जिसका वर्ण्य-विषय बाणपुत्री उषा तथा प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध का प्रणय-निर्देशन हैं। दोनों पुराणों में उक्त आशय के श्लोक प्रारंभ में ही दिये हैं, जो इनके विवरण का स्वरूप-परिचय स्पष्ट कर देते हैं[८८]। प्रतीत होता है कि यद्यपि दोनों पुराणों के विवरण प्रायः समान रूप में चलते हैं, इनके गठन में परस्पर भिन्नता दिखाई देती है। इस सन्दर्भ में भागवत की विवेच्य शैली अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित एवं गठित है, पर विष्णु पुराण में ऐसी बात नहीं मिलती है। भागवतकार ने अध्यायान्तर्गत विवरण में परिचयार्थक श्लोकों के मन्तव्य भाव का पूर्ण निर्वाह किया है तथा पौर्वापर्य संयोजन में मूल कथानक एवं अवान्तर कथानक के वर्णन-क्रम की दृष्टि से प्राथमिकता मूल कथानक को ही प्रदान किया है। इसके विपरीत विष्णु पुराण में मूल और अवान्तर कथानक का पौर्वापर्य-ज्ञापक वर्णन-क्रम सम्बद्ध और सन्तुलित नहीं है। संकलनकर्त्ता ने प्राथमिकता अवान्तर कथानक को ही दिया है, जिसके परिणाम में मूल कथानक का निरूपित स्वरूप अंगीभूत प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण-बाणासुर-संघर्ष के कथानक का मूल शैली-गठन भागवत में तो सुरक्षित है, पर विष्णु पुराण में वर्णनक्रम-विपर्यय के कारण इसे उत्तरकालीन स्थल-प्रक्षेप द्वारा प्रभावित ही माना जायगा। एतदुपरान्त विचारणीय यह है कि विष्णु पुराण के प्रस्तुत कथानक को वैष्णव-शैव साम्प्रदायिक संघर्ष का प्रमाण किस सीमा तक माना जाय। विलसन महोदय ने अपनी टिप्पणी में इस बात का अवश्य निर्देश किया है कि श्रीकृष्ण-बाणासुर-संघर्ष का विवरण भागवत में भी मिलता है। पर, इस सामान्य निर्देश के साथ-साथ यह विश्लेषण भी संगत लगता है कि ग्रन्थद्वय के विवरण में जो भिन्नताएँ प्राप्त होती हैं, उनकी पृष्ठभूमि में प्रेरक परिस्थिति कौन सी थी, तथा इनके कारण दोनों रचनाओं का काल-विषयक प्रश्न किस सीमा तक प्रभावित होता है। उल्लेखनीय है कि विलसन द्वारा प्रस्तावित निष्कर्ष विष्णु पुराण के विवरण से तो अभिव्यक्त होता है, पर एतत्समर्थक सूचना भागवत के समविषयक विवरण से नहीं मिलती है। विष्णु पुराण में निरूपित श्रीकृष्ण-बाणासुर-संघर्ष वैष्णव और शैव मतों में संघर्षात्मक प्रवृत्ति का प्रतीकात्मक प्रदर्शन है। इसके विपरीत भागवत के विवरण में वैष्णव अवतार श्रीकृष्ण द्वारा दुष्कर्मा बाणासुर के विनाश-मात्र का प्रदर्शन किया गया है। उदाहरण के लिये दोनों ग्रन्थों के कतिपय समप्रासंगिक श्लोक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। विष्णु पुराण में निबद्ध श्लोकों के वर्णनानुसार श्रीकृष्ण से

---

८८. विष्णु पु०, ५।३२।६-१०; भागवत, १०।६२।१

संघर्ष में आने के पूर्व बाणासुर शिव की आराधना में प्रवृत्त हुआ था। उसकी आराधना से परितुष्ट होने के उपरान्त शिव ने ऐसी वरदान-परक भविष्योक्ति की थी, जिसका मन्तव्य था सम्भावित संघर्ष का राक्षसों के लिये आनन्दवर्द्धक होना[८९]। इस प्रसंग में भागवत के श्लोक भिन्नार्थ-बोधक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार शिव ने यह जानने के उपरान्त कि बाणासुर श्रीकृष्ण से युद्ध करना चाहता है, उसके ऊपर क्रुद्ध हुये थे। उसे 'मूढ' का सम्बोधन देते हुये उन्होंने यह बताया कि इस युद्ध में उसका दर्प भग्न होगा, तथा इस बात पर बल दिया कि जिस व्यक्ति-विशेष से वह संघर्ष करना चाहता है, वे उनसे (शिव से) भिन्न नहीं हैं[९०]। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट हो जाता है कि एक में धर्म का समन्वयात्मक पक्ष सन्निहित है, पर दूसरे का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक है। समन्वयात्मक पक्ष के कारण भागवत का विवरण पौराणिक संरचना के प्राथमिक आदर्श के निकट रखा जा सकता है, पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण विष्णु पुराण का विवरण भागवत की अपेक्षा उत्तरवर्ती ही माना जायगा।

काल-निर्धारण की दृष्टि से विष्णु पुराण-गत आलोचित अंश के कतिपय अन्य आख्यानों एवं उपाख्यानों की समीक्षा की जा सकती है, जिनके समप्रासंगिक विवरण भागवत में मिलते हैं; पर दोनों रचनाओं के वर्णन-विस्तार में विचारणीय वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। विष्णु पुराण में निबद्ध आख्यान के अनुसार कंस को आहत करने के उपरान्त श्रीकृष्ण ने देवकी का अभिवादन किया था, जो उस अवसर पर वहीं विद्यमान थीं[९१]। इसके विपरीत भागवत के विवरण से व्यक्त होता है कि देवकी आहत-भूमि में नहीं अपितु बन्धनगृह में थीं, और इस प्रकार देवकी के मोचनार्थ श्रीकृष्ण को कंस-बध के उपरान्त आहत-भूमि से बन्धनागार में जाना पड़ा था[९२]।

---

८९. मयूरध्वजभंगस्ते यदा बाण भविष्यति।
पिशिताशिजनानंदं प्राप्स्यसे त्वं तदा रणम्।
ततः प्रणम्य वरदं शंभुमभ्यागतो गृहम्। विष्णु पु०, ५।३३।३-४

९०. तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते।
इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप। भागवत, १०।६२।१०-११/१

९१. विष्णु पु०, ५।२०।९३

९२. भागवत, १०।४४।५०

दोनों पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण का एक प्रबल विरोधी शत्रु जरासंध है, जिसे उन्होंने कई बार परास्त किया था। इसके विषय में दोनों पुराणों ने कुछ महत्त्वपूर्ण विवरण दिया है। दोनों में भिन्नता इस दृष्टि से है कि भागवत के विवरण विशद एवं विस्तृत हैं, पर विष्णु पुराण के स्थलों में तत्सम्बन्धी विवरण संक्षिप्त मिलते हैं। भागवत के विवरण में जरासंध की विशाल सेना एवं कोश की ओर भी संकेत किया गया है, तथा यह भी वर्णित है कि इसका अधिकांश भाग श्रीकृष्ण ने अपहृत कर लिया था[९३]। वर्णन-क्रम में भागवत ने इस प्रसंग को भी विवृत किया है कि सूत, मागध और वन्दिन् श्रीकृष्ण का गौरव-गान कर रहे थे, जब कि उन्होंने जरासंध के विरुद्ध विजयश्री का लाभ किया था[९४]। दोनों ग्रन्थों में वर्णित दूसरा विचारणीय आख्यान है मथुरा के नगर-निवासियों पर यवनराज द्वारा आक्रमण, जिनकी रक्षा श्रीकृष्ण ने किया था। इनके विवरण में इस बात पर बल है कि मथुरा पर यवनराज का उक्त आक्रमण अकस्मात् हुआ था, जब कि अभी श्रीकृष्ण जरासंध-संघर्ष से निवृत्त नहीं हुये थे[९५]। विवरण-विस्तार में यह भी कहा गया है कि इन प्रतिकूल परिस्थितियों से सामना करने के लिये श्रीकृष्ण ने समुद्र की ओर प्रस्थान किया और यहाँ पर उन्होंने एक सुदृढ दुर्ग का निर्माण किया। इसी दुर्ग में मथुरा के निवासी सुरक्षित हुये थे। यवन-अभियान के सन्दर्भ में भागवत के विशिष्ट उल्लेख इस प्रकार हैं। ऐसा वर्णन है कि नारद द्वारा उत्साहित किये जाने पर यवनराज ने मथुरा-नगरी पर अकस्मात् आक्रमण किया था[९६]। भागवत आक्रमणकारी यवनराज का सामान्य उल्लेख करता है। इसके विवरण में कहीं भी यवनराज का विशिष्ट नाम नहीं दिया गया है। इसी प्रसंग में भागवत ने 'यवन' के लिये 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया है[९७]। ऐसा प्रयोग विष्णु पुराण के विवरण में नहीं है। काल-विश्लेषण की दृष्टि से भागवत के आलोचित प्रसंग में 'म्लेच्छ' शब्द का व्यवहार कितना महत्त्वपूर्ण है, इसे अग्रिम अनुच्छेद में स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा। उल्लेखनीय है कि विष्णु पुराण ने इस विवरण में यवनराज के पैतृक सम्बन्ध तथा प्रारंभिक जीवन का सन्दर्भ भी दिया है। ऐसा वर्णित है कि यवनराज निःसन्तान था। शिव की अनुकम्पा से उसे पुत्र

---

९३. भागवत, १०।५०।४१-४३

९४. उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः; वही, १०।५०।३७

९५. वही, १०।५०।४४

९६. सन्दर्भ-निर्देश के लिये द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ९४

९७. भागवत, १०।५२।५

की प्राप्ति हुई। वही पुत्र कालयवन के नाम से प्रसिद्ध हुआ[९८]। इन कथानकों का उल्लेख भागवत में नहीं मिलता है। पर, भागवत के विवरण की विशिष्टता यह है कि इसमें श्रीकृष्ण के शारीरिक श्रमों, कठिनाइयों तथा एक ही साथ दो युद्धों में व्यस्त होने का निर्देश स्पष्ट रूप में किया गया है। वर्णन-क्रम में उल्लिखित है कि शत्रु से अपने प्रियजनों की सुरक्षा के लिये वे अनेक योजन तक पैदल चलते रहे तथा परित्राण के लिये उन्हें पर्वत का संश्रय लेना पड़ा था[९९]।

यदि उक्त पुराण-द्वय के कथानकों एवं आख्यानकों की समीक्षा इतिहास की परिधि में किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि आपाततः इनमें कवि-प्रसूत काल्पनिकता तथा अतिशयोक्ति का पुट अधिक है और इस प्रकार व्यक्ततः इन्हें ऐतिहासिकता का बोधक नहीं माना जा सकता है। इस सहज एवं पुराण-विशिष्ट सीमा के होते हुये भी, वस्तुस्थिति यह है कि इन आलोचित विवरणों के साम्य-द्योतक ऐसे वृत्त प्रामाणित किये जा सकते हैं, जिनकी ऐतिहासिकता सिद्ध और सुविदित है। पूर्वगामी अनुच्छेद में यह दिखाया जा चुका है कि कंस-बध तथा देवकी का बन्धन-मोक्ष एक महत्त्वपूर्ण पौराणिक वृत्त है। ऐतिहासिक साक्ष्यों में एतत्सम घटना का उल्लेख भितरी का अभिलेख करता है। प्रस्तुत अभिलेख की पंक्तियों में गुप्त राजवंश के सम्राट् स्कन्दगुप्त के क्रिया-कलाप को श्रीकृष्ण के समत्व-सम्मत कार्य के स्तर पर रखा गया है, जिनमें इस बात की ओर संकेत है कि शत्रु पर विजय पाने के उपरान्त स्कन्दगुप्त ने अपनी माता को दुःख-मुक्त किया था[१००]। इस सन्दर्भ में यह स्वाभाविक प्रश्न हो सकता है कि उक्त अभिलेख में प्रयुक्त उपमा का सम्भावित स्रोत किस पौराणिक विवरण में सन्निहित है—भागवत में अथवा विष्णु पुराण में। पूर्वगामी अनुच्छेद में यह विवेचित हो चुका है कि कंस-बध के उपरान्त देवकी के बन्धन-मोक्ष का निर्देश भागवत में ही हुआ है, विष्णु पुराण में नहीं। जो प्रसंग विष्णु पुराण में निबद्ध है उसके अनुसार कंस-बध के अवसर पर देवकी आहत-भूति के समीप ही विद्यमान थीं, तथा उन्होंने स्वचरण-नत विजयी पुत्र को उत्थापित किया था[१०१]।

---

९८. विष्णु पु०, ५।२३।४-५

९९. भागवत, १०।५२; विशिष्ट विवरण के लिये द्रष्टव्य, श्लोक-संख्या ८-९

१००. जितमित परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः। का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ५४

१०१. विष्णु पु०, ५।२०।९२-९३

इस समीक्षा से निम्नांकित तीन तथ्य सम्भावित लगते हैं—(१) भागवत का गुप्तकाल से सन्निकर्ष; (२) विष्णु पुराण का तत्काल-विप्रकर्ष तथा (३) विष्णु पुराण के प्रसंग का भागवतोक्त प्रसंग की अपेक्षा उत्तरकालीनता। तीसरे तथ्य की सम्भावना इस दृष्टि से भी व्यक्त हो जाती है कि विष्णु पुराण-सम विवरण पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में उपलब्ध होता है[१०२], जिसका रचना-काल ९०० शती ई० माना जाता है[१०३]। उल्लेखनीय है कि जहाँ भागवत में देवकी बन्धन-विषय बनती है, विष्णु पुराण ने दो परस्पर-भिन्न श्लोकों में 'देवतोपमा'[१०४] विशेषण का प्रयोग कर उनके अतिमानवीय देवतोचित स्वरूप का परिचय देता है। इस दृष्टि से विष्णु पुराण में वैष्णव धर्म के उस उत्तरकालीन परिवेश का सन्निधान माना जा सकता है, जो पूर्व विवेचित हो चुका है।

जिस यवन-अभियान का उल्लेख भागवत में हुआ है, उसकी कथा-वस्तु भी भितरी-अभिलेख के एक वर्णन से मिलती-जुलती है। प्रस्तुत अभिलेख में इस बात की ओर संकेत है कि स्कन्द गुप्त को हूण-आक्रमण का सामना उस समय करना पड़ा था, जब कि अभी वे आन्तरिक संघर्ष से मुक्त नहीं हुये थे[१०५]। पूर्वगामी अनुच्छेद में यह वर्णित हो चुका है कि श्रीकृष्ण अभी जरासंध से युद्ध कर ही रहे थे कि मथुरा पर यवनराज ने अकस्मात् आक्रमण किया। स्मरणीय है कि जिस प्रकार भागवत में यवनराज का सामान्य उल्लेख ही हुआ है, वैसे ही भितरी-अभिलेख में भी हूणों का सामान्य निरूपण ही हुआ है[१०६]। तुलना की दृष्टि से भागवत के प्रसंग में वर्णित 'यवन' के स्थान पर 'म्लेच्छ' शब्द भी महत्त्वपूर्ण लगता है[१०७]। जूनागढ़-अभिलेख में भी स्कन्द गुप्त के उन शत्रुओं का उल्लेख हुआ है, जिनका आवास 'म्लेच्छ देशों' में था[१०८]। शत्रुओं से संघर्ष लेते समय श्रीकृष्ण के शारीरिक श्रम की जो उद्भावना भागवत करता है, उसकी समता भी भितरी-अभिलेख के विवरण से दिखाई देती है। जैसा कि पूर्व विवेचित हो चुका है भागवत के अनुसार शत्रु से प्रिय जनों की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण ने कई योजन तक पैदल यात्रा किया

१०२. पद्म पु०, उत्तरखण्ड, २७२।३८३
१०३. द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ० १२६
१०४. विष्णु पु०, ५।१।५,६४
१०५. द्रष्टव्य, पंक्ति-संख्या १० तथा १५; का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ५४
१०६. द्रष्टव्य, पंक्ति १४
१०७. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ९६
१०८. द्रष्टव्य, पंक्ति ४

तथा विश्राम के लिये पर्वत का संश्रय लिया था[१०९]। भितरी-अभिलेख के अनुसार भी स्कन्दगुप्त ने विचलित कुललक्ष्मी के स्तम्भ तथा युद्ध में अमित्रों के विजय के अवसर पर क्षितितल पर ही रात्रि व्यतीत किया था[११०]। भितरी-अभिलेख में स्कन्द गुप्त का गौरवगान करते हुये यह वर्णित मिलता है कि उन्होंने विजितों के साथ दयापूर्ण व्यवहार किया था[१११]। एतत्सम विवरण भागवत में भी मिलता है, जिसमें श्रीकृष्ण के लिये 'महाकारुणिक' विशेषण प्रयुक्त है, तथा ऐसा उल्लिखित है कि उन्होंने गोप नन्द के अपहर्त्ता को क्षमा-प्रदान किया था[११२]। इन साक्ष्यों की समीक्षा से गुप्त-युग से भागवत के समय-सन्निकर्ष की सम्भावना विवादरहित प्रतीत होती है।

यवन-अभियान के कतिपय विवरण, जो विष्णु पुराण में मिलते हैं, भागवत एवं भागवत-सम भितरी-अभिलेख के प्रसंगों से भिन्न प्रतीत होते हैं। यह दिखाया जा चुका है कि विष्णु पुराण यवनराज की उत्पत्ति का सम्बन्ध शिव की अनुकम्पा से स्थापित करता है। इसमें यवनराज को 'कालयवन' विशिष्ट नाम भी दिया गया है[११३]। यह सम्भव है कि विष्णु पुराण की कथा-वस्तु में हूणराज तोरमाण तथा उसके पुत्र मिहिरकुल का आख्यानपरक निरूपण है, जिनका उल्लेख क्रमशः एरण एवं ग्वालियर के अभिलेखों में हुआ है। मिहिरकुल का शिवभक्त होना इतिहास-सम्मत है, क्योंकि उसकी मुद्राओं पर 'जयति मिहिरकुल' तथा 'जयति वृषध्वज' जैसे पदांकन प्राप्त होते हैं[११४]। जिन प्रवृत्तियों के कारण एवं जिन परिस्थितियों में, विष्णु पुराण के प्रसंगानुसार, श्रीकृष्ण द्वारा द्वारका-दुर्ग का निर्माण हुआ था; उनकी समता भी हूण-अभियान के विषय में एक ऐतिहासिक वृत्त से स्थापित की जा सकती है। ह्वेनसांग यह वर्णित करता है कि बालादित्य ने जब यह देखा कि राज्य में प्रजा सुरक्षित नहीं है, उसने अपने हजारों स्वामिभक्त प्रजाजनों के साथ किसी समुद्रतट-

---

१०९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ९८

११०. द्रष्टव्य, पंक्ति ११

१११. द्रष्टव्य, पंक्ति १३

११२. भागवत, १०।२८।७,८,१४

११३. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ९७

११४. जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, पृ० २०२

वर्ती स्थान का आश्रय लिया[११५]। पौराणिक विवरण तथा ह्वेनसांग के उल्लेख में अंतर केवल यही है कि एक के अनुसार संश्रय का स्थान द्वारका था, पर दूसरे के अनुसार यह स्थान बंगाल की खाड़ी के पास था। विष्णु पुराण यह स्पष्टतया उल्लिखित करता है कि श्रीकृष्ण ने समुद्र से स्थान-याचना किया था। यहाँ उनकी योजना एक ऐसे दुर्ग-निर्माण की थी, जिसमें मथुरा-निवासी सुरक्षित हो सकें[११६]। ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार भी हूणराज ने जिस नगर पर आक्रमण किया, उसे विजित करने में उसे सफलता नहीं मिली; क्योंकि यह नगर जलसम्पन्न दुर्ग-योजना के कारण सुरक्षित था[११७]। इस प्रकार यवन-अभियान सम्बन्धी विष्णु पुराण-गत विवरण तथा इतिहास-सिद्ध हूण-अभियान के विवरण में समता के द्योतक अनेक तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। समष्टि रूप में इनकी आलोचना करने से यह सुव्यक्त हो जाता है कि पौराणिक यवन-अभियान आख्यानपरक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण पुराण-सम्मत शैली के साथ हूण-आक्रमण का ही प्रतिरूप है। यह भी सम्भावित है कि दोनों पुराणों की कथावस्तु में हूणाभियान के परस्पर-काल भिन्न दो वृत्तों का रूपान्तरण सन्निहित है। भागवत की कथावस्तु गुप्तकाल के आस-पास रखी जा सकती है, जब कि विष्णु पुराण का कथानक-काल तोरमाण और मिहिरकुल के समय-विचार के अनुसार छठीं शती ई० के उपरान्त ही स्वीकृत किया जा सकता है।

विष्णु पुराण के समय-निर्धारण में आलोचित अंश के अध्याय-संख्या १० एवं ११ भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन दोनों अध्यायों में इस बात का उल्लेख है कि श्रीकृष्ण ने नन्द तथा अन्य गोपजनों को इन्द्र-पूजा से विमुख करने का प्रयास किया था। इन्द्रार्चना के स्थान पर उन्होंने गोपों को पशु-पूजन एवं गिरि-पूजन का आदेश दिया था। पूजोपहार न मिलने पर इन्द्र अतीव क्रुद्ध हुये तथा गोकुल को जल-प्लावित करने के उद्देश्य से उन्होंने महती जल-वृष्टि की। इसे देखकर श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन-गिरि को उठा लिया तथा एतद् द्वारा उन्होंने गोपजन एवं पशुओं

---

११५. दि रेकर्ड्स, भाग १, पृ० १६६; हूण-अभियान के प्रसंग में यह वृत्त उद्धृत किया गया है, द्रष्टव्य, वी० पी० सिन्हा डिक्लाइन ऐंड फ़ाल ऑफ़ किंगडम ऑफ़ दि मगध, पृ० १०६

११६. विष्णु पु०, ५।२३।१३

११७. इण्डियन ऐंटिक्वेरी, भाग ३४; पृ० ७३, बी० पी० सिन्हा, वही, पृ० १०६

को परित्राण प्रदान किया। इस आख्यान का उल्लेख भागवत भी करता है, पर इस ग्रन्थ के कतिपय महत्त्वपूर्ण स्थलों पर विचारणीय भिन्नताएँ उपलब्ध होती हैं। प्रतीत होता है कि सातवीं शती ई० तक प्रस्तुत आख्यान पर्याप्त रूप में प्रचलित हो चुका था, क्योंकि तत्कालीन ग्रन्थ शिशुपालबध में गोवर्द्धनगिरि-धारण श्रीकृष्ण की उपलब्धियों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है[११८]।

विवेच्य प्रकरण की प्रासंगिता की दृष्टि से उक्त विवरण में उपलब्ध ऐसे श्लोकों की समीक्षा समीचीन प्रतीत होती है, जिनमें भागवत की अपेक्षा विष्णु पुराण में विषय-व्यापकता का अधिक पुट दिखाई देता है। इन श्लोकों का वर्ण्य-विषय है 'वार्त्ता', जिसके अंतर्गत कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालन का उल्लेख मिलता है। वर्णन-विस्तार के साथ इन श्लोकों में यह भी बताया गया है कि ये तीनों क्रमशः कर्षकों, विपणि-जीवियों तथा गोपालकों की वृत्तियाँ हैं[११९]। प्रस्तुत प्रसंग में दो सहज तथ्यों पर विचार हो सकता है। एक तो, यह कि वार्त्ता की उक्त परिभाषा में, इस पुराण के ही अन्यत्र अंश-प्रसंगों में वर्णित परिभाषा[१२०] की अपेक्षा अन्तर-द्योतक परिवर्द्धन सन्निहित हैं। दूसरे, इस परिवर्द्धित परिभाषा के कारण विष्णु पुराण के विवेचित स्थल की उत्तरकालीनता भी संभावित लगती है। इस संदर्भ में के० वी० आर० ऐंगर का मत विशेषतया उद्धृत किया जा सकता है। पूर्वकालीन एवं उत्तरवर्ती विभिन्न साक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर ऐंगर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तरकालीन स्तरों पर वार्त्ता शब्द की परिभाषा अन्य विषयों के समाहार के कारण व्यापक हो चुकी थी। इन विद्वान् के मत के साथ इतना और कहा जा सकता है कि आर्थिक गठन में वर्ग-विस्तार का निर्देश होना भी वार्त्ता की व्यापकता का ही परिचय देता है। अन्य प्रसंगों में विष्णु पुराण ने वार्त्ता शब्द का सामान्य उल्लेख तो किया ही है, इसके साथ इस ग्रन्थ में यह भी वर्णित है कि वार्त्ता का तात्पर्य कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालन से है, जिसका अनुसरण वैश्य करते हैं। अन्य अनेक पूर्वकालीन ग्रन्थों से साम्य के कारण वार्त्ता की यह परिभाषा मौलिक मानी जा सकती है; जिसमें व्यवसायत्रय का संबंध एक ही वर्ग से किया गया है। इसके विपरीत आलोचित परिभाषा में वृत्तित्रय पृथकतः वर्गत्रय द्वारा अनुसृत बतायी गई है। इससे एक ओर वार्त्ता की परिभाषा के विषय-विस्तार का पता चलता है, तथा दूसरी ओर तद्विषयक

---

११८. शिशुपालबध, १५।३७

११९. विष्णु पु०, ५।१०।२८-२९

१२०. द्रष्टव्य, प्रबन्ध-पृष्ठांक १७५-१७६

स्थल का उत्तरकालीन होना भी प्रायः सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में इस बात पर भी विचार किया जा सकता है कि विष्णु पुराण के विवेचित श्लोक में कर्षक शब्द का तात्पर्य वस्तुतः है किस जाति विशेष से। उल्लेखनीय है कि पूर्वकालीन ग्रन्थों में कहीं-कहीं कर्षक और शूद्र में एकता स्थापित की गई है[१२१], पर इनके वर्णनों से कर्षक के रूप में शूद्रों के आर्थिक स्तर की इयत्ता का निश्चय नहीं हो पाता। यह धारणा तर्क-संगत एवं समीचीन सी लगती है कि कर्षक शब्द से ऐसे शूद्रों की ध्वनि निकलती है जो अस्थायी किसान थे पर, कृषि-भूमि पर इनका स्वत्व नहीं था[१२२]। जहाँ तक कर्षण-वृत्ति का प्रश्न है, शूद्रों से इसका सम्बन्ध स्मृति-ग्रन्थों में स्थापित अवश्य हुआ है, पर ऐसे ग्रन्थ स्मृति-साहित्य की उत्तकालीन रचनाएँ हैं[१२३]। ऐसी स्थिति में विष्णु पुराण के प्रस्तुत स्थल को मूल संस्करण का अंश नहीं माना जा सकता है। अतएव, संभावना इसी बात की है कि विष्णु पुराण का विवेचित स्थल इस ग्रन्थ के मूल संस्करण का अंश नहीं है, इसे निःसंकोच रूप में स्थल-प्रक्षेप का ही प्रमाण माना जा सकता है।

जहाँ तक भागवत का प्रश्न है; उक्त आख्यानक का उल्लेख इस ग्रन्थ में भी हुआ है, पर इसका वार्त्ता-विषयक विवरण विष्णु पुराण के उक्त उद्धरण से भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ में वार्त्ता को स्पष्टतया वैश्यों की जीविका घोषित किया गया है। इसके अनुवर्ती श्लोक में वार्त्ता का जो लक्षण वर्णित है, वह वार्त्ता की मूल परिभाषा से ही समाहित होती है। इसमें वार्त्ता के विशिष्ट विषयों का उल्लेख तो है, पर विष्णु पुराण-सम विभिन्न वर्गों का निर्देश नहीं है। ऐसी दशा में विष्णु पुराण की अपेक्षा भागवत के विवरण का पूर्वकालीन होना नितांत संभावित सा प्रतीत होता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि विष्णु पुराणोक्त वार्त्ता-विवरण पुराणकार की कल्पना-जनित प्रसूति नहीं है, प्रत्युत वस्तुस्थिति एवं याथातथ्य-परिस्थिति का ही परिचायक है, क्योंकि वर्गत्रय का पृथकतः उल्लेख करते हुये हरिवंश ने भी एतद्विषयक आख्यान के प्रसंग में वार्त्ता की जो परिभाषा[१२४] दी है वह विष्णु पुराण के समान ही है।

---

१२१. उदाहरणार्थ, द्रष्टव्य, अर्थशास्त्र १।१०९;२।१

१२२. द्रष्टव्य, आर० यस० शर्मा, शूद्राज इन एंशेण्ट इण्डिया, पृ० १४४

१२३. उदारणार्थ, शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषापापवर्जनं...कर्षण...; याज्ञवल्क्य स्मृति, १।१२० पर देवल; द्रष्टव्य, काणे, वही, भाग, २, खण्ड १, पृ० १२१

१२४. हरिवंश, विष्णु पर्व, ९६।३

उपर्युक्त समीक्षाओं के आधार पर सामान्य निष्कर्ष यही निकल सकता है कि यद्यपि विष्णु पुराण अपने मूल रूप में प्राथमिक पुराण-कृति है जिसका संस्करण चतुर्थ शताब्दी ई० के आस-पास सम्पन्न हो चुका था, तथापि यह कथन औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता कि इसमें उत्तरकालीन प्रक्षिप्तांश नहीं है। अन्य आदि पुराणों की भाँति न्यूनाधिक रूप में प्रसंगानुसार वैष्णव मत के उत्तरकालीन अनुयायियों ने इस पुराण का प्रतिसंस्कार प्रस्तुत किया, जिसका समय कूर्म पुराण, अग्नि पुराण तथा भागवत की अपेक्षा उत्तरकालीन ही माना जा सकता है। इन तीनों ग्रन्थों में सामान्यतया भागवत का संस्करण-काल नवीं शती माना जाता है तथा स्थिति में विष्णु पुराण का प्रतिसंस्कृत रूप नवीं शती के उपरांत ही रखा जा सकता है।

मत्स्य पुराण

काल-क्रम तथा संरचना-शैली की दृष्टि से उपलब्ध पौराणिक वाङ्मय में मत्स्य पुराण का स्थान विशिष्ट रहा है। प्रस्तुत पुराण की रचना किस क्षेत्र-विशेष से सम्बन्धित है, यह एक महत्त्वपूर्ण किन्तु जटिल समस्या है। सामान्यतया यही माना जाता है कि इसकी रचना का क्षेत्र नर्मदा का प्रदेश-प्रान्तर रहा होगा, क्योंकि इस पुराण में नर्मदा का गौरवगान अनेक श्लोकों एवं अध्यायों में किया गया है। इस प्रसंग में पुराण का कथन है कि प्रलय-परिवेश में अन्य सभी विश्वजनीन पदार्थों का नाश हो जाता है, पर पुण्यतमा नर्मदा नदी का अस्तित्व प्रलयकाल में भी बना रहता है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणकार नर्मदा-गौरव की ओर अधिक आसक्त है, अतएव नर्मदा को प्रस्तुत पुराण का रचना-क्षेत्र मानना अतीव संगत प्रतीत होता है। इस पुराण के विवेच्य-विषयों के अन्तरंग अनुशीलन से यह भी व्यक्त हो जाता है कि पुराणकार नर्मदा के भौगोलिक वातावरण एवं आस-पास के उपतीर्थों से पूर्णतया परिचित था। इस सन्दर्भ में पुराणकार ने दशाश्वमेध (१९२।२१), भारभूति (१९३।१८) तथा कोटि-तीर्थ का स्पष्ट उल्लेख किया है। ग्रन्थ में नर्मदा के साथ-साथ इन उपतीर्थों की धार्मिक महत्ता का सातिशय प्रतिपादन प्राप्त होता है। ऐसे वर्णनों से ध्वनि यही निकलती है कि मत्स्य पुराण का सकलनकर्त्ता नर्मदा प्रदश की स्थिति से पूर्णतया परिचित था[१]।

मत्स्य पुराण के रचना-स्वरूप की सबसे बड़ी विशेषता है, पुराण-आवरण के निर्वाह के साथ-साथ इसका धर्मशास्त्र-परक बनना। किन्हीं-किन्हीं अध्याय-वर्णनों में तो धर्मशास्त्रीय विषयों का इतना बाहुल्य है कि यह निश्चित करना दुष्कर सा हो जाता है कि पाठक पुराण का अध्ययन कर रहा है अथवा धर्मशास्त्र का। मत्स्य पुराण का सन्निकर्ष जिन धर्मशास्त्रों के साथ प्रतीत होता है, वे हैं मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति। इन स्मृतियों के अनेक श्लोक मत्स्य पुराण मे प्राप्त होते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि पुराणकार पर इन स्मृति-ग्रन्थों का आभार अवश्य

---

१. द्रष्टव्य, उपाध्याय, पुराण-विमर्श, पृ० ५६४-५६५; एस० जी० कन्तवाल, होम ऑफ़ दि मत्स्य पुराण, पुराण-पत्रिका, भाग ३, अंक १; पृ० ११५-११६

है तथा ऐसी स्थिति में इस पुराण की रचना भी उक्त स्मृतियों के बाद ही ठहरती है। मत्स्य पुराण के एक अध्याय-विशेष (अध्याय २४) में उर्वशी उपाख्यान का निरूपण भी हुआ है। जिस रचना-शैली के साथ प्रस्तुत पुराण में यह कथानक प्राप्त होता है, उससे प्रतीति यही होती है कि यह पुराण-वर्णन का मौलिक एवं अभिन्न अंग है, स्थल-प्रक्षेप का दृष्टान्त नहीं। इस उपाख्यान की विशेषता यह है कि इसकी घटनाओं के सन्निवेश में तथा कालिदास-कृत विक्रमोर्वशीय नाटक में घोर समानता दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि दोनों में कौन किसका ऋणी है; कालिदास के वर्णन का स्रोत मत्स्य पुराण का कथानक है अथवा मत्स्य पुराण के कथानक का स्रोत कालिदास। अधिक सम्भावना इसी बात की लगती है कि मत्स्य पुराण का ही वर्णन कालिदास द्वारा प्रभावित है और ऐसी स्थिति में मत्स्य पुराण को गुप्तोत्तर काल की रचना मानना नितान्त संगत लगता है। मत्स्य पुराण के कालविषयक प्रश्न का एक विवादास्पद पहलू है उन अध्यायों की प्राचीनता स्थिर करना, जो समान विवरण के साथ वायु पुराण में भी प्राप्त होते हैं। इन अध्यायों में कलियुगीन राजाओं का वृत्तान्त निरूपित है तथा इनके सन्दर्भ में यह सुनिश्चित नहीं हो पाता कि ये मत्स्य पुराण के मौलिक अंग हैं अथवा इन्हें वायु पुराण से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत समस्या को सुलझाने के लिये पार्जीटर महोदय ने भविष्य पुराण का प्रमाण दिया है तथा इनका ऐसा निष्कर्ष रहा है कि कलियुग राज-वृत्तान्त का मूल विवरण भविष्य पुराण में है। इस मूल विवरण का उद्धरण वायु और मत्स्य पुराण में मिलता है। अतएव, दोनों ग्रन्थों में विवरण-साम्य इसीलिये है, क्योंकि दोनों मूलभूत समान स्रोत पर आधारित हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि कलियुग राज-वृतान्त का उल्लेख मत्स्य पुराण में आन्ध्रवंश तक ही सीमित है, जब कि भविष्य और वायु दोनों ही पुराण-ग्रन्थों में ऐसा विवरण गुप्त-राजवंश तक निरूपित हुआ है। ऐसी स्थिति में पार्जीटर महोदय भविष्य पुराण के दो संस्करणों की संभावना अनुमानित करते हैं। इनके मतानुसार भविष्य पुराण का मूल संस्करण आन्ध्रवंश-विवरण तक ही सीमित था, मत्स्य पुराण पर इसी संस्करण का प्रभाव-निर्वाह स्वीकृत किया गया है। भविष्य पुराण के प्रतिसंस्करण में गुप्त-नरेशों का विवरण भी प्रस्तुत किया गया, तथा वायु पुराण इसी प्रतिसंस्करण का ऋणी माना गया है। वायु तथा मत्स्य पुराणों पर भविष्य पुराण का प्रभाव इस दृष्टि से स्वीकृत किया है, क्योंकि दोनों ही पुराण-ग्रन्थ 'भविष्ये कथितान् नृपान्, भविष्ये ते प्रसंख्याताः' जैसे वाक्यों का प्रयोग करते हुये राजवंश-सन्निवेशार्थ भविष्य पुराण की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। पर, इस संभावना के विरुद्ध ऐसी आपत्ति प्रस्तुत

की जा सकती है कि जिन उद्धरणों को वायु पुराण एवं मत्स्य पुराण; भविष्य पुराण की प्रामाणिकता मानते हुये उद्धृत करते हैं, उनका समाधान उपलब्ध भविष्य पुराण के स्थलों से क्यों नहीं होता। ऐसी स्थिति में अधिक सम्भावना इसी बात की मानी जा सकती है कि वायु और मत्स्य पुराण एक, दूसरे का पूर्ववर्त्ती है तथा उसके वर्णन का उद्गम-स्रोत भी। दोनों पुराण-ग्रन्थों में कौन किसका पूर्ववर्ती है, इस समस्या को सुलझाते हुये डॉ० हाज़रा ने दोनों के कतिपय आंतरिक वर्णनों पर ध्यान आकर्षित किया है, जिनका विवरण निम्नांकित है—(१) मत्स्य पुराण के अध्याय १४२ में ऋषिवंश-संकीर्त्तन करते हुये यह वर्णित है कि इसका प्रसंग पहले आ चुका है। पर, इस पुराण में प्रस्तुत अध्याय के पूर्व ऐसा कोई भी अध्याय नहीं प्राप्त होता, जिसमें उक्त वर्णनों को दिया गया हो। ये वर्णन यदि मिलते भी हैं तो बहुत बाद के अध्यायों में, जिनसे पुराणकार के निर्देश का समाधान नहीं हो पाता। प्रस्तुत पुराण के वर्ण्य-विषयों में मनु के सन्दर्भ में शिव-शाप को विवेच्य वर्णित किया गया है। पर, उपलब्ध पुराण में कहीं भी इस प्रकार के शाप का उल्लेख नहीं हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि एतद्विषयक वर्णन बिना किसी अन्तर के साथ वायु पुराण में भी प्राप्त होते हैं। पर, वायु पुराण के विवरण की विशेषता यह है कि इसके अध्यायान्तरों के सन्दर्भ-बोधक स्थल भी प्रसंगानुसार समाहित हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वायु पुराण के संकलनकर्त्ता ने वर्णन-विस्तार के साथ-साथ वर्णन-सन्तुलन की भी पर्याप्त अपेक्षा रखी है, जब कि मत्स्य पुराण के संकलनकर्त्ता ने ऐसी शैली का परिचय दिया है, जिसमें वर्णन-व्यतिक्रम का पर्याप्त पुट प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान कर सकते हैं, मत्स्य पुराण ने अपने वर्णन का आधार तो वायु पुराण को ही बनाया है, पर वर्णन-विस्तार के समष्टि रूप को न अपनाने के कारण इसमें सन्तुलन का अभाव दिखाई देता है। अतएव, इन दोनों ग्रन्थों में मत्स्य पुराण ही वायु पुराण का ऋणी माना जा सकता है। उक्त निष्कर्ष का समर्थन वायु पुराण के एक महत्त्वपूर्ण हस्तलिपि-संस्करण के विवेच्य विषयों द्वारा सन्तोषजनक रूप में होता है, जिसके सन्दर्भ में निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं—(१) यह हस्तलिपि वर्त्तमान समय में इण्डिया ऑफ़िस लाइब्रेरी में सुरक्षित है, जिसका संकेत एक पूर्वगामी अनुच्छेद में किया जा चुका है। (२) इस हस्तलिपि में ऐसे अनेक पाठ हैं, जो वायु पुराण के अन्य उपलब्ध संस्करणों से प्रायः साम्य नहीं रखते; पर मत्स्य पुराण के उपलब्ध संस्करण से इनका पूर्ण साम्य दिखाई देता है। इस प्रकार का वर्णन-साम्य दोनों पुराण-ग्रन्थों की मूलभूत एकता को ही अभिव्यञ्जित करता है। इनकी तिथि-विषयक तुलनात्मक समीक्षा के साथ एक दूसरी समस्या भी उलझी हुई है। यदि

यह मान लिया जाय कि वायु पुराण मत्स्य पुराण का ऋणी है, तो इसका समाधान होने में कठिनाई दिखाई देती है कि एक में राजवंश-विवरण गुप्त-नरेशों तक चलता है, तो दूसरे में आन्ध्र-नरेशों तक ही वंश-विवरण सीमित दिखाई देता है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वायु पुराण में वंश-विवरण का सन्निवेश दो स्तरों पर हुआ होगा। पहले स्तर पर इसका विस्तार केवल आन्ध्र-वंश तक था। इसी स्तर पर इसके विवरण मत्स्य पुराण में उद्धृत किये गये। दूसरे स्तर पर वायु पुराण में उन घटनाओं का भी सन्निवेश किया गया, जिनका सम्बन्ध आदि गुप्त-कालीन परिस्थितियों से था। हाज़रा तथा पार्जीटर का यह विचार संगत ही प्रतीत होता है कि वायु पुराण का प्रक्षेप-विहीन प्रामाणिक संस्करण समुद्रगुप्त के अभ्युदय-काल अर्थात् ३३५ ई० के पूर्व ही प्रस्तुत हो चुका था,[२] क्योंकि इस पुराण में समुद्रगुप्त की विजयों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इसी आधार पर मत्स्य पुराण के प्रथम प्रामाणिक संस्करण की तिथि भी निर्धारित की जा सकती है। प्रस्तुत पुराण ने न केवल समुद्रगुप्त का ही अपितु समुद्रगुप्त-पूर्ववर्त्ती गुप्त-वंश का निर्देश भी नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में हाज़रा ने सामान्य रूप में मत्स्य पुराण के प्रथम प्रामाणिक संस्करण का काल तृतीय शती का उत्तर चरण अथवा चतुर्थ शती का प्रथम चरण स्वीकार किया है[३]। यही मत पार्जीटर का भी है। पार्जीटर महोदय ने इस बात का निर्देश भी किया है कि मत्स्य पुराण में राजवंश-विवरण आन्ध्र-शासक यज्ञश्री के शासन-काल में द्वितीय शती के अन्त में जोड़ा गया[४]। आचार्य उपाध्याय ने इस सन्दर्भ में एक अन्य सुझाव भी प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार कालिदास ने अपने नाटक विक्रमोर्वशीय की कथा-वस्तु को मत्स्य पुराण से लिया है। यदि कालिदास का समय गुप्त-युग माना जाय, तो ऐसी दशा में मत्स्य पुराण को पूर्व गुप्तकालीन रचना स्वीकार ही करना पड़ेगा। सामान्य रूप में इन्होंने मत्स्य पुराण का आविर्भाव-काल २०० ई० से लेकर ४०० ई० के बीच माना है[५]।

हाज़रा महोदय ने मत्स्य पुराण के उन अध्याय-विवरणों की समीक्षा भी किया है, जिनके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ की उत्तरकालीनता सिद्ध हो जाती है। इनमें

---

२. पार्जीटर, वही, भूमिका, पृ० १३; हाज़रा, वही, पृ० ३१

३. हाज़रा, वही, पृ० ३१

४. पार्जीटर, वही, भूमिका, पृ० १३, पाद टिप्पणी १

५. उपाध्याय, वही, पृ० ५६६

कतिपय का विवेचन वक्ष्यमाण पंक्तियों में किया जा रहा है। प्रस्तुत पुराण के अध्याय ५५, अध्याय ५७, अध्याय ६६ तथा अध्याय ७० में, जो व्रतों का विवरण देते हैं, साप्ताहिक दिनों का सन्दर्भ प्राप्त होता है। बहिरंग प्रमाणों से ज्ञात होता है कि साप्ताहिक दिनों का उल्लेख-प्रचलन प्रारम्भ में नहीं था। इसका प्रथम प्रामाणिक उल्लेख बुधगुप्त-कालीन एरण (गुप्त संवत् १६५=४८४ ई०) के अभिलेख में हुआ है (शते पञ्चषष्ट्यधिके वर्षाणां भूपतौ बुधगुप्ते, आषाढमास... सुरगुरोर्दिवसे)। अतएव, मत्स्य पुराण के उक्त अध्यायों को ग्रन्थ का प्राथमिक अंग नहीं माना जा सकता है। अध्याय ५३ में कूर्म-पुराण का प्रसंग है, जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि प्रस्तुत पुराण को लिखकर दान करने से वैष्णव पद की प्राप्ति होती है। ऐसा विचार है कि इस प्रसंग में मत्स्य पुराण ने कूर्म पुराण के वैष्णव संस्करण से अपना परिचय प्रदर्शित किया है[६]। कूर्म पुराण के वैष्णव संस्करण का समय ५५० ई० से ६५० ई० तक माना गया है। अतएव, मत्स्य पुराण के उक्त अध्याय का काल भी इसी के लगभग स्वीकृत किया जा सकता है। यहाँ इस बात का निर्देश किया जा सकता है कि मत्स्य पुराण के उक्त अध्याय-श्लोक में कूर्म पुराण के साथ शिव शब्द भी संयुक्त किया गया है। ऐसी स्थिति में कूर्म पुराण के जिस संस्करण का द्योतन होता है, वह है पाशुपत शैवों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ इसका उत्तरकालीन संस्करण। इसकी तिथि स्वयं हाज़रा ने ही आठवीं शती के आस-पास माना है[७]। अतएव, मत्स्य पुराण-गत अध्याय-विवरण का समय इसके उपरान्त ही स्वीकृत किया जा सकता है। अपने गवेषणापूर्ण विवेचन में हाज़रा ने मत्स्य पुराण के अध्याय १८६-१९४ के विवरणों पर भी ध्यान आकर्षित किया है। इन विभिन्न अध्यायों में नर्मदा-माहात्म्य की उद्भावना मिलती है। ऐसा विचार है कि प्रस्तुत अध्याय सम्प्रदाय-विशिष्ट प्रवृत्ति के सन्निवेश के कारण उत्तरकालीन है। इनमें नर्मदा नदी को गंगा, यमुना और सरस्वती की अपेक्षा श्रेष्ठ घोषित किया गया है। इनके वर्णन के अनुसार नर्मदा-तट का उत्तरी प्रान्तर रुद्र-लोक के समान है। इससे उक्त अध्यायों के स्वरूप का शैवात्मक होना भी स्पष्ट हो जाता है। इस सन्दर्भ में ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि आलोचित अध्याय नवीं शताब्दी ई० के उपरान्त ही रचित प्रतीत होते हैं[८]। हाज़रा के इस निष्कर्ष के साथ यहाँ ऐसा निर्देशित किया जा सकता है कि मत्स्य पुराण का शैवात्मक स्वरूप अन्यत्र

---

६. हाज़रा, वही, पृ० ४१

७. वही, पृ० ७१

८. वही, पृ० ४६

भी अभिव्यञ्जित होता है, जिसके प्रमाणार्थ अध्याय १२२ का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य विषय है शाक द्वीप का निरूपण; जिसकी अन्यथा प्राथमिकता विवादास्पद नहीं मानी जा सकती, क्योंकि भूमि-संस्थान पुराण-विवरण का मूल-अंग है। पर, इस अध्याय के अन्तरंग परीक्षण से यही विदित होता है कि इसका प्राथमिक स्वरूप उतना सुरक्षित नहीं है जितना कि अपेक्षित है अथवा जितना कि एक मूल पुराण-अध्याय के लिये आवश्यक माना जा सकता है। प्रस्तुत कथन का समर्थन अध्याय में वर्णित उन नदियों के नामों द्वारा होता है, जिनका प्रवाह-स्थल शाकद्वीप घोषित है। इनमें प्रथम नदी के विशेषण-बोधनार्थ 'शिवजला' शब्द प्रयुक्त है तथा समष्टि रूप में अन्य सभी नदियों के निमित्त 'शिवोदका' शब्द का प्रयोग किया गया है। समान प्रवृत्ति का द्योतन 'तपः सिद्धा सती' शब्द से भी होता है, जो उक्त वर्णन में शाकद्वीप की दूसरी नदी के लिये प्रयुक्त है[९]। ये सभी विवरण निश्चय ही मत्स्य पुराण में शैव परिवेश को प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न यह होता है कि इस विशिष्टता को व्यक्त करने वाले मत्स्य पुराण के प्रस्तुत अध्याय को किस काल-विशेष के साथ समाहित किया जाय। इसके उत्तर में वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों के समविषयक स्थलों के तुलनात्मक समीक्षण को प्रस्तुत किया जा सकता है। मत्स्य पुराण की भाँति वायु पुराण के विवरण में भी शिवोदका, शिवजला तथा नन्दा शब्द शाकद्वीप के नदियों के नामार्थ प्रयुक्त हैं। पर, ये नाम ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलते, जब कि यह सिद्ध हो चुका है कि ये दोनों पुराण, स्रोतभूत एक ही पुराण पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण ने शिवोदका के स्थान पर 'शीत-तोयवहा' शब्द प्रयुक्त किया है। इस समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वायु पुराण में उक्त नदियों का नामकरण अथवा नाम-परिवर्त्तन चतुर्थ शताब्दी ई० के उपरान्त किए गये, क्योंकि इसके पहले वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण परस्पर पृथक् नहीं थे[१०]। ऐसी स्थिति में समान प्रवृत्ति के सन्निवेश के कारण मत्स्य पुराण के विवरण को भी चतुर्थ शताब्दी ई० के उत्तरवर्त्ती काल में ही रखा जा सकता है। अध्याय ५४ में मत्स्य पुराण ने नक्षत्र-पुरुष नामक एक ऐसे व्रत का विवरण दिया है, जिसमें दशावतार का निरूपण है। इन अवतारों में बुद्ध का भी निर्देश हुआ है। दो विशेष तथ्यों के कारण प्रस्तुत अध्याय की उत्तरकालीनता प्रतिपादित

९. मत्स्य पुराण, १२२।३०-३४

१०. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, लेखक का निबन्ध, 'ऑन दि डेट ऑफ़ विष्णु पुराणस एकाउन्ट ऑफ़ भरत ऐण्ड भुवन कोश', पुराण-पत्रिका, अंक ८, खण्ड २, पृ० ३०५

होती है। एक तो इस कारण से, क्योंकि वृहत्संहिता दशावतार-निर्देश के विषय में मौन है; जब कि इस ग्रन्थ में भी उक्त व्रत का निरूपण हुआ है। दूसरे, बुद्ध का वैष्णव अवतार परिकल्पित होना पौराणिक प्रवृत्ति की प्राथमिकता के प्रतिकूल है। पुराणेतर ग्रन्थों में भी यही बात दिखाई देती है। इन अनेक ग्रन्थों में वैष्णव अवतार के सन्दर्भ में कल्किन् तक की परिचर्चा हुई है, पर बुद्ध की नहीं। जिन ग्रन्थों अथवा साहित्यिक स्थलों में बुद्धावतार का निर्देश है, वे हैं; जयदेव-कृत गीत-गोविन्द, क्षेमेन्द्र-कृत दशावतार-चरित, सन्त शतगोप द्वारा रचित नवीं शताब्दी का एक छन्द तथा सातवीं शताब्दी का एक पल्लव-अभिलेख। ऐसी स्थिति में मत्स्य पुराण के उक्त अध्याय को आठवीं शताब्दी के पहले की रचना नहीं माना जा सकता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि मत्स्य पुराण में ऐसे विवरण भी उपलब्ध हैं, जिनके कारण प्रस्तुत ग्रन्थ की अन्य पुराणों की अपेक्षा तिथि-विषयक प्राथमिकता विवादरहित प्रतीत होती है। ऐसे विवरणों में मायामोह-आख्यान का उल्लेख विशेषतया किया जा सकता है। जैसा कि पूर्वपृष्ठों में एक प्रसंग में दिखाया जा चुका है कि पौराणिक साहित्य में इस आख्यान के दो स्वरूप प्राप्त होते हैं। एक में आख्यान का विवरण सरल एवं धर्म-निरपेक्ष है, पर दूसरे में यह संश्लिष्ट तथा सम्प्रदायपरक हो चुका है। पहले प्रकार का विवरण रजिपुत्र तथा इन्द्र का संघर्ष प्रस्तुत करता है, जिसके नीति-अधिनायक देवपुरोहित बृहस्पति माने गये हैं। दूसरे प्रकार के विवरण में देव एवं असुरों का संघर्ष निरूपित है तथा इसके नीति-अधिनायक वैष्णव मत-विशिष्ट देवता विष्णु हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है कि कुछ पुराण, आख्यान के पहले प्रकार को, कुछ इसके दूसरे प्रकार को तथा कुछ पुराण पहले और दूसरे दोनों प्रकार के आख्यान को निबद्ध करते हैं। इस प्रसंग में मत्स्य पुराण ने केवल पहले प्रकार के आख्यान का ही निरूपण किया है। इसमें आख्यान का स्वरूप नितान्त सरल है, जब कि अन्य पुराणों में, उदाहरणार्थ विष्णु, पद्म और अग्नि पुराणों में इसके माध्यम से वैष्णव मत में बौद्ध मत के स्वायत्तीकरण का प्रयास किया गया है[११]। ऐसी दशा में मत्स्य पुराण के उक्त अध्याय-विवरण को उस काल से पहले का माना जा सकता है, जब कि पौराणिक स्थलों के साथ बौद्ध धर्म का समाधान किया गया था। सामान्यतया पौराणिक वाङ्मय में बौद्धावतार-परिकल्पन का समय ५५० ई० के आस-पास स्वीकृत किया जाता है[१२]। अतएव, मत्स्य पुराण

११. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १३१-१३५

१२. हाजरा, वही, पृ० ४१

के विवेचित विवरण (अध्याय २४) को छठीं शताब्दी पूर्व के ही रखना संगत प्रतीत होता है। मत्स्य पुराण के अन्तर्गत मिलने वाले सौर-विषयक अध्यायों में भी प्राथमिकता की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस कोटि के अध्याय निम्नांकित हैं— अध्याय ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८० और ९८। इन विभिन्न अध्यायों की विशेषता है कि इनमें सौर-व्रतों का विवरण तो मिलता है और इसके साथ-साथ सूर्य-प्रतिमा के दान का भी उल्लेख है। पर, सूर्य-प्रतिमा का माध्यम इनमें अधिकतर सुवर्ण कमल ही निरूपित किया गया है। अर्थात् दूसरे शब्दों में ये अध्याय सौर-पूजा की उस उत्तरकालीन प्रवृत्ति से मुक्त हैं, जब कि इसमें पारसीक पुरोहित मगों की सूर्य-उपासना की विधि तथा सूर्य-प्रतिमा के निर्माण की शैली का अध्यारोपण किया गया था। पारसीक मग पुरोहित मत्स्य पुराण के लिये अविदित हैं, यह सहसा नहीं कह सकते। इस ग्रन्थ में (अध्याय ५३।६१) में शाम्ब का भी निर्देश है तथा उस शाम्ब शब्द से विशिष्ट पुराण का भी उल्लेख है, जिसमें मगीय सौर-पूजा का विशद विवेचन मिलता है। पर, यह अध्याय अथवा अध्याय में निरूपित शाम्ब-विषयक सन्दर्भ प्रक्षेप ही माना जा सकता है, न कि मत्स्य पुराण का मूल अंग। इसका कारण यह है कि मत्स्य पुराण के जिन अध्यायों में ऐकान्तिक रूप में सौर-व्रतों का सन्दर्भ मिलता है, उनमें ऐसी कोइ भी परिचर्चा नहीं प्राप्त होती है। मत्स्य पुराण में एक ऐसा अध्याय भी है, जिसके विवरण में मग-सन्दर्भ की आशा की जा सकती है। एतद् बोधक है अध्याय-संख्या ११, जिसमें सूर्य-प्रतिमा के निर्माण का वास्तविक निरूपण ही कर दिया गया है। प्रस्तुत अध्याय के अनुसार सूर्य की प्रतिमा बनाते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि प्रतिमा-चरण का प्रदर्शन न किया जाय। ऐसा निर्देशित किया गया है कि इस विधान का अनुसरण न करने से प्रतिमा-निर्माता कुष्ठ-रोग से पीडित होता है। यह उल्लेखनीय है कि यदि मगों के धार्मिक-निर्देश की प्रगाढ़ता से प्रस्तुत अध्याय का संकलनकर्त्ता परिचित रहता अथवा इसके प्रति वह श्रद्धेय ही रहता तो एतत् प्रतिपादक निर्देश उसने अवश्य किया होता। इस साक्ष्य से मत्स्य पुराण की तिथि-सम्बन्धित प्राथमिकता नितान्त सम्भावित हो जाती है। ऐसी स्थिति में इसके विवरण को वृहत्संहिता के निर्धारित समय ५५० ई० के पूर्व मानना असंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वृहत्संहिता के स्थल मगों से न केवल परिचित ही हैं अपितु उनके प्रति श्रद्धेय भी हैं।

मत्स्य पुराण के तिथि-विषयक समीक्षण की दृष्टि से अध्याय १४४ के कतिपय श्लोक-विवरण बड़े महत्त्व के हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न-निर्देशित है। कलियुग के संध्या-काल में स्वायंभुव मन्वन्तर में उस नरेश का आविर्भाव हुआ,

जिनका नाम प्रमति था। यह नरेश अधार्मिकों का शास्ता था। इनका कुल-सम्बन्ध भृगु से था तथा गोत्र की दृष्टि से यह चन्द्रमस से सम्बन्धित थे। इन्होंने तीस वर्ष तक लगातार पृथ्वी का भ्रमण किया। यह अस्त्र-कर्मा थे। इनकी सेना में हाथी, अश्व तथा रथ की प्रचुरता थी। अभियान के अवसर पर इनके साथ हज़ारों की संख्या में ऐसे विप्र विद्यमान थे, जिन्होंने शस्त्र धारण कर लिया था। ऐसी सेना के बल से प्रमति ने समस्त म्लेच्छों को आहत किया था। इन्होंने उन राजाओं को भी नष्ट किया था, जिनका जन्म शूद्र-वंश में हुआ था। इनके बल-पराक्रम से पाषण्ड और अधार्मिक नरेश भी पराभूत हुये थे। जिन अन्य अनेक राजाओं को प्रमति ने परास्त किया था, उनका भूक्षेत्र-विशिष्ट विवरण इस प्रकार है; औदीच्य, मध्यदेशीय, पर्वतीय, प्राच्य, प्रतीच्य, विन्ध्यपृष्ठ-वासी, अपरान्तिक, दाक्षिणात्य, ससिंहल द्राविड, गान्धार, पारद, पह्लव, यवन, शक, तुषार, बर्बर-श्वेत, हलिक, दरद, खस, लम्पक, आन्ध्रक तथा चोर जाति। चक्र प्रवर्तित करने के उपरान्त बलसम्पन्न नरेश ने शूद्रों का अन्त किया। सभी भूतों को विदारित करने के उपरान्त इन्होंने इस पृथ्वी पर भ्रमण किया। नृदेव-विशिष्ट मानव-वंश में वे उत्पन्न हुये थे। पूर्व जन्म में वे विष्णु थे। शौर्य-सम्पन्न (होने के कारण इनका) नाम प्रमति था। कलियुग में इनका स्वकीय नाम चन्द्रमा शब्द से पूर्व-विशिष्ट था। अपने अभ्युदय-काल के बत्तीसवें वर्ष में वे बीस बार युद्ध कर चुके थे। इन्होंने पृथ्वी को अपने क्रूर कर्म के अवशेष से युक्त कर, गंगा और यमुना के मध्य सिद्धि प्राप्त किया।

उक्त श्लोक-समुच्चय की समीक्षा करते हुये डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें विवेचित प्रमति के कार्य-कलापों की घोर समता गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय से दिखाई देती है। अतएव, पुराण-विवेचित प्रमति का तादात्म्य चन्द्रगुप्त द्वितीय से स्थापित किया जा सकता है[१३]। प्रस्तावित तादात्म्य के समर्थन में डॉ० अग्रवाल ने ग्यारह तर्कों को निर्देशित किया है, जिनसे प्रमति एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय का एकीकरण प्रायः निश्चित हो जाता है। जिन आलोचकों को डॉ० अग्रवाल का यह सुझाव मान्य नहीं है, उनमें डॉ० अजय मित्र शास्त्री का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में डॉ० मित्र ने दो प्रमुख आपत्तियाँ प्रस्तुत किया है, जो ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ़रेंस, अलीगढ़ १९६६, की बुलेटिन (पृ० १३६) में मुद्रित मिलती हैं। बुलेटिन की मूल सूचना निम्नांकित है—'डॉ० मित्र ने डॉ० अग्रवाल के मत को असिद्ध किया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कोंकण,

१३. मत्स्य पुराण—ए स्टडी, पृ० २२८-३०

तामिलनाद तथा सिंहल को विजित नहीं किया था, जब कि प्रमति ने इन स्थानों पर विजय-लाभ किया था। प्रमति ने चालीस वर्ष तक शासन किया था, जब कि चन्द्रगुप्त का शासन काल बत्तीस वर्ष तक ही था।' आलोचित अनुच्छेदों में इस प्रश्न पर विचार किया जायगा कि अन्य अन्तरंग तथा बाह्य प्रमाणों के आलोक में प्रमति एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय का एकीकरण सिद्ध हो सकता है अथवा नहीं; तथा किस सीमा तक डॉ० मित्र की आपत्तियों को मान्यता मिल सकती है।

यह स्मरणीय है कि मत्स्य पुराण-गत प्रमति-प्रशस्ति में कोंकण पाठ का कहीं निर्देश ही नहीं हुआ है। डॉ० मित्र जिसे कोंकण कहते हैं, उसके लिये मूल पुराण शब्द अपरान्त है। अपरान्त शब्द का ही निर्देश डॉ० अग्रवाल ने भी अपनी टिप्पणी में किया है। पूर्वगामी अनुच्छेद में यह दिखाया जा चुका है कि मत्स्य पुराण में प्रमति द्वारा अपरान्त-विजय का उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि अपरान्त से किस विशिष्ट भूक्षेत्र का द्योतन हो सकता है तथा इस पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अधिकार किया था अथवा नहीं। पौराणिक भूगोल की समीक्षा करते हुये डॉ० सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मालवा से पश्चिम का प्रदेश अपरान्त कहलाता था। कोंकण की स्थिति पश्चिमी घाट तथा अरब सागर-तट की मध्यवर्त्ती भूमि में मानी गई है[१४]। इस प्रकार कोंकण-विजय की सम्भावना तो नहीं लगती पर इतना इतिहास-सिद्ध हो चुका है कि मालवा चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य का अंग था[१५]। डॉ० फ्लीट की समीक्षा से ज्ञात होता है कि जिस भूक्षेत्र को अपरान्त की संज्ञा दी जाती थी; उसके अन्तर्गत कोंकण को तो माना ही जाता था, इसके अतिरिक्त उत्तरी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ एवं सिन्ध को भी तदन्तर्भूत ही परिगणित किया जाता था[१६]। डॉ० मजुमदार के अनुसार काठियावाड़ तथा उत्तरी गुजरात को गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित करने का श्रेय चन्द्रगुप्त द्वितीय को है[१७]। इस समीक्षा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो,

---

१४. स्टडीज़ इन दि ज्याग्रफ़ी ऑफ़ एंशेण्ट ऐण्ड मेडीवल इण्डिया, पृ० ३७, पाद टिप्पणी १०

१५. आर० एन०, दण्डेकर, ए हिस्ट्री ऑफ़ दि गुप्ताज़, पृ० ८६

१६. जे० आर० ए० एस०, १६१०, पृ० ४१७; विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, दि ज्याग्रफ़िकल एनसायक्लोपीडिया ऑफ़ एंशेण्ट ऐण्ड मेडीवल इण्डिया, पृ० ३०

१७. वाकाटक-गुप्ता एज, पृ० १५४

अपरान्त का तात्पर्य केवल कोंकण से नहीं है, दूसरे अपरान्त-विजय-सन्दर्भ के आधार पर प्रमति एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय की एकता सम्भावित हो जाती है ।

यह कथन सही है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिंहल को नहीं जीता था । पर, पुराण-प्रशस्ति में ही यह कहाँ लिखा हुआ है कि प्रमति ने सिंहल को विजित किया था । इस सम्बन्ध में यदि पुराण के छन्दगत शब्दों को वाक्य के रूप में परिणत किया जाय तो पुराण-पंक्ति इस प्रकार बनती है, "सिंहलैः सह (युद्धभूमौ वर्त्तमानान्) द्राविडान् निःशेषानकरोत्" । इसका अर्थ यही हो सकता है कि द्राविडों को प्रमति ने हराया पर सैंहलिकों के साक्षात् सम्पर्क में वह नहीं आया था । सिंहलवासी या तो मित्र राष्ट्र के रूप में अथवा नियुक्त सैनिक के रूप में द्राविडों की सहायता सम्पन्न कर रहे थे । यदि यह मान लिया जाय कि पुराण-वर्णित प्रमति ने सिंहल पर विजय-लाभ किया था, तो ऐसी स्थिति में प्रस्तावित मन्तव्य पर कोई व्याघात नहीं पहुँचता । हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रशस्ति और काव्य में घटनाओं और इतिवृत्तों के प्रति प्रायः संकेत ही रहता है, उनका यथातथ्य निरूपण नहीं । ऐसे वर्णनों का वास्तविक मूल्यांकन उसी दशा में हो सकता है, जब कि इस तथ्य पर विचार किया जाय कि इनमें इतिहास किस सीमा तक निबद्ध है । भारतीय इतिहास के बहुत से साक्ष्य निरर्थक अथवा व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे, यदि उनके अनैतिहासिक पक्षों को ही सबल मानकर उनमें निःस्यूत ऐतिहासिक पक्षों को छोड़ दिया जाय । सिंहल एवं गुप्त-नरेश का वास्तविक सम्बन्ध किस प्रकार का था, इसका सुस्पष्टीकरण प्रयाग-प्रशस्ति में भी नहीं हुआ है; जब कि यह प्रशस्ति उस व्यक्ति की लेखनी द्वारा निबद्ध है, जो तत्कालीन वृत्तों का साक्षात् द्रष्टा था । यह नितान्त सम्भव है कि गुप्त-नरेश तथा सिंहल में सौहार्द-पूर्ण सम्बन्ध था । वानच्याङ् के विवरण से स्पष्ट होता है कि सिंहल-नरेश ने गुप्तराज को अपने देश के समग्र रत्नों को समर्पित किया था, क्योंकि सिंहलराज के निवेदनोपरान्त, सिंहली-भिक्षुओं के लिये गुप्तराज ने बिहार तथा विरामशाला का निर्माण किया था । यह सम्भव है, डॉ० मजुमदार का ऐसा विचार है, कि इसी वस्तुस्थिति को प्रयाग-प्रशस्तिकार ने मनमाने ढंग से वर्णित कर दिया है । इसके परिणाम में ऐसी प्रतीति होने लगती है कि मानो सिंहल-नरेश स्वदेश-शासनार्थ गुप्तराज की राजनीतिक मान्यता का प्रार्थी था[१८] । ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि सिंहल और भारत के बीच, जो सम्बन्ध समुद्रगुप्त के काल में स्थापित हुआ था, उसे गति और जीवन प्रदान करने के लिये समुद्रगुप्त के सामर्थ्य-शील पुत्र और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त ने भरसक प्रयास किया होगा ।

---

१८. वाकाटक-गुप्ता एज, पृ० १३८

ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि भारत और सिंहल का जो सम्बन्ध गुप्त-युग में स्थापित हुआ था, उससे पुराण-प्रशस्तिकार पूर्णतया परिचित था।

यहाँ फिर प्रश्न किया जा सकता है कि प्रमति द्वारा जिन द्राविडों की विजय का उल्लेख पुराण में हुआ है उसका समाधान चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयों से होता है अथवा नहीं। द्राविडों के विषय में विलसन का विचार है कि मद्रास से दक्षिण कोरमण्डल-तट पर रहने वाले द्राविड हैं, जिनके द्वारा तामिल भाषा प्रयुक्त होती है[१६]। पर, सुविधा की दृष्टि से यही कह सकते हैं कि द्राविड-प्रदेश उस सामान्य अभिधान के अन्तर्भूत था, जिसे दक्षिणापथ कहते हैं। पुराणिक भूगोल में दक्षिणापथ की व्याख्या देते हुये एस० एम० अली उस भूभाग से दक्षिणापथ का द्योतन मानते हैं, जो सत्पूड़ा-महादेव-मेकल की पहाड़ियों के दक्षिण में महानदी की घाटी के पश्चिम और दक्षिण तक विस्तृत है[२०]। इस प्रकार द्राविड-प्रदेश को दक्षिणापथ से पृथक् नहीं माना जा सकता है। जहाँ तक गुप्त-नरेश द्वारा दक्षिणापथ-विजय का प्रश्न है, प्रयाग-प्रशस्ति से यह सुविदित है कि समुद्रगुप्त ने अपनी विजयों का विस्तार दक्षिणापथ तक किया था। यह असम्भव नहीं है कि दक्षिणापथ से गुप्त-नरेशों का, जो सम्बन्ध समुद्रगुप्त के काल में स्थिर हुआ था, वह उसके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में भी सजीव एवं अक्षीण रहा। दक्षिण भारत से चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध सिद्ध किया जा चुका है। इसके समर्थन में मुद्रापरक एवं अभिलेखपरक साक्ष्यों की समीक्षा भी प्रस्तावित हो चुकी है। ऐसा विचार है कि तालगुण्डा-अभिलेख में गुप्त-पार्थिव-काल का सन्दर्भ, सतारा के प्रभूत संग्रह तथा राष्ट्रकूटों और बनवासी के गुप्त-शासकों के अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं दक्षिण-भारत के सम्बन्ध को सन्देहरहित कर देते हैं[२१]। अतएव, निष्कर्ष यही निकलता है कि यदि दक्षिणापथ गुप्त नरेशों द्वारा विजित किया गया था तो इसके अंगभूत द्राविड-प्रदेश को समानार्थक स्तर पर बिना किसी आपत्ति के रखना अपेक्षित है।

डॉ० मित्र की दूसरी आपत्ति के निवारणार्थ यह आवश्यक है कि पुराण-प्रशस्ति के मूल-पाठ की समीक्षा किया जाय। प्रतीत होता है कि पुराणकार ने प्रमति द्वारा चालीस वर्ष तक राज्य-सञ्चालन का उल्लेख नहीं किया है। इसमें मूल-पाठ है 'द्वात्रिंशेऽभ्युदिते वर्षे,' जिससे बत्तीस वर्ष तक शासन-संचालन की ध्वनि

---

१६. विष्णु पुराण, अनुवाद, पृ० १५८, पाद टिप्पणी, १०४
२०. दि ज्याग्रफ़ी ऑफ़ दि पुराणाज़, पृ० १५२
२१. द्रष्टव्य, प्रो० गोवर्द्धन राय शर्मा, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९४५, पृ० २११

निकलती है। इसका सन्दर्भ डॉ० अग्रवाल ने भी दिया है। जहाँ तक चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रश्न है, इस नरेश के प्रथम अभिलेख में गुप्त-काल ६१ का उल्लेख हुआ है। यह अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुआ था। इसमें 'प्रथमे वर्षे' शब्द भी उत्कीर्ण मिलते हैं। अन्तिम अभिलेख साँची से मिला है। इसमें गुप्त-काल ९३ उत्कीर्ण है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन-काल भी ३२ वर्ष तक ही ठहरता है। ऐसी स्थिति में प्रमति और चन्द्रगुप्त द्वितीय के एकीकरण की सम्भावना प्रबलतर हो जाती है।

उल्लेखनीय है कि उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त ऐसे अन्य अनेक साक्ष्य भी हैं, जिनके आधार पर प्रमति और चन्द्रगुप्त द्वितीय का समीकरण संसिद्ध हो जाता है। जिस विशेष तथ्य पर न तो डॉ० मित्र और न डॉ० अग्रवाल ने ही ध्यान दिया है, वह है प्रमति के कथानक का वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण में भी उपलब्ध होना[२२]। इससे प्रतीत होता है कि प्रमति-आख्यान का पौराणिक स्वरूप ऐकान्तिक नहीं था। इसे सामान्य पुराण-परम्परा के लिये सुपरिचित माना जा सकता है। अतएव, इसके वस्तु-विषय की यथार्थता भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल-विशेष में चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामरिक और शासकीय क्रिया-कलाप का प्रकाशन हो चुका था, पुराण-वाङ्मय का संकलन अभी समाप्त नहीं हुआ था। एतत् प्रतिपादक स्थलों को पुराणों के उस खण्ड-विशेष में समावेशार्थ सुयोग मिल रहा था, जो वंशानुचरित शब्द से संज्ञापित था; तथा जिसे पुराणों का विशिष्ट लक्षण माना जाता था। इस सन्दर्भ में सन्देह के लिये मात्र इतना ही अवकाश है कि इन पुराण-ग्रन्थों में प्रमति-आख्यान वंशानुचरित में नहीं अपितु खण्डान्तर में प्राप्त होता है। ऐसी शंका के समाधानार्थ यह कह सकते हैं कि बहुधा पुराणों के विवरण तदर्थ निर्धारित एवं अपेक्षित स्थलों में न मिल कर, ऐसे स्थलों पर मिलते हैं, जो पुराणांग होते हुये भी समविषयक प्रसंग से पृथक् निःस्यूत हैं। इसका कारण पुराण-समुपबृंहण की परम्परा को माना जा सकता है, जिसके परिणाम में पुराण-साहित्य को किसी निश्चित परिभाषा अथवा लक्षण के अन्तर्गत तथा काल-विशेष की परिधि में नहीं बाँधा जा सका था। यह भी स्मरणीय है कि वंशानुचरित-खण्ड की शैली में तथा आलोचित विवरण की शैली में अन्तर सुस्पष्ट है। एक का स्वरूप इतिवृत्तात्मक है, पर दूसरे का प्रशस्तिपरक। यह सम्भावित है कि प्रमति-प्रशस्ति पहले पृथक् एवं स्वतन्त्र रचना रही हो, तथा कालान्तर में प्रचलन तथा प्रामाणिकता के लिये इसे पुराण में समावेशित कर दिया गया।

---

२२. वायु पु०, अध्याय ५८; ब्रह्माण्ड पु०, अनुषंग पाद, आध्याय ३१

प्रतीत होता है कि पुराण-साहित्य की संरचना के विकास में ऐसी प्रवृत्ति का पूर्ण योगदान था[२३]।

प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में उन पौराणिक तथा पुराणेतर साक्ष्यों की समीक्षा प्रस्तावित है, जिन पर डॉ० अग्रवाल ने ध्यान नहीं दिया है; पर इनके द्वारा प्रमति और चन्द्रगुप्त द्वितीय का समीकरण सम्भावित लगता है। जिस शैली में पुराण-प्रशस्ति में प्रमति का नाम तथा तत्सम्बन्धित शब्द उल्लिखित हैं, वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में उत्कीर्ण उदयगिरि गुहा-अभिलेख में उपलब्ध शैली के समकक्ष प्रतीत होती है। यहाँ उदयगिरि के उस गुहा-अभिलेख से तात्पर्य है, जिसमें गुप्त सम्राट् के उच्च पदाधिकारी वीरसेन द्वारा गुहा-निर्माण का सन्दर्भ मिलता है। अभिलेख में यह स्पष्टतया उल्लिखित है कि इस व्यक्ति के दो नाम थे, कुल-परम्परा के अनुसार उसे वीरसेन की संज्ञा मिली थी, पर कुत्स-ऋषि से सम्बन्ध होने के कारण वह शाब भी कहलाता था[२४]। इस प्रसंग में अभिलेख में जिन विशेष शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे निम्नांकित हैं :—

कौत्सश्शाब इति ख्यातो
वीरसेनः कुलाख्यया ।

पुराण-प्रशस्ति में भी प्रमति के नाम के दो पक्षों पर बल दिया गया है। इनका उल्लेख निम्नांकित है :—

पूर्वजन्मनि विधिज्ञश्च प्रमतिर्नाम वीर्यवान्
गोत्रतो वै चन्द्रमसः पूर्वं[२५]।

दोनों साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में उच्च वर्ग के लोग प्रचलित नाम के अतिरिक्त, उन नामों से स्मृत किये जाते थे जिनका सम्बन्ध कुल अथवा गोत्र से था। यह नितान्त सम्भव है कि पुराण-प्रशस्ति-कार को गुप्तकाल की यह प्रथा विदित रही हो, जिसका संज्ञापन उसके द्वारा वर्णित नरेश के प्रचलित तथा गोत्रानुकूल नामों से स्पष्ट है।

अपने गवेषणापूर्ण विवेचन में डॉ० अग्रवाल ने पुराण-प्रशस्ति में उपलब्ध 'सुतः वै चन्द्रमसः पूर्वं' वाक्य की ओर संकेत किया है[२६]। इनकी व्याख्या के अनुसार

---

२३. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, पृष्ठांक २०-२५
२४. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २७२; का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ३५
२५. वायु पु०, ५८।८५; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।८६; मत्स्य पु०, १४४।६०
२६. अग्रवाल, वही पृ० २३०

चन्द्रमसः पूर्वं का तात्पर्य समुद्रगुप्त से है, क्योंकि काव्य-शास्त्री वामन ने भी प्रस्तुत गुप्त-नरेश को चन्द्रप्रकाश शब्द से अभिहित किया है। अतएव, वाक्य का मन्तव्य चन्द्रगुप्त द्वितीय ही हो सकता है। यहाँ इस बात का निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है कि मत्स्य पुराण के वेंकटेश्वर-संस्करण में सुतः के स्थान पर स्वतः पाठ मिलता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में गोत्रेण/गोत्रतः चन्द्रमसः पूर्वे/पूर्वं पाठ उपलब्ध है। अतएव, ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि विवेचित वाक्य से चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही बोध होता है, समुद्रगुप्त का नहीं। यह भी उल्लेखनीय है कि इस वाक्य की संरचना तथा शब्द-चयन की शैली प्रायः चन्द्राह्वेन इत्यादि वाक्य के सन्निकट है, जो मेहरौली के लौह-स्तम्भ अभिलेख में प्राप्त होता है। इस अभिलेख में वर्णित चन्द्र का समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय से किया जा चुका है। अभिलेख में निबद्ध प्रशस्ति तथा पुराण-प्रशस्ति के तुलनात्मक समीक्षण के आधार पर यही कह सकते हैं कि दोनों ही प्रशस्तिकार चन्द्रादि शब्दों द्वारा एक ही सम्राट् की ओर संकेत करते हैं, तथा वह सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रतीत होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रश्न करना असंगत नहीं होगा कि पुराण-प्रशस्ति में वर्णित नृप का वास्तविक और अभीष्ट नाम क्या है। इसका अंतिम उत्तर देने के पूर्व पुराण-प्रशस्ति के वर्णन को दो वर्गों में रखना सम्भावित है। प्रथम वर्ग में मत्स्य पुराण के आनन्दाश्रम संस्करण में उपलब्ध वर्णन को रख सकते हैं। इस वर्णन द्वारा अभीष्ट नाम प्रमति ही परिपोषित होता है। डॉ० अग्रवाल ने मत्स्य पुराण के इसी संस्करण को अपनी विवेचना का आधार बनाया है। दूसरे वर्ग में मत्स्य पुराण के वेंकटेश्वर संस्करण तथा वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में उपलब्ध वर्णन को रख सकते हैं। इस वर्णन से यही लगता है कि पुराणकार को, विवेचित नृप का चन्द्र (गुप्त) नाम ही अभीष्ट है। प्रस्तुत वर्णन के अनुसार इस नृपति का गोत्रानुसार नाम चन्द्र था तथा पूर्वजन्म में वह विष्णु, प्रमति और वीर्यवान् था[२७]।

---

२७. पूर्वजन्मनि विष्णुश्च प्रमतिर्नाम वीर्यवान्।
स्वतः स वै चन्द्रमसः पूर्वं कलियुगे प्रभुः॥ मत्स्य पु०, वेंकटेश्वर-संस्करण, १४४।६०
पूर्वजन्मविधिज्ञश्च प्रमतिर्नाम वीर्यवान्।
गोत्रेण वै चन्द्रमसः पूर्वे कलियुगे प्रभुः॥ वायु पु०, ५८।८५-८६
पूर्वजन्मनि विख्यातः प्रमतिर्नाम वीर्यवान्।
गोत्रतो वै चन्द्रमसः पूर्वे कलियुगे प्रभुः॥ ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।८६

ये तीनों शब्द नामार्थ नहीं अपितु विशेषण-बोधनार्थ प्रयुक्त माने जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमति शब्द का वही स्वरूप एवं तात्पर्य है, जो गुप्त सम्राट् के लिये भितरी स्तम्भ-अभिलेख में वर्णित प्रथितपृथुमति शब्द समुच्चय से अभिव्यञ्जित है[२८]। प्रथितपृथुमति को प्रमति शब्द का विस्तार माना जा सकता है। इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुराण-प्रशस्ति में नृपार्थ प्रयुक्त वास्तविक नाम चन्द्र (गुप्त) ही है, तथा प्रमति शब्द के द्वारा चन्द्र के प्रज्ञा और पौरुष का स्पष्टीकरण किया गया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि मत्स्य पुराण के वेंकटेश्वर संस्करण में भी, श्लोक-संख्या ६३ में आलोचित नरेश के लिये प्रमति नाम प्रयुक्त है। इससे डॉ० अग्रवाल का निष्कर्ष समर्थित हो जाता है। प्रस्तुत श्लोक के विवरण में ऐसा आख्यात है कि गंगा तथा यमुना के संगत स्थल पर उक्त नरेश ने सिद्धि प्राप्त किया था[२९]। इस विवरण में स्पष्टतः प्रमति शब्द का सन्दर्भ प्राप्त होता है। इसका प्रयोग न तो उपाधि-संज्ञापन के लिये हुआ है और न विशेषण-बोधन के ही निमित्त; अपितु व्यक्ति-वाचक संज्ञा की ही इससे ध्वनि निकलती है। इस श्लोक का रूपान्तर वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण में भी प्राप्त होता है, पर इन ग्रन्थों में यहाँ प्रमति का उल्लेख नहीं है[३०]। आलोचित नरेश के लिये ये दोनों ग्रन्थ प्रमति शब्द का उल्लेख एक पूर्वगामी श्लोक में करते अवश्य हैं,[३१] पर प्रायः उसी अर्थ में और उसी तात्पर्य के साथ; जैसा कि इनमें विष्णु और वीर्यवान् शब्दों से ध्वनित होता है। अतएव प्रमति शब्द से पुराण-प्रशस्ति में वर्णित नरेश के शक्ति और सामर्थ्य की सूचना मिलती है, न कि उसके लिये प्रयोजनीय व्यक्तिवाचक संज्ञा की।

---

२८. प्रथितपृथुमतिस्वभावशक्तेः। इन विशेषण-बोधक शब्दों का व्यवहार कुमारगुप्त के लिये किया गया है। द्रष्टव्य, का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ५३

२९. संस्थिता सहसा तु या सेना प्रमतिना सह।
गंगायमुनयोर्मध्ये सिद्धि प्राप्ता समाधिना ॥ मत्स्य पु०, १४४।६३

३०. स साधयित्वा वृषलान् प्रायशस्तानधार्मिकान्।
गंगायमुनयोर्मध्ये निष्ठां प्राप्तः सहानुगः ॥ वायु पु०, ५८।९८;
ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।८९

३१. वायु पु०, ५८।७६,८५; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।७७,८६

पुराण-प्रशस्ति में ऐसा प्रसंग भी विवेचित है कि आलोचित नरेश के विजयोपरान्त पृथ्वी उनके (शूरोचित) कर्म से विशिष्ट हो गई थी[३२]। तुलनात्मक अध्ययन के विचार से प्रस्तुत वर्णन अतीव महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि प्रायः एतत्सम उल्लेख मेहरौली-प्रशस्ति में भी मिलता है। इसकी तीसरी पंक्ति के अनुसार नृप चन्द्र का प्रतापावशेष क्षिति-विशिष्ट हो चुका था। इस प्रकार दोनों वर्णनों में समता-द्योतक जो तत्त्व प्राप्त होता है, वह है नृप के बल-वैभव का प्रकाशन; जिसके द्वारा पृथ्वी को ओत-प्रोत बताया गया है। दोनों ही वर्णन वक्ष्यमाण पंक्तियों में उल्लिखित किये जा सकते हैं :—

कृत्वा बीजावशेषां तु पृथ्वीं रूढेन कर्मणा। पुराण-प्रशस्ति

यस्य प्रतापो महान्नाद्याप्युत्सृजति...यत्नस्य शेषः क्षितिम्। मेहरौली-प्रशस्ति

पुराणकार ने अंतिम पंक्तियों में इस बात पर बल दिया है कि नृप ने गंगा और यमुना के संगत स्थल पर समाधि द्वारा सिद्धि-लाभ किया था[३३]। पूर्वगामी पंक्तियों में यह निर्देशित है कि अपने पूर्व जन्म में वह (स्वयं) विष्णु था (मत्स्य पु०), तथा (उपलब्ध जन्म में) वह देव माधव के अंश से अवतरित हुआ था (वायु तथा ब्रह्माण्ड पु०)। प्रस्तुत विवरण से भी पुराणोक्त नरेश तथा गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय के समीकरण की सम्भावना प्रबल हो जाती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का वैष्णव होना सुविदित है। जहाँ तक प्रशस्ति-वर्णन के साम्य का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में प्रशस्ति की अंतिम पंक्तियाँ विवेचनीय हैं। इनमें ऐसा वर्णित है कि नृप ने प्रणिधान द्वारा विष्णु में ध्यान लगाया था[३४]। इस दृष्टि से पुराण-वर्णन एवं अभिलेखगत वर्णन समत्व-द्योतक माने जा सकते हैं।

पुराण-प्रशस्ति के अनुसार युद्ध-भूमि में उन 'विप्रों' द्वारा आलोचित नृप की सहायता सम्पन्न की जा रही थी, जिन्होंने शस्त्र धारण किया था (प्रगृहीतायुधैर्विप्रैः...स तदा वै परिवृतः)[३५]। प्रस्तुत उल्लेख की समीक्षा करते हुये डॉ० अग्रवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, यहाँ सम्भवतः गुप्त-सेना में नियुक्त लिच्छवि-वीरों की ओर संकेत है। अपनी समीक्षा में इन विद्वान् ने इस बात पर भी बल दिया है कि लिच्छवि

---

३२. मत्स्य पु०, १४४।६२; वायु पु०, ५८।८७; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।८८

३३. मत्स्य पु०, १४४।६३; वायु पु०, ५८।८८; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।८९

३४. सरकार, वही, पृ० २७७

३५. मत्स्य पु०, १४४।५३; वायु पु०, ५८।७८; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।७८

'शर्मक-वर्मक' कहलाते थे, जिसकी एकता 'क्षत्र-ब्राह्मण' से स्थापित की जा सकती है[३६]। डॉ० अग्रवाल के निष्कर्ष के साथ इतना और अधिक कह सकते हैं कि पुराण-प्रशस्ति का वर्णन धर्मशास्त्र-परक निर्देश तथा गुप्तकाल के एक सुविदित अभिलेख से पर्याप्त साम्य रखता है। धर्मशास्त्रों में यहाँ बौधायन धर्मसूत्र का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। इसकी व्यवस्था के अनुसार यदि धर्म-स्थापन की आवश्यकता आ पड़े तो 'विप्र' को शस्त्र धारण करना चाहिये (गृहीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया, बौधायन धर्मसूत्र, २।२७१)। बौधायन की इस पंक्ति को समझाते हुये, भाष्यकार श्रीगोविन्द स्वामी ने शस्त्र-ग्रहण का कारण धर्म-बुद्धि माना है (शस्त्र-ग्रहणे हेतुः धर्मबुद्ध्येति यावत्)। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि पुराण-प्रशस्ति में जिन विप्रों का उल्लेख हुआ है वे ऐसे नृप की सहायता सम्पन्न कर रहे थे, जो अधार्मिक लोगों का विनाश कर रहा था[३७]।

प्रस्तुत वर्णन का समत्व-व्यञ्जक उल्लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहा-लेख में प्राप्त होता है। इसके अनुसार वीरसेन ने गुहा का निर्माण उस समय कराया था, जब कि वह पृथ्वी-विजय के लिये प्रस्थित नृप चन्द्रगुप्त के साथ था। वीरसेन की इस कृति को बौधायान-निर्देशित धर्म-व्यवस्था का प्रतीक माना जा सकता है। अभिलेख में वीरसेन को 'कवि' कहा गया है, जो शब्द-अर्थ, न्याय तथा लोकज्ञान में निष्णात था (शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः...)[३८]। इस प्रकार पुराण-गत और अभिलेख-गत वर्णन में समानता स्पष्ट हो जाती है। 'विप्र' तथा 'कवि' में समता इस दृष्टि से मानी जा सकती है, क्योंकि दोनों द्वारा व्यक्ति की विद्वत्ता का बोध होता है। इस प्रकार जो विशेष प्रवृत्तियाँ पुराण-प्रशस्ति से प्रतिध्वनित होती हैं, उनसे प्रतीति यही होती है कि पुराणकार ने गुप्त-सम्राट् चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य की कृतियों को ही आख्यान-निबद्ध किया है।

प्रस्तुत परिच्छेद में आलोचित साक्ष्यों द्वारा प्रकाशित विशेष निष्कर्षों के आधार पर ऐसा सामान्य निष्कर्ष निकल सकता है कि यद्यपि आन्ध्रों के शासन-काल के आस-पास (तृतीय शती ई०) मत्स्य पुराण का एक प्रामाणिक संस्करण आलोक में आ चुका था, तथापि अन्य प्रारम्भिक पुराणों की भाँति यह ग्रन्थ भी प्रक्षेपशील स्थलों के समावेश का विषय बन रहा था। जिन विभिन्न कालों में ऐसे स्थलों का

---

३६. अग्रवाल, वही, पृ० २२६

३७. मत्स्य पु०, १४४।५५; वायु पु०, ५८।८०; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।८२

३८. सरकार, वही, पृ० २७२

समावेश किया गया उनमें गुप्त काल के मध्यवर्त्ती चरण का स्थान विशिष्ट है, जिसके साथ पूर्वगामी अनुच्छेदों में विवेचित प्रशस्ति को समाहित कर सकते हैं। यह भी व्यक्त हो जाता है कि गुप्तोत्तर काल में पुराण वृहत् कोश का रूप धारण कर रहे थे, जिसके पीछे संकलनकर्त्ताओं का उद्देश्य था अधिक से अधिक विषयों का इन ग्रन्थों में समाहार करना। परिणामतः इन संकलित विषयों एवं तत्सम्बन्धित स्थलों में सन्तुलन तथा योजना-अन्विति का अभाव दिखाई देता है।

पौराणिक धर्म एवं समाज

वैष्णव धर्म

आलोचित पुराणों में विष्णु प्रमुख देवता के रूप में—विष्णु पुराण के अनुसार विष्णु सर्वेश हैं। उनमें सभी जीवों की प्रतिष्ठा है। वे सभी के आश्रय हैं। उनका कभी विनाश नहीं होता[1]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में उन्हें विश्वेश, प्रभु तथा सभी लोगों के कर्त्ता की उपाधि दी गई है[2]। मत्स्य पुराण में उन्हें महादेव, देवेश आदि विशेषण प्रदान किये गये हैं[3]।

पौराणिक भावना : विष्णु की ऋग्वैदिक स्थिति में परिवर्तन की द्योतक—ऋग्वेद में विष्णु की प्रशंसा के छन्द इन्द्र, अग्नि, वरुण जैसे देवताओं की तुलना में अल्पसंख्य हैं[4]। इन्हें जो स्थान मिला है, वह इन्द्र की महत्ता के द्वारा आच्छादित है। इन्द्र सभी देवताओं की मूर्धा पर वर्तमान हैं[5]। इन्द्र की प्रेरणा से विष्णु भी सोम-पान करते हैं तथा असुरों के धन का अपहरण करते हैं[6]। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल में विष्णु की महत्ता प्रतिपादित हो

---

१. सर्वेश सर्वभूतात्मन्सर्व सर्वाश्रयाच्युत, प्रसीद विष्णो......। विष्णु पु० १।६।५७।

२. विश्वेशो लोककृद्देवः...प्रभुर्विष्णुर्दिवाकरः। वायु पु० ५१।१८, ब्रह्माण्ड पु० २।२२।१८, १६।

३. अथ देवो महादेवः पूर्वं कृष्णः प्रजापतिः।
विहारार्थं स देवेशो मानुषेष्विह जायते॥ मत्स्य पु० ४७।१

४. वी० यस० घाटे, लेक्चर्स ऑन ऋग्वेद, पृ० १५४

५. देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्, स जनास इन्द्रः। ऋग्वेद २।१२।१

६. मैकडानल, वेदिक माइथालोजी, पृ० ४१, कीथ, दि रिलिजन ऐण्ड फिलासफी ऑफ़ दि वेद ऐण्ड दि उपनिषद्स, पृ० १०६।
अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्याद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता।
ऋग्वेद १।६१।७

चुकी थी। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को सभी देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है[७]।

वैदिक देवों की अपेक्षा पौराणिक विष्णु का उत्कर्ष

इन्द्र और विष्णु—विष्णु पुराण के अनुसार इन्द्र ने सौ यज्ञों के द्वारा विष्णु को परितुष्ट कर अमरेशत्व की प्राप्ति की[८]। बलि के सम्बन्ध में कहा गया है कि विष्णु को सन्तुष्ट कर उसने एक मन्वन्तर तक निर्विरोध रूप में इन्द्रत्व का उपभोग किया[९]। इन्द्र ने कृष्ण का रूप धारण करने वाले विष्णु की आज्ञा से सुधर्मा नामक सभा को यदुवंशियों को प्रदान किया[१०]। देवासुर-संग्राम के अवसर पर असुरों को मारने के लिये उद्यत नृप पुरंजय के लिये इन्द्र ने वृषभ का रूप धारण किया था। पर असुरहन्ता राजा का तेज स्वयं विष्णु से प्राप्त हुआ था[११]। अन्यत्र कहा गया है कि शक्र में विष्णु का रूप सन्निहित है। इसी रूप में वे पृथ्वी का पालन करते हैं[१२]। पूर्व अनुच्छेद में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि ऋग्वेद के समय में इन्द्र को ही विष्णु की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था। अतएव ये पौराणिक स्थल निश्चय ही वैदिक परम्परा में परिवर्तन के द्योतक हैं।

सूर्य और विष्णु—विष्णु पुराण के अनुसार सूर्य का मंडल वैष्णवी शक्ति से तेजोमय होता है[१३]। अन्यत्र कहा गया है कि सूर्य का स्वकीय तेज वैष्णवी तेज से संयुक्त था। सूर्य की पत्नी संज्ञा इस तेज को सह न सकी। अतएव विश्वकर्मा ने

---

७. तद्विष्णुः प्रथमः प्राप। स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्तस्मादाहुर्विष्णुः देवानां श्रेष्ठ इति। श० ब्रा०, १४।१।१।५।

८. इष्ट्वा यमिन्द्रो यज्ञानाम् शतेनामरराजताम्।
अवाप तमनन्तादिमहं द्रक्ष्यामि केशवम्। विष्णु पु०, ५।१७।७

९. यत्रांबु विन्यस्य बलिर्मनोज्ञानवाप भोगान्वसुधातलस्थः।
तथामरत्वं त्रिदशाधिपत्वं मन्वन्तरं पूर्णमपेतशत्रुम्। वही, ५।१७।३०

१०. इत्युक्तः पवनो गत्वा सर्वमाह शचीपतिम्।
ददौ सोऽपि सुधर्माख्यां सभां वायोः पुरन्दरः। वही, ५।२१।१६

११. ततश्च शतक्रतोर्वृषरूपधारिणः......अच्युतस्य तेजसाप्यायितो......।
वही, ४।२।३१।

१२. शक्रादिरूपी परिपाति विश्वम्......। वही, ४।१।८७

१३. सवितुर्मण्डले ब्रह्मन्विष्णुशक्त्युपबृंहिताः। वही, २।१०।१९

इसे काटने का प्रयत्न किया। किन्तु इस प्रयास में विश्वकर्मा को सूर्य के अष्टमांश तेज को काटने में ही सफलता प्राप्त हुई[१४]।

यहाँ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में भी प्रस्तुत प्रसंग से साम्य रखते हुये वर्णन मिलते हैं। उदाहरणार्थ, एक स्थल पर इन्द्र और विष्णु की सहशक्ति सूर्य की उत्पादिका मानी गई है[१५]। अतएव उक्त पौराणिक स्थल परिवर्तन को द्योतित करते हैं। कारण यह कि इनके अनुसार विष्णु अपनी शक्ति से एकाकी और ऐकान्तिक रूप में ही सूर्य को अनुप्रेरित करते हैं। अन्य पौराणिक स्थलों के द्वारा भी सूर्य की अपेक्षा पौराणिक विष्णु की महत्ता स्पष्ट की जा सकती है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में आदित्य को विष्णु का उपासक माना गया है[१६]। सूर्य तथा सौर-पूजा-विषयक अध्याय में दिखाया जायगा कि विष्णु की गणना द्वादश-आदित्यों के अन्तर्गत की गई है। प्रस्तुत प्रसंग में उन पौराणिक स्थलों को उद्धृत किया जा सकता है, जिनमें विष्णु को आदित्यों का नायक अथवा अधिपति बताया गया है और इस प्रकार सूर्य की अपेक्षा विष्णु की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ, विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य, चारो पुराणों में कहा गया है कि जब लोक-पितामह विभिन्न देवों को राज्य-वितरण करने लगे, उस समय उन्होंने आदित्यों का आधिपत्य विष्णु को दिया[१७]।

इस धार्मिक परिवर्तन के अन्तर्गत **अग्नि, वरुण, पूषा, अश्विन, मरुत्, साध्य, विश्वदेवता** आदि सभी वैदिक देवताओं के तुलनात्मक स्वरूप का विश्लेषण किया जा सकता है, जिन्हें पौराणिक धर्म में विष्णु की अपेक्षा निम्नतर रखा गया

---

१४. विष्णु पु०, ३।२।३, ८, ९, यस्माद्वैष्णवं तेजः शातितं विश्वकर्मणा। वही, ३।२।१०

१५. उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयंता सूर्यम्...। ऋग्वेद ७।९९।४, हे इन्द्राविष्णू...युवां...सूर्यं...प्रादुर्भविष्यन्तौ। उक्त स्थल पर सायण, मैकडानल, वही, पृ० ३१।

१६. ......आदित्य......सदाभिष्टुतो......विष्णु......। विष्णु पु० ४।११।२

१७. आदित्यानां पतिं विष्णुं......। विष्णु पु० १।२२।३
आदित्यानां पतिं विष्णुं......। वायु पु० ७०।५
आदित्यानां पुनर्विष्णुं......। ब्रह्माण्ड पु० ३।८।५
विष्णुं रवीणामधिपम्......। मत्स्य पु० ८।४.

है। विष्णु पुराण के एक वर्णन के अनुसार पूषा, अग्नि, अश्विनीकुमार, वसु, मरुत् आदि सभी देवता असुरों के द्वारा आक्रान्त होकर विष्णु की शरण आते हैं[१८]। विष्णु उनकी रक्षा करने के लिये बद्धपरिकर हैं। कारण यह है कि इन सभी देवताओं में विष्णु की ही प्रतिष्ठा है[१९]। इन सभी देवों का अस्तित्व अल्प और नगण्य है। असुरों से टक्कर लेने की क्षमता उनमें तभी आती है, जब कि विष्णु उनके तेज का उपबृंहण करते हैं[२०]। असुरों को पराजित करने के लिये वे विष्णु की आज्ञा का अक्षरशः अनुसरण करते हैं[२१]। अन्य स्थल पर कहा गया है कि अग्नि, आदित्य, मरुद्गण, वसु आदि सभी देवता विष्णु के ही अंश हैं[२२]। एक प्रसंग में मरुत् को विष्णु का केवल संदेशवाहक बताया गया है। कहा गया है कि विष्णु के अवतार कृष्ण ने मरुत् के द्वारा इन्द्र के पास अपना सन्देश भेजा था[२३]। अग्नि के बारे में अन्यत्र कहा गया है कि अग्नि केवल सुवर्ण के गुरु हैं पर विष्णु सभी लोगों के गुरु हैं[२४]।

रुद्र और विष्णु—पौराणिक विष्णु तथा रूद्र-शिव का सम्बन्ध भी इस धार्मिक परिवर्तन का एक विवेचनीय पहलू है। शैव धर्म-विषयक अध्याय में इस बात

---

१८. सर्वादित्यैः समं पूषा पावकोऽयं सहाग्निभिः।
अश्विनौ वसवश्चैमे सर्वे चैते मरुद्गणाः।
साध्या विश्वे तथा देवा देवेन्द्रश्चायमीश्वरः।
प्रणामप्रवणा नाथ दैत्यसैन्यैः पराजिताः।
शरणं त्वामनुप्राप्ताः समस्ता देवतागणाः। विष्णु पु०, १।९।६५

१९. योऽयं तवाग्रतो देव समीपं देवतागणः।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्। वही, १।९।७०

२०. तेजसो भवतां देवाः करिष्याम्युपबृंहणम्। वही, १।९।७६

२१. वही १।९।७७—८१

२२. तदंशभूतस्सर्वेषां वस्सुरोत्तमाः।
आदित्या मरुतस्साध्या रुद्रा वस्वश्विवह्नयः। वही, ५।१।१६

२३. इत्युक्तः सोऽस्मरद्वायुमाजगाम च तत्क्षणात्।
उवाच चैनं भगवान्केशवः कार्यमानुषः।
इत्युक्तः पवनो गत्वा सर्वमाह शचीपतिम्। वही, ५।२१।१३, १६

२४. अग्निस्सुवर्णस्य गुरुर्गवां सूर्यः परो गुरुः।
ममाप्यखिललोकानां गुरुर्नारायणो गुरुः। वही, ५।१।१४

को दिखाने की चेष्टा की गई है कि पुराणों के काल में वैदिक रुद्र की स्थिति में परिवर्तन आ गया था तथा वे प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। रुद्र और विष्णु के पौराणिक सम्बन्ध में निम्नांकित वर्णन प्राप्त होते हैं :—

विष्णु की अपेक्षा रुद्र की महत्ता—वायु पुराण में कहा गया है कि महेश्वर परम देवता हैं। विष्णु में भी परमदेवत्व की प्रतिष्ठा है। पर उनका स्थान महेश्वर के उपरान्त आता है[२५]।

विष्णु और रुद्र में समझौता—साथ ही दोनों देवताओं में समझौते की भावना दृष्टिगोचर होती है। वायु पुराण में नैमिषारण्य के ऋषि वायु से पूछते हैं कि जब सभी देवता विष्णुमय हैं, विष्णु के समान कोई दूसरी गति नहीं है, तो विष्णु रुद्र को प्रणाम क्यों करते हैं? विष्णु और रुद्र में प्रीति किस प्रकार हुई[२६]? इस प्रीति का कारण मेघवाहन नामक कल्प बताया गया है, जिसमें विष्णु ने मेघ के रूप में सैकड़ों वर्ष तक चर्मवसनधारी महादेव को धारण किया था[२७]। विष्णु और रुद्र का समझौता वायु पुराण में एक दूसरे स्थल पर अधिक स्पष्ट किया गया है। इस वर्णन के अनुसार विष्णु शिव से वरदान मांगते हैं। वरदान देने के उपरान्त शिव विष्णु के प्रति अपनी प्रीति प्रदर्शित करते हैं। इस वर्णन में विष्णु और शिव दोनों देवताओं में समानता दिखाई गई है[२८]।

रुद्र-शिव की अपेक्षा विष्णु की महत्ता—ऐसे स्थल भी उपलब्ध होते हैं जिनमें शिव की अपेक्षा विष्णु को ही महान् माना गया है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में एक स्थल पर रुद्र को विष्णु का ही रूप मानते हुए कहा गया है कि इस

---

२५. ईश्वरो हि परो देवो विष्णुस्तु महतः परः। वायु पु०, ५।२०

२६. कथञ्च विष्णो रुद्रेण सार्द्धं प्रीतिरनुत्तमा।
सर्वे विष्णुमया देवा सर्वे विष्णुमया गणाः।
न च विष्णुसमा काचिद्गतिरन्या विधीयते।
भवस्य स कथं नित्यं प्रणामं कुरुते हरिः। वही, २१।६, ७

२७. द्वाविंशस्तु तथा कल्पो विज्ञेयो मेघवाहनः।
यत्र विष्णुर्महाबाहुर्मेघीभूत्वा महेश्वरं।
दिव्यं वर्षसहस्रन्तु अवहत् कृत्तिवाससम्। वही, २१।४६

२८. वही, २५।१५-२६

रूप में वे जगत् का संहार करते हैं[२९]। एक अन्य स्थल पर भी पिनाकधारी शिव में विष्णु की ही प्रतिष्ठा मानी गई है[३०]। लगता है कि रुद्र की अपेक्षा विष्णु की यह महत्ता यज्ञ के कारण थी। वायु और मत्स्य पुराणों में शिव को यज्ञ में अनिमंत्र्य माना गया है। इस बात को शैव धर्म-विषयक अध्याय में सविस्तार स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है[३१]। इस प्रसंग में वायु पुराण का एक अन्य स्थल उल्लेखनीय है, जिसमें दक्ष के यज्ञ के सम्बन्ध में सर्वप्रमुख देवता के निर्णय के विषय में विवाद चलता है। दधीच महादेव को ही सर्वोपरि रखते हैं। पर अन्त में विष्णु को ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है तथा वही यज्ञ के आराध्य देव के रूप में पूजित होते हैं[३२]। इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि विष्णु की यज्ञीय प्राथमिक महत्ता वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो गई थी। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार देवों द्वारा आयोजित एक यज्ञ में विष्णु को उनके उत्कृष्ट तपस्या आदि कार्य-कलापों के कारण प्रथम स्थान निर्धारित किया गया था[३३]।

वैदिक परम्परा का प्रभाव - विष्णु का तृतीय अथवा परम पद—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विष्णु का तृतीय पद भास्वर माना गया है। कहा गया

---

२९. सम्भक्ष्य सर्वभूतानि देवादीन्यविशेषतः।
नृत्ययन्ते च यद्रूपं तस्मै रुद्रात्मने नमः। विष्णु पु०, ३।१७।२६

३०. नमो नमो विशेषस्त्वं त्वं ब्रह्मा त्वं पिनाकधृक्। वही, १।९।६९

३१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३८

३२. दधीच उवाच—सर्वे निमंत्रिता देवा येन ईशो निमंत्रितः।
यथाहं शंकरादूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतं।
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञो येन भविष्यति।

दक्ष उवाच—एतन्मखे शूर सुवर्णपात्रे
हविः समस्तं विधिमंत्रपूतं।
विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य सर्वं
प्रभोर्विभो ह्यावहनीय नित्यं॥ वायु पु० ३०।१०६-७

३३. देवा ह वै सत्रं निषेदुः अग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वेदेवाऽन्यत्रैवाश्विभ्याम्। तेषाङ्कुरुक्षेत्रन्देवयजनमास......ते होचुः। यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया...पूर्वोऽवगच्छाता...तद्विष्णु प्रथमः प्राप। शतपथ ब्राह्मण १४।१।१, १-५।

है कि सप्तर्षि-मंडल के ऊपर ध्रुव तक विष्णुपद है। इस पद तक जो लोग पहुँचते हैं, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। लोक के साधक ध्रुव आदि इसी विष्णु पद के आश्रित होकर अचल रहते हैं[३४]। विष्णु पुराण में विष्णु के परम पद को दार्शनिक दृष्टि से समझाने की चेष्टा की गई है। कहा गया है कि भोक्ता और भोग्य, स्रष्टा और सृज्य तथा कर्त्ता एवं कार्य के रूप में जो स्वयं ही है, वही विष्णुपद है। वह पद विशुद्ध, बोध-स्वरूप, नित्य, अजन्मा, अक्षत, अव्यय और अविकारी है। वह सदा निर्मल रहता है, वह न स्थूल है न सूक्ष्म और न किसी विशेषण का विषय है। विष्णु के इस परम पद का साक्षात्कार पाप, पुण्य आदि के क्षीण हो जाने पर केवल योगी लोग ही कर पाते हैं[३५]। ये पौराणिक स्थल निश्चय ही वैदिक भावना से प्रभावित हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि विष्णु के परम पद में मधु का स्रोत है। इससे स्वर्वासी सुख प्राप्त करते हैं[३६]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार विष्णु का परम पद आकाश में (टीकाकार हरिस्वामी ने 'दिवि' का अर्थ आकाश माना

---

३४. ऊर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्रास्ति वै स्मृतं।
एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भास्वरं।
तत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदं।
धर्मध्रुवाद्यास्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाधकाः। वायु पु०, ५०।२२१-२२, ब्रह्माण्ड पु०, २।२१।१७५-७७

३५. भोक्तारं भोग्यभूतं च स्रष्टारं सृज्यमेव च।
कार्यकर्तृस्वरूपं तं प्रणताः स्म परमं पदम्।
विशुद्धबोधवन्नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
अव्यक्तमविकारं यत्तद्विष्णोः परमं पदम्।
न स्थूलं न च सूक्ष्मं यन्न विशेषणगोचरम्।
तत्पदं परमं विष्णोः प्रणमामः सदामलम्।
यद्योगिनः सदोद्युक्ताः पुण्यपापक्षयेऽक्षयम्।
पश्यन्ति प्रणवे चिन्त्यं तद्विष्णोः परमंपदम्। विष्णु पु०,१।९।५०-५४

३६. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था **विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः।**
ऋ० वे०, १।१५४।५

है, से० बु० ई० में इसका अर्थ स्वर्ग माना गया है) आँख के समान जड़ा हुआ है। इसे केवल धीमान् व्यक्ति ही देख पाते हैं[३७]।

विष्णु के तीन पद—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में बताया गया है कि विष्णु ने अपने तीन पद-क्रमों से लोकों को विजित कर त्रिलोक का राज्य इन्द्र को प्रदान किया[३८]। यद्यपि ऋग्वेद में विष्णु के तीन पदों की चर्चा मिलती है,[३९] पर पौराणिक भावना शतपथब्राह्मण के बहुत निकट है जिसके अनुसार विष्णु के तीनों पदों का विन्यास वह विजय है, जिसके फलस्वरूप उन्होंने देवताओं को अपरिमेय अधिकार प्रदान किया[४०]।

विष्णु की व्यापनशीलता—विष्णु और वायु पुराणों में 'विष्णु' शब्द की व्युत्पति का आधार प्रवेशन के अर्थ में प्रयुक्त 'विश्' धातु माना गया है। कहा गया है कि इन्हें विष्णु इसलिये कहते हैं कि यह अखिल विश्व उन्हीं की शक्ति से व्याप्त है[४१]। विष्णु की यह व्यापनशीलता ऋग्वेद में भी स्पष्ट की गई है। एक स्थल पर कहा गया है कि विष्णु के विशाल विक्रम में सर्व लोक समाविष्ट है[४२]। यही कारण है कि आचार्य सायण ने विष्णु शब्द का अर्थ व्यापनशील माना है[४३]।

---

३७. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्.........। श० ब्रा०, ३।७।१।१८

३८. त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकाञ्जित्वा येन महात्मना।
पुरन्दराय त्रैलोक्यं दत्तं निहतकण्टकम्। विष्णु पु० ३।१।४३
त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकाञ्जित्वा विष्णुरुरुक्रमः।
प्रत्यपादयदिन्द्राय देवेभ्यश्चैव स प्रभुः। वायु पु० ६६।१३५,१३६, ब्रह्माण्ड पु० ३।२।११८

३९. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति। तृतीयमस्य न किरा......। ऋ० वे०, १।१५५।५

४०. अथाक्रमते। विष्णुस्त्वाक्रमतामिति..स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विधक्रमे..। श० ब्रा०, १,१,२, १३

४१. यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्। विष्णु पु० ३।२।४५
यस्माद्विष्टमिदं सर्वं वामनेनेह जायता।
तस्मत्स वै स्मृतो विष्णुर्विशेः धातोः प्रवेशनात्। वायु पु०, ५५।१३७

४२. यस्योरुषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। ऋ०वे०, १।१५४।२

४३. विष्णोर्**व्यापनशीलस्य**। ऋग्वेद, १,१५४,१ पर सायण

वैष्णव धर्म का विकास : नारायण और विष्णु का एकीकरण—विष्णु पुराण में नारायण शब्द की व्युत्पति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नार का अर्थ जल होता है। जल ही विष्णु का प्रथम निवास-स्थान है। इसीलिये विष्णु को नारायण कहते हैं। वे नारायण पर, अचिन्त्य तथा दूसरों के उत्पत्ति-स्थान हैं। वे ब्रह्म के रूप में हैं तथा अनादि हैं[४४]। वायु पुराण में शिव, विष्णु का गुणगान करते हुए समस्त विश्व को रुद्र तथा नारायण अर्थात् विष्णु से युक्त बताते हैं[४५]। इसी पुराण में अन्यत्र विष्णु को नारायण नाम दिया गया है। कहा गया है कि वही एकमात्र साधनीय हैं[४६]। मत्स्य पुराण में विष्णु को नारायण कहा गया है। बताया गया है कि शक्र, वृहस्पति आदि सभी देव उन्हीं नारायण के रूप हैं[४७]। एक अन्य स्थल पर इस पुराण में विष्णु के अवतारों को नारायणात्मक बताया गया है[४८]। समुद्र-मंथन की कथा के प्रसंग में विष्णु को ब्रह्माण्ड पुराण में 'आदिनारायण' की उपाधि दी गई है[४९]।

जहाँ तक नारायण-सम्बन्धी प्राचीनतम् भावना का सम्बन्ध है, बीज रूप में इसका उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है। एक छन्द में उस प्रथम जल की चर्चा की गई है जिसमें स्वयंभू वर्तमान थे, जिन्होंने सभी जीवों को धारण किया था[५०]। भण्डारकर महोदय का मत है कि स्वयंभू नारायण के द्योतक हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारायण में ही सभी लोक, देव, वेद तथा प्राण की प्रतिष्ठा है[५१]। इन्हीं नारायण

---

४४. नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषामपि स प्रभुः।
ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसंभवः।
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। विष्णु पु०, १।४।४, ६

४५. विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम्। वायु पु०, २५।२१

४६. साध्यो नारायणश्चैव विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः। वही, २३।६५

४७. एष नारायणो भूत्वा हरिरासीत्सनातनः। मत्स्य पु०, १७२।४

४८. नारायणात्मकाः सर्वे विष्णुस्तेषामग्रजः। वही, १२।५०

४९. आदिनारायणः श्रीमान्मोहिनीरूपमादधे। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१०।३४

५०. ऋग्वेद १०।८२।५, ६, भण्डारकर, क० व० आ० भाग ४, पृ० ४३

५१. सर्वांल्लोकानात्मन्निधिषि सर्वेषु लोकेष्वात्मनमधा सर्वान्देवानात्मन्निधिषि...सर्वेषुवेदेष्वात्मानमधा सर्वान्प्राणानात्मन्निधिषि...। श० ब्रा० १३।३।४।११, भण्डारकर, वही, पृ० ४३-४४

से आगे चलकर विष्णु की एकता स्थापित की गई, जिससे वैष्णव धर्म को विकसित होने का अवकाश मिला। यह प्रवृत्ति स्मृतियों के समय में पूर्ण रूप से प्रचलित थी। उदाहरणार्थ, विष्णुस्मृति में विष्णु की प्रार्थना करती हुई पृथ्वी उन्हें नारायण के नाम से संबोधित करती है[५२]।

विष्णु और वासुदेव-कृष्ण का तादात्म्य—नारायण के अतिरिक्त विष्णु से वासुदेव-कृष्ण का एकीकरण भी वैष्णव धर्म के विकास में सहायक था[५३]। पौराणिक वर्णनों में निश्चयपूर्वक दोनों में एकता स्थापित की गई है। विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का नामान्तर बताया गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि विष्णु सर्वत्र हैं और उनमें सभी का वास है, अतएव विद्वान् उन्हें वासुदेव कहते हैं[५४]। अन्यत्र कहा गया है कि भगवान् वासुदेव ने भूभार को हरने के लिये देवकी के गर्भ से अवतार लिया[५५]। वायु पुराण में भी वासुदेव-कृष्ण के रूप में विष्णु द्वारा अवतार लिये जाने का वर्णन मिलता है[५६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में बताया गया है कि प्रभु नारायण मनुष्य की योनि में वसुदेव की तपस्या के फलस्वरूप देवकी के गर्भ में उत्पन्न हुए[५७]। ठीक इसी प्रकार का वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[५८]। इसमें सन्देह नहीं कि विष्णु और वासुदेव-कृष्ण की एकता वेदोत्तरवर्ती साहित्य

---

५२. नारायण । परायण । जगत्परायण । नमो नम इति । विष्णु स्मृति ९८।९८-१०१

५३. भण्डारकर, वही पृ० ४६-४९

५४. विष्णुं ग्रसिष्णुं विश्वस्य...सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते। विष्णु पु० १।२।७,१२,

५५. ......अवनिभारहरणाय...भगवाननादिमध्यनिधनो देवकीगर्भमवततार वासुदेवः। वही, ४।१५।३०

५६. तदा षष्ठेन चांशेन कृष्णः पुरुषसत्तमः।
वसुदेवाद्यदुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यति। वायु पु० ३१।२०६

५७. देवक्यां वसुदेवेन तपसा पुष्करेक्षणः।
चतुर्बाहुस्तु संजज्ञे दिव्यरूपः श्रियाऽन्वितः।
प्रकाशो भगवान्योगी कृष्णो मानुषमागतः। वायु पु० ९६।१९३,१९४,
ब्रह्माण्ड पु० ३।७१।१९७,१९८

५८. देवक्यां वसुदेवस्य तपसा पुष्करेक्षणः। चतुर्बाहुस्तदा जातो......।
मत्स्य पु० ४७।२

में स्थापित की गई है। उदाहरणार्थ, महाभारत के शान्ति पर्व में कृष्ण का गुणगान करते हुए युधिष्ठिर उन्हें विष्णु के रूप में देखते हैं[५९]। अष्टाध्यायी से विदित होता है कि वासुदेव की आराधना करने वाले वासुदेवक कहलाते थे[६०]। विष्णु-स्मृति में वासुदेव और विष्णु में एकता स्थापित करते हुए उनका ध्यान करने का आदेश दिया गया है[६१]।

भक्ति—विष्णु की उपासना के सम्बन्ध में भक्ति शब्द का प्रयोग मत्स्य और विष्णु पुराणों के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थलों पर किया गया है। मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख विभूतिद्वादशी नामक व्रत के प्रसंग में हुआ है। कहा गया है कि केशव को सन्तुष्ट करने का एकमात्र साधन भक्ति है[६२]। विष्णु पुराण में इसकी चर्चा नृप शतधनु के धार्मिक क्रिया-कलापों में मिलती है। कहा गया है कि वे भक्ति-मार्ग का अवलंबन कर विष्णु का चिन्तन करते थे[६३]।

विष्णु-भक्ति की महत्ता—विष्णु पुराण में वर्णित ध्रुव को सर्वोत्तम स्थान पाने की प्रबल जिज्ञासा होती है। वे अपनी हृदयेच्छा को सप्तर्षियों के सामने प्रस्तुत करते हैं। सप्तर्षि उन्हें विष्णु-भक्ति का आदेश देते हैं। मरीचि ऋषि कहते हैं कि बिना गोविन्द की आराधना के मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ स्थान नहीं मिल सकता है। अत्रि के अनुसार परम पुरुष जनार्दन परा प्रकृति आदि से भी परे हैं। वे जिससे सन्तुष्ट होते हैं, उसी को अक्षय-पद मिलता है। अंगिरा समस्त जगत् को अव्ययात्मा अच्युत से ओत-प्रोत बताते हुए कहते हैं कि विष्णु की आराधना करने से अति दुर्लभ पद मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है क्योंकि विष्णु परब्रह्म, परधाम और परस्वरूप हैं। पुलह कहते हैं कि विष्णु यज्ञ-पति और जगत्पति हैं। उनकी आराधना करने से इन्द्र ने श्रेष्ठ ऐन्द्र स्थान को प्राप्त किया है। अतएव उनकी आराधना अपेक्षित है। क्रतु के अनुसार विष्णु परम पुरुष, यज्ञपुरुष और योगेश्वर हैं। उनकी आराधना करने से मन की कोई भी इच्छा

---

५९. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ४३। द्रष्टव्य, भण्डारकर, वही, पृ० ४९

६०. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्। अष्टाध्यायी ४।३।९८। द्रष्टव्य, वा० श० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३५२

६१. भगवन्तं वासुदेवं......चतुर्भुजं......ध्यायेत्, ध्यायेत् पुरुषं विष्णुम्। विष्णु स्मृति ९७।१०,१६

६२. ......**भक्त्या** तुष्यति केशवः। मत्स्य पु० १००।३६

६३. आराधयामास विभुं......**भक्तितः**। विष्णु पु० ३।१८।५५

पूरी हो जाती है फिर, त्रैलोक्य के अन्तर्गत स्थान की प्राप्ति का कहना ही क्या है[६४] ? अन्यत्र कहा गया है कि भगवान् विष्णु अपने द्वेषियों द्वारा भी कीर्त्तित होने पर उन्हें फल प्रदान करते हैं, फिर सम्यक् पूर्वक उनकी भक्ति करने वालों को दुर्लभ फल देना तो उनका नियम ही है[६५]। मत्स्य पुराण के अनुसार अक्षय तृतीया नामक व्रत का अनुष्ठान करने से तथा इस अवसर पर विष्णु की उपासना से अक्षय फल की प्राप्ति होती है[६६]।

विष्णु-भक्ति का सूक्ष्म स्वरूप—विष्णु पुराण में नारायण को हृदयस्थ माना गया है[६७]। यह हृदयस्थ विष्णु आराधना के विषय हैं, जिसके निमित्त निम्नांकित नियम बताये गये हैं। कहा गया है कि विष्णु की उपासना करने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह पहले सम्पूर्ण बाह्य विषयों से चित्त को हटावे और उसे जगत् के एकमात्र आधार विष्णु में स्थिर करे। इस प्रकार तन्मय भाव से विष्णु का जप करना चाहिये[६८]। नृप शतधनु के बारे में भी बताया गया है कि वे विष्णु की उपासना तन्मय भाव से करते थे[६९]। जिस विष्णु की उपासना पराशर करते हैं, वे विकार-रहित हैं, नित्य हैं तथा उनका रुप सदा एक सा रहता है। वे विश्व के अधिष्ठान हैं, अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और

---

६४. विष्णु पु० १।११।४०-४६

६५. अयं हि भगवान् कीर्त्तितश्च...द्वेषानुबन्धेनापि अखिलसुरासुरादिदुर्लभं फलं प्रयच्छति किमुत सम्यग्भक्तिमतामिति। विष्णु पु०, ४।१५।१७

६६. वैशाखशुक्लपक्षे तु......अक्षयं फलं प्राप्नोति......पूज्यते विष्णुः......। मत्स्य पु०, ६५।२,४

६७. नारायणोऽयनं धाम्नां तस्याधारः स्वयं हृदि। विष्णु पु०, २।६।४

६८. राजपुत्र यथा विष्णोराराधनपरैर्नरैः।
कार्यमाराधनं तन्नो यथावच्छ्रोतुमर्हसि।
बाह्यार्थादिखिलाच्चित्तं त्याजयेत्प्रथमंनरः।
तस्मिन्नेव जगद्धाम्नि ततः कुर्वीत निश्चलम्।
एवमेकाग्रचित्तेन तन्मयेन धृतात्मना।
जप्तव्यं यन्निबोधैतत्तन्नः पार्थिवनन्दन। वही, १।११।५२-५५

६९. ......तन्मना नान्यमानसः। वही, ३।१८।५५

संहार के मूलकारण हैं[७०]। उनका पारमार्थिक रुप अत्यन्त निर्मल है तथा वे ज्ञानमय हैं। वे पर से भी परे हैं, अन्तरात्मा में उनका निवास है। वे रूप, वर्ण, नाम और विशेषण आदि से सर्वथा रहित हैं। उनमें जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश का अभाव है। उनके विषय में 'है' केवल इतना ही कहा जा सकता है[७१]। वे स्वयं को ही परिपालित करते हैं तथा स्वयं को ही उपसंहृत करते हैं। ऐसे विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं, उपासना के योग्य हैं तथा भक्त को वरदान देते हैं[७२]।

वैष्णवी भक्ति का स्थूल रूप—विष्णु पुराण में विष्णु की स्तुति करते हुए विष्णु का एक रूप सूक्ष्म और दूसरा स्थूल बताते हैं[७३]। स्थूल रूप धारण करने वाले विष्णु के पर्वत और पयोधि दो आवासों का वर्णन मिलता है। वायु पुराण में कहा गया है कि विष्णु का आयतन निपद पर्वत पर है। इस आयतन में पीताम्बर धारण कर विष्णु निवास करते हैं। वहाँ उनकी सेवा सिद्ध और ऋषियों द्वारा सम्पन्न होती है। वे सनातन हैं, सृष्टि के कर्त्ता हैं तथा वर देने वाले हैं[७४]। इसका वर्णन मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है। कहा गया है कि हिमालय का पर्यटन करते हुए इस पर्वत पर पुरुरवा ने विष्णु का प्रासाद देखा था। इस प्रासाद में विष्णु शयन कर रहे थे[७५]। पर सामान्यतः विष्णु का आवास समुद्र ही बताया गया है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में नारायण शब्द की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध ही विष्णु के

---

७०. अविकाराय...नित्याय...सदैकरूपरूपाय......आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।......ग्रसिष्णुं विश्वस्य स्थितौ सर्गे तथा प्रभुम्। विष्णु पु०, १।२।१-५

७१. ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।
पर: पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः।
रूपवर्णादिनिर्देश-विशेषणविवर्जितः।
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्धिजन्मभिः।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदस्ति केवलम्। वही, १।२।६. १०-१२.

७२. स एव सृज्यः स च सर्गकर्त्ता, स पात्यत्ति च पाल्यते च। विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः। वही, १।२।७०.

७३. ......स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः। विष्णु पु०, १।२।३.

७४. दीप्तमायतनं विष्णोः सिद्धर्षिगणसेवितं......तत्र साक्षान्महादेवः पीतांबरधरो हरिः। वरदः सेव्यते सिद्धैर्लोककर्त्ता सनातनः। वायु पु०, ४१।४९-५०.

७५. प्रासादे भगवान्देवदेवो वै जनार्दनः। मत्स्य पु०, ११९।२८

जलावास से किया गया है[७६] । अन्यत्र कहा गया है कि विष्णु का दर्शन करने के लिये इन्द्र आदि देवता क्षीर सागर के तट पर गये थे[७७] । ऐसे स्थल भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे मूर्ति-पूजा के प्रचलन का पता चलता है । विष्णु पुराण के अनुसार देवताओं की स्तुति के उपरान्त जिस समय विष्णु प्रकट हुए, वे शंख, चक्र और गदा धारण किये हुए गरुड़ पर आरूढ़ थे[७८] । वसुदेव के पुत्र के रूप में जब वे अवतरित हुए, उस समय उनकी अमृत दल सी आभा, चार भुजा और श्रीवत्स चिह्न देखकर वसुदेव उनकी स्तुति करने लगे[७९] । अन्यत्र उनके दिव्य रूप का वर्णन करते हुये उनकी आँखों को विकसित कमल के समान बताया गया है । कहा गया है कि वे पीला वस्त्र पहनते हैं, उनके अलंकार किरीट, केयूर, हार, कटक आदि हैं, उनकी चारो भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म वर्तमान हैं[८०]। ब्रह्माण्ड पुराण में विष्णु को कौस्तुभ से युक्त बताया गया है[८१] । मत्स्य पुराण के अनुसार वे कौस्तुभ को वक्ष पर धारण करते हैं[८२] । मत्स्य पुराण की पंक्तियों में मूर्तिपूजा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है । कहा गया है कि अंगारक व्रत के अवसर पर सुवर्णमय, अतिविस्तृत चतुर्भुज भगवान् की मूर्ति का निर्माण होना चाहिये[८३] । इसी प्रकार अशून्य-शयन नामक व्रत के अवसर पर विष्णु की प्रतिमा के निर्माण का आदेश दिया गया है[८४] ।

---

७६. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ६

७७. एवमुक्त्वा सुरान्सर्वान् ब्रह्मा लोकपितामहः क्षीरोदस्योत्तरं तीरं तैरेव सहितो ययौ । मत्स्य पु०, १।६।३८

७८. स्तोत्रस्य चावसाने ते ददृशुः परमेश्वरम् ।
शंखचक्रगदापाणिं गरुडस्थं सुरा हरिम् । वही, ३।१७।३५

७९. फुल्लेन्दीवरपत्राभं चतुर्बाहुमुदीक्ष्य तम् श्रीवत्सवक्षसं जातं तुष्टाव...।
वही, ५।३।८

८०. तच्च रूपमुत्फुल्लपद्मदलामलाक्षम.........पीतवस्त्रधार्यममल-किरीटकेयूरहारकटकादिशोभितमुदारचतुर्बाहुशंखचक्रगदाधरम्........।
विष्णु पु० ४।१५।१३

८१. कौस्तुभाख्यं ततो रत्नमाददे तज्जनार्दनः । ब्रह्माण्ड पु० ४।१०।७३

८२. कौस्तुभश्च मणिर्दिव्यश्चोत्पन्नो... । मत्स्य पु० २५०।४

८३. अंगुष्ठमात्रं पुरुषं तथैव सौवर्णमत्यायतबाहुदंडम् । चतुर्भुजं......
वही, ७२।३४

८४. प्रतिमां देवदेवस्य... । वही, ७१।१७

इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि बीज रूप में भक्ति का अविर्भाव ऋग्वेद के काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद के ऋषि द्यौस् को अपना पिता[८५] तथा अदिति[८६] को अपनी माता बताते हैं। द्यौस् से वे पितृवत् अनुकंप्य होने की प्रार्थना करते हैं[८७]। भक्ति को पनपने को पुनः उपनिषदों के समय में अवकाश मिला। उदाहरणार्थ, श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस देव के शरण की कामना की गई है, जो ब्रह्मा की रचना कर उसे वेद प्रदान करता है तथा जो बुद्धि का प्रकाशक है[८८]। बृहदारण्यक उपनिषद् में देवोपासना की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है[८९]। कठोपनिषद् में प्रवचन, प्रज्ञा और अध्ययन के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हुए परमात्मा की अनुकम्पा को अधिक महत्त्वशील माना गया है[९०]। इसमें संदेह नहीं कि पुराणों में वर्णित विष्णु-भक्ति का सूक्ष्म-स्वरूप औपनिषदिक वर्णन से बहुत कुछ साम्य रखता है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में नारायण को हृदयस्थ माना गया है[९१]। काठक उपनिषद् में भी उपास्य देव को आत्मा में स्थित बताया गया है[९२]। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को प्राणिवर्ग की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण माना गया है[९३]। यह वर्णन गत पृष्ठ पर आलोचित विष्णु पुराण से काफी मिलता जुलता है[९४]। भक्ति अथवा उपासना की पराकाष्ठा अन्य ग्रन्थों में भी व्यक्त की गई है। उदाहरणार्थ, महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि

---

८५. ऋग्वेद १।१०४।३३, भण्डारकर, वही, पृ० ४०

८६. ......अदितिर्माता स पिता स पुत्रः। ऋग्वेद, १।८०।१०

८७. भण्डारकर, वही पृ० ४०

८८. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तमहं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। श्वे० उप०, ६,१८

८९. अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते। बृह० उप०, १,४,१०

९०. कठोपनिषद् २,२३, भण्डारकर, वही, पृ० ४०

९१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १२

९२. तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती। काठक उप०, २,५,१२

९३. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि-संविशंति। तैत्तिरीय उप०, ३,१

९४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १२

श्रीकृष्ण को किया हुआ एक प्रणाम भी दस अश्वमेध यज्ञों के समान है[९५]। हरिवंश के अनुसार सत्त्वगुण में स्थित होकर सदा हरि का ही ध्यान करना चाहिये[९६]।

कहीं-कहीं पुराणों में वर्णित विष्णु का स्थूल स्वरूप भी वैदिक विचारधारा से प्रभावित दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में विष्णु को 'गिरिष्ठा' तथा 'गिरिक्षत' जैसे विशेषण दिये गये हैं[९७]। उक्त पौराणिक पंक्तियाँ ऐसी भावना से प्रभावित हैं, जिनमें विष्णु का आवास पर्वत बताया गया है[९८]। पर इसका सामान्य रूप वैदिक भावना के परिवर्तन का ही सूचक है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में समुद्र के जल में वरुण का आवास माना गया है[९९]। इसके विपरीत पौराणिक भावना के अनुसार समुद्र विष्णु का आवास है[१००]। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे पौराणिक स्थल वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों से ही मिलते-जुलते हैं। पौराणिक विष्णु के चार हाथ हैं, जिनमें वे शंख, चक्र और गदा धारण करते हैं। वे गरुड़ पर आरूढ़ रहते हैं[१०१]। रामायण में भी कहा गया है कि जब देवताओं ने अपनी करुण कथा विष्णु से निवेदित की; वे शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए और पीतांबर पहने हुए गरुड़ पर आसीन होकर प्रकट हुए थे[१०२]। चतुर्बाहु विष्णु-सम्बन्धी उदाहरण पुरातत्त्व साक्ष्यों में भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, उदयगिरि के द्वारफलक पर चार बाहु वाले देवता की मूर्ति मिली है, जिसका तादात्म्य विष्णु से किया गया है। इसके निचले भाग में

---

९५. एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः। शान्तिपर्व ४७।९१

९६. हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः। हरिवंश ३।८९।९

९७. प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो **गिरिष्ठाः**। ऋग्वेद १।१५४।२
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्य **गिरिक्षित** उरुगायाय वृष्णे। वही, १।१५४।३

९८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १३

९९. समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता...यासां राजा वरुणो याति मध्ये। ऋग्वेद ७।४९।२। ३

१००. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १३-१४

१०१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १४

१०२. एतस्मिन्नतरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः। शंखचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः। वैनतेयं समारुह्य......। रामायण, बालकांड १५।१५।१६

अभिलेख भी है, जिसमें गुप्त संवत् ८२ (अर्थात् ४०१ ई०) का उल्लेख हुआ है[१०३]। विष्णु का यह प्रदर्शन कालान्तर की कला में अनेकत्र प्राप्त होता है। मद्रास के संग्रहालय में सुरक्षित विष्णु की एक मूर्ति के दाएँ और बाएँ हाथों में क्रमशः चक्र और शंख है। बाएँ हाथ का अग्र भाग गदा पर अवलंबित है। सिर में मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार, बाहों में केयूर तथा मणिबंध में कटक प्रदर्शित किये गये हैं। इस मूर्ति का संभावित काल दसवीं अथवा ग्यारहवीं शताब्दी ई० माना गया है[१०४]।

विष्णु के अवतार-उद्देश्य—विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उनका अवतार विश्व में कुमार्गगामी दुष्टों की शान्ति के लिये हुआ है[१०५]। अन्यत्र श्रीकृष्ण की प्रसंशा करते हुए नारद कहते हैं कि उनका अवतार पृथ्वी का भार दूर करने के लिये हुआ है[१०६]। एक दूसरे स्थल पर कहा गया है कि भगवान् के मनुष्य रूप धारण करने का उद्देश्य पृथ्वी का भार दूर करना है[१०७]। इसी प्रकार वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विष्णु के अवतार का उद्देश्य धर्म की व्यवस्था और असुरों का विनाश है[१०८]। ठीक यही वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[१०९]।

पथ-भ्रष्टों को सन्मार्ग तथा सद्गति—विष्णु पुराण में कृष्ण द्वारा दंडित नागराज उन्हें संपूर्ण जगत् का स्रष्टा बताता है, अतएव वह स्वयं विष्णु द्वारा ही सृष्ट है। संसार की रचना के साथ विष्णु उसके रूप और स्वभाव को भी सृष्ट करते हैं। उसका सृजन सर्प-जाति में हुआ है। अपनी जाति के स्वभाव के कारण ही वह क्रूर है। इसमें उसका अपना कोई दोष नहीं है। नागपत्नियाँ अपने पति का प्राणदान माँगती हुई कृष्ण के अवतार का उद्देश्य लोक-रक्षा बताती हैं। अतएव

---

१०३. का० इं० इं०, ३, पृ० २१

१०४. टी० ए० गोपीनाथ राव, एलिमेन्ट्स ऑफ़ हिन्दू आइकनोग्रैफी, भाग १, खंड १, पृ० ९७, ९८

१०५. एतदर्थं तु लोकेऽस्मिन्नवतारः कृतो मया।
यदेषामुत्पथस्थानां कार्या शान्तिर्दुरात्मनाम्॥ विष्णु पु० ५।७।६

१०६. भारावतारकर्त्ता त्वं पृथिव्याः पृथ्वीधर। वही, ५,१६,२५

१०७. भगवन्तमादिपुरुषं पुरुषोत्तममवनिभारावतारणायांशेन मानुषरूप-धारिणम्......। वही, ४,१३,२०

१०८. कर्तुंधर्मव्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम्। वायु पु० ९६।२३२, ब्रह्माण्ड पु० ३।७१।२४१

१०९. कर्तुं धर्मस्य संस्थानमसुराणां प्रणाशनम्। मत्स्य पु० ४७।१२

कृष्ण उस पर अनुकंप्य होकर तथा अपना चरण-चिह्न प्रदान कर उसे गरुड़ से भी सुरक्षित करते हैं। सन्मार्ग पर लाने के लिये वे उसे यमुना के जल से समुद्र के जल में भेज देते हैं[११०]। अन्यत्र शिशुपाल के बारे में कहा गया है कि कृष्ण के हाथों से मारे जाने पर उसे सायुज्य-लाभ हुआ[१११]।

अवतार का कारण माया—मत्स्य पुराण में कहा गया है कि विष्णु प्रत्येक युग में मायावश अवतार लेते हैं[११२]। विष्णु पुराण के अनुसार विष्णु अपनी इच्छा के कारण मनुष्य का रूप धारण करते हैं[११३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कहा गया है कि भक्तों का उपकार करने वाले विष्णु अपनी इच्छावश मनुष्य का रूप धारण करते हैं, इनका रूप-विस्तार अप्रमेय है[११४]।

विष्णु के साथ अन्य देवताओं का अवतार—विष्णु पुराण में वर्णित पृथ्वी भारपीड़ित होकर अपनी करुण-कथा ब्रह्मादि देवताओं से निवेदित करती है। पृथ्वी के दुःख को दूर करने के लिये सभी देवता क्षीराब्धि-निवासी नारायण के पास जाते हैं, कारण यह कि सभी देवता नारायणात्मक हैं। देवताओं की स्तुति से आप्लावित होकर विष्णु अवतार लेने का वचन देते हैं। पर अन्य देवताओं को पृथ्वी पर अवतरित होकर दैत्यों को दलित करने के लिये उन्हें आदेश भी देते हैं[११५]।

---

११०. सर्पजातिरियं क्रूरा यस्यां जातोऽस्मि केशव।
तत्स्वभावोऽयमत्रास्ति नापराधो ममाच्युत ॥ ७१
जातिरूपस्वभावाश्च सृज्यन्ते सृजता त्वया। ७२
कोपः स्वल्पोऽपि ते नास्ति स्थितिपालनमेव ते ॥ ७३
नात्र स्थेयं त्वया सर्प कदाचिद्यमुनाजले।
सपुत्रपरिवारस्त्वं समुद्रसलिलं व्रज ॥ ७७, विष्णु पु० ५,७

१११. भगवता च स निधनमुपनीतस्तत्रैव...सायुज्यमवाप। वही, ४।१४।५२

११२. विष्णुर्युगे युगे जातो नानाजातिर्महातनुः। मन्यसे मायया जातं विष्णुं चापि युगे युगे। मत्स्य पु० १५४,१८०,१८१

११३. आत्मेच्छया कारणरूपधारिणो...। विष्णु पु० ४।२०।५२

११४. अप्रमेयो नियोज्यश्च यत्र कामचरो......प्रविष्टो मानुषीं योनिम् ॥ वायु पु० ९८।९५,९६
अप्रमेयो नियोज्यश्च यतकामचरो......प्रविष्टो मानुषीं योनिम् ॥ ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।९४,९८

११५. विष्णु पु० ५,१,१२.१३.२६.३०.५९। सुराश्च सकलस्स्वांशैरवतीर्य महीतले। कुर्वन्तु युद्धमुन्मत्तैः पूर्वोत्पन्नैर्महासुरैः। ६२

विशिष्ट अवतारों की सूची

अवतार का विवरण	पुराण
मत्स्य—प्रलय के समय प्लावन से मनु की नौका को बचाना	विष्णु पु० ५।१७।१०
कूर्म—विश्व की रक्षा	विष्णु पु० ५।१७।१०
वराह—रसातल में मग्न पृथ्वी का उद्धार	विष्णु पु० ५।१७।१०; ब्रह्माण्ड पु० १।२।११
नृसिंह—हिरण्यकशिपु का वध	विष्णु पु० ४।१५।४; वायु पु० ६७।६६; ब्रह्माण्ड पु० ३।५।२६
वामन—बलि से भिक्षा माँगना, तीन पदों से त्रिलोक का अतिक्रमण तथा बलि को जीतना	विष्णु पु० ३।१।४३; वायु पु० ९८।७४; ब्रह्माण्ड पु० ४।३४।७९
दत्तात्रेय—नष्ट धर्म का पुनरुत्थान करना	वायु पु० ९८।८८; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।८८,८९; मत्स्य पु० ४७।२४३

अवतार का विवरण	पुराण
मान्धाता—चक्रवर्ती राजा के रूप में शासन करना	वायु पु० ९८।८९; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।९०; मत्स्य पु० ४७।२४३
जामदग्न्य—क्षत्रियों का विनाश करना	विष्णु पु० ४।७।३५, ३६; वायु पु० ९८।९०; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।९१
राम—रावण का वध	विष्णु पु० ४।४।८७; वायु पु० ९८।९१; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।९२
वेदव्यास—वेद का विस्तार	वायु पु० ९८।९२; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।९३; मत्स्य पु० ४७।२४६
कृष्ण—कंस का वध	विष्णु पु० ४।४।८७; वायु पु० ९८।९३; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।-९८-१००; मत्स्य पु० ४७।६
बुद्ध—धर्म की व्यवस्था	मत्स्य पु० ४६।२४७
कल्कि—म्लेच्छ और दस्युओं का विनाश	वायु पु० ९८।१०४; ब्रह्माण्ड पु० ३।७३।१०५; मत्स्य पु० ४७।२४९; विष्णु पु० ४।२४।९८

अवतार-सम्बन्धी भावना का उद्भव, विकास एवं तत्सम्बन्धी प्रवृत्ति पर वैदिक भावना का प्रभाव—अवतार-सम्बन्धी भावना का मूल ऋग्वेद में मिलता है[116]। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के पाँचवें मंडल में अग्नि की एकता वरुण, मित्र तथा अर्यमन् से स्थापित की गई है[117]। आगे चलकर देवता का तादात्म्य देवेतर योनि से स्थापित किया गया। यह प्रवृत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों के काल तक आविर्भूत हो चुकी थी जिनमें; मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह प्रजापति के तथा वामन विष्णु के रूपान्तर बताये गये हैं[118]। शतपथ-ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि प्रजापति ने कूर्म का रूप धारण कर प्रजा की रचना की[119]। जैसे-जैसे विष्णु की महत्ता प्रबल हुई तथा लोकरचना, लोकसंरक्षण, लोकसंहार की कल्पना विष्णु के व्यक्तित्व में सन्निहित हुई; रूपान्तर अथवा अवतार की भावना भी विष्णु के स्वरूप से सम्बन्धित की गई। यही कारण है कि पुराणों ने ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित प्रजापति के उक्त रूपान्तरों के समाहार के साथ-साथ अन्य अवतारों की चर्चा की है। महाभारत में कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण तथा कल्कि विष्णु के अवतार माने गये हैं[120]। इसी प्रकार हरिवंश में कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कल्कि तथा बुद्ध नामक विष्णु के अवतारों का उल्लेख है[121]। स्थान-स्थान पर अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी प्रसंगवश विष्णु के अवतारों की चर्चा की गई है। उदाहरणार्थ, शिशुपालवध में नारद श्रीकृष्ण से कहते हैं कि उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) नृसिंह के रूप में

---

११६. भण्डारकर, वही, पृ० ५८

११७. ऋग्वेद ५,३,१,२

११८. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग १७, पृ० ३७०-७१

११९. स यत्कूर्म नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत......। शतपथ-ब्राह्मण ७,५,१,५

१२०. कूर्मश्च-मत्स्यश्च......।
वराह नरसिंहश्च वामन राम एव च।
रामश्च दाशरथीश्चैव सात्वतः कल्कि......॥ महाभारत, नारायणीय, ३३९,१०४

१२१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग १७, पृ० ३७१

हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को नखों से विदीर्ण किया था[१२२]। दाशरथि राम के रूप में उन्होंने लंका नगरी के पास रावण को मारा था[१२३]।

औपनिषदिक भावना का अवतार-सम्बन्धी पौराणिक कारण पर प्रभाव—इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि मत्स्य पुराण में एक स्थल पर विष्णु के अवतार का कारण माया को बताया गया है[१२४]। यह वर्णन औपनिषदिक प्रभाव को व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि इन्द्र मायावश अनेक रूप धारण करते हैं[१२५]। पर इस संबंध में पुराणों के अन्य स्थल वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों से साम्य रखते हैं। उदाहरणार्थ, उक्त पौराणिक वर्णन[१२६] की भाँति गीता में कहा गया है कि विष्णु का अवतार दुष्कर्मियों के विनाश के लिये होता है[१२७]। इसी प्रकार रामायण में कहा गया है कि जिस समय विष्णु ने राम के रूप में अवतार लिया, अन्य देव-गण ने भी उनकी सहायता के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण होने का निश्चय किया[१२८]।

लक्ष्मी और विष्णु के विवरण—विष्णु पुराण में कहा गया है कि विष्णु और लक्ष्मी में वही संबंध है, जो अर्थ और वाणी में, न्याय और नीति में, बोध और बुद्धि में, स्रष्टा और सृष्टि में, काम और इच्छा में, समुद्र और तरंग इत्यादि पुरुष और स्त्री के बोधक शब्दों में[१२९]। अन्यत्र समुद्र मंथन के प्रसंग में तथा इसी वर्णन में ब्रह्माण्ड पुराण में भी बताया गया है कि इस अवसर पर

---

१२२. सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह......तनुं त्वया......उरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः। शिशुपालबध १,४७,४८

१२३. ...दाशरथिर्भवान्...लंकां निकषा हनिष्यति। वही

१२४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १८

१२५. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृ० उप० २.५.१९

१२६. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १८

१२७. विनाशाय च दुष्कृताम्। भगवद्गीता ४,८

१२८. पुत्रत्वं तु गते विष्णौ...उवाच देवताः सर्वा...विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः। रामायण, बालकांड १७।१.२

१२९. विष्णु पु० १।८।१८-३४. देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्। वही १।८।३५,

समुद्र से बाहर निकलने पर लक्ष्मी ने विष्णु के वक्षस्थल का समाश्रय लिया[130]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में विष्णु की पूजा से संबंधित विभिन्न व्रतों के अवसर पर विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी की मूर्ति भी स्थापित करने का आदेश दिया गया है[131]।

इसमें सन्देह नहीं है कि देवताओं के साथ देवियों को संबद्ध करने की प्रवृत्ति ऋग्वेद के समय से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद में इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वरुण की भार्या के रूप में क्रमशः इन्द्राणी, रुद्राणी, सूर्या और वरुणानी का वर्णन मिलता है[132]। वैदिक काल के देवी-वर्ग में लक्ष्मी का भी स्थान था। पर उन्हें विष्णु से नहीं, अपितु आदित्य से संबंधित किया जाता था। उदाहरणार्थ, वाजसनेय संहिता में आदित्य की प्रार्थना करते हुए लक्ष्मी को उनकी पत्नी कहा गया है[133]। अतएव लक्ष्मी से संबंधित उक्त पौराणिक स्थल वैदिक परम्परा में परिवर्तन के द्योतक माने जा सकते हैं। वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में अन्यत्र भी लक्ष्मी को विष्णु से संबंधित किया गया है। उदाहरणार्थ, विष्णु स्मृति में पृथ्वी से लक्ष्मी कहती हैं कि वे विष्णु के समीप सदा संनिहित रहती हैं[134]। लक्ष्मी और विष्णु का यह संयोगात्मक स्वरूप कतिपय अन्य आलोचित पौराणिक उद्धरणों के द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में कहा गया है कि जब विष्णु अवतार लेते हैं, उस समय लक्ष्मी भी उनके साथ रहती हैं। जिस समय उन्होंने परशुराम के रूप में अवतार लिया, वे पृथ्वी हुईं। इसी प्रकार वे राम के साथ सीता के रूप में, कृष्ण के साथ रुक्मिणी के रूप में थीं। बताया गया है कि अन्य अवतारों में भी वे उनके साथ अपृथक् रूप में वर्तमान रहती हैं। जब वे देवता के रूप में रहते हैं, इनका दिव्य रूप रहता है। जिस समय वे मनुष्य का रूप धारण करते हैं, इनका मानवी

---

१३०. तया विलोकिता देवा हरिवक्षस्थलस्थया, लक्ष्म्या मैत्रैय सहसा परां निर्वृतिमागताः। विष्णु पु० १।९।१०६। पश्यति स्म च सा देवी विष्णुवक्षस्थलालया। ब्रह्माण्ड पु० ४।१०।८२

१३१. मत्स्य पु० ८१।१. ५-१५, ५४।२४-२७

१३२. मैकडानल, वही, पृ० २५

१३३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहो रात्रे...। वाजसनेय संहिता ३१।२२

१३४. स्थिता सदाहं मधुसूदने तु। विष्णु स्मृति ९९।२२

रूप रहता है। विष्णु के शरीर के अनुरूप ही ये अपना शरीर बना लेती हैं[१३५]। अन्यत्र कहा गया है कि जिस प्रकार विष्णु सर्वव्यापक रहते हैं, वैसे ही जगत् की जननीभूत लक्ष्मी भी हैं[१३६]।

ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये लक्ष्मी की पूजा—विष्णु पुराण के अनुसार लक्ष्मी की स्तुति सभी प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति का कारण है[१३७]। मत्स्य पुराण में मनु मत्स्य से उस व्रत की जिज्ञासा करते हैं, जिससे संपत्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इसके लिये मत्स्य उन्हें विशोकद्वादशी व्रत का निर्देश करते हैं, जिसमें विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी की पूजा वांछनीय बताते हैं[१३८]। ऐश्वर्य, समृद्धि आदि से लक्ष्मी को संबंधित करने की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही चली आ रही थी। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद में लक्ष्मी की एकता ऋत, सत्य, बल, वीर्य आदि से स्थापित की गई है[१३९]। अन्यत्र उनका तादात्म्य पुण्य से किया गया है[१४०]। लक्ष्मी का व्यक्त अर्थ यहाँ सौभाग्य है[१४१]। शतपथ ब्राह्मण में अग्निचयन की इष्टकाओं का सम्बन्ध लक्ष्मी से तथा लक्ष्मी का पुण्य से किया गया है[१४२]। अतएव आलोचित पुराणों ने लक्ष्मी के वैदिक तात्पर्य का समाहार उनके स्वरूप में किया है। विष्णु स्मृति में भी लक्ष्मी का संबंध सुवर्ण, रत्न, वस्त्र आदि से किया गया है[१४३]।

---

१३५. राघवत्वेऽभवत्सीता................।
अन्येषु चावतारेषु...............।।
देवत्वे....................मानुषी।
विष्णो......करोत्येषात्मनस्तुनम् ।। विष्णु पु० १।९।१४४-४५

१३६. यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम। वही, १,८,१७

१३७. इति सकलविभूत्यवाप्तिहेतुः स्तुतिरियम्...लक्ष्म्याः। वही, १।९।१४९

१३८. किमभीष्ट......व्रतं विभवोद्भवकारि......श्रियं वाऽभ्यर्च्य। मत्स्य पु० ८१।१,४

१३९. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं...। अथर्ववेद ११।७।१७

१४०. पुण्या लक्ष्मीः...। वही, १२।५।६

१४१. जे गोण्ड, ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज़्म, पृ० २१६

१४२. तदेता पुण्या लक्ष्मीः। शतपथ ब्राह्मण ८।४।४,११

१४३. तथा सुवर्णे विमले च रूप्ये वस्त्रेष्वमलेषु भूमे। विष्णु स्मृति ९९।१०

लक्ष्मी के मूर्त्त रूपों में कमल तथा गजाभिषेक का वर्णन—वायु पुराण में लक्ष्मी का आवास विशाल पद्मवन बताया गया है। कहा गया है कि इस वन में लक्ष्मी मूर्त्त रूप में रहती हैं[१४४]। विष्णु पुराण के अनुसार भी लक्ष्मी का निवास-स्थान कमल है[१४५]। अन्यत्र विष्णु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में बताया गया है कि जिस समय लक्ष्मी समुद्र से बाहर आईं, उनके हाथ में कमल था[१४६]। विष्णु पुराण के अनुसार इस अवसर पर दिग्गज सुवर्णमय पात्रों से लक्ष्मी का अभिषेक सम्पन्न कर रहे थे[१४७]।

लक्ष्मी के संबंध में उपर्युक्त मूर्त्त रूपों का समर्थन पुरातत्त्व साक्ष्यों के द्वारा भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, बयाना संग्रह में प्राप्त गुप्तकालीन मुद्रा के पुरोभाग पर नारायण तथा पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी का आकार अंकित किया गया है[१४८]। इस काल की एक मुद्रा के पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी का अंकन बाएँ हाथ में कमल लिये हुए प्राप्त होता है[१४९]। इस प्रसंग में मथुरा से प्राप्त लक्ष्मी की एक कुषाणकालीन मूर्त्ति का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसमें लक्ष्मी की प्रतिष्ठा कमलों के बीच की गई है[१५०]। लक्ष्मी का गजाभिषेक भी पुरातत्त्व साक्ष्यों के द्वारा अनुमोदित होता है। उदाहरणार्थ, अजन्ता की कला में एक स्थान पर द्वार-भाग में लक्ष्मी का आकार प्रदर्शित किया गया है। लक्ष्मी का अभिषेक दो गज सूड़ों में घड़ा लेकर संपन्न कर रहे हैं[१५१]।

---

१४४. लक्ष्म्याः पद्मं तदावासं मूर्त्तिमत्या न संशयः। वायु पु० ३७।८
१४५. सामस्वरूपी भगवानुद्गीतिः कमलालया। विष्णु पु० १।८।२२
१४६. श्रीर्देवी पयसस्तस्मादुद्भूता धृतपंकजा। वही, १।९।१००
उत्थिता पद्महस्ता श्रीस्तस्मात्क्षीरमहार्णवात्। ब्रह्माण्ड पु० ४।१०।७६
१४७. दिग्गजा हेमपात्रस्थमादाय विमलं जलं स्नापयांचक्रिरे देवीम्। विष्णु पु० १।९।१०३
१४८. डॉ० अल्टेकर, गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० १०२। जे गोण्ड, वही पृ० २३०, हेमचंद्र रायचौधुरी, मेटिरियल फ़ार दि स्टडी ऑफ़ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ दि वैष्णव सेक्ट, पृ० १०६
१४९. डॉ० अल्टेकर, वही, पृ० ११७
१५०. ए० के० कुमारस्वामी, यक्षाज़, भाग २, पृ० ८४
१५१. वही, पृ० ८२

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचित पुराणों ने विष्णु के संबंध में जो चित्र उपस्थित किया है, वह विष्णु की वैदिक स्थिति में परिवर्तन का द्योतक है। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में दिखलाया गया है, विष्णु से संबंधित वैदिक उद्धरण अल्पसंख्यक नहीं हैं। पर उनकी स्थिति, विशेषतः ऋग्वेद में, प्रायः गौण ही है। इसके विपरीत पौराणिक विष्णु प्रधान देवता हैं। संपूर्ण देवमंडली में केवल रुद्र-शिव ही एक ऐसे देवता हैं, जो विष्णु के समकक्ष रखे जा सकते हैं। विष्णु तथा रुद्र-शिव के परिचिन्तन में पुराणों ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त पुराणों ने ब्राह्मणों में वर्णित लोकस्रष्टा प्रजापति के स्वरूप का विष्णु में समाहार कर वैष्णवी स्थिति को उन्नततर करने की चेष्टा की है। इसमें सन्देह नहीं कि विष्णु से संबंधित अनेक पौराणिक उद्धरण वैदिक विचारधारा से प्रभावित हैं, तथापि उनमें नवीन बातों का समावेश कर पुराणों ने प्रभावात्मक परिवर्तन का परिचय दिया है। अन्य वेदोत्तरवर्ती साक्ष्यों से यह भी स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति पुराणों तक ही सीमित नहीं थी। अपितु, इसका निर्वाह स्मृतियों, साहित्यिक ग्रन्थों तथा पुरातत्त्व साक्ष्यों में भी परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त नारायण तथा वासुदेव-कृष्ण का विष्णु से तादात्म्य, भक्ति और अवतारवाद-संबंधी भावना के विकास के द्वारा पुराणों ने वैष्णव धर्म के समुन्नत स्वरूप का परिचय दिया है।

शिव तथा शैव धर्म

आलोचित पुराणों में शिव प्रसिद्ध देवता के रूप में—वायु पुराण के अनुसार शिव सभी देवों से महान् हैं, अतएव उन्हें महादेव के नाम से अभिहित किया जाता है[1]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में शिव के विभिन्न नामों में महादेव उनका आठवाँ नाम बताया गया है[2]। इसी प्रसंग में विष्णु पुराण में भी शिव महादेव के नाम से सम्बन्धित किए गए हैं[3]। इसी प्रकार समुद्र-मंथन के प्रसंग में चन्द्रमा को ग्रहण करने वाले शिव को महेश्वर की उपाधि दी गई है[4]। इस वर्णन में मत्स्य पुराण में भी कालकूट पीने वाले शिव को महादेव के नाम से पुकारा गया है[5]। अन्यत्र शिव की स्तुति करते हुए शुक्र उन्हें देवदेव की संज्ञा देते हैं[6]।

शिव की पौराणिक महत्ता के प्रतिपादक अन्य स्थल—शिव के सम्बन्ध में उक्त शब्दों से शिव के प्रसिद्ध देवता होने की सूचना मिलती है। शिव की महत्ता के सम्बन्ध में आलोचित पुराणों के अन्य स्थलों का भी उल्लेख किया जा सकता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार समस्त जगत् शिव का रूप है[7]। अन्यत्र दोनों पुराणों में कहा गया है कि ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, सत्य, क्षमा, सृष्टीकरण की योग्यता तथा आत्मसंबोध ये सभी गुण शिव में विद्यमान हैं। इसीलिए उन्हें महादेव के नाम से स्मरण किया जाता है। उन्होंने ऐश्वर्य से देवों को, बल से असुरों को, ज्ञान से ऋषियों को तथा योग से प्राणियों को पराजित

---

१. देवेषु महान् देवो महादेवस्ततः स्मृतः। वायु पु० ५,४१

२. महादेवस्त्वं नाम्नासि इत्युक्तो विरराम ह। वायु पु० २७,१६
त्वं महादेवनामासि इत्युक्तो विरराम ह। ब्रह्माण्ड पु० २,१०,१७

३. भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः। विष्णु पु० १,८,७

४. ततः शीतांशुरभवज्जगृहे तं महेश्वरः। वही, १,६,६७

५. ततो देवो महादेवो विलोक्य विषमं विषम्। मत्स्य पु० २५०,५५

६. संस्तुताय सुतीर्थाय देवदेवाय......... । वही, ४७,१२६

७. व्यक्ताऽव्यक्तो महादेवस्तस्य सर्वमिदं जगत्। वायु पु० ७,७२
व्यक्ताऽव्यक्तो महादेवस्तस्य सर्वमिदं जगत्। ब्रह्माण्ड पु० २,६,७५

किया है[८]। वायु पुराण में देवता, ऋषि, राक्षस आदि शिव के उपासक बताए गए हैं। कहा गया है कि आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, सनत्कुमार आदि परमर्षि, अंगिरा आदि देवर्षि सुखासीन शिव की पर्युपासना करते हैं। भयंकर राक्षस तथा पिशाच नाना रूप धारण कर उनकी सेवा करते हैं[९]। एक अन्य स्थल पर वायु पुराण में शिव को विष्णु, ब्रह्मा आदि की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है। कहा गया है कि ब्रह्मा कृतयुग में पूजित होते हैं, त्रेतायुग में यज्ञ की महत्ता रहती है, द्वापर में विष्णु की पूजा होती है, पर शिव चारो युगों में पूजे जाते हैं[१०]।

पुराणों में समन्वय का दृष्टिकोण—यद्यपि उपर्युक्त पौराणिक स्थलों में शिव की महत्ता का अतिशय प्रतिपादन किया गया है, तथापि पुराणों का उद्देश्य शैव धर्म का ऐकांतिक प्रचार नहीं है[११]। यहाँ तक कि स्वयं वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में स्थल-स्थल पर विष्णु को महान्[१२] मानते हुए विष्णु और शिव में सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ, वायु पुराण में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता का वर्णन, इस पुराण में वर्ण्य-विषयों के अन्तर्गत किया गया है[१३]। एक अन्य प्रसंग में रुद्रपद नामक स्थान पर विष्णु के अवतार राम पिण्डदान देते हैं[१४]। विष्णु पुराण में विष्णु और शिव में तादात्म्य स्थापित करते हुए कहा

---

८. ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधस्त्वधिष्ठातृत्वमेव च।
अथ यानि दशैतानि नित्यन्तिष्ठन्ति शंकरे।
सर्वान् देवान् ऋषींश्चैव समेतानसुरैः सह।
अत्येति तेजसा देवो महादेवस्ततः स्मृतः।
अत्येति देवानैश्वर्याद् बलेन च महासुरान्।
ज्ञानेन च मुनीन् सर्वान् योगाद्भूतानि सर्वशः। वायु पु० १०, ६०, ६२;
ब्रह्माण्ड पु० २,६,८६,६२

९. वायु पु० ८५,६०

१०. ब्रह्मा कृतयुगे पूज्यस्त्रेतायां यज्ञ उच्यते।
द्वापरे पूज्यते विष्णुरहम्पूज्यश्चतुर्ष्वपि। वही, ३२,२१

११. दीक्षितार, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ दि वायु पु०, पृ० २६

१२. द्रष्टव्य, वैष्णव धर्म-विषयक अध्याय, पृ० ५-६

१३. अत ऊर्ध्वं...। एकत्वञ्च......कीर्त्यते। वायु पु० १।१२०

१४. रामो रुद्रपदे श्राद्धे पिण्डदानाय चोद्यतः। वही, १११।६४

गया है कि रुद्र के रूप में विष्णु त्रिलोकी का दहन करते हैं[१५]। एक अन्य स्थल पर ब्रह्मा स्वयं और शंकर आदि सभी देवताओं को नारायणात्मक मानते हैं[१६]। मत्स्य पुराण में सर्वफलत्याग नामक व्रत के प्रसंग में बताया गया है कि इस अवसर पर विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और शंकर में किसी प्रकार का विभेद-भावना न रखते हुए शिव की पूजा सम्पन्न करनी चाहिए[१७]।

वैदिक स्थिति में परिवर्तन—इन पौराणिक स्थलों से शिव की वैदिक स्थिति में परिवर्तन की सूचना मिलती है। कारण यह है कि ऋग्वेद में इनकी स्थिति गौण एवं अप्रसिद्ध है। समस्त ऋग्वेद-संहिता में रुद्र से सम्बन्धित केवल तीन सूक्त प्राप्त होते हैं[१८]।

वैदिक परम्परा से प्रभावित पौराणिक स्थल : शिव का भयंकर रूप—वायु पुराण में शिव की प्रार्थना करते हुए विष्णु उन्हें उग्ररूपधर तथा क्रोधागार जैसे विशेषण देते हैं[१९]। इसी वर्णन के पूर्वांशों में ब्रह्मा द्वारा दृष्ट शिव को 'अतिभैरव' उपाधि दी गई है[२०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में शिव की स्तुति करते हुए शुक्राचार्य उनके स्वरूप को 'क्रूर' और 'वीभत्स' बताते हैं[२१]। अन्यत्र दोनों पुराणों में 'भीम' और 'उग्र' शिव का क्रमशः छठाँ और सातवाँ नाम बताया गया है[२२]। विष्णु पुराण में एक स्थल पर ब्रह्मा रुद्र की उत्पत्ति को क्रोध से

---

१५. ततो दग्ध्वा जगत्सर्वं रुद्ररूपी जनार्दनः। विष्णु पु० ६।३।३०

१६. अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः। वही, ५।१।२६

१७. यथाभेदं न पश्यामि शिवविष्ण्वर्कपद्मजान्।
तथा ममास्तु विश्वात्मा शंकरः शंकरः सदा। मत्स्य पु० ६६।१७

१८. मैकडानल, वही, पृ० ७४

१९. भीमाय चोग्ररूपधराय च। वायु पु० २४,२४०
क्रोधागारः प्रसन्नात्मा......। वही, २४,२५६

२०. ......नदमानोऽतिभैरवम्। वही, २४,२५६

२१. क्रूराय विकृतायैव वीभत्साय शिवाय च। वही, ६७।१७८
क्रूराय विकृतायैव वीभत्साय शिवाय च। ब्रह्माण्ड पु० ३,७२,१७६

२२. भीमस्त्वं देव नाम्नाऽसि इत्युक्तः सोऽरुदत्पुनः।
उग्रस्त्वं देव नाम्नाऽसि इत्युक्तः सोऽरुदत्पुनः। वायु पु० २७,१४,१५; ब्रह्माण्ड पु० २,१०,१४,१६

सम्बन्धित करते हैं[२३]। मत्स्य पुराण में आषाढ़ मास में अर्चनीय शंकर को उग्र नाम दिया गया है[२४]। वैदिक वाङ्मय में निश्चय ही रुद्र का स्वरूप उग्र और भयावह है[२५]। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के एक छन्द में रुद्र के पुरुषघातक तथा गोघातक शस्त्रों की चर्चा मिलती है[२६]। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में देवताओं को रुद्र द्वारा भयत्रस्त बतलाया गया है[२७]।

पशुओं के साथ सम्बन्ध—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पशुपति शिव का पाँचवाँ (वायु पुराण में चौथा) नाम बताया गया है[२८]। एक अन्य स्थल पर दोनो पुराणों में शिव की स्तुति करते हुए शुक्राचार्य उन्हें 'पशूनां पतिः' कहकर सम्बोधित करते हैं[२९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान विष्णु पुराण में भी शिव के विभिन्न नामों में पशुपति का उल्लेख हुआ है[३०]। मत्स्य पुराण के अनुसार स्वामित्व के वितरण के अवसर पर ब्रह्मा ने पशुओं को शिव के आधिपत्य में रखा[३१]। इसी पुराण की पंक्तियों में ज्येष्ठ मास में अर्चनीय शंकर को 'पशुपति' नाम दिया गया है[३२]। ये स्थल वैदिक प्रभाव को अभिव्यंजित करते हैं। वाजसनेय संहिता में रुद्र को पशुओं का स्वामी बताया गया है[३३]। शिव न केवल पशुओं के स्वामी ही हैं, अपितु उनके हन्ता भी। उदाहरणार्थ, वायु पुराण में शिव की स्तुति

---

२३. क्रोधाच्च रुद्रः......। विष्णु पु० ४,१,८५

२४. आषाढे उग्रमर्चयेत्...। मत्स्य पु० ५६,३

२५. क० व० आ० भण्डारकर, भाग ४, पृ० १४५-१४६

२६. आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं......। ऋग्वेद १,११४,१०

२७. एषोऽत्र रुद्रो देवता......तस्माद्देवा अबिभयुः। श० ब्रा० ६,१,१,१

२८. पंचमं नाम देहीति प्रत्युवाच स्वयंभुवम्।
पशूनां त्वं पतिर्देवः इत्युक्तः सोऽरुदत्पुनः। ब्रह्माण्ड पु० २,१०,८
चतुर्थं देहि मे नाम इत्युक्तः सोऽरुदत्पुनः। वायु० पु० २७,११

२९. पशूनां पतये चैव......। वायु पु० ९७,१९३
पशूनां पतये चैव......। ब्रह्माण्ड पु० ३,७२,१८५

३०. भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज। विष्णु पु० १,८,६

३१. पिशाचरक्षः पशुः...राजंत्वथ शूलपाणिनम्। मत्स्य पु० ८,५

३२. ज्येष्ठे पशुपतिं......। वही, ५६,३

३३. पशूनां पतये नमः। वा० सं० १६,१

करते हुए शुक्र उन्हें 'पशुघ्न' कह कर सम्बोधित करते हैं[३४]। यह वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[३५]। ये स्थल भी ऋग्वैदिक विचारधारा से प्रभावित प्रतीत होते हैं, जिसमें रुद्र के शस्त्रों को 'गोघ्न' बताया गया है[३६]।

त्र्यम्बक—विष्णु पुराण में त्र्यम्बक को एकादश रुद्रों के अन्तर्गत किया गया है[३७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में नैऋत नामक राक्षसों के स्वामी शंकर के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया गया है[३८]। एक अन्य स्थल पर दोनो पुराणों में त्रिपुर का विनाश करने वाले शिव को त्र्यम्बक कहा गया है[३९]। मत्स्य पुराण में शुक्राचार्य शिव की स्तुति करते हुए उन्हें त्र्यम्बक नाम से भी सम्बोधित करते हैं[४०]। इसी प्रकार भाद्र मास में अर्चनीय शिव को त्र्यम्बक नाम दिया गया है[४१]। रुद्र के लिए 'त्र्यम्बक' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में भी किया गया है[४२]।

भव—विष्णु पुराण में भव शब्द पितामह द्वारा रखे गए रुद्र के नामों के अन्तर्गत किया गया है[४३]। एक अन्य स्थल पर ब्रह्मा सभी देवताओं को नारायणात्मक बताते हैं। इस प्रसंग में शिव के लिए भव शब्द का प्रयोग किया गया है[४४]। विष्णु पुराण की भाँति वायु पुराण में भी भव को रुद्र के लिए ब्रह्मा द्वारा रखा हुआ नाम बताया गया है[४५]। मत्स्य पुराण में वाराणसी में उपास्य शिव के लिए

---

३४. पशुघ्नाय......दुर्गमाय च। वायु पु० ९७,८२

३५. पशुघ्नाय......दुर्गमाय च। मत्स्य पु० ४७,१५१

३६. द्रष्टव्य, पृ० ३०

३७. हरश्च बहुरूपश्च त्र्यंबकश्चापराजितः। विष्णु पु० १,१५,१२२

३८. तथैव नैऋतो नाम त्र्यंबकानुचरेण तु। वायु पु० ६९,१६७
तथैव नैऋतो नाम त्र्यंबकानुचरेण ह। ब्रह्माण्ड पु० ३,७,१४१

३९. निहताः दानवाः सर्वे त्रिपुरस्त्र्यंबकेण तु। वायु पु० ९७,८२
निहताः दानवाः सर्वे त्रिपुरे त्र्यंबकेण तु। ब्रह्माण्ड पु० ३,७२,८२

४०. कपालिने च वीराय मृत्यवे त्र्यंबकाय च। मत्स्य पु० ४७,१३५

४१. नमस्ये त्र्यंबकं तथा। वही ५६,४

४२. त्र्यंबकं यजामहे......। ऋग्वेद ७,५९,१२

४३. भवं शर्वमथेशानं......। विष्णु पु० १,८,६

४४. अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः। वही, ५,१,२९

४५. भवस्त्वं देव नाम्नासि......। वायु पु० २७,८

एक स्थल पर भव नाम दिया गया है[४६]। वाजसनेय संहिता में भी रुद्र को भव के अभिधान से सम्बोधित किया गया है[४७]।

शर्व—विष्णु पुराण के अनुसार पितामह ने रुद्र को शर्व के नाम से अभिहित किया था[४८]। एक अन्य स्थल पर अलकनन्दा नामक गंगा के भेद को धारण करने वाले शिव को शर्व कहा गया है[४९]। विष्णु पुराण के समान ब्रह्माण्ड पुराण में भी रुद्र के लिए शर्व नाम ब्रह्मा द्वारा रखा हुआ बताया गया है[५०]। वायु पुराण में रुद्र और शर्व में तादात्म्य स्थापित किया गया है[५१]। इसी प्रकार शक्र द्वारा आराधित शिव को शर्व नाम दिया गया है[५२]। यह वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलता है, पर शक्र के स्थान पर शुक्र नाम प्रयुक्त है[५३]। मत्स्य पुराण में श्रावण मास में अर्चनीय[५४] तथा सौभाग्यशालिनी नामक व्रत में उपास्य[५५] शिव को शर्व नाम दिया गया है। जहाँ तक वैदिक परम्परा का सम्बन्ध है, वाजसनेय संहिता में भी रुद्र के लिए शर्व की संज्ञा प्रयुक्त की गयी है[५६]।

ईशान—विष्णु पुराण में ईशान शब्द पितामह द्वारा रखे गए रुद्र के नामों के अन्तर्गत किया गया है[५७]। यह वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलता है[५८]। इस प्रसंग में वायु पुराण में ईश शब्द का प्रयोग किया गया है[५९]। मत्स्य पुराण में

---

४६. भवभक्त्या समाहिताः। मत्स्य पु० १८४,३१
४७. ...नमो भवस्य हेत्यै...। वा० सं० १६,२
४८. द्रष्टव्य, पा० टि० ३०
४९. भेदं चालकनन्दाख्यं यस्याः शर्वोऽपि दक्षिणाम्। विष्णु पु० २,८,११४
५०. शर्वस्त्वं देव नाम्नाऽसि......। ब्रह्माण्ड पु० २,१०,१०
५१. रुद्रत्वंचैव शर्वस्य......। वायु पु० २१,५
५२. शक्रेणाराधनं......यत्र शर्वस्तवः कृतः। वही १,१३६
५३. शुक्रेणाराधनं......यत्र शर्वस्तवः कृतः। ब्रह्माण्ड पु० १,१,१२६
५४. पूजयेच्छ्रावणे शर्वं......। मत्स्य पु० ५६,४
५५. शर्वाय......अर्चयेत्। वही, ६०,२६
५६. नमः शर्वाय च पशुपतये च नीलग्रीवाय च शितिकंठाय चेति। वा० सं० १७,१
५७. द्रष्टव्य, पा० टि० ३०
५८. ईशानः देवनाम्नाऽसि इत्युक्तः सोऽरुदत्पुनः। ब्रह्माण्ड पु० २,१०,११
५९. ईशस्त्वं देवनाम्नाऽसि इत्युक्तः सोऽरुदत्पुनः। वायु पु० २७,१२

कार्तिक मास में अर्चनीय शिव को ईशान नाम दिया गया है[६०]। इसी प्रकार त्रिपुर का विनाश करने वाले महादेव को ब्रह्मा ईशान नाम देते हैं[६१]। ईशान शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी समान अर्थ में किया गया है[६२]।

शूलपाणि, शूली एवं त्रिशूलधारी—विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण और शिव के संवाद के प्रसंग में शिव को शूलपाणि कहा गया है[६३]। एक अन्य स्थल पर शिव का त्रिशूल सूर्य के तेज से ब्रह्मा द्वारा बनाया हुआ बताया गया है[६४]। वायु पुराण में ब्रह्मा के ललाट से उत्पन्न रुद्र को शूलहस्त नाम दिया गया है[६५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भूत-पिशाचों के अधिपति शिव को शूलपाणि कहा गया है[६६]। यह वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[६७]। दक्ष और सती के संवाद में शंकर को शूलभृत की संज्ञा दी गई है[६८]। इसी प्रकार बाणासुर की नगरी में निवास करने वाले शंकर को शूलभृत कहा गया है[६९]। ये स्थल ऋग्वैदिक विचारधारा से प्रभावित हैं, जहाँ रुद्र को वज्रबाहु कहा गया है[७०]।

पिनाकी—वायु पुराण में शिव की स्तुति के प्रसंग में उन्हें पिनाक धारण करने वाला बताया गया है[७१]। मत्स्य पुराण के तत्सम विवरण में शुक्र उन्हें पिनाक और इषु धारण करने वाले के रूप में देखते हैं[७२]। अन्यत्र शिव को पिनाकी

---

६०. तथेशानं च कार्त्तिके। मत्स्य पु०, ५६।४

६१. महादेवं महेशानं। वही, १३२।१४

६२. ईशानदस्य भुवनस्य.........योषद्रुद्रादसूर्यम्। ऋग्वेद, २।३३।७

६३. इत्युक्तः प्राह गोविन्दः शूलपाणिमुमापतिम्। विष्णु पु०, ५।३३।४५

६४. त्रिशूलं चैव शर्वस्य......। वही, ३।२।११

६५. सोऽहमेकादशात्मा वै शूलहस्तः सहानुगः......। ललाटाद्भविता तदा। वायु पु०, २५।१६

६६. सर्वभूतपिशाचानां...शूलपाणिनम्। वायु पु०, ६६।२८६
सर्वभूतपिशाचानां...शूलपाणिनाम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४११

६७. पिशाचरक्षः.........शूलपाणिम्। मत्स्य पु०, ८।५

६८. तमाह दक्षो यज्ञेषु शूलभृत्। वही, १३।१३

६९. यस्य पुरे वसति शूलभृत्। वही, ६।१३

७०. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि......वज्रबाहो। ऋग्वेद, २।३३।३

७१. पिनाकिने प्रसिद्धाय स्फीताय...प्रसृताय च। वायु पु०, २४।२२६

७२. पिनाकिने चेषुमते......। मत्स्य पु०, ४७।१३८

तथा पिनाक को आजगव धनुष की संज्ञा दी गई है[७३]। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि रुद्र धनुष और बाण धारण करते हैं[७४]। इसी प्रकार की भावना की ध्वनि शतपथ ब्राह्मण से भी निकलती है[७५]।

नीललोहित, नीलग्रीव तथा शितिकण्ठ—नीललोहित की चर्चा विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में की गई है। इन तीनों पुराणों में ब्रह्मा से उत्पन्न रुद्र को नीललोहित नाम दिया गया है[७६]। नीलग्रीव का उल्लेख वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में हुआ है। दोनो पुराणों में शिव से उत्पन्न रुद्रों को नीलग्रीव कहा गया है[७७]। इन्हीं रुद्रों को शितिकण्ठ की संज्ञा भी दी गई है[७८]। इसके अतिरिक्त वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में शिव को नीलकण्ठ भी कहा गया है। उनके कण्ठ की नीलिमा का कारण क्षीर सागर से उत्पन्न विष का पान माना गया है[७९]।

यहाँ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में रुद्र को शुचि-वर्ण से युक्त बताया गया है[८०]। पर वैदिककाल में ही उनके वर्ण के सम्बन्ध में नील तथा लोहित की कल्पना प्रतिष्ठित हो गई थी। अथर्ववेद में एक स्थल पर रुद्र के उदर को नीला तथा पीठ को लोहित बताया गया है[८१]। यजुर्वेद में तो रुद्र के लिए 'नीलग्रीव' और 'शितिकण्ठ' जैसे नाम भी प्रयुक्त किये गये हैं[८२]।

---

७३. ततः...पिनाकी...धनुर्गृहीत्वाऽजगवं...... । मत्स्य पु०, २३।३६-३७
७४. अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं..... । ऋग्वेद, २।३३।१०
७५. सोऽयं......रुद्रः.......शतेषुधिरधिज्यधन्वा । श० ब्रा०, ९।१।१।६
७६. प्रादुरासीत्प्रभोरंके कुमारो नीललोहितः । विष्णु पु०, १।८।२
स रुद्रो वत्सरस्तेषां विज्ञेयो नीललोहितः । वायु पु०, ३१।३२
स रुद्रो वत्सरस्तेषां विज्ञेयो नीललोहितः । ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।१२०
७७. नीलग्रीवान्............। वायु पु०, १०।५०
नीलग्रीवान्............। ब्रह्माण्ड पु०, २।९।६८
७८. शितिकण्ठोग्रमन्यवः....। वायु पु०, १०।४७
शितिकण्ठोग्रमन्युकान्..। ब्रह्माण्ड पु०, २।९।७४
७९. वायु पु०, ५४।९४; ब्रह्माण्ड पु०, २।२५।९०; मत्स्य पु०, २५०।६०
८०. तिग्मेको विभर्त्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रोजलाषभेषजः । ऋग्वेद, ८।२९।५
८१. नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्......। अथर्ववेद, १५।१।७
८२. नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय चेति । वा० सं०, १७।२

वृषभध्वज—विष्णु पुराण में शिव से वार्तालाप करते समय श्रीकृष्ण उन्हें वृषभध्वज कह कर सम्बोधित करते हैं[८३]। वायु पुराण में विष्णु उन्हें वृषभेन्द्र-ध्वज नाम देते हैं[८४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में रुद्रों के अधिपति शिव को वृषभध्वज कहा गया है[८५]। मत्स्य पुराण में वृष को शंकर का अधिष्ठान माना गया है[८६]। इन स्थलों पर ऋग्वेद का प्रभाव इस दृष्टि से माना जा सकता है कि ऋग्वेद में रुद्र का तादात्म्य वृषभ से किया गया है[८७]।

शिव के आभूषण—वायु पुराण में शिव को सुवर्ण धारण करने वाला बताया गया है[८८]। इस प्रसंग के पूर्व वर्णनों में विष्णु और ब्रह्मा द्वारा दृष्ट शिव को इसी रूप में प्रदर्शित किया गया है[८९]। मत्स्य पुराण में उन्हें हार, केयूर, मुकुट आदि से युक्त बताया गया है[९०]। ऋग्वेद में भी एक स्थल पर रुद्र को स्वर्णिम अलंकारों से युक्त माना गया है[९१]। इसी सूक्त में आगे कहा गया है कि रुद्र अनेक रूपों वाले निष्क को धारण करते हैं[९२]।

शिव के अनेक रूप—वायु पुराण में शिव को 'बहुरूप' नाम से वर्णित किया गया है[९३]। एक अन्य स्थल पर वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में शिव से उत्पन्न

---

८३. प्रसन्नोऽहं गमिष्यामि त्वं गच्छ वृषभध्वज। विष्णु पु०, ५।३३।५०

८४. वृषभेन्द्रध्वजाय च। वायु पु०, २४।२०५

८५. रुद्राणां वृषभध्वजम्। वही, ७०।६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।६

८६. धर्मस्त्वं वृषरूपेण......अष्टमूर्त्तेरधिष्ठानम्। मत्स्य पु०, ९३।६६

८७. क्वस्य ते रुद्र......यो अस्ति भेषजोजलाषः।
अपभर्त्ता रपसो...नु मा वृषभ चक्षमीयाः। ऋग्वेद, २।३३।७

८८. हैमचीरांबराय च। वायु पु०, २४।९२

८९. हैमचीरांबरच्छदः। वही, २४।३५

९०. हारकेयूरमुकुटकटकाद्यैरलंकृतः। मत्स्य पु०, ३७।६६

९१. स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप...शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानदस्यभुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यं। ऋग्वेद, २।३३।९

९२. अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं...विश्वरूपम्। वही, २।३३।१०

९३. सन्ध्याभ्रवर्णाय बहुरूपिणे। वायु पु०, २४।२२६

रुद्रों को बहुरूप की संज्ञा दी गई है[९४]। ऋग्वेद में रुद्र को पुरुरूप कहा गया है। सायण के अनुसार पुरुरूप का अर्थ बहुरूप होता है[९५]।

चर्मधारी—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के आदेश से शिव ने जिन रुद्रों को उत्पन्न किया वे चर्म धारण किए हुए थे[९६]। मत्स्य पुराण में शिव पार्वती से कहते हैं कि वे रुद्र के रूप में मृग-चर्म धारण किए हुए रहते हैं[९७]। वाजसनेय संहिता में भी रुद्र को चर्मधारी बताया गया है[९८]।

अग्नि से शिव की एकता—वायु पुराण में शिव की स्तुति करते हुए विष्णु उन्हें अग्नि कहकर सम्बोधित करते हैं[९९]। ब्रह्माण्ड पुराण में रुद्र का द्वापरयुगीन रूप अग्नि बताया गया है[१००]। विष्णु पुराण में प्रलयकालीन अग्नि को रुद्र का रूप माना गया है[१०१]। ऋग्वेद में भी अग्नि को रुद्र कह कर सम्बोधित किया गया है[१०२]।

गिरिश—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भूतों के अधिपति शिव को गिरिश कहा गया है[१०३]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में चन्द्रमा और तारा के वृत्तांत में शिव को गिरिश के नाम से अभिहित किया गया है[१०४]। गिरिश का अर्थ है, जो गिरि पर

---

९४. बहुरूपांश्च...विरूपांश्च...। वायु पु०, १०।४६;
महारूपान्......विरूपांश्च। ब्रह्माण्ड पु०, २।९।७१

९५. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी ९१, पुरुरूपोऽष्टमूर्त्यात्मकैर्बहुभीरूपैः...। सायण

९६. सहस्रं हि सहस्राणामसृजत्कृत्तिवाससाम्। वायु पु०, १०।४३
सहस्रं हि सहस्राणामसृजत्कृत्तिवाससः। ब्रह्माण्ड पु०, २।९।६९

९७. यत्र साक्षात्स्वयं रुद्रः कृत्तिवासाः स्वयं स्थितः। मत्स्य पु०, १८१।१४

९८. मैकडानल, वही, पृ० ७४

९९. अग्निस्त्वं......कामदः प्रियः। वायु पु०, २४।२५९

१००. द्वापरे चैव कालाग्निः...रुद्रस्य। ब्रह्माण्ड पु०, २।२७।५१-५२

१०१. ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा...। विष्णु पु०, ६।३।२४

१०२. त्वमग्ने रुद्रो..................। ऋग्वेद, २।१।६

१०३. सर्वभूतपिशाचानां गिरिशं शूलपाणिनम्। वायु पु०, ६९।२८३
सर्वभूतपिशाचानां गिरीणां शूलपाणिनाम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४११

१०४. ततः सशिष्यो गिरिशो पिनाकी। मत्स्य पु०, २३।३६

शयन करे[१०५]। ऐसे विचार वैदिक ग्रन्थों में भी स्पष्ट किए गए हैं। उदाहरणार्थ, वाजसनेय संहिता में कहा गया है कि रुद्र का आवास पर्वत है[१०६]।

सहस्राक्ष—वायु पुराण में शिव की स्तुति करते हुए दक्ष उन्हें सहस्राक्ष की संज्ञा देते हैं[१०७]। अन्यत्र वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ब्रह्मा की आज्ञा से शिव द्वारा सृष्ट रुद्रों को सहस्राक्ष की उपाधि दी गई है[१०८]। मत्स्य पुराण में शिव की स्तुति करते हुए शुक्र उन्हें बहुनेत्र कहते हैं[१०९]। पर सामान्यतः शिव को त्र्यक्ष अथवा त्रिलोचन तथा विरूपाक्ष कहा गया है[११०]। यहाँ वैदिक भावना का निर्वाह इस दृष्टि से है, क्योंकि रुद्र के लिए 'सहस्राक्ष' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में मिलता है[१११]।

शिव के रौद्र और सौम्य रूपों का समन्वय—रुद्र-शिव के भयंकर रूप के प्रसंग में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के स्थलों तथा विष्णु और मत्स्य पुराणों के तत्सम्बन्धी उद्धरणों का उल्लेख किया जा चुका है[११२]। यहाँ पर उन स्थलों का विवेचन किया जा सकता है, जिनमें उनके सौम्य रूप का भी वर्णन मिलता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में शिव की स्तुति करते हुए शुक्राचार्य उन्हें क्रूर, विकृत, वीभत्स, सौम्य, पुण्य और शुभ जैसे विशेषण देते हैं[११३]। अन्यत्र वायु पुराण—

---

१०५. गिरौ शेते गिरिशः। वा० सं०, १६।१ पर सायण की टीका।

१०६. याते......गिरिशन्ताभिचाकशीहीति । वा० सं०, १६।१

१०७. सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष............। वायु पु०, १०।५०

१०८. सहस्राक्षान् सर्वांश्चाथ...............। वायु पु०, ३०।१८१
सहस्राक्षान् सर्वांश्चाथ...............। ब्रह्माण्ड पु०, २।६।७७

१०९. बहुनेत्राय त्रिनेत्राय..................। मत्स्य पु०, ४७।१४५

११०. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी १०७-१०९, विष्णु पु०, १।६।६३

१११. अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्कघातिना तेन मा समरामहि । अथर्ववेद, ११।२।७
रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा । श० ब्रा०, ६।१।१।६

११२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २९-३०

११३. क्रूराय विकृतायैव वीभत्साय शिवाय च। वायु पु०, ९७।१७८
क्रूराय विकृतायैव वीभत्साय शिवाय च। ब्रह्माण्ड पु०,३।७२।१७९
सौम्याय चैव पुण्याय धार्मिकाय शुभाय च। वायु पु०, ९७।१७९; यह पंक्ति ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं मिलती।

में विष्णु उन्हें प्रिय और वरद कहते हैं[११४]। मत्स्य पुराण में शिव को जगत् का आनन्दकारक माना गया है[११५]। विष्णु पुराण में महर्षि गार्ग्य उन्हें वर देने के लिए सन्तुष्ट करते हैं[११६]। इसके अतिरिक्त इन पुराणों में शम्भु, शंकर और शिव जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो उनके सौम्य रूप के ही परिचायक हैं[११७]। शिव के सौम्य रूप अथवा उसके प्रतिपादक शब्दों का अधिक प्रयोग इस बात को सिद्ध करता है कि उनकी वैदिक स्थिति में परिवर्तन आ रहा था, यद्यपि वैदिक मन्त्रों में भी कहीं-कहीं उनके सौम्य रूप का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, वाजसनेय संहिता में एक स्थल पर उन्हें सुमंगल तथा शिव कहा गया है[११८]।

शिव और यज्ञ—वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में कहा गया है कि शिव यज्ञ में निमन्त्रण के योग्य नहीं हैं[११९]। वायु पुराण में अन्यत्र शिव को यज्ञ का घातक माना गया है[१२०]। यह प्रवृत्ति उस वैदिक भावना की द्योतक है, जब कि रुद्र को यज्ञीय अवसर पर अन्य देवताओं के साथ आहूत नहीं करते थे। उदाहरणार्थ, गोभिल-गृह्यसूत्र में यज्ञ के निमंत्रित देवताओं की तालिका में रुद्र का नाम नहीं मिलता[१२१]। पर यज्ञ के अन्त में उन्हें शान्त करने के लिए उनकी स्तुति की जाती

---

११४. नमः प्रियाय वरदाय मुद्रामणिधराय च। वायु पु०, २४।२४६

११५. धर्मस्त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारक। मत्स्य पु०, ६३।६५

११६. ददौ वरं च तुष्टोऽसौ वर्षे तु द्वादशे हरः। विष्णु पु०, ५।२३।३

११७. विष्णु पु०, २।८।११५; मत्स्य पु०, ११।४५; वायु पु०, ११।१८; विष्णु पु०, ५।३४।२६; मत्स्य पु०, ६६।१७; वायु पु०, ३०।५६; ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।६२

११८. या ते रुद्र शिवातनूरघोरा पापनाशिनी। असौ......सुमंगलः। वाजसनेय संहिता, १६।१

११९. तस्मात्सार्द्धं सुरैर्यज्ञे न त्वां यक्ष्यन्ति वैद्विजाः। वायु पु०, ३०।६३; द्रष्टव्य, डॉ० अल्टेकर हिस्ट्री ऑफ बनारस, पृ० ३
तस्मात्सार्द्धं...न त्वां यक्ष्यन्ति...। ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।७२
अयोग्य......यज्ञेषु......शूलभृत्। मत्स्य पु०, १३।१४

१२०. सत्रघाताय दण्डाय..............। वायु पु०, ३०।१९४

१२१. गो० गृ० सू० १।८।२८; कीथ, वही, पृ० १४५

थी[१२२]। यही कारण है कि ब्रह्माण्ड पुराण में एक दूसरे स्थल पर शिव का त्रेतायुगीन रूप यज्ञ माना गया है[१२३]।

यज्ञ के अवसर पर शतरुद्र की अर्चना—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि ब्रह्मा के आदेश से शिव ने सौ रुद्रों को उत्पन्न किया। ऐसा कहा गया है कि अन्य देवताओं के साथ यज्ञीय भाग पर इनका भी अधिकार है[१२४]। ये पौराणिक स्थल वैदिक परम्परा-निर्वाह के सूचक हैं। शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि जब सोमयज्ञ के अग्निचयन का पाँचों प्रस्तार समाप्त हो जाता था, उस समय शतरुद्र की अर्चना सम्पन्न की जाती थी[१२५]।

लिंगोद्भव और लिंग-पूजा—लिंगोद्भव का वर्णन वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में मिलता है। इन तीनों पुराणों के अनुसार एक बार जब ब्रह्मा और विष्णु पारस्परिक श्रेष्ठता का निर्णय कर रहे थे, उन्होंने अस्पष्ट शिव-लिंग देखा, जिससे आग की लपटें निकल रही थीं[१२६]। स्मरणीय है कि इन स्थलों में लिंग-पूजा का वर्णन नहीं है, पर मत्स्य पुराण के एक अन्य वर्णन में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार जिस समय त्रिपुर दग्ध होने लगा, बाणासुर शिव-लिंग को सिर पर रखकर शिव की स्तुति कर रहा था[१२७]। कुछ लोगों के मतानुसार रुद्र-शिव की उपासना में लिंग-तत्त्व का सम्मिश्रण अनार्य-धर्म का प्रभाव है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में शिश्न-उपासकों के प्रति घृणा प्रकट की गई है[१२८]। पर जिन ऋग्वैदिक उद्धरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है, उन पर आचार्य

---

१२२. कीथ, वही, पृ० १४५

१२३. त्रेतायां क्रतुरुच्यते...रुद्रस्य मूर्त्तिस्तिस्रो। ब्रह्माण्ड पु०, २।२६।५१

१२४. शतरुद्रसमाम्नाता भविष्यन्तीह यज्ञियाः। वायु पु०, १०।५५
यज्ञभाजोभविष्यन्ति सर्वे देवगणैः सह।
शतरुद्रे ...यज्ञभाजो सर्वे देवगणैः सह। ब्रह्माण्ड पु०, २।९।८४

१२५. अथातः शतरुद्रियं जुहोति। श० ब्रा०, ९।१।१।१

१२६. प्रादेशमात्रमव्यक्तं लिंगं परमदीपितम्। वायु पु०, ५५।२१
प्रादेशमात्रमव्यक्तं लिंगं परमदीपितम्। ब्रह्माण्ड पु०, २।२६।२१
लिंगाकारा......वह्निज्वालातिभीषणा। मत्स्य पु०, ६०।४

१२७. उत्थितः शिरसा कृत्वा लिंगं......। मत्स्य पु०, १८८।६१

१२८. मैकडानल, वही, पृ० १५५; भण्डारकर, वही, पृ० १६३-१६४

सायण का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है[१२९]। शब्द की व्युत्पति के अनुसार 'शिश्नदेव' का अर्थ होता है 'वे व्यक्ति जो शिश्न से क्रीडा करें' अर्थात् अब्रह्मचारी। अतएव शिश्नदेव लिंगोपासक का द्योतक नहीं हो सकता। महाभारत के काल में लिंग-उपासना की सूचना मिलती है। उदाहरणार्थ, अनुशासन-पर्व में कहा गया है कि शिव ही एक ऐसे देवता हैं, जिनके लिंग की उपासना होती है[१३०]। चतुर्थ शताब्दी ई० तक निश्चय ही शिव की उपासना में लिंग-पूजा घुल मिल गई थी। इस काल के मथुरा के एक स्तम्भ-अभिलेख में निरूपित मिलता है कि उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शैव मत के आचार्यों के सम्मान में शिव-लिंगों की प्रतिष्ठा की गई थी[१३१]।

स्कन्द देवसेना के नायक—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में स्कन्द को सुरसेनापति की उपाधि दी गई है[१३२]। विष्णु पुराण में श्री और विष्णु की उपमा क्रमशः देवसेना और सेनापति अर्थात् स्कन्द से दी गई है[१३३]। एक अन्य वर्णन में विश्वकर्मा द्वारा निर्मित स्कन्द की शक्ति का उल्लेख हुआ है[१३४]। मत्स्य पुराण में देवसेना को स्कन्द की पत्नी माना गया है[१३५]।

स्कन्द की उत्पत्ति—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार शिव और पार्वती की रति में विघ्न पहुँचाने के लिए इन्द्र ने अग्नि को नियुक्त किया। फलस्वरूप शिव के तत्कालीन तेज को अग्नि को सहना पड़ा। अग्नि ने उसे गंगा को सौंपा। गंगा ने उसे शरवण नामक वन में सुरक्षित किया। अतएव दोनो पुराणों में स्कन्द को जाह्नवीसुत और शंकरात्मज कहा गया है[१३६]। ब्रह्माण्ड पुराण के एक अन्य

---

१२९. शिश्नेन दीव्यंति क्रीडन्ति इति शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या इत्यर्थः। ऋग्वेद, ७।२१।५ तथा १०।९९।३ पर सायण-भाष्य

१३०. भण्डारकर, वही, पृ० १६२, अनुशासन पर्व, अ० १४

१३१. एपिग्रैफिया इंडिका, २१, पृ०, ९

१३२. सुरसेनापतिः स्कन्दः पठ्यतेऽङ्गारको ग्रहः। वायु पु०, ५३।३१; ब्रह्माण्ड पु०, २।२४।४८

१३३. श्रीर्देवसेना विप्रेन्द्र देवसेनापतिर्हरिः। विष्णु पु०, १८।२८

१३४. शक्तिं गुहस्य देवानामन्येषां च यदायुधम्। वही, ३।२।१२

१३५. सुतामस्मै ददौ देवसेनेति विश्रुताम्। मत्स्य पु०, १५९।८

१३६. तस्मिन् जाते महाभागे कुमारे जाह्नवीसुते।
उपतस्थुर्महाभागमाग्नेयं शंकरात्मजम्। वायु पु०, ७२।३४-३७; ब्रह्माण्ड पु० ३।१०।३५-३९

वर्णन में स्कन्द को शिव और पार्वती के संयोग से उत्पन्न माना गया है[१३७]। इसी प्रकार वायु पुराण में स्कन्द को शिव का पुत्र वर्णित किया गया है[१३८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का उक्त वर्णन किंचित् अन्तर के साथ मत्स्य पुराण में भी मिलता है। कहा गया है कि अग्नि के द्वारा विघ्न पहुँचाए जाने पर शंकर के तेज का अर्द्धांश पार्वती को न प्राप्त होकर आश्रम में स्खलित हुआ और जो अंश आश्रम में गिरा था, वह सरोवर के रूप में परिणत हो गया। पार्वती ने सरोवर के जल का पान किया। तदुपरान्त स्कन्द की उत्पति हुई[१३९]।

स्कन्द-पूजा—इसका वर्णन केवल मत्स्य पुराण में मिलता है। ग्रह-शान्ति के सम्बन्ध में इसका कथन है कि इस अवसर पर शिव, पार्वती और विष्णु आदि के साथ-साथ स्कन्द का भी आवाहन करना चाहिए[१४०]।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्कन्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गंगा, अग्नि, शिव तथा पार्वती का उल्लेख भिन्न-भिन्न रूपों में मिलता है। रामायण में भी स्कन्द को अग्नि और गंगा के संयोग से उत्पन्न माना गया है और कहा गया है कि इसके पूर्व अग्नि ने शिव के तेज से गंगा का अभिषेक किया था[१४१]। महाभारत में एक स्थल पर स्कन्द को अग्नि और स्वाहा का, पर अन्यत्र शिव और पार्वती का पुत्र माना गया है[१४२]। यह निर्विवाद है कि स्कन्द की पूजा प्रथम शताब्दी ई० में प्रचलित थी। यही कारण है कि तत्कालीन कतिपय मुद्राओं पर स्कन्द, महासेन और कुमार जैसे नामों के साथ स्कन्द का आकार अंकित किया गया है[१४३]।

पार्वती—विष्णु पुराण के अनुसार शिव का परिणय हिमवान् की दुहिता के साथ हुआ था[१४४]। कैलास पर्वत के सम्बन्ध में वायु पुराण में वर्णन आता है

---

१३७. तयोश्च संयोगाद्भविता कुमारः । ब्रह्माण्ड पु०, ४।३०।३६

१३८. स्कन्दश्च............पुत्रोऽस्य............। वायु पु०, १०१।२७६

१३९. वामं विदार्य निष्क्रान्तः सुतो देव्याः...। मत्स्य पु०, १५६।१

१४०. स्कन्दमंगारकस्यापि बुधस्यापि तथा हरिम् । वही, ६३।१३

१४१. समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिंचत् पावकः । रामायण, १।३७।१४

१४२. भण्डारकर, वही, पृ० २१४

१४३. जे० बी० वी० आर० ए० यस०, खण्ड २०, पृ० ३८५; भण्डारकर, वही, पृ० २१५

१४४. उपयेमे पुनश्चोमामनन्यां भगवान्हरः । विष्णु पु०, १।८।१४

कि इस पर्वत पर तपःशीला पार्वती के साथ महादेव का विवाह हुआ था[१४५]। ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णन के अनुसार पार्वती ने तपस्या के द्वारा शिव को सन्तुष्ट किया था[१४६]। ये वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलते हैं[१४७]।

पार्वती-पूजा—इसका उल्लेख वायु और मत्स्य पुराणों में हुआ है। भद्राश्व के बारे में वायु पुराण में कहा गया है कि यहाँ के निवासी नित्य प्रति शिव और पार्वती की पूजा करते हैं[१४८]। मत्स्य पुराण में आर्द्रानन्दकरी नामक व्रत के अवसर पर शिव और पार्वती की मूर्तियों के सामने अर्चना करने का विधान मिलता है[१४९]। शिव और पार्वती की संयुक्त उपासना का समर्थन अन्य साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। महाभारत में विष्णु और लक्ष्मी की भाँति शिव और पार्वती का सम्बन्ध भी अविच्छेद्य माना गया है[१५०]। कालिदास ने शब्द और अर्थ की भाँति सम्पृक्त शिव और पार्वती की वन्दना की है[१५१]। प्रस्तुत-प्रसंग में एलिफैंटा की गुफा में निर्मित शिव और पार्वती की मूर्त्ति का उल्लेख किया जा सकता है। शिव का प्रदर्शन अभय-मुद्रा में किया गया है। इनकी बाईं ओर पार्वती का प्रदर्शन मिलता है। इनका बायाँ हाथ मुड़ा और उठा हुआ है, पर दाँया हाथ पूरा लटक रहा है[१५२]।

गणेश-पूजा—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार वाराणसी में गणेश की नित्य प्रति पूजा होती है[१५३]। अन्यत्र वर्णन आता है कि गणेश को सभी देवताओं की अपेक्षा पूर्व-पूजन का शिव के द्वारा वरदान प्राप्त हुआ था। जातकर्म, गर्भाधान आदि

---

१४५. विवाहोऽत्र रुद्रस्य.........तपस्ततवती चैव यत्र देवी वरांगना। वायु पु०, ४१।३१

१४६. अनुज्ञया ततः पित्रोस्तपः कर्त्तुमगाद् वनम्। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१२।२६

१४७. समाप्तनियमा देवी यदा चोमा भविष्यति। मत्स्य पु०, १५४।७३

१४८. ते भक्त्या शंकरं देवं गौरीं.............। वायु पु०, ४४।३८

१४९. मत्स्य पु०, ६४।१२

१५०. महेश्वरं पर्वतराजपुत्री। आदिपर्वणि स्वयंवरपर्व, १८३।३०

१५१. वागर्थाविव संपृक्तौ......जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। रघुवंश, १।१

१५२. टी० ए० गोपीनाथ राव, वही, भाग २, खण्ड १, पृ० ३१७-१८, फलक ९०

१५३. एवं संपूज्यते तत्र नित्यमेव गणेश्वरः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।६७।४६

संस्कारों के अवसर पर, यात्रा के समय, वाणिज्य में तथा कार्य की कठिनाई में, जो मनुष्य गजानन की पूजा करता है, उसके सभी कार्य सफल होते हैं[१५४]। इस सम्बन्ध में गणेश के वक्ष्यमाण नाम बताए गए हैं। शिव के गणों के स्वामी होने के कारण इन्हें गणेश कहते हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान अखिल ब्रह्माण्ड उनके उदर में व्याप्त है, इसलिए उन्हें लम्बोदर कहते हैं। दैववश इनका सिर कट गया था। अतएव सिर से युक्त किए जाने के कारण इन्हें गजानन कहा जाता है। प्राचीनकाल में सप्तर्षियों के शाप के कारण अग्नि नष्ट हो गया था। उसे प्रदीप्त करने के कारण इन्हें शूर्पकर्ण कहते हैं। चतुर्थी के चन्द्रमा को इन्होंने मस्तक पर धारण किया था। इसीलिए इन्हें भालचन्द्र कहा जाता है। देवासुर संग्राम में इन्होंने देवताओं का विघ्न नष्ट किया था। इसी कारण इन्हें विघ्ननाश (क) की संज्ञा दी गई। जामदग्न्य ने परशु से इनका एक दाँत तोड़ा था। इसीलिए इनका नाम एकदन्त भी है। तुण्ड के वक्र होने के कारण इन्हें वक्रतुण्ड भी कहा जाता है[१५५]। मत्स्य पुराण के अनुसार शंकर से परिणीत होने के उपरान्त पार्वती को पुत्र पाने की प्रबल अभिलाषा हुई। उन्होंने एक गजाकृति पुतले को पुत्रवत पालना प्रारम्भ किया। एक दिन उन्होंने उसे गंगा के जल में स्नान कराया, जिससे वह लम्बा और सजीव शरीर वाला हो गया। यही कारण है कि उन्हें गजानन और गांगेय कहते हैं[१५६]। अन्यत्र वर्णन आता है कि शिव की बाईं ओर निर्मित पार्वती के पास गणेश की मूर्ति का भी निर्माण करना चाहिए[१५७]। इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि उक्त आलोचित पुराणों के वर्णनों में ब्रह्माण्ड पुराण का उल्लेख ही अन्य पुराणों के समकक्ष है। उदाहरणार्थ, शिव पुराण में गजानन के रहस्य पर प्रकाश डालते हुए प्रायः वही प्रसंग उल्लिखित किया गया है, जो ब्रह्माण्ड पुराण में प्राप्त होता है[१५८]। मूर्ति निर्माण के सम्बन्ध में

---

१५४. जातकर्मादिसंस्कारे गर्भाधानादिकेऽपि च।
यात्रायां च वाणिज्यादौ युद्धे देवार्चने शुभे।
संकष्टे काम्यसिद्ध्यर्थं पूजयेद्यो गजाननम्।
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्ध्यन्त्येव न संशयः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२। ४२-४४

१५५. वही, ३।४२।३३-३६

१५६. मत्स्य पु०, १५४।५०२-५०५

१५७. वही, २६०।१८

१५८. शिव पु०, रु० सं०, ४।१७, गोपीनाथ राव, वही, पृ० ३८-३९

दो पुरातत्त्व साक्ष्यों का उल्लेख समीचीन है, जिनसे मत्स्य पुराण का उपर्युक्त वर्णन समर्थित होता है। त्रिवेन्द्रम् की कला में हाथी-दाँत की बनी हुई शिव और पार्वती की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। शिव के बाईं ओर पार्वती की मूर्ति है। दाहिनी ओर गणेश की मूर्ति बनी है[१५९]। इसी प्रकार अजमेर के संग्रहालय में पत्थर की बनी हुई शिव और पार्वती की मूर्तियों के निचले भाग में गणेश की मूर्ति है। यह मूर्ति शैशव अवस्था की है तथा नग्न प्रदर्शित की गई है[१६०]।

शिव के अनुचर भूत, पिशाच एवं राक्षस—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भूत को भूति से उत्पन्न माना गया है और कहा गया है कि ये रुद्र के अनुचर हैं[१६१]। अन्यत्र शूलपाणि शिव को भूत-पिशाच का स्वामी बताया गया है[१६२]। वायु पुराण के एक अन्य वर्णन में शिव को भूतों का प्रभु कहा गया है[१६३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान मत्स्य पुराण में भी शिव को पिशाच, राक्षस, भूत, और वेताल आदि का अधिपति माना गया है[१६४]।

यह कहा जा सकता है कि शिव का यह रूप वेदोत्तर की द्योतक भावना है। यद्यपि अथर्ववेद में रुद्र को भूतनाथ कहा गया है, तथापि भूत का अर्थ यहाँ सामान्य जनसमुदाय है[१६५]। महाभारत में शिव कहते हैं कि पिशाच, राक्षस आदि पर नियंत्रण रखने के लिए पितामह ने इनका स्वामित्व उन्हें प्रदान किया था[१६६]।

---

१५९. गोपीनाथ राव, वही, भाग २, खण्ड १, पृ० १३६-१३७, फलक २५

१६०. वही, फलक २६, चित्र २

१६१. भूतिर्विजज्ञे भूतांश्च रुद्रस्यानुचरान् प्रभोः। वायु पु०, ६९।२३६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।३५६

१६२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३३

१६३. भूतानां प्रभुरीश्वरः शूलपाणिर्महादेवो......। वायु पु०, २४।३५

१६४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३३

१६५. कीथ, वही, पृ० २१४

१६६. पिशाचरक्षोवदनाः प्राणिनां भृशमेव च।
एवं लोके प्राणिहीने क्षयं गते पितामहः।
चिन्तयंस्तत्प्रतीकारं मां च शक्तं हि निग्रहे।
......ततो ब्रह्मा तस्मिन् कर्मण्ययोजयत्। अनुशा०, ११४,८-१०

रुद्र-गरण—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार महादेव ने ब्रह्मा के आदेश से अनेक रुद्रों को उत्पन्न किया था[१६७]। यह परम्परा वैदिककाल से ही चली आ रही थी। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में मरुत् की एकता रुद्रगण से स्थापित की गई है। उन्हें रुद्र की सन्तान माना गया है[१६८]।

इन विवेचनों से यह स्पष्ट है कि पौराणिक देवसमुदाय में शिव को महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। रुद्र-शिव से सम्बन्धित उपर्युक्त अनेक उद्धरण यह व्यक्त करते हैं कि उनकी वैदिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ चुका था। जबकि वैदिक वाङ्मय में, विशेषतः ऋग्वेद में, इनसे सम्बन्धित स्थलों की संख्या कम है, पुराणों के अधिकांश उद्धरण उनकी प्रसिद्धि का परिचय देते हैं। इतना होते हुए भी शिव के पौराणिक नामों तथा उनके स्वरूप पर वैदिक प्रभाव के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता है। यह भी स्पष्ट है कि शिव की पर्युपासना में लिंग-पूजा का सूत्रपात सम्भवतः हो चुका था। यद्यपि विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों से इसका आभासमात्र मिलता है, तथापि मत्स्य पुराण का उद्धरण इसे पूर्णतः समर्थित करता है। इसके अतिरिक्त शैव परिवार से सम्बन्धित स्कन्द, पार्वती, गणेश, भूत तथा पिशाच आदि के परिकल्पन पर भी पौराणिक उद्धरणों द्वारा विशेष प्रकाश पड़ता है।

---

१६७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३६

१६८. कीथ, वही, पृ० १५०-१५१

सूर्य तथा सौर पूजा

विष्णु तथा शिव की अपेक्षा सूर्य की गौण स्थिति—विष्णु पुराण में कहा गया है कि सूर्य विष्णु के ही अंश हैं[1]। विराट् रूप विष्णु की प्रार्थना करते हुए ध्रुव सूर्य को उनके नयनों से उत्पन्न मानते हैं[2]। ज्योतिश्चक्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि शिशुमार के आधार विष्णु हैं। शिशुमार स्वयं ध्रुव का आश्रय है। ध्रुव सूर्य के आधार हैं[3]। वैष्णवी शक्ति के प्रसंग में कहा गया है कि ऋग्, यजुः तथा साम तीनों विष्णु की त्रयी शक्ति हैं। यह वैष्णवी शक्ति सूर्य में सदा वर्तमान रहती है[4]। विष्णु की प्रार्थना करते हुए देवगण सूर्य को वैष्णवी शक्ति का एक प्रकार मानते हैं[5]। अन्यत्र विष्णु की स्तुति करते हुए ब्रह्मा कहते हैं कि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य विष्णु के ही रूप हैं[6]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में उद्यापन नामक व्रत के अवसर पर अर्चनीय सूर्य के लिए ईशान कोण में स्थापित मूर्ति को विष्णु का नाम दिया गया है[7]। अमावस्या के सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि इस तिथि को सूर्य में रुद्र का अंश रहता है[8]। इन स्थलों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आलोचित पुराणों में विष्णु तथा रुद्र-शिव की अपेक्षा सूर्य को गौण स्थान दिया गया है।

---

१. वैष्णवोंऽशः परः सूर्यः......। विष्णु पु०, २।८।५६

२. अक्ष्णोः सूर्योऽनिलः.........। वही, १।१२।६४

३. आधारभूतः सवितुर्ध्रुवो ध्रुवस्य शिशुमारो सोऽपि नारायणात्मकः। वही, २।९।२४

४. अंगमेषा त्रयी विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता।
विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा। वही, २।११।११

५. शक्रार्करुद्रः..........भेदवत् । वही, ३।१७।१७

६. अर्केन्दुरूपश्च तमो हिनस्ति । वही, ४।१।८७

७. विष्णुमीशाने विन्यसेत्सदा । मत्स्य पु०, ९८।६

८. रुद्राविष्टं सर्वमिदं...सूर्योऽसौ...। ब्रह्माण्ड पु०, २।१०।६५-६६

वैदिक परम्परा का प्रभाव—इन स्थलों पर वैदिक विचार का प्रभाव दिखाई देता है। कारण यह है कि ऋग्वेद के विवरण में भी सूर्य को इन्द्र और विष्णु द्वारा उत्पन्न माना गया है[९]।

अग्नि की अपेक्षा सूर्य का उत्कर्ष—वायु पुराण में एक स्थल पर कहा गया है कि मनीषियों ने सूर्य को अग्नि बताया है[१०]। इस पुराण के अनुसार अग्नि सूर्य का सार-भाग है[११]। ब्रह्माण्ड पुराण के एक वर्णन में सूर्य और अग्नि में तादात्म्य स्थापित किया गया है[१२]। इस प्रकार इन स्थलों में सूर्य और अग्नि में तादात्म्य तथा अग्नि की अपेक्षा सूर्य का उत्कर्ष व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त इनसे वैदिक परम्परा में परिवर्तन की सूचना भी मिलती है। कारण यह है कि ऋग्वेद के छन्दों में अग्नि को सूर्य की अपेक्षा उत्कृष्ट माना गया है। उदाहरणार्थ, एक स्थल पर कहा गया है कि सूर्य अग्नि का रूप है[१३]। अन्यत्र वर्णन आता है कि सूर्य अग्नि के प्रकाश से ही प्रकाशवान् होता है[१४]।

आदित्य और सूर्य की अभिन्नता—विष्णु पुराण में सूर्य की स्तुति करते हुए याज्ञवल्क्य उन्हें आदित्य के नाम से अभिहित करते हैं[१५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी आदित्य को सूर्य का नामान्तर बताया गया है[१६]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में अविमुक्त क्षेत्र में उपास्य सूर्य को आदित्य नाम दिया गया है[१७]। स्मरणीय है कि आदित्य और सूर्य में अभिन्नता वैदिककाल में ही स्थापित हो चुकी थी, क्योंकि ऋग्वेद के एक छन्द में उदयकालीन सूर्य के लिए आदित्य नाम प्रयुक्त किया गया है[१८]।

---

९. उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्। ऋग्वेद, ७।९९।४
१०. प्रोक्तः......सूर्यो योऽग्निर्मनीषिभिः। वायु पु०, ३१।३४
११. आदित्येयस्त्वसौ सारः कालाग्निः...। वही, ३१।२९
१२. आदितेयस्त्वसौ सूर्यः कालाग्निः......। ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।११७
१३. ऋग्वेद १०।८८।११; मैकडानल वेदिक माइथालोजी, पृ० ३०-३१
१४. वही, ५।१७।३; ग्रिफिथ, हिम्स ऑफ़ दि ऋग्वेद, तृ० सं०, पृ० १८
१५. आदित्यादिभूताय...............नमो नमः। विष्णु पु०, ३।५।२४
१६. आदित्यः सविता भानुः जीवनो ब्रह्मसत्कृतः। वायु पु०, ३१।३७
आदित्यः सविता भानुः जीवनो ब्रह्मसत्कृतः। ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।१२५
१७. आदित्योपासनां कृत्वा......................। मत्स्य पु०, १८४।३१
१८. उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह। ऋग्वेद, १।५०।१३

आदित्य और सूर्य का पृथक् वर्णन—विष्णु पुराण के अनुसार चाक्षुष मन्वन्तर के तुषित नामक देवताओं ने वैवस्वत मन्वन्तर में अदिति के गर्भ से जन्म लेने का निश्चय किया। उनका जन्म मरीचिपुत्र कश्यप और दक्ष की कन्या अदिति के संयोग से हुआ। उनकी संख्या बारह थी। वैवस्वत मन्वन्तर में इन्हीं देवताओं को आदित्य कहा जाता है। यही वर्णन वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में भी मिलता है। चारो पुराणों में बारह आदित्यों के निम्नांकित नाम बताए गए हैं[१९]।

विष्णु पुराण	वायु पुराण	ब्रह्माण्ड पुराण	मत्स्य पुराण
विष्णु	धाता	धाता	इन्द्र
इन्द्र	अर्यमन्	अर्यमन्	धाता
अर्यमन्	मित्र	मित्र	भग
धाता	वरुण	वरुण	त्वष्टा
त्वष्टा	अंश	अंश	मित्र
पूषा	भग	भग	वरुण
विवस्वान्	इन्द्र	इन्द्र	यम
सविता	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्
मित्र	पूषा	पूषा	सविता
वरुण	पर्जन्य	पर्जन्य	पूषा
अंशु	त्वष्टा	त्वष्टा	अंशुमान्
भग	विष्णु	विष्णु	विष्णु

चारो पुराणों की तालिका में पर्याप्त समता है। केवल नामों के क्रम तथा मत्स्य पुराण के यम और अंशुमान् दो विशिष्ट शब्दों में भिन्नता दिखाई देती है। इन बारह आदित्यों तथा सूर्य के सम्बन्ध की सूचना विष्णु और मत्स्य पुराणों से मिलती है। विष्णु पुराण के अनुसार ये आदित्यगण विष्णु की शक्ति से वृद्धि

१९. विष्णु पु०, १।१५।१२६-१३१; वायु पु०, ६६।६६-६७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।२।६७-६९; मत्स्य पु०, ६।३-५

पाकर सूर्य-मण्डल में निवास करते हैं[२०]। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि आदित्यगण सूर्य के मण्डल को तेजयुक्त बनाते हैं[२१]।

वैदिक परम्परा में परिवर्तन—इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि आदित्य के अदिति द्वारा उत्पन्न होने की सूचना ऋग्वेद से भी मिलती है[२२]। इसी प्रकार सूर्य का वर्णन आदित्य से पृथक् भी किया गया है[२३]। अन्यत्र कहा गया है कि आदित्य सूर्य का मार्ग बनाते हैं[२४]। जहाँ तक आदित्यों की संख्या का प्रश्न है ऋग्वेद में सात आदित्य बताए गए हैं— मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष, अंश तथा मार्तण्ड[२५]। जैसा कि उपर्युक्त पौराणिक तालिका से स्पष्ट है मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण तथा अंश नामक आदित्यों को पौराणिक साहित्य में भी स्थान मिला है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर वर्णित है कि आदित्य सात हैं, मार्तण्ड को सम्मिलित करने से उनकी संख्या आठ होती है[२६]। पर अन्यत्र द्वादशादित्य का उल्लेख मिलता है,[२७] यद्यपि इनके नामों पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

पूषा और सूर्य का पार्थक्य तथा तादात्म्य—आदित्यों के प्रसंग में इस बात का उल्लेख आ चुका है कि पूषा का वर्णन आलोचित पुराणों में द्वादशादित्यों के अन्तर्गत हुआ है[२८]। पर ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं जहाँ पूषा

---

२०. सवितुर्मण्डले ब्रह्मन्विष्णुशक्त्युपबृंहिताः। विष्णु पु०, २।१०।१९

२१. सूर्यमापादयन्त्येते तेजसा तेज उत्तमम्। मत्स्य पु०, १२६।२५

२२. उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वानि जूर्वन।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टोअदृष्टहा। ऋग्वेद, १।१९१।९;
द्रष्टव्य, मैकडानल, वही, पृ० ३०

२३. सजोषसा उषसा सूर्येणाचादित्यैर्यातमश्विना। ऋग्वेद, ८।३५।१३

२४. यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति............। वही ७।६०।४
यस्मै...सूर्याय...आदित्या...अध्वनो...साधयन्ति। सायण

२५. वही, ९।११४।३, १०।७२।८-९, मैकडानल, वही, पृ० ४३

२६. यास्त्वेतद्देवा आदित्या...सप्त हैव...हाष्टमंजनयांचकार...मार्तण्डम्।
श० ब्रा०, ३।१।३।३

२७. द्वादशादित्या सृज्यन्त......। वही, ६।१।२।८

२८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४७-४८

शब्द सूर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण में मन्दारसप्तमी नामक व्रत के प्रसंग में सूर्य के लिए पूषा शब्द का प्रयोग हुआ है[२९]। इसी प्रकार विष्णु पुराण में दैत्यों द्वारा संत्रस्त, विष्णु से करुण-कथा निवेदित करने वाले देवों के वर्णन में सूर्य के लिए पूषा शब्द प्रयुक्त किया गया है[३०]। इन स्थलों में वैदिक परम्परा-निर्वाह इस दृष्टि से दिखाई देता है कि ऋग्वेद में भी पूषा का वर्णन सूर्य से पृथक् स्वतन्त्र देवता के रूप में हुआ है[३१]। पर ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ पूषा को सूर्य से सम्बन्धित दिखाया गया है[३२]। इसके अतिरिक्त वैदिक और पौराणिक वर्णनों में एक अन्य समानता भी दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद के छन्दों में एक स्थल पर पूषा का सूर्य के रथ का वहन करने वाले के रूप में वर्णन आता है[३३]। इसके पूर्व यह दिखाया जा चुका है कि पूषा का वर्णन पुराणों में उन आदित्यों के अन्तर्गत हुआ है, जो सूर्य के रथ में अधिष्ठित रहते हैं[३४]।

सविता और सूर्य—आलोचित पुराणों के विषय में सविता और सूर्य के पार्थक्य का निर्देश किया जा चुका है[३५]। इनके प्रसंगानुसार स्थलों में ऐसे वर्णन भी मिलते हैं, जिनमें सविता शब्द सूर्य के लिए ही प्रयुक्त है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में एक स्थल पर सविता को सूर्य के नामार्थ परिगणित किया गया है[३६]। विष्णु पुराण में सविता शब्द एक स्थान पर सूर्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त मिलता है[३७]। सूर्य की स्तुति करते हुए याज्ञवल्क्य उन्हें सविता

---

२९. पूष्णेत्युत्तरतः पूज्यमानन्दायेत्यतः परम्। मत्स्य पु०, ७९।७

३०. सर्वादित्यैः समं पूषा पावकोऽयं..........। विष्णु पु०, १।९।६३

३१. मैकडानल, वही, पृ० ३७

३२. वही, पृ० ३७

३३. ऋग्वेद, ६।५६।३

३४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४८-४९

३५. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४८-४९

३६. आदित्यः सविता भानुः जीवनः ब्रह्मसत्कृतः। वायु पु०, ३१।३७
आदित्यः सविता भानुः जीवनः ब्रह्मसत्कृतः। ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।१२५

३७. नमस्सवित्रे द्वाराय मुक्तेरमिततेजसे। विष्णु पु०, ३।१५।१६

के नाम से सम्बोधित करते हैं[३८]। अन्यत्र जल उत्पन्न करने वाले सूर्य को सविता की संज्ञा दी गई है[३९]। इन स्थलों पर भी वैदिक धारणा का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के एक सूक्त में सूर्य के लिए प्रसविता और सविता जैसे शब्द प्रयुक्त मिलते हैं[४०]। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सविता को अपां नपात् कहा गया है[४१]। निरुक्त में अपां नपात् को स्पष्ट करते हुए यास्क सविता को जल का कारण मानते हैं[४२]।

विवस्वान् तथा सूर्य—यद्यपि आलोचित पुराणों में विवस्वान् की गणना द्वादशादित्य के अन्तर्गत हुई है, तथापि इनमें ऐसे स्थल भी हैं जहाँ विवस्वान् का प्रयोग सूर्य के लिए हुआ है[४३]। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में गृहस्थ-विषयक सदाचार के वर्णन में सूर्य के लिए विवस्वान् शब्द प्रयुक्त किया गया है[४४]। सूर्य की गति के सम्बन्ध में दक्षिणायन-स्थित सूर्य के लिए विवस्वान् का उल्लेख है[४५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवस्वान् शब्द सूर्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है[४६]। मार्तण्ड शब्द की व्युत्पत्ति के संदर्भ में एक दूसरे स्थल पर सूर्य के लिए विवस्वान् का प्रयोग मिलता है[४७]। इसी प्रकार सूर्य की उपासना

---

३८. जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे । विष्णु पु०, ३।११।४०

३९. सरित्समुद्रभौमास्तु तथापः...भगवानादत्ते सविता । वही, २।९।१
सापि निष्पाद्यते वृष्टिः सवित्रा मुनिसत्तम । वही, २।९।२३

४०. उद्वेति प्रसविता......। एष मे देवः सविता......। ऋग्वेद, ७।६३।२-३

४१. अपां नपातमवसे सविता......। वही, १।२२।६

४२. निरुक्त, ७।९

४३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४८

४४. नमो विवस्वते ब्रह्मभास्वते............। विष्णु पु०, ३।११।४०

४५. दक्षिणे त्वयने चैव विपरीतां विवस्वतः । वही, २।८।४७

४६. विवस्वानदितेः पुत्रः सूर्यो वै............। वायु पु०, ५३।१०४; ब्रह्माण्ड पु०, २।२४।१२९

४७. तस्माद्विवस्वान्मार्तण्डः......विभाव्यते । वायु पु०, ८४।२९; ब्रह्माण्ड पु०, ३।५९।३०

करने वाले नृप शक्रजित (सत्राजित) के सामने स्थित सूर्य के लिए दोनो पुराणों में विवस्वान् शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है[४८]।

जहाँ तक वैदिक विचारधारा का प्रश्न है, विवस्वान् का वर्णन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है[४९]। एक छन्द में विवस्वान् का उल्लेख प्रातःकालीन सूर्य के लिए किया गया है[५०]। शतपथ ब्राह्मण के काल में विवस्वान् और आदित्य का तादात्म्य निश्चित रूप से स्थापित हो गया था। एक स्थल पर वर्णित है कि प्राणिमात्र की सृष्टि विवस्वान् आदित्य से हुई है[५१]। जैसा कि विवस्वान् से सम्बन्धित पूर्व आलोचित पौराणिक स्थलों से स्पष्ट है, विवस्वान् का प्रयोग आदित्य और सूर्य दोनों के लिये हुआ है। अतएव ये पौराणिक उद्धरण, वैदिक भावना के उत्तरकालीन विकास माने जा सकते हैं।

अर्यमन् तथा सूर्य—आलोचित पुराणों में अर्यमन् का वर्णन आदित्यों के अन्तर्गत किया गया है। इस बात का विवेचन किया जा चुका है कि ऋग्वेद में अर्यमन् का वर्णन आदित्यों के वर्ग में भी मिलता है[५२]। ऐसे स्थल भी इन पुराणों में मिलते हैं जिनमें अर्यमन् और सूर्य में तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, मन्दारसप्तमी नामक सौर व्रत के प्रसंग में मत्स्य पुराण में नैऋत कोण में अर्चनीय सूर्य के लिए अर्यमन् नाम आया है[५३]। इसी प्रकार विष्णु पुराण में सविता की भाँति अर्यमन् शब्द भी सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है[५४]। ये पौराणिक स्थल वैदिक परम्परा में परिवर्तन व्यक्त करते हैं। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में अर्यमन् का वर्णन बहुधा मित्र वरुण आदि देवताओं

---

४८. विवस्वानग्रतः स्थितः...। वायु पु०, ९६।२२
विवस्वानग्रतः स्थितः...। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।२३
४९. मैकडानल, वही, पृ० ४२
५०. त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते। ऋग्वेद, १।३१।३; द्रष्टव्य, ग्रिफिथ, वही, पृ० ४०
५१. विवस्वानादित्यः तस्येमाः प्रजाः। श० ब्रा०, ३।१।३।४
५२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४९
५३. तथाऽर्यम्णे च नैऋते...। मत्स्य पु०, ७९।६
५४. उत्तरः सवितुः पन्था...।
उदक्पन्थानमर्यम्णः....। विष्णु पु०, २।८।९२-९४

के साथ मिलता है[५५]। यहाँ तक कि शतपथ ब्राह्मण में भी अर्यमन् की प्रार्थना पूषन्, वृहस्पति और वाक् के साथ पृथक् देवता के रूप में की गई है[५६]।

भग तथा सूर्य—जैसा कि पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है, ऋग्वेद की भाँति आलोचित पुराणों में भी भग को आदित्यों के अन्तर्गत वर्णित किया गया है[५७]। मत्स्य पुराण में भग का उल्लेख सूर्य के लिए भी हुआ है। यह वर्णन सौर व्रत के प्रसंग में मिलता है जहाँ वायव्य कोण में अर्चनीय सूर्य का निर्देश भग के नाम से है[५८]। यद्यपि भग और सूर्य का तादात्म्य वैदिक परम्परा में परिवर्तन का सूचक है; तथापि भग की अर्चना का आविर्भाव वैदिक काल में हो चुका था। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के एक छन्द में भग से धन, अश्व, रथ आदि के लिए प्रार्थना की गई है[५९]।

मार्तण्ड और सूर्य—इस बात का विवेचन किया जा चुका है कि ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में मार्तण्ड का वर्णन द्वादशादित्यों के अन्तर्गत हुआ है[६०]। पर आलोचित पुराणों में मार्तण्ड और सूर्य के एकीकरण की चेष्टा प्रदर्शित है। मार्तण्ड शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में कहा गया है कि सूर्य को मार्तण्ड इसलिए कहते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति मृत अण्ड से हुई है[६१]। एक अन्य प्रसंग में मत्स्य पुराण में उत्तरी दिशा में अर्चनीय सूर्य को मार्तण्ड नाम दिया गया है[६२]।

---

५५. मैकडानल, वही, पृ० ४५

५६. यच्छत्वर्यमा प्रपूषा प्रवृहस्पतिः।
प्रवाग्देवी ददातु नः स्वाहा। श० ब्रा०, ५।२।२।११

५७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४८-४९

५८. वायव्ये तु भगं न्यस्य पुनः पुनरथार्चयेत्। मत्स्य पु०, ९८।६

५९. अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा......। ऋग्वेद, ७।४२।६

६०. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४९

६१. मृतेऽण्डे जायते यस्मान्मार्तण्डस्तेन संस्मृतः।
चिरोत्पन्नमतिर्भिन्नमण्डं त्वष्ट्रा विदारितम्।
यन्मार्तण्डो भवेत्युक्तः पित्राऽण्डे वै द्विधा कृते।
तस्माद्विवस्वान्मार्तण्डः पुराणज्ञैर्विभाव्यते। वायु पु०,८४।२६-२९
ब्रह्माण्ड पु०, ३।५९।२७-३०; मत्स्य पु०, २।३६

६२. मार्तण्डमुत्तरे विष्णुमीशानं विन्यसेत्सदा। मत्स्य पु०, ९८।६

सौर रथ—वैदिक भावना से प्रभावित अन्य विशिष्ट स्थलों में सौररथ का वर्णन समीचीन है। विष्णु पुराण के अनुसार सूर्य का रथ ईषा, दण्ड, नेमि और चक्र से निर्मित है। इस रथ को सात घोड़े खींचते हैं[६३]। एक अन्य स्थल पर वर्णन आता है कि सूर्य के रथ में मुनि, गन्धर्व, अप्सराएँ, राक्षस, सर्प, यक्ष और वालखिल्य आदि ऋषि तथा आदित्य रहते हैं[६४]। यही वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[६५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि सूर्य के रथ को स्वयं ब्रह्मा ने बनाया था। इस रथ में देव, आदित्य, ऋषि, गन्धर्व, अप्सराएँ, सर्प एवं राक्षस रहते हैं[६६]। ये पौराणिक स्थल वैदिक परम्परा से इसलिए प्रभावित माने जा सकते हैं कि सूर्य के रथ तथा सात अश्वों का उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है[६७]।

सूर्य—प्राणिमात्र के जीवन—विष्णु पुराण में कहा गया है कि देव, असुर और मनुष्यों के सहित यह सम्पूर्ण जगत् सूर्य के आश्रित है। इसका कारण यह है कि सूर्य आठ मास तक अपनी किरणों से छः रसों से विशिष्ट जल को ग्रहण कर उसे चार महीने में बरसाते हैं। उससे अन्न की उत्पत्ति होती है और इससे जगत् का परिपोषण होता है। सूर्य चार प्रकार के जल का आदान करते हैं— नदी, समुद्र, पृथ्वी तथा प्राणियों से उत्पन्न। वे आकाश गंगा के जल को ग्रहण कर उसे बिना मेघों के भी पृथ्वी पर बरसाते हैं। इस जल के स्पर्श मात्र से मनुष्य का पाप-समूह नष्ट हो जाता है। ऐसा बताया गया है कि जिस जल को वे मेघों के द्वारा बरसाते

६३. योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नव।
ईषादण्डस्तथैवास्य द्विगुणो मुनिसत्तम।
हयाश्च सप्त च्छंदांसि तेषां नामानि मे शृणु। विष्णु पु०, २।८।२-५

६४. वही, २।१०।२-२२

६५. मत्स्य पु०, १२६।१-२५

६६. ब्रह्मणा निर्मितः सौरः स्यन्दनोऽर्थवशात् स्वयम्।
स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिस्तथा।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामीणसर्पराक्षसैः। वायु पु०, १।८९-९०; ब्रह्माण्ड पु० १।१।८२-८३

६७. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। ऋग्वेद, १।५०।८

हैं वह जीवन के लिए अमृत-तुल्य होता है[६८]। कदाचित् इसी दृष्टि से वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में सूर्य को 'जीवन' नाम दिया गया है[६९]। इन स्थलों पर भी वैदिक परम्परा का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में कहा गया है कि समस्त जगत् सूर्य पर आधारित है[७०]।

सूर्य के अन्य उपादेय क्रिया-कलाप—विष्णु पुराण के अनुसार भगवान् रवि दिन और रात्रि की व्यवस्था के कारण हैं[७१]। अन्यत्र सूर्य का दर्शन अशुभ का निवारक माना गया है[७२]। इन अंशों पर भी निश्चय ही ऋग्वेद का प्रभाव है। ऋग्वेद में भी वर्णित है कि सूर्य दिन और रात्रि का मापन करते हैं[७३]। इस

---

६८. तदाधारं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ।
येन विप्र विधानेन तन्ममैकमनाः शृणु ।
विवस्वानष्टभिर्मासैरादायापो रसात्मिकाः ।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्नमन्नादप्यखिलं जगत् ।
सरित्समुद्रभौमास्तु तथापः प्राणिसंभवाः ।
चतुष्प्रकारा भगवानादत्ते सविता मुने ।
आकाशगंगासलिलं तथादाय गभस्तिमान् ।
अनभ्रगतमेवोर्व्यां सद्यः क्षिपति रश्मिभिः ।
तस्य संस्पर्शनिर्धूतपापपंको द्विजोत्तम ।
यत्तु मेघैः समुत्सृष्टं वारि तत्प्राणिनां द्विज ।
पुष्णात्योषधयः जीवनायामृतं हि तत् । विष्णु पु०, २।९।७-६, १२, १३, १४, १६

६९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ५०, पादटिप्पणी ३६

७०. सूर्यस्य...तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा । ऋग्वेद, १।१६४।१४

७१. अहोरात्रव्यवस्थानकारणं भगवान्रविः । विष्णु पु०, २।८।११

७२. तस्यावलोकनात्सूर्यं पश्येत् मतिमान्नरः । वही, ३।१८।९४

७३. वियामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । ऋग्वेद, १।५०।७

छन्दांश का अर्थ सायरण ने अहोरात्र का विभाग माना है[७४]। अन्यत्र सूर्य को जीवन के दिनों की दीर्घता का विधायक बताया गया है[७५]। पौराणिक परम्परा में सूर्य जगत् और जीवों के द्रष्टा भी माने गये हैं। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में सूर्य की स्तुति करते हुए याज्ञवल्क्य उन्हें भुवन को प्रकाशित करने वाले चक्षु की उपाधि देते हैं[७६]। उक्त भावना भी ऋग्वेद से प्रभावित मानी जा सकती है, जहाँ सूर्य को जगत् और जीवों का चक्षु माना गया है[७७]।

सूर्य-पूजा—विष्णु पुराण में सूर्य को जलांजलि देना गृहस्थ के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत वर्णित है। उन्हें ब्रह्म के समान भास्वान्, विष्णु के तेज, जगत् का सविता तथा कर्मों का साक्षी बताया गया है[७८]। इसी प्रकार श्राद्ध के प्रसंग में सूर्य को आहुति देने का विधान मिलता है[७९]। अन्यत्र निर्देश है कि वित्तहीन मनुष्य को सूर्य से अपनी हीनता निवेदित करते हुए पितरों को तृप्त करना चाहिए[८०]। याज्ञवल्क्य के सम्बन्ध में वर्णन है कि उन्होंने यजुर्वेद को प्राप्त करने के लिए अपनी स्तुति से सूर्य को प्रसन्न किया था[८१]। इसी प्रकार उल्लेख मिलता है कि सत्राजित की स्तुति से प्रसन्न होकर सूर्य ने उनकी अभिलाषा को पूरा किया

---

७४. ...अहोरात्रविभागस्य......... । सायरण

७५. ...आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि । ऋग्वेद, ८।४८।७

७६. भुवनालोकचक्षुषं तं नमाम्यहम् । विष्णु पु०, ३।५।२५

७७. दृशे विश्वाय सूर्यं । ऋग्वेद, १।५०।१
सूराय विश्वचक्षसे । वही, १।५०।२

७८. आचम्य तृतीया दद्यात्सूर्याय जलांजलिम् ।
नमो विवस्वते भास्वते विष्णुतेजसे ।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे । विष्णु पु०, ३।११।३९-४०

७९. वैवस्वताय चैवान्या तृतीया दीयते यतः । वही, ३।१५।२७

८०. सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षमूलप्रदर्शकः ।
सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैर्वदिष्यति ।
न मेऽस्ति वित्तं न धनं..स्वपितॄन्नतोऽस्मि । वही, ३।१४।२९-३०

८१. वही, ३।५।१४-२६

था[८२]। विष्णु पुराण में वर्णित याज्ञवल्क्य[८३] और सत्राजित[८४] (पाठान्तर में शत्रजित) का प्रसंग वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मिलता है। सूर्य-पूजा की महत्ता को व्यक्त करते हुए मत्स्य पुराण का भी निर्देश है कि विप्रों ने वाराणसी में आदित्य की उपासना कर अमरत्व को प्राप्त किया है[८५]। सरल रूप में सौर उपासना वैदिक काल में भी प्रचलित थी। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के एक छन्द में सूर्य की उपासना का उद्देश्य पाप का निवारण माना गया है[८६]। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य की स्तुति करते हुए उनकी किरणों को पवित्रता का कारण बताया गया है[८७]। मनुस्मृति के अनुसार सूर्य शरीरधारियों को शुद्ध करते हैं[८८]। मालती-माधव में कल्याण के लिए सूत्रधार सूर्य की वन्दना करता है[८९]। मन्दसोर के अभिलेख में सूर्य की भक्ति-प्रवण स्तुति की गई है[९०]।

सौर प्रतिमा, मन्दिर एवं व्रत-विधान—वायु पुराण के अनुसार गया तीर्थ में चारों युग की स्वरूप-बोधक सूर्य की चार मूर्तियाँ सन्निहित हैं, जिनका दर्शन, स्पर्श तथा पूजन पितरों की प्रसन्नता का कारण होता है[९१]। मत्स्य पुराण में सूर्य-पूजा के विषय में मन्दिर, प्रतिमा तथा व्रत का भी निरूपण किया

---

८२. एकदा त्वंभोनिधितीरसंश्रयः सूर्यं सत्राजित्तुष्टाव तन्मनस्कतया चभास्वानभिष्टूयमानोऽग्रतस्तस्थौ। विष्णु पु०, ४।१३।१२

८३. ततः स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद् द्विजः। वायु पु०, ६१।२०
ततः स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद् द्विजः। ब्रह्माण्ड पु०, २।३५।२३

८४. तस्योपतिष्ठतः सूर्यो विवस्वानग्रतः स्थितः। वायु पु०, ९६।२२
तस्योपतिष्ठतः सूर्यो विवस्वानग्रतः स्थितः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।२३

८५. आदित्योपासनां कृत्वा विप्राश्चामरतां गताः। मत्स्य पु०, १८४।३१

८६. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा.....................। ऋग्वेद, ७।६०।१

८७. ....उत्पवितारो सूर्यस्य रश्मयः। श० ब्रा०, १।१।३।६

८८. वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्। मनुस्मृति, ५।१०५

८९. कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते। मालती माधव, १।३

९०. पायात्स वस्सुकिरणाभरणो विवस्वान्। से० ई०, पृ० २८८

९१. चतुर्युगस्वरूपेण चतस्रो रविमूर्त्तयः।
दृष्टाः स्पृष्टाः पूजितास्ताः पितॄणां मुक्तिदायिकाः। वायु पु०, १०८।३६

गया है। एक वर्णन में निरूपित है कि पूजा-कार्य में सूर्य का पैर नहीं बनाना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति पैरों के साथ सूर्य की आकृति बनाकर पूजा करता है, तो वह पाप का भागी होता है। अतएव मन्दिरों और चित्रों में देव-देव अर्थात् सूर्य का पैर नहीं बनाना चाहिए[९२]। सौर धर्म के प्रसंग में कल्याणसप्तमी, विशोक-सप्तमी, फलसप्तमी, शर्करासप्तमी, कमलसप्तमी, मन्दारसप्तमी तथा शुभसप्तमी व्रतों का निर्देश है[९३]। शुक्ल पक्ष की सप्तमी के रविवार को कल्याणसप्तमी नाम दिया गया है और वताया गया है कि इस व्रत में गाय के दूध से स्नान करना चाहिए। श्वेतवस्त्र पहनकर पूर्वाभिमुख होकर अक्षत से कमल का चित्र तथा उसके मध्य भाग में कमल-कोष बनाना चाहिए। इस विधि से सूर्य का विन्यास कर उनके विभिन्न रूपों की पूजा करनी चाहिए[९४]। माघ महीने के शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को विशोकसप्तमी कहा गया है[९५]। मार्ग-शीर्ष के शुक्ल पक्ष की सप्तमी को फलसप्तमी की संज्ञा दी गई है[९६]। वैशाख के शुक्ल पक्ष की सप्तमी को शर्करासप्तमी नाम दिया गया है। इस तिथि को बालू की वेदी पर केसर द्वारा निर्मित कोष के साथ कमल बनाकर सूर्य की पूजा करने का विधान मिलता है[९७]। वसन्त ऋतु की शुक्ल सप्तमी कमलसप्तमी नाम से वर्णित है। इस अवसर पर तिल से पूर्ण पात्र में श्वेत कमल बनाकर सूर्य की अर्चना करने का आदेश विहित है[९८]। मन्दारसप्तमी के विषय में इस प्रकार की व्यवस्था मिलती है कि माघ महीने

---

९२. अर्चास्वपि ततः पादौ न कश्चित्कारयेत्क्वचित्।
तस्माच्च धर्मकामार्थी चित्रेष्वायतनेषु च।
न क्वचित्कारयेत्पादौ देवदेवस्य धीमतः। मत्स्य पु०, ११।३१-३३

९३. सौरधर्मं प्रवक्ष्यामि नाम्ना कल्याणसप्तमीम्।
विशोकसप्तमीं तद्वत्फलाढ्यां पापनाशिनीम्।
शर्करासप्तमीं पुण्यां तथा कमलसप्तमीम्।
मन्दारसप्तमीं तद्वच्छुभदां शुभसप्तमीम्। वही, ७४।२-३

९४. वही, अध्याय ७४

९५. वही, अध्याय ७५

९६. वही, अध्याय ७६

९७. वही, अध्याय ७७

९८. वही, अध्याय ७८

के शुक्ल पक्ष की पंचमी को अल्प भोजन कर, षष्ठी को उपवास तथा (दूसरे दिन) प्रातःकाल आठ मन्दार के पुष्पों को सुवर्ण-निर्मित कराकर उसी विधि से हाथ में कमल धारण किए हुए एक सुवर्ण-पुरुष की आकृति का निर्माण कर तदुपरान्त ताम्र-पात्र में काले तिलों द्वारा आठ दल वाले कमल को बनाकर (उपर्युक्त) सुवर्ण-पुष्पों द्वारा सूर्य की पूजा करनी चाहिए[९९]। शुभसप्तमी का अनुष्ठान क्वार के महीने में आदिष्ट किया गया है। इस अवसर पर गाय की पूजा तथा वृषभदान का निर्देश मिलता है। ऐसा कहा गया है कि सांयकाल अर्यमन् (सूर्य) की पूजा करनी चाहिए[१००]। अन्यत्र वर्णन आता है कि सूर्य सदा लाल कमल पर आसीन रहते हैं। उनके हाथ में कमल रहता है। उनकी कान्ति कमल के अन्तर्भाग के समान होती है। वे सात घोड़े, रज्जु एवं दो भुजाओं से संपन्न हैं[१०१]।

मत्स्य पुराण के इन उद्धरणों से सूर्य के विषय में दो विशिष्ट बातों की सूचना मिलती है--एक तो उनकी मूर्ति के निर्माण में चरणों का न होना, दूसरे कमल के साथ सम्बन्ध। यहाँ उल्लेखनीय है कि सूर्य के परिचिन्तन में ऐसी धारणा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य को चरणविहीन बताया गया है[१०२]। इस प्रवृत्ति का समर्थन उत्तरकालीन साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। वृहत्संहिता में सूर्य की प्रतिमा के सिर और वक्ष को प्रदर्शित करने का विधान प्राप्त होता है और कहा गया है कि इस प्रतिमा के उर (वक्ष) स्थल तक निचले भाग को गूढ़ रखना चाहिये[१०३]।

इस संदर्भ में बिहार से प्राप्त सूर्य की दो मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें पैरों को नहीं दिखाया गया है। यह बहुत कुछ सम्भव है कि सूर्य की प्रतिमाओं में जिन्हें उपानह माना जाता है, वे वस्तुतः सूर्य के अनिर्मित चरणों

---

९९. मत्स्य पु०, अध्याय ७९

१००. वही, अध्याय ८०

१०१. पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः सप्ताश्वः सप्तरज्जुश्च द्विभुजः स्यात्सदा रविः। वही, ९४।१

१०२. यदि ह वाऽअप्यपाद् भवत्वलमेव प्रतिक्रमणाय। श० ब्रा०, ४।४।५५,

१०३. नासाललाटजंघोरु......वक्षांसि चोन्नतानि रवेः।
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरो यावत्। बृ० सं०, ५७।४६

के प्रदर्शन की चेष्टा के अभिव्यंजक हैं[१०४]। सूर्य की अधिकांश मूर्तियों को कमल पर स्थित प्रदर्शित किया गया है,[१०५] जिनसे सूर्य का कमल से सम्बन्ध व्यक्त होता है। शिल्प ग्रन्थों में भी इस बात का निर्देश है कि सूर्य को पद्म पर स्थित प्रदर्शित करना चाहिए[१०६]। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इसका भी उल्लेख किया जा सकता है कि सूर्य-उपासना में मूर्त्ति-निर्माण पारसीक प्रभाव से मुक्त नहीं है। भविष्य पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण के पुत्र शाम्ब ने कुष्ठ रोग से मुक्त होने के लिए सूर्य की उपासना की थी। सौर मन्दिर एवं प्रतिमा के संरक्षक शाकद्वीपीय पुरोहित थे। इन सूर्य-उपासकों को मग नाम दिया गया है[१०७]। अल्बरूनी का भी कथन है कि उसके समय में मग नामक पारसीक पुरोहित भारत में विद्यमान थे[१०८]। इन सूचनाओं से सूर्योपासना में विदेशी तत्त्व का सम्मिश्रण व्यक्त होता है[१०९]। इतना यहाँ स्मरणीय है कि मत्स्य पुराण के अमिश्रित उद्धरणों अथवा अन्य आलोचित पुराणों में इस बात का संकेत मात्र भी नहीं मिलता।

इन विवेचनों से स्पष्ट होता है कि विष्णु और शिव की भाँति सूर्य विषयक पौराणिक विचार भी अनेक अंशों में वैदिक धारणा से प्रभावित हैं। आलोचित पुराणों ने सूर्य के जिस स्वरूप का परिचिंतन किया है, उसकी पृष्ठभूमि में वैदिक परम्परा क्रियाशील थी। अनेक देवताओं से सूर्य की एकता स्थापित करने की प्रवृत्ति, उनके रथ आदि का वर्णन, यहाँ तक कि स्वयं सूर्य-उपासना वैदिक धारणा के निर्वाह को व्यक्त करते हैं। पर इस निर्वाह में पुराणों ने दो प्रकार की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनका वर्णन बीज रूप में वर्तमान या तो वैदिक प्रवृत्ति की परिपक्वता का द्योतक है अथवा उसमें इन्होंने परिवर्तन का पुट देकर नवीन स्वरूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। यह नवीनता उन उद्धरणों में चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है, जहाँ मूर्ति-पूजा के अस्पष्ट अथवा सुस्पष्ट संकेत मिलते हैं।

---

१०४. एन० के० भट्टशाली, आइकनोग्रैफी ऑफ़ बुद्धिस्ट ऐण्ड ब्रह्मैनिकल स्कल्पचर्स इन दि ढाका म्यूज़ियम, पृ० १५८

१०५. वही, पृ० १४९

१०६. गोपीनाथ राव, वही, भाग १, खण्ड २, पृ० ३०३

१०७. वही, पृ० ३०२; आर० जी० भण्डारकर, वही, पृ० २१८

१०८. साचो, अल्बरूनीज़ इंडिया, भाग १, पृ० २१

१०९. आर० जी० भण्डारकर, वही, पृ० २१८-२१९

शक्ति-धर्म

शक्ति की पौराणिक महत्ता—ब्रह्माण्ड पुराण में शक्ति को तीनों जगत् की जननी कहा गया है[1]। अन्यत्र उन्हें 'पापघ्नी' अर्थात् पापों का विनाश करने वाली बताया गया है[2]। मत्स्य पुराण के अनुसार उनका नाम स्मरण करने से मनुष्य सभी पापों से सर्वथा मुक्त होकर शिवलोक की प्राप्ति करता है[3]। वायु पुराण में वर्णन आता है कि काली की स्तुति करने से मनुष्य का पराभव कभी नहीं होता है[4]। विष्णु पुराण में वर्णित है कि प्रसन्न होने पर वे सभी कामनाओं को पूरा करती हैं[5]।

वैदिक विचार में परिवर्तन—इसमें सन्देह नहीं कि शक्ति-विषयक उपर्युक्त पौराणिक स्थल वैदिक विचारधारा में परिवर्तन के सूचक हैं। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में रुद्राणी तथा भवानी शब्द मिलते हैं[6] और ये शब्द जैसा कि बाद में दिखाया जायगा कालान्तर की शक्ति के पर्याय हैं,[7] तथापि इस साहित्य में इनकी सत्ता रुद्र-शिव से तिरोहित है[8]। उनकी स्वकीय अथवा स्वतन्त्र महत्ता वेदोत्तरवर्त्ती ग्रन्थों में ही स्पष्ट की गई है। उदाहरणार्थ, महाभारत के भीष्मपर्व में वर्णित है कि जो मनुष्य प्रातःकाल शक्ति का स्तोत्र पढ़ता है, वह संग्राम में विजयी होता है तथा उसे लक्ष्मी की ऐकान्तिक प्राप्ति होती है[9]।

---

१. त्रिजगतां जननी बभासे विद्योतमानविभवा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२६।१४५

२. भासते सा भगवती पापघ्नी ललितांबिका। वही, ४।३७।८४

३. सर्वपापविनिर्मुक्तः कल्पं शिवपुरे वसेत्। मत्स्य पु०, १३।५६

४. भद्रकाल्यास्तवोक्तानि देव्या नामानि तत्वतः।
ये पठन्ति नरास्तेषां विद्यते न पराभवः। वायु पु०, ९।८६-८७

५. नृणामशेषकामांस्त्वं प्रसन्ना संप्रदास्यसि। विष्णु पु०, ५।१।८६

६. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ७३

७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ६८-७३

८. भण्डारकर, वही, पृ० २०३

९. य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम्। भीष्मपर्व, २३।२१-२४

शक्ति-उपासना में मांस-मदिरा का प्रयोग—विष्णु पुराण में कहा गया है कि शक्ति सुरा तथा मांस के उपहार से सन्तुष्ट होती है[१०]। ब्रह्माण्ड पुराण में अनेक स्थलों पर मदिरा और देवी का सम्बन्ध निरूपित मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है कि शक्ति की अर्चना किए बिना जो मनुष्य मदिरापान करता है, उसे नरक की प्राप्ति होती है[११]। ललिता नामक देवी के उपासक सिद्धों के सम्बन्ध में वर्णन आता है कि वे मदिरापान करते हुए देवी की भक्ति में तल्लीन रहते हैं[१२]। ललिता की अनुचरी शक्तियों के सम्बन्ध में अन्यत्र वर्णित है कि वे मदिरा से पूर्ण चषक धारण किए हुए उनके पूजन, ध्यान और स्तोत्र में परायण रहती हैं[१३]। भगवती माया के बारे में उल्लेख है कि उन्होंने पशुओं का सृजन यज्ञ के लिए किया है[१४]। मत्स्य पुराण में एक स्थल पर शक्ति को 'मांसांगा' नाम दिया गया है[१५]। प्रस्तुत पौराणिक स्थलों का समर्थन महाभारत की पंक्तियों के द्वारा भी किया जा सकता है। विराट्पर्व में शक्ति के सम्बन्ध में वर्णित है कि वे मदिरा, मांस और पशु में अभिरुचि रखती हैं[१६]।

असुरों के विनाश में शक्ति का सहयोग—शक्ति के विभिन्न स्वरूपों में उनके द्वारा असुर-विनाश का भी उल्लेख किया जा सकता है[१७]। विष्णु पुराण में कहा गया है कि शुम्भ, निशुम्भ आदि सहस्रों असुरों को मारकर

---

१० सुरामांसोपहारैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिता। विष्णु पु०, ५।१।८५

११. अनभ्यर्च्य परां शक्तिं पिबेन्मद्यं तु यो नरः।
रौरवे नरकेऽब्दं तु निवसेद्विन्दुसंख्यया। ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।७६

१२. ललितायां भक्तियुक्तास्तर्पयन्तो..पिबन्ति मदिरारसान्। वही, ४।३३।४

१३. मदिरापूर्णचषकमशेषं..........ललितापूजनध्यानजपस्तोत्रपरायणाः।
वही, ४।३२।१९-२०

१४. पुरा भगवती माया......ससर्ज.......पशूनपि.......यजध्वंपशुभिः।
वही, ४।६।५३-५५

१५. मध्ये यथास्वं मांसांगां...। मत्स्य पु०, ६२।१९

१६. कालकालि महाकालि सीधुमांसपशुप्रिये। महाभारत, विराट्पर्व, ६।१७

१७. भण्डारकर, वही, पृ० २०३

उन्होंने भूमण्डल के अनेक स्थानों को सुशोभित किया है[१८]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार भण्डासुर के अत्याचारों से त्रस्त होकर उसके विनाश के लिए इन्द्र ने नारद से परामर्श लिया था। नारद ने उन्हें अभीष्ट की सिद्धि के निमित्त शक्ति की आराधना के लिए निर्दिष्ट किया। इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने शक्ति की आराधना किया। तदुपरान्त शक्ति ने भण्डासुर का वध करने का वचन दिया[१९]। मत्स्य पुराण में वर्णन आता है कि शुष्करेवती नामक देवी ने, जो विष्णु के शरीर से उत्पन्न हुई थीं, असुरों का विनाश किया था [२०]। शक्ति के इस स्वरूप का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है, जिसमें विजय प्राप्त करने के लिए दुर्गा की स्तुति करते हुए उन्हें कैटभ-नाशिनी के नाम से सम्बोधित किया गया है[२१]।

शक्ति का अधिष्ठान और वाहन—मत्स्य पुराण में वर्णन मिलता है कि तारकासुर के बध के समय देवी ने ब्रह्मा के आदेश से अपना आवास विन्ध्याचल में बनाया था[२२]। देवी का आवास विन्ध्याचल से सम्बन्धित होने के कारण ही वायु पुराण में भी उन्हें 'विन्ध्यनिलया' नाम दिया गया है[२३]। मत्स्य पुराण के उपर्युक्त प्रसंग में इस बात का वर्णन भी मिलता है कि ब्रह्मा के आदेश से देवी ने सिंह को अपना वाहन बनाया था[२४]। वायु पुराण में 'सिंहवाहिनी' उनका नामान्तर बताया गया है[२५]। देवी द्वारा सिंह को वाहन बनाने का उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलता है[२६]।

---

१८. त्वं च शंभुनिशुंभादीन्हत्वा दैत्यान्सहस्रशः स्थानैरनेकैः पृथ्वीमशेषां मण्डयिष्यसि। विष्णु पु०, ५।१।८१

१९. ब्रह्माण्ड पु०, ४।१२।४१-७४ अहमेव विनिर्जित्य भण्डं दैत्यकुलोद्भवाः अचिरात्तव दास्यामि त्रैलोक्यं सचराचरम्। वही, ४।१३।३२

२०. ततस्तु भगवान्विष्णु सृष्ट्वा शुष्करेवतीम्।
या पपौ सकलं तेषामन्धकानामसृक्क्षणात्। मत्स्य पु०, १७९।३६

२१. उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि। महाभारत,भीष्मपर्व,२३।९

२२. गच्छ विन्ध्याचलं तत्र सूरकार्यं करिष्यसि। मत्स्य पु०, १५७।१७

२३. अमोघा विन्ध्यनिलयाविक्रान्ता गणनायिका। वायु पु०, ९।८५

२४. य एष सिंहः......स तेऽस्तु वाहनं देवि...। मत्स्य पु०, १५७।१६-१७

२५. अपराजिता बहुभुजा प्रगल्भा सिंहवाहिनी। वायु पु०, ९।८४

२६. अवरुह्य महासिंहमारुरोह स्ववाहनम्। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१६।९

शक्ति की वेश-भूषा एवं शस्त्रास्त्र—ब्रह्माण्ड पुराण में जामदग्न्य-पराक्रम के वर्णन में देवी को मुण्डमाला से विभूषित बताया गया है[२७]। मुण्डमाला से उनका सम्बन्ध मत्स्य पुराण में भी व्यक्त किया गया है और कहा गया है कि शिव के विवाहोत्सव के समय चामुण्डा ने उनके शिर में कपालों की माला बाँधी थी[२८]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि भण्डासुर के साथ युद्ध करने के लिए, जिस समय दुर्गा प्रकट हुईं, उन्हें शंकर ने अपना शूल सर्मपित किया तथा विष्णु, वरुण, अग्नि, मरुत्, इन्द्र, कुबेर, यम, ब्रह्मा, ऐरावत, मृत्यु, समुद्र तथा विश्वकर्मा ने उन्हें क्रमशः चक्र, शंख, शक्ति, चाप तथा तूणीर, वज्र, चषक, दण्ड तथा पाश, कुण्डिका, घण्टा, खड्ग और ढाल तथा आभूषण प्रदान किया[२९]। ललिता के बारे में वर्णन मिलता है कि वे केयूर और कंकण से मंडित रहती हैं[३०]। वायु पुराण में भी उन्हें 'शूलधरा' नाम दिया गया है[३१]। मत्स्य पुराण में देवी के घण्टा, आभूषण तथा पीत कौशेय वस्त्र का उल्लेख हुआ है[३२]। देवी के इन स्वरूपों का उल्लेख तथा उनकी महत्ता का प्रतिपादन महाभारत में भी निरूपित मिलता है। उदाहरणार्थ, विराट्-पर्व में वर्णन आया है कि विन्ध्य में देवी का स्थान शाश्वत है[३३]। इसी प्रकार भीष्म-पर्व में 'कापालि' (जो कपाल धारण

---

२७. वहन्तीं मुण्डमालां विकटास्यां भयंकरीम् । ब्रह्माण्ड पु०, ३।३९।३४

२८. कपालमालां विपुलां चामुण्डा मूर्ध्न्यबन्धयत् । मत्स्य पु०, १५४।४३६

२९. शूलं च शूलिना दत्तं चक्रं चक्रिसमर्पितम् शंखं वरुणदत्तश्च शक्ति दत्तां हविर्भुजा । चापमक्षयतूणीरौ मरुद्दत्तौ महामृधे वाज्रदत्तं च कुलिशं चषकं धनदार्पितम् । कालदण्डं महादण्डं पाशं पाशधरार्पितम् ब्रह्मदत्तां कुण्डिकां च घण्टामैरावतार्पिताम् । मृत्युदत्तौ खड्गखेटौ हारं जलनिधिनार्पितम् । विश्वकर्मप्रदत्तानि भूषणानि च बिभ्रतीं। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२९।८१-८४

३०. केयूरकंकणश्रेणीमंडितान्सोर्मिकांगुलीम् । वही, ४।३७।७५

३१. बर्हिर्ध्वजा शूलधरा परमब्रह्मचारिणी । वायु पु०, ९।८३

३२. त्वचा सा चापवद्दीप्ता घण्टाहस्ता त्रिलोचना ।
नानाभरणपूर्णांगी पीतकौशेयधारिणी । मत्स्य पु०, १५७।१४-१५

३३. विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम् । विराट् पर्व, ६।१७

करती हैं) शब्द देवी के सम्बोधनार्थ प्रयुक्त किया गया है[३४]। विराट्पर्व में वर्णन आता है कि देवी घण्टा, पाश, धनुष, चक्र तथा अनेक प्रकार के शस्त्रों को धारण करती हैं[३५]। भीष्म और विराट् पर्वों में देवी का खड्ग और ढाल धारण किए हुए वर्णन मिलता है[३६]। भीष्मपर्व में उनके शूल का उल्लेख हुआ है[३७]। विराट्पर्व में वर्णित है कि वे केयूर और अंगद धारण करती हैं तथा उनके कर्ण कुण्डलों से विभूषित रहते हैं[३८]।

शक्ति-सृजन के सामान्य स्थल—विष्णु पुराण में देवी का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित किया गया है। इसके अनुसार जिस समय विष्णु ने देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने का निश्चय किया, उन्होंने योगनिद्रा को यशोदा के गर्भ में स्थित होने का आदेश दिया। उनकी प्रेरणा से वसुदेव ने यशोदा के शिशु को देवकी के शयन-गृह में तथा देवकी के शिशु को यशोदा के यहाँ स्थानान्तरित किया था। कंस ने भ्रान्तिवश देवी के रूप में अवतरित निशा को शिलातल पर प्रक्षिप्त किया था। इसी क्षण वह आकाश में स्थित हुईं। इनके अवतार का उद्देश्य दैत्यों का विनाश बताया गया है[३९]। यह वर्णन कुछ अन्तर के साथ वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मिलता है। इन दोनों पुराणों के अनुसार कंस ने उसे कन्या समझकर छोड़ दिया था। ऐसा कहा गया है कि यह कन्या वस्तुतः एकादशा शक्ति थी। इनका जन्म कृष्ण की रक्षा के लिए हुआ था। यदुवंशी प्रसन्न मन से उनकी पूजा करते थे[४०]। मत्स्य पुराण में देवी का अवतार ब्रह्मा के आदेश से सम्बन्धित है और वर्णित है कि वे

---

३४. कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिंगले। भीष्मपर्व, २३।४

३५. पात्री च पंकजी घण्टी...पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च। विराट्पर्व, ६।१०-११

३६. खड्गखेटकधारिणि। भीष्मपर्व, २३।७
खड्गखेटकधारिणीम्। विराट्पर्व, ६।४

३७. अट्टशूलप्रहरणे......। भीष्मपर्व, २३।७

३८. केयूरांगदधारिणि...कुण्डलाभ्यां...च विभूषिता। विराट्पर्व, ६।८, ११

३९. विष्णु पुराण, ५।१।७०-८१

४०. एकादशा तु जज्ञे वै रक्षार्थं केशवस्य ह।
तां वै सर्वे सुमनसः पूजयिष्यन्ति यादवाः।
देवदेवो दिव्यवपुः कृष्णः संरक्षितोऽनया। वायु पु०,९६।२०५;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।२२१-२२२

उमा के शरीर से कृतकृत्या हुई थीं। इस रूप में उन्होंने सुरकार्य को पूरा करने का आदेश प्राप्त किया था[४१]। देवी का सृजन-विवरण महाभारत के विराट्पर्व में भी मिलता है। इसके अनुसार वे नन्दगोप के कुल में यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं। जब कंस ने कन्या के रूप में उन्हें शिला पर प्रक्षिप्त किया, उस समय वे आकाश-मार्ग से चली गई[४२]।

शक्ति-सृजन के विशिष्ट स्थल—वायु पुराण के अनुसार महाकाली, उमा के शरीर से भूतों के साथ उत्पन्न हुई[४३]। अन्यत्र कहा गया है कि जिस समय दक्ष के यज्ञ-विनाशार्थ शिव के गण यज्ञ-भूमि में गए, उनके साथ उमा के क्रोध से उत्पन्न भद्रकाली भी थीं[४४]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि शक्ति की उत्पत्ति ब्रह्मा के ध्यानयोग से हुई थी। ये देवताओं का अभीष्ट देने वाली थीं[४५]।

शक्ति और इन्द्र—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कहा गया है कि जिस समय शुक्राचार्य शिव की स्तुति कर रहे थे, उनके अभीष्ट को पूरा करने के लिए देवी प्रकट हुई थीं। इन्हें माहेन्द्री अर्थात् इन्द्र की पुत्री बताया गया है[४६]। इसके पूववर्ती अध्याय में जयन्ती के लिए स्पष्ट इन्द्रदुहिता विशेषण-बोधक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[४७]। वायु पुराण के वर्णनान्तर में भी देवी के अनेक नामों में

---

४१. तामब्रवीत्ततो ब्रह्मा देवीं नीलांबुजत्विषम्। निशे भूधरजादेहसंपर्कात्त्वं ममाज्ञया संप्राप्ता कृतकृत्यत्वमेकाऽनंशा पुरा ह्यसि। मत्स्य पु०, १५७।१५-१६

४२. यशोदागर्भसंभूतां...नन्दगोपकुले जातां...।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम्। विराट्पर्व, ६।२-३

४३. निःसृता च महादेव्या महाकाली महेश्वरी। वायु पु०, १०१।२६८

४४. भद्रकाली च विज्ञेया देव्याः क्रोधाद्विनिर्गता।
प्रेषिता देवदेवेन यज्ञान्तिकमिहागता। वही, ३०।१६४

४५. आदौ प्रादुरभूच्छक्तिर्ब्रह्मणो ध्यानयोगतः।
प्रकृतिर्नाम सा ख्याता देवानामिष्टसिद्धिदा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।६

४६. माहेन्द्री त्वं वरारोहे मद्धितार्थमिहागता। वायु पु०, ९८।८
माहेन्द्री त्वं वरारोहे मद्धितार्थमिहागता। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७३।८

४७. देवी सा हीन्द्रदुहिता जयन्ती शुभचारिणी। वायु पु०, ९७।१५२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७२।१५३

माहेन्द्री शब्द का प्रयोग हुआ है[४८]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में भी देवी के नामों में माहेन्द्री शब्द का निर्देश मिलता है[४९]। यहाँ उल्लेखनीय है कि विष्णु पुराण में देवी को इन्द्र की भगिनी कहा गया है[५०]। यह वर्णन वायु पुराण में भी मिलता है[५१]।

शक्ति और विष्णु—विष्णु पुराण के प्रसंगानुसार जिस देवी ने यशोदा के गर्भ से अवतार लिया था, वह वस्तुतः विष्णु के द्वारा प्रयुक्त वैष्णवी महामाया थीं[५२]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में शुष्करेवती नामक देवी को विष्णु के शरीर से उत्पन्न माना गया है[५३]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी उनके विभिन्न नामों में वैष्णवी शब्द प्रयुक्त है[५४]। यह देवी की व्यापनशीलता का भी बोधक है।

शक्ति—रुद्र-शिव और ब्रह्मा—ब्रह्माण्ड पुराण में देवी को माहेश्वरी कहा गया है[५५]। इसी प्रकार वायु पुराण में उनके विभिन्न नामों में रौद्री का भी उल्लेख हुआ है[५६]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि महादेव ने देवी को रौद्री मूर्त्ति प्रदान किया था[५७]। इन स्थलों में रौद्री शब्द से देवी के भयावह स्वरूप का भी बोध होता है। ब्रह्मा के साथ देवी के सम्बन्ध का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में मिलता है। एतदर्थ उन्हें एक संदर्भ में ब्रह्मप्रिये पर प्रसंगान्तर में ब्राह्मी कहा गया है[५८]।

इस प्रकार शक्ति में किसी एक देवता-विशेष का स्वरूप सन्निहित नहीं है। इनमें इन्द्र, विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा अन्य विभिन्न देवताओं की प्रतिच्छाया भी,

---

४८. वायु पु०, ९।८४

४९. ब्रह्माण्ड पु०, ४।३६।५८

५०. ततस्त्वां शतदृक्छक्रः ...भगिनीत्वे ग्रहीष्यति। विष्णु पु०, ५।१।८०

५१. माहेन्द्री चेन्द्रभगिनी वृषकन्यैकवाससी। वायु पु०, ९।८४

५२. विष्णुप्रयुक्ता महामाया वैष्णवी मोहितं यया। विष्णु पु०, ५।१।७०

५३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ६३, पादटिप्पणी २०

५४. ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। ब्रह्माण्ड पु०,४।३६।५८

५५. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी ५४

५६. प्रकृतिर्नियता रौद्री दुर्गा भद्रा प्रमाथिनी। वायु पु०, ९।८१

५७. रौद्रीं चैव परां मूर्त्तिं महादेवः प्रदास्यति। मत्स्य पु०, १७९।८२

५८. ब्राह्मीमुखैर्मातृगणैर्निषेव्ये ब्रह्मप्रिये......। ब्रह्माण्ड पु०,४।३०।१९
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी। द्रष्टव्य, पा० टि० ५४

जिनका उल्लेख पूर्वविवेचित हो चुका है,[५९] विद्यमान है। यही कारण है कि महाभारत में भी एक स्थल पर उन्हें नारायण-परिग्रह तथा दूसरे प्रसंग में स्कन्द की माता कहा गया है[६०]। मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती में भी उनके लिए माहेश्वरी और नारायणी दोनों नाम प्रयुक्त मिलते हैं[६१]। आलोचित पुराणों के स्थल-स्थलांतरों में शक्ति के बोधक विभिन्न नामों की वर्णानुक्रमिक तालिका निम्नांकित प्रकार से दी जा सकती है :—

शक्ति का नाम		पुराण		स्थल-निर्देश
अशोका	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
अपराजिता	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
अम्बिका	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
अपर्णा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
अमोघा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
आर्या	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
		वायु पुराण	—	अध्याय ९
उषा	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
उमा हैमवती	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
उत्पला	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
ऊर्जिता-आक्रान्ति	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १५४
इन्द्रभगिनी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९७
इन्द्रदुहिता	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९७
		ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ३।७२
एकवाससी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
एकानंशा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
एकादशा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९७
		ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ३।७२

५९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ६६-७, पादटिप्पणी ४६-५८

६०. भासि देवि यथा पद्मा नारायणपरिग्रहः।
नारायणवरप्रियाम् स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे। विराट् पर्व, २३।११

६१. माहेश्वरीस्वरूपेण नारायणि नमोऽस्तु ते। दुर्गासप्तशती, ११।१४

शक्ति का नाम		पुराण		स्थल-निर्देश
कल्याणी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
कान्ति	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
		मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
कालरात्रि	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
कात्यायनी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
कामेश्वरी	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।२९
कामश्री	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
काली	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १७९
कृष्णा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
कुमारी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
कौशिकी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
गणनायिका	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
गोपी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
गोमती	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
गौरी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
		मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
चण्डी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
चण्डिका	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १५८
जयन्ती	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९७
जगदम्बिका	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।१२
तारा	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।३५
तुष्टि	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
दया	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १५४
दुर्गा	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
दैत्यहनी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
धिष्ण्या	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
पद्मोदरा	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
परब्रह्मचारिणी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
पराशक्ति	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।१२

शक्ति का नाम		पुराण		स्थल-निर्देश
पाटला	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
पार्वती	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
पिंगला	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
प्रकृति	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।६
प्रज्ञा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
बहुभुजा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
बुद्धि	—	वायु पुराण	—	अध्याय २३
भद्रा	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
भवमालिनी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १७६
भूतनायिका	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
भूति	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
भू:	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १५४
भद्रकाली	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
भाग्यदा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
महेश्वरी	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।१०
महादेवी	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।१२
महामाया	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
माया	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १७६
माहेन्द्री	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६८
		ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ३।७३
मंगलकारिणी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
यादवी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
रम्भा	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
रुद्राणी	—	वायु पुराण	—	अध्याय २३
रौद्री	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६
ललिता	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।२६
		मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
लज्जा	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
लक्ष्मी	—	वायु पुराण	—	अध्याय ६

शक्ति का नाम		पुराण		स्थल-निर्देश
वरदा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
वासुदेवी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
वागीश्वरी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १७९
विन्ध्यनिलया	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
विक्रान्ता	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
वृषकन्या	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
वेदगर्भा	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
सन्नति	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
सरस्वती	—	ब्रह्माण्ड पुराण	—	— ४।३६
		वायु पुराण	—	अध्याय २३
सती	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
स्वधा	—	वायु पुराण	—	अध्याय २३
शुष्करेवती	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १७९
शूलधरा	—	वायु पुराण	—	अध्याय ९
शैवी	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय १५४
हरमुखश्री	—	मत्स्य पुराण	—	अध्याय ६२
क्षान्ति	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१
		मत्स्य पुराण	—	अध्याय १५४
क्षेमदा	—	विष्णु पुराण	—	— ५।१

उपर्युक्त नामावली से शक्ति के नामों की अनेकता पर प्रकाश पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन नामों के विवरण चारो पुराणों में प्रायः भिन्न-भिन्न हैं। पर इनमें कुछ नाम ऐसे हैं, जो कभी-कभी दो पुराणों में समान रूप से मिलते हैं। शक्ति के जिन नामों का उल्लेख वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में स्वरूप-सादृश्य के साथ प्राप्त होता है, वे हैं— इन्द्रदुहिता, एकादशा, माहेन्द्री तथा सरस्वती। विष्णु और वायु पुराणों में आर्या और दुर्गा का समान प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार गौरी का उल्लेख वायु तथा मत्स्य पुराण में, कान्ति और क्षान्ति का विष्णु और मत्स्य पुराण में तथा ललिता का ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में समानार्थक रूप में हुआ है। शक्ति के लिए, जो नाम पुराणों में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें कतिपय महाभारत में भी मिलते हैं, जैसे काली,

पिंगला, महादेवी, तुष्टि तथा भूति आदि [६२]। इन विभिन्न नामों से यह भी स्पष्ट है कि एक ही देवी के स्वरूप में विभिन्न नामों के समाहार की चेष्टा की गई है, यथा, पार्वती, लक्ष्मी और सरस्वती। यह भी प्रतीत होता है कि रुद्र-शिव के समान शक्ति में सौम्य और रौद्र स्वरूपों का समन्वय है, जो मंगलकारिणी और रौद्री जैसे नामों से सुव्यक्त है। इन नामों में कतिपय का व्यवहार पहले से हो रहा था, उदाहरणार्थ, श्वेताश्वतर उपनिषद् में पराशक्ति का उल्लेख हुआ है[६३]। अन्यत्र कहा गया है कि ईश्वर का कोई लिंग अथवा जाति नहीं है, वह पुरुष भी हो सकता है स्त्री भी, कुमार भी हो सकता है और कुमारी भी[६४]। इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् में काली का उल्लेख हुआ है, जिनका स्वरूप भयंकर बताया गया है[६५]।

शक्ति-अनुचरियाँ—ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में शक्ति के अतिरिक्त उनकी अनुचरियों का भी उल्लेख हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण के स्थलों में निम्नांकित शक्ति-अनुचरियाँ वर्णित मिलती हैं—अनुमती, अमावस्यिका, उपरागा, कल्पा, कलि, कलिनी, काली, कामेश्वरी, कुहू, कौमारी, कौलिनी, दुर्गा, चामुण्डा, जयिनी, ज्योत्सनी, तामिस्रा, दिनमिस्रा, निशीथा, पक्षिणी, प्रदोषा, प्रहरा, पूर्णिमा, महाकाल्या, महासंध्या, महानिशा, भद्रा, महालक्ष्मी, माहेन्द्री, मोदिनी, ब्राह्मी, वशिनी, वाराही, वैष्णवी, विमला, वाक्, राका तथा सिनीवाली[६६]।

मत्स्य पुराण में जिन अनेक शक्ति-अनुचरियों के नाम का प्रयोग हुआ है, वे इस प्रकार हैं—अश्वत्था, अपराजिता, अजिता, अश्मदशना, आकर्णनी, उत्तरमालिका, उत्पलहस्तिका, कल्याणी, कमलहस्तिका, कामधेनु, कालसंकर्षणी, गरुत्मत्हृदया, घण्टाकर्णी, चक्रहृदया, जया, ज्वालामुखी, त्रैलोक्यमर्दिनी, नृसिंहभैरवा, पद्मकरा, बीजभावा, बिल्वा, बालिका, भैरवा, भीषणिका, मधुदंष्ट्री, व्योमचारिणी, वृद्धावशेषा, वागीशा, शंखिनी, संकर्षिणी, सूक्ष्महृदया तथा संभटा[६७]।

---

६२. महाभारत, भीष्मपर्व २३।४-१६

६३. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६।८

६४. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। वही, ४।३

६५. काली कराली च मनोजवा च। मुण्डक उपनिषद् १।२।४

६६. ब्रह्माण्ड पु०, ४।३६।५७-५८; ४।३७।३-७; ४।२६।७६-८०; ४।३२।६-१३; ४।३२।८-२०

६७. मत्स्य पु०, १७६।६८-७३

उपर्युक्त नामावली से यह स्पष्ट है कि दोनो पुराणों में वर्णित नाम परस्पर पृथक् हैं, पर इनके स्थलों में ये सभी देवियाँ शक्ति की अनुचरी, सहायिका अथवा सेविका के रूप में वर्णित हुई हैं[६८]। इस दृष्टि से दोनो के वर्णन में सादृश्य का पुट अवश्य ही प्रकट होता है।

शक्ति से सम्बन्धित पौराणिक उद्धरणों के सामूहिक विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति की पौराणिक महत्ता के द्वारा वेदोत्तर-कालीन धारणा व्यक्त होती है। वैदिक रुद्राणी एवं भवानी आदि देवियाँ स्वानुकूल देवताओं की प्रसिद्धि से प्रतिच्छायित हुई हैं, जबकि पौराणिक शक्ति स्वतन्त्र और व्यापक देवी हैं। इनमें विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देवताओं की शक्ति सन्निहित है। किन्तु इससे उनकी महत्ता पर व्याघात नहीं पहुँचता। उनका अवतरण उन असुरों के विनाशार्थ हुआ है, जिनसे सभी देवता संत्रस्त हैं। एक ही देवी के व्यक्तित्व में अनेक देवियों का समाहार कर पौराणिक शक्ति का स्वरूप अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा हुई है। यह भी स्पष्ट है कि पुराणों ने शक्ति के जिन नामों का उल्लेख किया है, वे सभी पुराणों में समान रूप से नहीं प्राप्त होते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं समता अवश्य दिखाई देती है, तथापि समता के स्थान पर विषमता की ही मात्रा अधिक मिलती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में शक्ति की अनुचरियों के भी नाम भिन्न-भिन्न वर्णित हैं। पर जैसा कि पूर्व प्रसंग में दिखाया गया है; नाम की इस भिन्नता के होते हुए भी उनके स्वरूप में विशेष समानता दिखाई देती है।

---

६८. ब्राह्मीप्रमुखैर्मातृगणैर्निषेव्ये ब्रह्मप्रिये...... । ब्रह्माण्ड पु०, ४।३०।१६
इत्येताः पृष्ठगा राजन्वागीशानुचराः स्मृताः । मत्स्य पु०, १८०।७१

पुराणों में वर्णित अन्य देवता

इन्द्र-वृत्रहा—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार शंकर और पार्वती के अटूट साहचर्य के कारण इन्द्र अत्यन्त शंकित हो गए। अतएव उन्होंने विघ्न के उद्देश्य से अग्नि को उनके पास भेजा। इस प्रसंग में इन्द्र के लिए वृत्रहा शब्द का प्रयोग मिलता है[१]। इसी प्रकार जम्भ के साथ युद्ध करने वाले इन्द्र को मत्स्य पुराण में वृत्रहा कहा गया है[२]। दिति के द्वारा मरुतों की उत्पत्ति के निरूपण में वे वृत्रहा शब्द से सम्बोधित हुए हैं[३]। एक स्थल पर उन्हें शम्बरसूदन (अर्थात् शम्बर को नष्ट करने वाला) कहा गया है[४]। जहाँ तक वृत्र और शम्बर के बध का इन्द्र के साथ सम्बन्ध है, पुराणों ने वैदिक विचारधारा का निर्वाह किया है। ऋग्वेद में स्थल-स्थल पर इन्द्र को वृत्र का विनाशक माना गया है[५]। एक स्थान पर इन्द्र के लिए स्पष्टतः वृत्रहा शब्द का प्रयोग मिलता है[६]। दूसरे प्रसंग में उन्हें शम्बर पर प्रहार करने वाला कहा गया है[७]।

वज्रधर—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि इन्द्र ने रजिपुत्रों का विनाश वज्र के द्वारा किया था[८]। अन्यत्र ग्रहण के समय अर्चनीय इन्द्र को वज्रधर नाम

---

१. अन्योन्यप्रीतिरनयोरुमाशंकरयोर्यथा ।
श्लेषं संसक्तयोर्ज्ञात्वा शंकितः किल वृत्रहा ।
ताभ्यां मैथुनसक्ताभ्यामपत्योद्भवभीरुणा ।
तयोः सकाशमिन्द्रेण प्रेषितो हव्यवाहनः । वायु पु०, ७२।२०-२१;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।१०।२२-२४

२. तेनास्य सशरं चापं रणे चिच्छेद वृत्रहा । मत्स्य पु०, १५३।७६

३. ततः स चिन्तयामास किमेतदिति वृत्रहा । वही, ७।५८

४. तावूचतुस्ततः शक्रमुभौ शंबरसूदनम् । वही, ६१।१०

५. ...वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर । ऋग्वेद, १।१०२।७

६. ...वृत्रहा शूर विद्वान् । वही, ३।५२।७

७. ...धृषता शम्बरं भिनत् । वही, १।५४।४

८. जघान शक्रो वज्रेण सर्वान्...... । मत्स्य पु०, २४।४९

दिया गया है[९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार इन्द्र ने सौ पर्वों वाले वज्र के द्वारा दिति के गर्भ को प्रभिन्न कर डाला था[१०]। इसी प्रकार विष्णु पुराण में मरुद्गण के वर्णन में इन्द्र के लिए वज्रपाणि शब्द का प्रयोग मिलता है[११]। इन्द्र के इस स्वरूप का उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है। एक स्थल पर उन्हें वज्री कहा गया है[१२]। अन्यत्र उनके वज्र को सौ पर्वों वाला भी बताया गया है[१३]।

पुरन्दर—वायु पुराण में दिति के गर्भ में प्रवेश करने वाले इन्द्र को पुरन्दर शब्द से अभिहित किया गया है[१४]। अन्यत्र वर्णित है कि पुरन्दर मेरु पर निवास करते हैं[१५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार पुरन्दर भूत, भावी और वर्तमान के स्वामी हैं[१६]। मत्स्य पुराण में देवतागण इन्द्र को राक्षसों के बध के लिए प्रेरित करते हुए उन्हें पुरन्दर नाम से सम्बोधित करते हैं[१७]। इसी प्रकार विष्णु पुराण में भी इन्द्र के लिए पुरन्दर अभिधान मिलता है[१८]। पुरन्दर का अर्थ है, जो पुर का विनाश करे। इन्द्र का यह स्वरूप वैदिक काल में ही स्पष्ट हो चुका था। उदारणार्थ, ऋग्वेद के एक छन्द में पिप्रु नामक असुर के पुर-विनाशार्थ इन्द्र से प्रार्थना की गई है[१९]। एक अन्य स्थल पर उन्हें स्पष्टतः पुरन्दर कहा गया है[२०]।

---

९. योऽसौ वज्रधरो देवः...ग्रहपीडां व्यपोहतु। वही, ६७।६

१०. भिद्यमानस्तदा गर्भो वज्रेण शतपर्वणा। वायु पु०, ६७।१०३
भिद्यमानस्तदा गर्भो वज्रेण शतपर्वणा। ब्रह्माण्ड पु०, ३।५।६६

११. देवा एकोनपंचाशत्सहाया वज्रपाणिनः। विष्णु पु०, १।२१।४१

१२. इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः। ऋग्वेद, १।११।४

१३. वि चिद्वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। वही, ८।६।६

१४. तस्याः शरीरं विवृतं विवेशाथ पुरन्दरः। वायु पु०, ६७।१०१

१५. तत्रास्ते श्रीपतिः......सहस्राक्षः पुरन्दरः। वही, ३४।७५

१६. भूतभव्यभवन्नाथः सहस्राक्षः......पुरन्दरः। वायु पु०, ६४।७; ब्रह्माण्ड पु०, २।३८।७

१७. कालस्तव विक्रमस्याद्य जहि शत्रून् पुरन्दर। मत्स्य पु०, २७।२

१८. पुरन्दरस्तथैवात्र मैत्रेय त्रिदशेश्वरः। विष्णु पु०, ३।१।३१

१९. त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः......। ऋग्वेद, १।५१।५

२०. वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर। द्रष्टव्य, पृष्ठांक ७४

पर्वतों का पक्ष-भेदन—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि प्राचीनकाल में विशाल पर्वतों का पक्ष, जो इच्छानुसार घूमते थे, इन्द्र ने काट डाला था। इन्हीं पक्षों से पुष्कर नामक मेघों की उत्पत्ति हुई[२१]। अन्यत्र बारह पर्वतीय भेदों के विषय में वर्णित है कि पक्षभेद-भय से ये समुद्र में चले गए[२२]। पर्वत-पक्षों के कटने और उनके मेघ रूप में परिणत होने का उक्त उल्लेख मत्स्य पुराण में भी मिलता है[२३]। इन्द्र के सम्बन्ध में ऐसी भावना का अभ्युदय वैदिक काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर इन्द्र के द्वारा पर्वत-भेदन का वर्णन मिलता है। एक छन्द में कहा गया है कि इन्द्र ने 'अद्रि' का भेदन करके ब्राह्मण अर्थात् वृहस्पति[२४] को गाय प्रदान की[२५]। सायण के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में अद्रि का अर्थ मेघ है[२६]। मैकडानल के मतानुसार भी अद्रि का अर्थ न बरसने वाले ग्रीष्मकालीन बादलों से है तथा गाय का तात्पर्य गतिशील, गर्जनशील, तथा जल संपन्न बादल से है[२७]।

शतक्रतु—विष्णु पुराण में ऋषि दुर्वासा इन्द्र को शतक्रतु कहकर सम्बोधित करते हैं[२८]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में राक्षसों के बधार्थ देवताओं

---

२१. पुष्करावर्त्तका नाम ये मेघाः पक्षसम्भवाः।
शक्रेण पक्षाच्छिन्ना ये पर्वतानां महौजसाम्। वायु पु०,५१।३७-३८; ब्रह्माण्ड पु० २।२२।४०-४१

२२. द्वादशैते प्रविष्टा हि पर्वता लवणोदधिम्।
महेन्द्रभयवित्रस्ताःपक्षभेदभयात्तदा। वायु पु०, ४७।७७; ब्रह्माण्ड पु०, २।१८।८०-८१

२३. शक्रेण पक्षाच्छिन्ना वै पर्वतानां महौजसाम्।
कामगानां समृद्धानां भूतानां नाशमिच्छताम्।
पुष्करा नाम ते पक्षा वृहन्तस्तोयधारिणः। मत्स्य पु०,१२५।१२-१३

२४. ऋग्वेद, १०।११२।८; पर सायण-भाष्य

२५. प्र त इन्द्र...अश्रथायो अद्रिं...अकृणोर्ब्रह्मणे गां। ऋग्वेद १०।११२।८

२६. अद्रिं मेघम् अथय...वज्रेणाहिंसीः। सायण-भाष्य

२७. मैकडानल, वेदिक माइथालोजी, पृ० ६०

२८. नाहं क्षमिष्ये बहुना किमुक्तेन शतक्रतो। विष्णु पु०, १।९।२४

द्वारा प्रेरित इन्द्र को शतक्रतु नाम दिया गया है[२९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कहा गया है कि विभिन्न मन्वन्तरों में इन्द्र ने सौ क्रतुओं (यज्ञों) को सम्पन्न किया था[३०]। ऋग्वेद में इन्द्र के लिए शतक्रतु शब्द का भी प्रयोग मिलता है, यद्यपि, जैसा कि सायण की टीका से स्पष्ट है, क्रतु का अर्थ इन स्थलों में कर्म है[३१]।

शचीपति—विष्णु पुराण में ऋषि दुर्वासा द्वारा दृष्ट इन्द्र को शचीपति नाम दिया गया है[३२]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में दिति के गर्भ को विदारित करने वाले इन्द्र के लिए शचीपति शब्द का प्रयोग मिलता है[३३]। अन्यत्र इस पुराण में समुद्र-मंथन से प्राप्त कुण्डल-ग्रहीत इन्द्र को शचीपति संज्ञा दी गई है[३४]। इन पौराणिक स्थलों में शची का तात्पर्य निश्चय ही इन्द्र की पत्नी से है। विष्णु पुराण में कृष्ण के विरुद्ध इन्द्र को उत्तेजित करने वाली इन्द्र की पत्नी को स्पष्टतः शची शब्द से अभिहित किया गया है[३५]। इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में भी शचीपति शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए हुआ है, पर इसका अर्थ शची के पौराणिक तात्पर्य से भिन्न है। आचार्य सायण के अनुसार शची का अर्थ कर्म तथा पति का अर्थ पालयिता अर्थात् पालन करने वाला है[३६]। यह अर्थ पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल को भी मान्य है[३७]। इसके विपरीत

---

२९. सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन् । मत्स्य पु०, २७।२

३०. सर्वैः क्रतुशतेनेष्टं पृथक्छतगुणेन तु । वायु पु०, ६४।७; ब्रह्माण्ड पु०, २।३८।८

३१. तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। ऋग्वेद, १।८।९; हे शतक्रतो बहुकर्मयुक्त...... । सायण-भाष्य

३२. त्रैलोक्याधिपतिं देवं सह देवैः शचीपतिम् । विष्णु पु०, १।९।७

३३. ततस्तदनन्तरं लब्ध्वा प्रविष्टस्तु शचीपतिः ।
वज्रेण सप्तधा चक्रे तं गर्भं त्रिदशाधिपः । मत्स्य पु०, ७।५५

३४. छत्रं जग्राह वरुणः कुण्डले च शचीपतिः । वही, २५१।४

३५. श्रुत्वा चोत्साहयामास शची शक्रं सुराधिपम् । विष्णु पु०, ५।३०।५२

३६. शचीपते शचीनां..................विवक्षसे । ऋग्वेद १०।२४।२
अतो हे शचीपते कर्मणां पालयितः......। सायण-भाष्य

३७. मैकडानल, वही, पृ० ५७-५८

इन्द्र की पत्नी का वैदिक नाम इन्द्राणी है, जिसका उल्लेख अनेक स्थलों पर ऋग्वेद,[३८] शतपथ ब्राह्मण[३९] आदि ग्रन्थों में हुआ है। इसकी प्रतिच्छाया-मात्र कहीं-कहीं पुराणों में मिलती है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में इन्द्र और इन्द्राणी की उपमा क्रमशः विष्णु और लक्ष्मी से दी गई है[४०]।

पौराणिक इन्द्र विवरण पर वैदिक प्रभाव—इन्द्र-आदित्य—मत्स्य पुराण में एक स्थल पर इन्द्र को आदित्यों का स्वामी माना गया है[४१]। जैसा कि सूर्य-विषयक अध्याय में दिखाने की चेष्टा की गई है, आदित्यों का स्वामित्व अनेक स्थलों पर सूर्य के व्यक्तित्व में सन्निहित मिलता है[४२]। वस्तुतः ऐसी भावना वैदिक काल में ही जागरूक थी। ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्द्र को प्रत्यक्षतः सूर्य शब्द से अभिहित किया गया है[४३]। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र और सूर्य में तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति प्रकट होती है[४४]।

इन्द्र एवं वर्षा—मत्स्य पुराण में कहा गया है कि इन्द्र जलधार नामक गिरि से जल ग्रहण करते हैं[४५]। इसी प्रकार का वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है। एक स्थल के अनुसार इन्द्र सोमपान करने के उपरान्त वृत्र से युद्ध कर वर्षा का क्षरण करते हैं[४६]।

त्रैलोक्याधिपति—विष्णु पुराण में ऋषि दुर्वासा द्वारा दृष्ट इन्द्र को त्रैलोक्याधिपति नाम दिया गया है। दुर्वासा के शाप से इन्द्र के साथ-

---

३८. इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। ऋग्वेद, १।२२।१२

३९. इतीन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी। श० ब्रा०, १४।२।८

४०. लक्ष्मीस्वरूपमिन्द्राणी देवेन्द्रो मधुसूदनः। विष्णु पु०, १।८।६

४१. योऽसौ वज्रधरो देव आदित्यानां प्रभुर्यतः। मत्स्य पु०, ६७।६

४२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४८-४६

४३. स सूर्यः पर्युरु वरांस्येन्द्रो.........चक्रा। ऋग्वेद, १०।८९।२

४४. तद्वा एष एवेन्द्रः...... । श० ब्रा० १।४।२,१८
तपन्नादित्य एवेन्द्रः...। हरिस्वामिन्-भाष्य

४५. तस्यापरेण सुमहांजलधारो महागिरिः... ।
तस्मान्नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम्। मत्स्य पु०, १२२।६-१०

४६. अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः।
ऋग्वेद, १।५२।५

साथ तीनों लोक श्रीविहीन हो गए[४७]। यह वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलता है[४८]। मत्स्य पुराण के अनुसार तारकासुर के विरुद्ध देवसेना की योजना बनाते समय वे तीनों लोकों में शोभा के पात्र हो रहे थे[४९]। इन्द्र के प्रस्तुत स्वरूप को वैदिक विचारधारा के द्वारा इस दृष्टि से प्रभावित माना जा सकता है कि ऋग्वेद में भी उन्हें तीनों भुवनों का सम्राट् कहा गया है[५०]।

मघवान्—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विभिन्न मन्वन्तरों के इन्द्र को मघवान् नाम दिया गया है[५१]। यह स्थल भी वैदिक भावना के द्वारा प्रतिच्छायित है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में भी अनेक स्थलों पर इन्द्र को मघवा कहा गया है। उदाहरणार्थ, एक छन्द के अनुसार मघवा अर्थात् धनवान् इन्द्र यजमान की स्तुति को व्याप्त करते हैं[५२]।

वासव—मत्स्य पुराण में जल ग्रहण करने वाले इन्द्र को वासव शब्द से अभिहित किया गया है[५३]। विष्णु पुराण में दुर्वासा ऋषि इन्द्र को वासव की संज्ञा देते हुए उनके ऐश्वर्य-मदान्धता को धिक्कारते हैं[५४]। इसी प्रकार का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी प्राप्त होता है, जहाँ वासव शब्द से इन्द्र को सम्बोधित करते हुए शिव कहते हैं कि उन्हें ऐश्वर्य-मद से च्युत करने के लिए दुर्वासा

---

४७. त्रैलोक्याधिपतिं देवं सह देवैः शचीपतिम्।
...ततः प्रभृति निःश्रीकं सशक्रं भुवनत्रयम्। विष्णु पु०, १।९।७-२६

४८. एकमेव फलं जातमुभयोः शापयोरपि।
अधुना पश्य निःश्रीकं त्रैलोक्यं समजायत। ब्रह्माण्ड पु०, ४।९।३२

४९. सहस्रदिववन्दिसहस्रसंस्तुतस्त्रिविष्टपेऽशोभत पाकशासनः। मत्स्य पु०, १४८।१०१

५०. ......भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः। ऋग्वेद, ४।१९।२
हे इन्द्र सत्यनिवासस्त्वं सर्वेषां भुवनानामीश्वरो। सायण-भाष्य

५१. मघवन्तश्च ते सर्वे...। वायु पु०, ६४।७; ब्राह्माण्ड पु०, २।३८।८

५२. ...वृषा क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति। ऋग्वेद, १।५५।४
मघवा-धनवान्। सायण-भाष्य, मैकडानल, वही पृ०,६३

५३. तस्मान्नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम्। मत्स्य पु०, १२२।१०

५४. ऐश्वर्यमददुष्टात्मन्नतिस्तब्धोऽसि वासव। विष्णु पु०, १।९।१२

ने शाप दिया था[५५]। इन्द्र को वसु अर्थात् धन से सम्बन्धित करने की भावना का प्रादुर्भाव वैदिक काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद में इन्द्र को वसुपति कहा गया है[५६]। प्रस्तुत प्रसंग में वसु का तात्पर्य सायण ने पुरोडाश, आज्य आदि धन माना है[५७]।

उपर्युक्त स्थलों से स्पष्ट है कि इन्द्र-सम्बन्धी पौराणिक भावना वैदिक परम्परा से बहुत कुछ प्रभावित है। पर पौराणिक देवमण्डली में इन्द्र की वैदिक महत्ता अपना पूर्व रूप परिवर्तित कर चुकी है। प्रारम्भिक वैदिक वाङ्मय में इन्द्र सर्वोत्कृष्ट देवता के रूप में अंकित हुए हैं[५८]। इसके विपरीत पौराणिक धार्मिक परिकल्पन में इन्द्र का स्थान निम्न है। इसका स्पष्टीकरण विष्णु-विषयक अध्याय में किया गया है[५९]।

वरुण—इन्द्र के समान वरुण की भी वैदिक महत्ता पौराणिक वाङ्मय में क्षीण होती हुई दिखाई देती है। वरुण-विषयक स्थलों की पुराणों में न्यूनता है। इस प्रकार के अधिकांश पौराणिक स्थल वैदिक कल्पना से प्रभावित हैं। ऐसे स्थलों में निम्नांकित का उल्लेख किया जा सकता है :—

जल के स्वामी वरुण—विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य चारो पुराणों में वर्णन आता है कि जिस समय विभिन्न देवताओं में आधिपत्य का वितरण किया जाने लगा, जल का स्वामित्व वरुण को मिला[६०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में अन्यत्र भी वरुण को अपां पति की संज्ञा दी गई है[६१]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी एक अन्य प्रसंग में वरुण को 'जलेश'

---

५५. दुर्वासा त्वन्मदभ्रंशं कर्तुकामः शशाप ह।
न यज्ञाः संप्रवर्तन्ते न दानानि च वासव। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।३३

५६. त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं···धेष्ठः। ऋग्वेद, १।१७०।५

५७. हे वसुपतेऽतिप्रभूतानां पुरोडाशादिधनानां...। सायण-भाष्य

५८. मैकडानल, वही, पृ० ५४

५९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १-२

६०. जलानां वरुणं तथा। विष्णु पु०, १।२२।३
अपां तु वरुणं राज्ये......। वायु पु०, ७०।७
अपां च वरुणं राज्ये......। ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।७
अपामधीशं वरुणं......। मत्स्य पु०, ८।३

६१. हरितः स ह्यपांपतेः। वायु पु०, ६६।२०६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।३३१

शब्द से अभिहित किया गया है[६२]। ऋग्वेद में भी वरुण के लिये सिन्धुपति (अर्थात् नदियों का स्वामी) शब्द का प्रयोग मिलता है[६३]।

वरुण-पाश—विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि जब इन्द्र से कृष्ण का युद्ध हो रहा था, उस समय गरुड़ ने वरुण का पाश खींचा था[६४]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में तारकासुर-संग्राम में वरुण द्वारा पाश प्रयुक्त करने का वर्णन मिलता है[६५]। वरुण के पाश का उल्लेख ऋग्वेद में भी वर्णित है। उदाहरणार्थ, एक छन्द में वरुण-पाश से रक्षार्थ सोम और रुद्र से प्रार्थना की गई है[६६]।

सूर्य-वरुण रथ का सादृश्य—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि सूर्य का रथ, जो बहुत चमकता है, वरुण के रथ से मिलता-जुलता है[६७]। ऋग्वेद के अनुसार भी वरुण का रथ सूर्य के समान चमकीला है[६८]।

आदित्यों के अन्तर्गत वरुण—विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य पुराणों में वरुण का उल्लेख आदित्यों के अन्तर्गत हुआ है। जैसा कि सूर्य-विषयक अध्याय में विवेचित है, ऋग्वेद में भी वरुण की आदित्यों में गणना हुई है[६९]।

वेद-प्रभावित उक्त पौराणिक सन्दर्भों के अतिरिक्त प्रस्तुत स्थल के सम्बन्ध में यह वर्णन किया जा सकता है कि वरुण-विषयक भावना के निरूपण में पुराणों ने परिवर्तन का दृष्टिकोण भी अपनाया है। इसका प्रमाण विशेषतः वरुण के आवास-विषयक वर्णन में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर वरुण

---

६२. भुजगेन्द्रम् समारूढो जलेशो भगवान्स्वयम्। मत्स्य पु०, १४८।८४

६३. आ राजाना...सिन्धुपती...मित्रावरुणोत...। ऋग्वेद, ७।६४।२

६४. पाशं सलिलराजस्य समाकृष्योरगाशनः। विष्णु पु०, ५।३०।५६

६५. जलेशस्तूग्रदुर्द्धर्षं विषपावकभैरवं मुमोच पाशं...। मत्स्य पु०, १५३। २२०

६६. प्र नो मुंचतं वरुणस्य पाशाद्गोपायतं...। ऋग्वेद, ६।७४।४

६७. चक्रेण भास्वता सूर्यः...वरुणस्य रथस्येह लक्षणैः सदृशश्च सः। मत्स्य पु०, १२५।३८-४१

६८. रथो वां मित्रावरुणा दीर्घाप्साः स्यूमगभस्तिः सूरो नाद्यौत्। ऋग्वेद, १।१२२।१५

६९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४९

का निवास-स्थान जल वर्णित है[७०]। पर, वस्तुतः जल पौराणिक विष्णु का आवास है। इसका विवरण अध्यायान्तर में आया है[७१]।

मित्र—मित्र के विषय में दो प्रकार की भावना दृष्टिगोचर होती है—एक तो आदित्यों के अन्तर्गत मित्र का उल्लेख और दूसरे, वरुण के साथ उनका संयुक्त वर्णन। जहाँ तक आदित्य-मण्डल के मध्य मित्र के उल्लेख का सम्बन्ध है, ऐसे स्थल निश्चय ही वैदिक भावना-निर्वाह का द्योतन करते हैं। इसका विवेचन सूर्य तथा सौर पूजा-विषयक अध्याय में हुआ है[७२]। मित्र और वरुण का संयुक्त वर्णन जिन पौराणिक स्थलों में मिलता है, वे इस प्रकार हैं। विष्णु पुराण में उन मित्रावरुण का उल्लेख है, जिनके प्रसाद से मनु को पुत्र-लाभ हुआ था[७३]। मत्स्य पुराण में वसिष्ठ के अनुज अगस्त्य की उत्पत्ति मित्रावरुण के तेज से निरूपित है[७४]। यह निस्सन्देह है कि पुराणों में मित्र और वरुण का सम्मिलित उल्लेख वैदिक परम्परा-निर्वाह को प्रकट करता है, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में मित्र और वरुण का प्रायः मिश्रित वर्णन ही प्राप्त होता है[७५]।

पर्जन्य—विष्णु पुराण में एक स्थल पर भगवान् पर्जन्य के अधिष्ठातृ-तत्त्व में वर्षा तथा सस्यनिष्पत्ति का उल्लेख मिलता है[७६]। पर्जन्य के इस स्वरूप पर वैदिक प्रभाव प्रतीत होता है। ऋग्वेद के अनुसार भी पर्जन्य ओषधि (औषधि) तथा जल के बर्धक हैं[७७]। इसके पूर्व यह विवेचित है कि मत्स्य पुराण ने एक स्थल पर वर्षा से इन्द्र का सम्बन्ध दिखाया है[७८]। इसी प्रकार विष्णु पुराण के भी एक प्रसंग में वर्णित

---

७०. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी ६३

७१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ६

७२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ४८

७३. सैव च मित्रावरुणयोः प्रसादात्सुद्युम्नो मनोः पुत्रो...आसीत्। विष्णु पु०, ४।१।१०

७४. मित्रावरुणयोर्वीर्याद्वसिष्ठस्यानुजोऽभवत्।
अगस्त्य इत्युग्रतपा संबभूव पुनर्मुनिः। मत्स्य पु०, ६१।१६

७५. मैकडानल, वही, पृ० २६

७६. ...अखिलसस्यनिष्पत्तये ववर्ष भगवान्पर्जन्यः। विष्णु पु०, ४।२०।३०

७७. यो वर्धन ओषधीनां यो अपां...देव ईशे। ऋग्वेद, ७।१०१।२

७८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ७८

है कि इन्द्र की प्रेरणा से मेघ जल बरसाते हैं[७९]। इन्द्र और पर्जन्य में तादात्म्य स्थापित करने तथा पर्जन्य को मेघ-मात्र मानने की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही चली आ रही थी। यह मत पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त पौर्वात्य आचार्यों को भी मान्य है, जिसे मैकडानल[८०] और वेदों के भाष्यकर्त्ता सायण ने भी ऋग्वेद के तद्विषयक स्थलों की टीकाओं में स्पष्ट कर दिया है[८१]। वैदिक पर्जन्य के स्वरूपों में मेघाधिपत्य का भी सन्निधान है[८२]। इस वैदिक वचन की प्रतिध्वनि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मिलती है। इन दोनों ग्रन्थों में स्पष्टतः वर्णित है कि आधिपत्य-वितरण के समय मेघों का स्वामित्व पर्जन्य को मिला था[८३]।

मरुत्—इनके सम्बन्ध में दो प्रकार का वर्णन परिलक्षित होता है—एक तो गण के रूप में इनका उल्लेख, जो विष्णु पुराण में प्राप्त होता है[८४] और दूसरा उल्लेख इन्द्र के साथ सहास्तित्व। विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में वर्णित है कि मरुतों की उत्पत्ति दिति के गर्भ से हुई, जिसे इन्द्र ने विदारित किया था[८५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार मरुत् इन्द्र के अनुज हैं[८६]। विष्णु

७९. ...देवराजश्शतक्रतुः। तेन संचोदिता मेघा वर्षन्त्यंबुमयं रसम्। विष्णु पु०, ५।१०।१९

८०. मैकडानल, वही, पृ० ८३

८१. यदन्यासु वृषभो रोरवति सो अन्यस्मिन् यूथे नि दधाति रेतः। ऋग्वेद ३।५५।१७

पर्जन्यात्मेन्द्रोऽन्यासु...मेघद्वारा भृशंकरोति स पर्जन्य इन्द्रो...उदकं निदधाति। सायण-भाष्य

भूमिं पर्जन्या जिन्वंति दिवं जिन्वंत्यग्नयः। ऋग्वेद, १।६४।५१

पर्जन्याः......प्रीणयितारो मेघा......। सायण-भाष्य

८२. ग्रिफ़िथ, दि हिम्स आफ़ दि ऋग्वेद, तृ० सं०, भाग १, पृ० ३८२, पादटिप्पणी

८३. मेघानां वर्षितस्य च पर्जन्यमभिषिक्तवान्। वायु पु०, ७०।१३; ब्रह्माण्ड पु० ३।८।१४

८४. अश्विनौ वसवश्चेमे सर्वे चैते मरुद्गणाः। विष्णु पु०, १।९।६४

८५. विष्णु पु०, १।२१।३७-४०; वायु पु०, ६७।१०२-१०४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।५।६२-७१; मत्स्य पु०, ७।५४-६२

८६. तस्मात्ते मरुतो देवाः सर्वे चेन्द्रानुजामराः। वायु पु०, ६७।१३३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।५।१०४

पुराण में स्पष्टतया वर्णित है कि मरुद्गण वज्रपाणि इन्द्र के सहायक हैं[८७]। मरुत् का यह पौराणिक स्वरूप भी वैदिक परिचिन्तन से पृथक् नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऋग्वेद में भी मरुतों का वर्णन गण-देवों के रूप में मिलता है[८८] तथा इस बात पर बल है कि मरुद्गण वृत्रासुर के विरुद्ध इन्द्र की सहायता करते हैं[८९]।

अग्नि—पौराणिक विवरण में अग्नि एक प्रतिष्ठित देवता हैं। विविध अनुष्ठानों के अधिष्ठाता होने के कारण इनके अनेक नाम एवं रूप निरूपित मिलते हैं, जिसका वर्णन इस प्रकार है—

देवों के मुख—विष्णु, वायु तथा मत्स्य पुराणों में उल्लेख है कि अग्नि देवों के मुख हैं[९०]।

वसु - अधिपति—मत्स्य पुराण के अनुसार आधिपत्य-विभाजन के समय वसुओं का अधिपति अग्नि को बनाया गया[९१]।

भूतों के स्वामी—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का कथन है कि अग्नि पृथ्वी पर सभी प्राणियों के स्वामी हैं। इसीलिए उन्हें भूतपति कहा जाता है[९२]।

तम के प्रकाशक—वायु पुराण के वचनानुसार अग्नि तम के प्रकाशक हैं[९३] तथा इस दृष्टि से इन्हें क्रमशः रजोगुण और सत्त्वगुण के अधिष्ठता ब्रह्मा और विष्णु के समकक्ष रखा गया है। स्पष्टतः

---

८७. यदुक्तं वै भगवता तेनैव मरुतोऽभवन्।
देवा एकोन्पञ्चाशत्सहाया वज्रपाणिनः। विष्णु पु०,१।२१।४१

८८. रोदसी आ वदता गणश्रियो...मरुतो रथेषु वः। ऋग्वेद, १।६४।९

८९. वृत्रेण यदहिना विभ्रदायुधा समस्थिथा युधये..।
विश्वे ते अत्र...मरुतः सह त्मना। वही, १०।११३।३

९०. विष्णु पु०, १।१४।३०; वायु पु०, ३४।८१; मत्स्य पु०, ६७।१०

९१. ...वसूनामग्निं च लोकाधिपतिश्चकार। मत्स्य पु०, ८।४

९२. भूतस्याधिपतिश्चाग्निस्ततो भूतपतिः स्मृतः। वायु पु०, १०१।२१; ब्रह्माण्ड पु० ४।२।१९

९३. तमःप्रकाशकोऽग्निस्तु कालत्वेन व्यवस्थितः। वायु पु०, ५।१५

यहाँ अग्नि रुद्र के प्रकारान्तर-अभिधान के रूप में वर्णित हैं ।

सम्राडग्नि—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने विविध रूपों से सम्पन्न अग्नि को 'सम्राट्' शब्द से विभूषित किया है तथा इस बात का भी उल्लेख किया है कि ब्राह्मण इनकी उपासना करते हैं[९४] ।

सूर्य और अग्नि—विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि रात्रि के समय जब सूर्य अस्त रहते ह, उनका तेज अग्नि में प्रविष्ट होता है । इसीलिए रात्रि में अग्नि दूर से ही प्रकाशित होता है । इसी प्रकार दिन में अग्नि का तेज सूर्य में प्रवेश करता है, अतएव अग्नि के संयोग से सूर्य प्रकाशित होता है[९५] ।

अग्नि की तीन जिह्वाएँ—वायु पुराण में उल्लेख आया है कि अग्नि का मुख रक्ताभ है और इनकी तीन जिह्वाएँ हैं । इस रूप में इन्हें यज्ञ-सम्पादन का आधार माना गया है[९६] ।

सप्तार्चि—मत्स्य पुराण के अनुसार अग्नि की कान्ति अमित है तथा वह सात किरण अथवा लपटों से सम्पन्न हैं । इसी वर्णन में अग्नि को देवों के मुख-रूप में परिकल्पित कर ग्रह-पीड़ा को दूर करने में समर्थ माना गया है[९७] ।

हव्यवाह तथा कव्यवाह—विष्णु पुराण में अग्नि को हव्य (देवता-प्रदेय पदार्थ) तथा कव्य (पितरों का पदार्थ) का भोग करने वाला वर्णित किया गया

---

९४. सम्राडग्निः स्मृता ह्यष्टौ उपतिष्ठन्ति तान् द्विजाः । वायु पु०,२९।२०;
ब्रह्माण्ड पु०, २।१२।२२

९५. प्रभा विवस्वतो रात्रावस्तं गच्छति भास्करे ।
विशत्याग्निमतो रात्रौ वह्निर्दूरात्प्रकाशते ।।
वह्नेः प्रभा तथा भानुर्दिनेष्वाविशति द्विज ।
अतीव वह्निसंयोगादतः सूर्यः प्रकाशते ।। विष्णु पु०,२।८।२१-२२

९६. यदेतद्रक्तवर्णाभं...स्मृतं मया ।
त्रिजिह्वं लेलिहानं...द्विजाः । वायु पु०, ३२।१५

९७. मुखं यः सर्वदेवानां सप्तार्चिरमितद्युतिः ।
...अग्निः पीडां व्यपोहतु ।। मत्स्य पु०, ६७।१०

है[९८]। अयन्त्र इस ग्रन्थ में उन्हें 'कव्यवाह' शब्द से अभिहित किया गया है[९९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में 'हव्यवाहन' शब्द अग्नि के पर्यायार्थ प्रयुक्त हुआ है[१००]। मत्स्य पुराण ने अग्नि को हव्यवाहन संज्ञा देते हुए इनके पावन-समर्थ स्वरूप का निर्देश किया है[१०१]।

अग्नि के भेदत्रय—विष्णु, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में उल्लेख आया है कि पहले अग्नि एक ही था, पर आगे चलकर इसके तीन भेद हुए[१०२]। मत्स्य पुराण में दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य-अग्नि तथा आहवनीय-अग्नि; अग्नि के इन तीन भेदों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[१०३]।

पुराणों में वर्णित अग्नि के उक्त स्वरूपों पर वैदिक भावना-निर्वाह सुव्यक्त है। ऋग्वेद में वर्णन आया है कि देवताओं ने अग्नि को अपना मुख तथा जिह्वा बनाया था[१०४]। इसी प्रकार वैदिक अग्नि सभी वसुओं के प्रापयिता हैं[१०५]। अग्नि तम

---

९८. यो मुखं सर्वदेवानां हव्यभुक्कव्यभुक् तथा।
पितृणां च नमस्तस्मै विष्णवे पावकात्मने। विष्णु पु०, १।१४।३०

९९. अग्नये कव्यवाहाय स्वधेत्यादौ नृपाहुतिः। वही, ३।१५।२६

१००. शंस्यस्त्वाहवनीयोऽग्निर्यः स्मृतो हव्यवाहनः। वायु पु०, २९।११; ब्रह्माण्ड पु०, २।१२।१२

१०१. पवमानात्मजो ह्यग्निर्हव्यवाहः स उच्यते। मत्स्य पु० ५१।४

१०२. एकोऽग्निरादावभवद् एकेन त्वत्र मन्वन्तरे त्रेधा प्रवर्तिताः। विष्णु पु०, ४।६।९४; वायु पु०, ४।९०।४५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६६।१९

१०३. तस्य ह्यलौकिको ह्यग्निर्दक्षिणाग्निः स वै स्मृतः।
स च वै गार्हपत्योऽग्निः प्रथमो ब्रह्मणो सुतः॥
यः खल्वाहवनीयोऽग्निरभिमानी द्विजैः स्मृतः। मत्स्य पु०,५१।१०-१२

१०४. त्वमग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे। ऋग्वेद, २।१।१३
हे अग्ने त्वामादित्यासो दितेः पुत्रा इन्द्रादय आस्यं
स्वकीयं मुखं भक्षणमानादिसाधनं चक्रिर इति। सायण-भाष्य

१०५. अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम्। ऋग्वेद, १।५८।७
...विश्वेषां सर्वेषां वसूनामरतिं प्रापयितारं...। सायण-भाष्य

के प्रकाशक भी हैं[१०६]। अग्नि सम्राट् हैं[१०७]। अग्नि के उत्पन्न होने पर सूर्य का आविर्भाव हुआ[१०८]। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अस्त होते समय सूर्य अग्नि में प्रवेश करते हैं[१०९]। अग्नि की तीन जिह्वाएँ हैं[११०]। वे सात रश्मियों से सम्पन्न हैं[१११]। देवता यज्ञ का उपभोग अग्नि के द्वारा ही करते हैं[११२]। कहीं-कहीं उन्हें स्पष्टतः हव्यवाह नाम भी दिया गया है[११३]। अग्नि गृहपति[११४] शब्द से विशिष्ट भी हैं, जो कालान्तर के गार्हपत्य-अग्नि का मूल प्रतीत होता है[११५]। पर, उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों में अग्नित्रय के उक्त नामों का उल्लेख मिलता है[११६]।

यद्यपि इन विवरणों से अग्नि के प्रसंगानुकूल पौराणिक स्थल तद्विषयक वैदिक विचारधारा-निर्वाह को व्यक्त कर देते हैं, तथापि अग्नि की वैदिक महत्ता पौराणिक वाङ्मय में क्षीण होती हुई दिखाई देती है। वैदिक साहित्य में इन्द्र के

---

१०६. प्रत्यग्निरुषश्चेकितानो...तमसो वह्निरावः...। ऋग्वेद, ३।५।१

१०७. प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं। वही, ७।६।१
सम्राजः सर्वस्य भुवनस्येश्वरस्य। सायण-भाष्य

१०८. ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्तः समंगिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ। ऋग्वेद, ४।३।११
ततः स्वः सूर्योऽप्याविरभवत्। सर्वमेतदग्नौ त्वयि जाते। सायण-भाष्य

१०९. ऐतरेय ब्राह्मण, ८।२८।९

११०. अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा...। ऋग्वेद, ३।२०।२

१११. त्रि मूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे। वही, १।१४६।१

११२. त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह।
आसा देवा हविरदंत्याहुतम्। वही, २।१।१४

११३. यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं......। वही, १०।४६।१०

११४. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे। वही, ७।१६।५

११५. मैकडानल, वही, पृ० ९५

११६. गार्हपत्ये तस्य पात्राणि..आहवनीये तस्य पात्राणि।
अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनम्...... । शतपथ ब्राह्मण, १।२।२३;२।६।१।१०; द्रष्टव्य,से० बु० ई०, खण्ड १२, पृ० १८,४२२

पश्चात् अग्नि ही सर्वोत्कृष्ट देवता हैं[११७]। पर जैसा कि अध्यायान्तरों[११८] में दिखाने का प्रयास किया गया है, पुराणों ने स्पष्टतया विष्णु तथा सूर्य की अपेक्षा अग्नि को निम्नस्तर पर रखा है।

सोम—द्विजाति एवं औषधियों के स्वामी—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवेचित है कि आधिपत्य-वितरण के समय द्विजाति और तृण-लताओं का स्वामित्व सोम को प्राप्त हुआ[११९]। प्रसंगान्तर में दोनों पुराणों ने सोम को औषधिपति की संज्ञा दी है[१२०]। अन्यत्र इनमें वर्णन आता है कि औषधियाँ चन्द्रमा के तेज से प्रज्वलित रहती हैं[१२१]। मत्स्य पुराण के अनुसार चन्द्रमा औषधीश हैं, उन्हें द्विजेश भी कहा जाता है[१२२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान मत्स्य पुराण में भी वर्णित है कि आधिपत्य-विभाजन के समय द्विज तथा वृक्ष आदि का राज्य चन्द्रमा को मिला[१२३]। एक अन्य स्थल पर भी औषधीश शब्द सोम के नामार्थ प्रयुक्त मिलता है[१२४]। उक्त तीनों पुराणों की भाँति विष्णु पुराण में भी उल्लेख आया है कि विप्र और वीरुध का आधिपत्य सोम को प्रदान किया गया था[१२५]। सोम-विषयक उक्त पौराणिक भावनाओं पर वैदिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। ऋग्वेद में सोम को वनस्पति की संज्ञा दी गई है[१२६]। वाजसनेय संहिता में वर्णन मिलता है कि सोम ब्राह्मणों के राजा हैं[१२७]।

---

११७. मैकडानल, वही, पृ० ८८

११८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १,२ तथा ४७

११९. द्विजातीनां वीरुधां च...सोमं राज्येऽभ्यषेचयत्। वायु पु०, ७०।३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।३

१२०. सोमं......... सर्वौषधिपतिः............ । वायु पु०, ३१।३८; ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।१२७

१२१. ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसा संज्वलंत्युत । वायु पु०, ९०।१५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।१५

१२२. तेनौषधीशः सोमोऽभूद्द्विजेशश्चापि निगद्यते। मत्स्य पु०,२३।१३

१२३. तदौषधीनामधिपं.........द्विजवृक्षगुल्मलता......। वही, ८।२,३

१२४. औषधीशः.........त्वं सोमः सोमपायिनाम्। वही, १७६।८,९

१२५. ...विप्राणां......... वीरुधां......... सोमं । विष्णु पु०,१।२२।२

१२६. नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धीनामन्तः सबर्दुघः। ऋग्वेद, ९।१२।७
...वनस्पतिः वनानां पालयिता सोमो...। सायण-भाष्य

१२७. सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। वाजसनेय संहिता, ९।४०

सोम और पितृगण—विष्णु पुराण में कहा गया है कि सोम पितृमान् हैं[१२८]। इसी प्रसंग में आगे वर्णन आया है कि पितृगण के आधार सोम हैं[१२९]। मत्स्य पुराण में भी सोम को पितृमान् संज्ञा प्रदान की गई है[१३०]। ऐसा कहा गया है कि वे पितरों के लिए अमृत प्रसूत करते हैं[१३१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार पितृगण श्राद्ध के द्वारा आप्यायित होकर सोम को आप्यायमान करते हैं[१३२]। सोम और पितरों के विषय में ऐसी भावना वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद के अनुसार पितरों के संयोग से सोम द्यावापृथिवी का विस्तार करते हैं[१३३]। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टतया सोम को पितृमान् कहा गया है[१३४]।

सोम और जल—मत्स्य पुराण में वर्णन आया है कि सोम की उत्पत्ति समुद्र से हुई है[१३५]। यह वर्णन विष्णु पुराण में भी मिलता है[१३६]। सोम को जलोद्भूत मानने की प्रवृत्ति वैदिक काल में ही आविर्भूत हो चुकी थी। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में सोम को सिन्धु-सम्भूत माना गया है[१३७]।

---

१२८. सोमाय वै पितृमते दातव्या तदनंतरम्। विष्णु पु०, ३।१५।२७

१२९. सोमाधारः पितृगणो योगाधारश्च चंद्रमाः। वही, ३।१५।५४

१३०. इत्येष पितृमान्सोमः स्मृतस्तद्वत्सुधात्मकः। मत्स्य पु०, १४१।२९

१३१. यस्मात्प्रसूयते सोमो मासि मासि विशेषतः।
ततः स्वधामृतं तद्वै पितॄणां सोमपायिनाम्। वही, १४१।२१

१३२. श्राद्धैराप्यायिताश्चैव पितरः सोममव्ययम्। वायु पु०, ७१।२९; ब्रह्माण्ड पु०, ३।९।२९

१३३. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनुद्यावापृथिवी आ ततंथ। ऋग्वेद, ८।४८।१३

१३४. ...सोमाय वा पितृमते...। शतपथ ब्राह्मण, २।६।१।४

१३५. प्रसन्नाभः समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्वलः। मत्स्य पु०, २५०।२

१३६. ततः शीतांशुरभवज्जगृहे तं महेश्वरः। विष्णु पु०, १।९।९७

१३७. एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम्। ऋग्वेद, ९।६१।७
सिन्धुमातरं यस्य सोमस्य सिन्धवो नद्यो मातरो भवन्ति...। सायण-भाष्य

सोम का आवास—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि सोम की पुरी मेरु से उत्तर, मानस के शिखर पर है[१३८]। प्रस्तुत स्थल को वैदिक विचारधारा के द्वारा इस दृष्टि से प्रभावित माना जा सकता है, क्योंकि ऋग्वेद में सोम को गिरिष्ठ अर्थात् पर्वत पर रहने वाला माना गया है[१३९]।

इन स्थलों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सोम-विषयक पौराणिक स्थल वैदिक प्रतिच्छाया को प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में अधिकांश स्थल सोम शब्द से तन्नामधारी वृक्ष का द्योतन करते हैं, तथापि इनके रचनाकाल में सोम और चन्द्रमा के एकीकरण की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी[१४०]। पुराणों में निर्विवादतः सोम और चन्द्रमा का एकीकरण प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ, एक वर्णन में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में चन्द्रमा के लिए सोम नाम प्रयुक्त है, पर उसी प्रसंग में मत्स्य पुराण ने चन्द्र शब्द का प्रयोग किया है[१४१]।

अश्विन—अश्विन के बारे में दो प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं और दोनो ही वैदिक विचारधारा से प्रभावित हैं। इनमें पहला वर्णन उनकी उत्पत्ति-विषयक है। विष्णु पुराण के अनुसार सूर्य और संज्ञा ने क्रमशः अश्व और अश्वा का रूप धारण कर अश्विनों को उत्पन्न किया था[१४२]। यह वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[१४३]। ऋग्वेद के अनुसार भी अश्विनों की उत्पत्ति विवस्वान् और सरण्यू के

---

१३८. दिश्युत्तरस्यां मेरोस्तु मानसस्यैव मूर्द्धनि।
तुल्या महेन्द्रपुर्या तु सोमस्यापि विभावरी। वायु पु०,५०।९०; ब्रह्माण्ड पु०, २।२१।३३

१३९. ...सोमस्य या शमितारा सुहस्ता।
मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां...। ऋग्वेद, ५।४३।४

१४०. मैकडानल, वही, पृ० ११२

१४१. द्विजातीनां...सोमं राज्येऽभ्यषेचयत्। वायु० पु०, ७०।३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।३
तदौषधीनामधिपं चकार......चन्द्रम्। मत्स्य पु०, ८।२

१४२. वाजिरूपधरः सोऽथ तस्यां देवावथाश्विनौ।
जनयामास..............भास्करः। विष्णु पु०, ३।२।७

१४३. अश्वरूपेण महता तेजसा च समावृतः।
...जातावश्विनाविति निश्चितम्। मत्स्य पु०, ११।३५-३६

संयोग से हुई थी[१४४]। आचार्य सायण ने सरण्यू का अर्थ अश्वरूपिणी सरण्यू किया है[१४५]। मैकडानल के कथनानुसार विवस्वान् का तात्पर्य उदीयमान सूर्य तथा सरण्यू का उषस् से है[१४६]। दूसरे वर्णन का विषय उनका भैषज्य है। वायु पुराण में उन्हें भिषज्-श्रेष्ठ संज्ञा दी गई है[१४७]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि अश्विनी वैद्य-विशारद हैं[१४८]। मत्स्य पुराण में उन्हें भिषज् विशेषण से विभूषित किया गया है[१४९]। ये स्थल वैदिक प्रवृत्ति से इसलिए प्रभावित हैं, क्योंकि ऋग्वेद में भी अश्विनों को भिषज् कहा गया है[१५०]।

बृहस्पति—चारो पुराणों के वर्णनानुसार बृहस्पति देव-पुरोहित हैं। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि बृहस्पति अत्यन्त तेजस्वी हैं। वे स्वर्ग के निवासियों के पुरोहित हैं[१५१]। अन्यत्र दोनों पुराणों में उन्हें देवाचार्य की उपाधि दी गई है[१५२]। दोनो पुराणों के प्रसंगान्तर में वर्णित है कि जब देवासुर-संग्राम चल रहा था, उस समय देवों के हितार्थ बृहस्पति अग्नि में हवन कर रहे थे[१५३]। ब्रह्माण्ड पुराण के एक अन्य प्रसंग में उल्लिखित है कि दुर्वासा के शापवश निःश्रीक होने पर

---

१४४. अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदर्दुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरतद्यत् तदासीजहाद्ु द्वा मिथुनासरण्यूः। ऋग्वेद, १०।१७।२

१४५. ऊपर के छन्द पर की गई टीका के अनुसार

१४६. मैकडानल, वही, पृ० ५१

१४७. तथैव च महात्मनावश्विनौ भिषजां वरौ। वायु पु०, ३०।८४

१४८. ब्रह्मा चैवाश्विनीपुत्रौ वैद्यविशारदौ। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२०।५२

१४९. तस्य कर्माश्विनौ दृष्ट्वा भिषजौ...... । मत्स्य पु०, १५०।२०१

१५०. उत त्या दैव्या भिषजा......अश्विना। ऋग्वेद, ८।१८।८

१५१. ...पुरोधा यो दिवौकसां।
बृहस्पतिर्वृहत्तेजाः ममतां सोऽपद्यत। वायु पु०, ९९।३७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।३७

१५२. बृहस्पतेर्बृहत्कीर्त्तिर्देवाचार्यस्तु कीर्त्तितः। वायु पु०, ७०।३३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।३८

१५३. अग्निमाप्यायेद्धोता मन्त्रैरेव बृहस्पतिः। वायु पु०, ९७।१०६
अग्निमाप्यायद्धोता मन्त्रैरेव दहिष्यति। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७२।१०८

इन्द्र ने (पुरोहित) बृहस्पति से मंत्रणा ली थी[१५४]। विष्णु पुराण के इसी प्रसंग में वर्णन आया है कि पुरोहित बृहस्पति के द्वारा तेज-सम्पन्न होकर इन्द्र ने स्वर्ग पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया[१५५]। अन्यत्र वर्णित है कि विष्णु की स्तुति करते समय बृहस्पति देवर्षियों का पुरोगमन कर रहे थे[१५६]। मत्स्य पुराण में उन्हें वाचस्पति तथा अमरेशपुरोहित शब्दों से अभिहित किया गया है[१५७]। ऋग्वेद में उल्लेख आया है कि प्राचीन ऋषियों तथा विप्रों का पुरोधान बृहस्पति ने किया था[१५८]। बृहस्पति-विषयक छन्दान्तर में उन्हें स्पष्टतः पुरोहित कहा गया है[१५९]। अतएव बृहस्पति की पौराणिक भावना पर वैदिक प्रभाव माना जा सकता है।

ब्रह्मा-प्रजापति—चारो पुराणों में ब्रह्मा का तादात्म्य प्रजापति से किया गया है। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि नारायणात्मक, प्रजापति-श्रेष्ठ भगवान् ब्रह्मा ने प्रजा का सृजन किया[१६०]। वायु पुराण में विष्णु से वार्तालाप करते हुए ब्रह्मा स्वयं को आदिकर्त्ता तथा प्रजापति कहते हैं[१६१]। अन्यत्र इस पुराण में वर्णित है कि समस्त प्रजा का पालयिता होने के कारण ब्रह्मा का अभिधान प्रजापति है[१६२]। मत्स्य पुराण में भी शतरूपा और ब्रह्मा के प्रसंग में उन्हें प्रजापति शब्द से अभिहित किया गया है[१६३]।

---

१५४. विषण्णचेता निःश्रीकश्चिन्तयामास देवराट्।
...बृहस्पतिं समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।३१-३२

१५५. पुरोहिताप्यायिततेजाश्च शक्रो दिवमाक्रमत्। विष्णु पु०, ४।६।२२

१५६. ऊचुर्देवर्षयस्सर्वे बृहस्पतिपुरोगमाः। वही, १।६।६०

१५७. तद्वद्वाचस्पतेः पूजां...अमरेशपुरोहितम्। मत्स्य पु०, ७३।७

१५८. बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
...ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्राः दधिरे...। ऋग्वेद, ४।५०।१

१५९. स संनयः स विनयः पुरोहितः...। वही, २।२४।६

१६०. प्रजाः ससर्ज भगवान्ब्रह्मा नारायणात्मकः।
प्रजापतिपतिर्देवो यथा...निशामय। विष्णु पु०, १।४।२

१६१. यथा भवांस्तथा चाहमादिकर्त्ता प्रजापतिः। वायु पु०, २४।२१

१६२. ब्रह्मा कमलगर्भाभः...पातिर्यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः। वही, ५।२६-३७

१६३. अहो रूपमहो रूपमिति चाह प्रजापतिः।
ब्रह्मा न किंचिद्ददृशे तन्मुखालोकनादृते। मत्स्य पु०, ३।३३-३४

ब्रह्मा लोककर्त्ता—विष्णु पुराण में वर्णन आया है कि कृतयुग के प्रारम्भ से ही ब्रह्मा सृष्टीकरण में प्रवृत्त होते हैं[१६४]। वायु पुराण का कथन है कि ब्रह्मा प्रथम शरीरधारी एवं सृष्टि-कर्त्ता हैं[१६५]। मत्स्य पुराण में सृष्टि के लिए ब्रह्मा द्वारा तपश्चर्या का वर्णन मिलता है[१६६]।

वराहावतार एवं ब्रह्मा—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वराहावतार का तादात्म्य ब्रह्मा से प्रदर्शित है। ऐसा कहा गया है कि जलमग्न पृथ्वी का उद्धार करने के लिए उन्होंने वाराह-शरीर धारण किया था[१६७]। इस सन्दर्भ में वायु पुराण ने ब्रह्मा के चरण-निक्षेप का उपमान सिंह की गतिशीलता को माना है। पर, ब्रह्माण्ड पुराण के समस्थलीय विवरण में सिंह के स्थान पर विष्णु शब्द का उल्लेख है[१६८]। इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड पुराण के काल में पौराणिक संरचना में वराह और विष्णु के तादात्म्य की भावना आरम्भ हो गयी थी।

चतुर्मुखी ब्रह्मा—मत्स्य पुराण में शिव पार्वती से कहते हैं कि ब्रह्मा के पहले पाँच मुख थे, पर क्रोधवश उन्होंने (शिव ने) उनका एक शिर काट डाला था[१६९]। यह वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलता है। ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मा के पाँचवें शिर को शिव के क्रोध से उत्पन्न भैरव ने छिन्न कर डाला था[१७०]। शिव की स्तुति के सन्दर्भ में अन्यत्र मत्स्य पुराण में ब्रह्मा को चतुर्मुख नाम दिया गया है[१७१]।

---

१६४. आद्ये कृतयुगे सर्गो ब्रह्मणा क्रियते यथा। विष्णु पु०, ६।१।७

१६५. स वै शरीरी प्रथमः कारणत्वे व्यवस्थितः। वायु पु०, ५।२२

१६६. सृष्ट्यर्थं यत्कृतं तेन तपः परमदारुणम्। मत्स्य पु०, ३।३९

१६७. ब्रह्मा तु सलिले...जलक्रीडासु रुचिरं वाराहं रूपमस्मरत्। वायु पु०, ६।७-११; ब्रह्माण्ड पु०, १।५।७-११

१६८. सिंहविक्रान्तगामिनम्। वायु पु०, ६।१४
विष्णुविक्रमगामि च। ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१४

१६९. आसीत्पूर्वं वरारोहे ब्रह्मणस्तु शिरो वरम्।
पंचमं शृणु सुश्रोणि जातं कांचनसमप्रभम्।
ततः क्रोधपरीतेन संरक्तनयनेन च।
वामांगुष्ठनखाग्रेण च्छिन्नं तस्य शिरो मया। मत्स्य पु०, १८३। ८१-८३

१७०. तदा पंचमुखो ब्रह्मा..मूर्धानमेकं चिच्छेद। ब्रह्माण्ड पु०,४।४०।५०-५६

१७१. स धन्यधीर्लोकपिता चतुर्मुखो। मत्स्य पु०, १५४।३९९

वज्रांग असुर के वर्णन में दूसरे स्थल पर भी इस पुराण में ब्रह्मा के लिए चतुरानन शब्द प्रयुक्त हुआ है[१७२]। वायु पुराण में भी मेरु-निवासी ब्रह्मा को चतुर्मुख शब्द से अभिहित किया गया है[१७३]।

ब्रह्मा और वेद—मत्स्य पुराण में ब्रह्मा को वेदाभ्यासरत विशेषण से आभूषित किया गया है[१७४]। विष्णु पुराण में उन्हें वेदज्ञ की उपाधि दी गई है[१७५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वाराह-शरीरधारी ब्रह्मा के स्कन्ध-प्रदेश का तादात्म्य वेद से स्थापित किया गया है[१७६]।

जहाँ तक ब्रह्मा और प्रजापति के तादात्म्य का सम्बन्ध है, इसका सूत्रपात गृह्यसूत्रों के समय तक हो चुका था[१७७]। पुराणों के अतिरिक्त वेदोत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थों में भी इस भावना का निर्वाह मिलता है। उदाहरणार्थ, विष्णुस्मृति में ब्रह्मा को प्रजापति कहा गया है[१७८]। कदाचित् ब्रह्मा और प्रजापति में एकीकरणवश वैदिक प्रजापति के लोककर्त्तृत्व का ब्रह्मा के स्वरूप में समाहार हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टतः प्रजापति को प्रजावर्ग का स्रष्टा बताया गया है[१७९]। अन्यत्र इस ग्रन्थ में वाराह-रूपधारी ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी-उद्धरण का उल्लेख हुआ है[१८०]। पुराणेतर ग्रन्थों में भी ब्रह्मा का सम्बन्ध लोककर्त्तृत्व से स्थापित किया गया है। उदाहरणार्थ, रामायण में ब्रह्मा लोककर्त्ता उद्घोषित किये गये हैं[१८१]।

इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि उक्त देवताओं के अतिरिक्त आलोचित पुराणों में अन्य मानवेतर योनियों का भी वर्णन आया है । इन्हें या तो देवताओं

---

१७२. उवाचाथ दैत्यराजानं प्रसन्नश्चतुराननः । मत्स्य पु०, १४७।१६

१७३. तेषां मध्ये सुरश्रेष्ठ देवदेवश्चतुर्मुखः ।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो......... । वायु पु०, ३४।७०

१७४. वेदाभ्यासरतस्यास्य प्रजाकामस्य मानसाः । मत्स्य पु०, ३।५

१७५. ब्रह्माद्यैर्यस्य वेदज्ञैर्ज्ञायते यस्य नो गतिः । विष्णु पु०, १।१२।४६

१७६. वेदस्कन्धो...। वायु पु०, ६।२०; ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१७

१७७. मैकडानल, वही, पृ० ११६

१७८. ...ब्रह्मा चैव प्रजापतिः । विष्णु स्मृति, ५५।१८

१७९. ...प्रजापतिः प्रजा असृजत...। शतपथ ब्राह्मण, २।६।३।४

१८०. इयमग्रे पृथिव्यास...वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः । वही, १४।१।२।११

१८१. अब्रुवँल्लोककर्त्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः । बालकाण्ड, १५।५

के समकक्ष रखा गया है अथवा देवताओं से सम्बन्धित कर इनके स्वरूप में मानवेतर तत्त्व प्रदर्शित है, जिनका वर्णन निम्नांकित है—

गन्धर्व—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं, जहाँ गन्धर्वों को देवताओं की कोटि में रखने की चेष्टा प्रदर्शित है। एक प्रसंग में दोनों पुराणों ने उन्हें देवयोनि की संज्ञा दी है[१८२]। अन्यत्र वायु पुराण में योगी को गन्धर्वों का ध्यान करने का आदेश विहित है[१८३]। नैमिषारण्य में सम्पन्न होने वाले यज्ञ के विषय में दोनों पुराणों में गन्धर्व-पूजा का भी उल्लेख हुआ है[१८४]।

गन्धर्व एवं देवता—गन्धर्वों के सन्दर्भ में दूसरे प्रकार के उद्धरण वे हैं, जहाँ उन्हें देवताओं का सहायक अथवा अनुचर वर्णित किया गया है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि जिस समय कृष्ण और इन्द्र में युद्ध हो रहा था, गन्धर्वों ने इन्द्र का साथ दिया था[१८५]। सूर्य के विषय में चारो पुराणों ने गन्धर्वों को सूर्य का अनुचर वर्णित किया है[१८६]।

गन्धर्वों की उत्पत्ति—इन पुराणों में ऐसे स्थल भी हैं, जिनमें गन्धर्वों की उत्पत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। विष्णु पुराण में उन्हें दक्ष की कन्याओं के संयोग से चन्द्रमा द्वारा उत्पन्न माना गया है[१८७]। अन्यत्र उल्लेख आया है कि गन्धर्वों का सृजन दक्ष ने ब्रह्मा की आज्ञा से किया था[१८८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार गन्धर्वों की उत्पत्ति ब्रह्मा के तेज-पान करने के कारण हुई। गन्धर्व शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए वर्णन आया है कि इस शब्द में 'ध्यायति' शब्द-रूप तथा 'गा' शब्द का संयोग है। 'ध्यायति' का अर्थ होता है पान करना तथा 'गा' का अर्थ है तेज। ब्रह्मा के तेज का पान करने के कारण ही इन्हें गन्धर्व कहा जाता है[१८९]।

---

१८२. वायु पु०, ६९।१९७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।१७०

१८३. वायु पु०, १२।३७;

१८४. वायु पु०, २।२७; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।३०

१८५. विष्णु पु०, ५।३०।६३

१८६. द्रष्टव्य, सूर्य तथा सौर पूजा-विषयक अध्याय, पृष्ठ ५४

१८७. विष्णु पु०, १।१५।७९

१८८. वही, १।१५।८७

१८९. वायु पु०, ९।३६; ब्रह्माण्ड पु०, २।८।४१

गन्धर्वों का आवास—आलोचित पुराणों के भिन्न-भिन्न स्थलों में गन्धर्वों का आवास पर्वत, स्वर्ग और रसातल बताया गया है। मत्स्य पुराण के अनुसार गन्धर्वगण हेमकूट नामक पर्वत पर अप्सराओं के साथ निवास करते हैं[१९०]। गन्धर्व और अप्सराओं के सहावास का स्थल सुमेरुगिरि को भी बताया गया है[१९१]। यह वर्णन विष्णु, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मिलता है[१९२]। विष्णु पुराण के प्रसंगान्तर में गन्धर्वों का निवास-स्थान स्वर्ग माना गया है[१९३]। अन्यत्र इस पुराण में रसातल-निवासी मौनेय नामक गन्धर्वों का उल्लेख हुआ है[१९४]।

वैदिक परम्परा से प्रभावित पौराणिक मत—गन्धर्व-विषयक पौराणिक उद्धरण वैदिक परम्परा के त्रिविध दृष्टिकोण से विशेषतः प्रभावित हैं—(१) गन्धर्वों तथा देवताओं का साहचर्य, (२) गन्धर्वों का आवास, तथा (३) गन्धर्वों और अप्सराओं का सहावास। गन्धर्वों और देवताओं के साहचर्य-विषयक प्रश्न पर ऋग्वेद का एक उद्धरण प्रकाश डालता है। इसमें वर्णित है कि सूर्य का रथ गन्धर्वों द्वारा अधिष्ठित रहता है[१९५]। इसी प्रकार गन्धर्वों के आवास का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। इस ग्रन्थ में उनका निवास-स्थान पर्वत-कन्दरा, समुद्र और स्वर्ग बताया गया है[१९६]। अप्सराओं और गन्धर्वों के सान्निध्य को व्यक्त करते हुए ऋग्वेद में उल्लेख आया है कि 'परम व्योम' में अप्सरा गन्धर्व का अभिसरण वैसे ही करती है, जिस प्रकार अभिसारिका अपने प्रणयी का[१९७]।

पौराणिक नवीन दृष्टिकोण—पौराणिक वाङ्मय ने गन्धर्वों के जिस विशेष स्वरूप के द्वारा नवीन संयोजन का परिचय दिया है, वह है गन्धर्वों का गायन से

---

१९०. मत्स्य पु०, ११४।८२

१९१. वही, ११३।४२

१९२. विष्णु पु०, २।२।४८; वायु पु०, ३४।३; ब्रह्माण्ड पु०, २।१५।४६

१९३. विष्णु पु०, ४।६।५०

१९४. वही, ४।३।५

१९५. ऋग्वेद, १।१६३।२; द्रष्टव्य, मैकडानल, वही, पृ० १३६

१९६. अथर्ववेद, २।१।२, २।२।१, २।२।३

१९७. ऋग्वेद, १०।१२३।५ पर सायण की टीका; द्रष्टव्य, मैकडानल, वही, पृ० १३७; हाप्किंस एपिक माइथालोजी, पृ० १५६, कुमारस्वामी, यक्षाज़, भाग २, पृ० ३२

सम्बन्ध । विष्णु पुराण ने गन्धर्व शब्द की व्युत्पत्ति का आधार ही गन्धर्वों का गायन माना है । ऐसा कहा गया है कि जिस समय ब्रह्मा के शरीर से इनका उद्भव हुआ, ये गीतोच्चारण कर रहे थे[१९८] । विष्णु पुराण के प्रसंगान्तर में तथा अन्य तीनों पुराणों के समस्थलीय विवरण में सूर्य के रथ की श्री-वृद्धि गन्धर्व गायन द्वारा सम्पन्न करते हैं[१९९] । इस सन्दर्भ में मैकडानल का यह मत संगत लगता है कि गन्धर्वों का प्रस्तुत स्वरूप वेदोत्तरवर्ती काल का नवीन संयोजन है[२००] । हाप्किस के अनुसन्धान से यह भी स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रवृत्ति रामायण और महाभारत में अपनी पूर्णता को पहुँच चुकी है[२०१] ।

अप्सरा—अप्सराओं के विषय में पुराणों ने जिस विशेष स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है, वह है गन्धर्वों के साथ उनका साहचर्य तथा नर्तनशीलता । गन्धर्वों के विषय में यह दिखाया जा चुका है कि पुराणों ने गन्धर्व और अप्सराओं के सहावास का चित्रण किया है । सूर्य के प्रसंग में चारो पुराणों में वर्णन आता है कि इनके रथ में गन्धर्व गायन करते हैं तथा अप्सराएँ नृत्य का प्रदर्शन करती हैं[२०२] । ऐसे प्रसंग भी प्राप्त होते हैं, जहाँ गन्धर्वों के समान अप्सराओं का आवास भी स्वर्ग अथवा पर्वत बताया गया है । उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि उर्वशी के चले जाने पर स्वर्गवासी अप्सरा और गन्धर्वों के लिए स्वर्ग श्रीविहीन-सा हो गया था[२०३] । इसी प्रकार मत्स्य पुराण में उन अप्सराओं का उल्लेख हुआ है, जो गन्धर्वों के साथ हेमकूट नामक पर्वत पर निवास करती हैं[२०४] । अप्सराएँ न केवल गन्धर्वों की ही प्रणयिनी हैं, अपितु उनका प्रणय मानव-वर्ग तक भी व्याप्त है । उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में नृप तृणबिन्दु और अलंबुसा नामक अप्सरा के

---

१९८. विष्णु पु०, १।५।४४

१९९. द्रष्टव्य, सूर्य तथा सौर पूजा-विषयक अध्याय, पृ० ५४

२००. मैकडानल, वही, पृ० १३७

२०१. हाप्किस, वही, पृ० १५३

२०२. द्रष्टव्य, सूर्य तथा सौर पूजा-विषयक अध्याय, पृष्ठ ५४

२०३. विष्णु पु०, ४।६।५०

२०४. मत्स्य पु०, ११४।८२

प्रेम-विवाह का वर्णन मिलता है[२०५]। इसी प्रकार का वर्णन पुरूरवा और उर्वशी के विषय में भी प्राप्त होता है[२०६]।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपर्युक्त पौराणिक उद्धरण स्पष्टतः वैदिक परम्परा-निर्वाह प्रदर्शित करते हैं। पुराणों में अप्सराओं का जो स्वरूप परिलक्षित है, वह वैदिक वाङ्मय में आरम्भ से ही दृष्टिगोचर होने लगता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में अप्सरा का निवास-स्थान 'परम व्योम' बताया गया है[२०७]। अथर्ववेद ने उन्हें स्पष्टतः गन्धर्वों की पत्नी के रूप में वर्णित किया है[२०८]। शतपथ ब्राह्मण ने उनकी नर्तनशीलता पर प्रकाश डाला है[२०९] तथा उनका प्रणय गन्धर्वों के साथ-साथ मानव-वर्ग से भी दिखाया है[२१०]।

यक्ष—गन्धर्व और अप्सरा के साथ-साथ पुराणों में यक्षों के वर्णन भी मिलते हैं। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में यक्षों की उत्पत्ति का सम्बन्ध ब्रह्मा से प्रदर्शित किया गया है। यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए दोनों पुराणों में वर्णित है कि ब्रह्मा से उत्पन्न होने पर यक्षों ने जल को क्षीण करने की चेष्टा की थी। यही कारण है कि क्षयार्थक 'क्षी' धातु के आधार पर उन्हें यक्ष शब्द से अभिहित किया जाता है[२११]। प्रस्तुत वर्णन दोनों पुराणों के प्रसंगान्तर में भी मिलता है[२१२]। विष्णु पुराण में भी यक्षों को प्रजापति से उत्पन्न माना गया है[२१३]। एक स्थल पर विष्णु पुराण में उन्हें देवकोटि में लाने का प्रयास भी किया गया है[२१४]। यक्षों का स्वामित्व कुबेर के व्यक्तित्व में सन्निहित करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में उपलब्ध है कि यक्षों के

---

२०५. विष्णु पु०, ४।१।४८

२०६. वही, ४।६।९३

२०७. ऋग्वेद, १०।१२३।५; द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १५७

२०८. अथर्ववेद, २।२।५

२०९. मैकडानल, वही, पृ० १३४

२१०. वही, पृ० १३५

२११. वायु पु०, ९।२९; ब्रह्माण्ड पु०, २।८।३४

२१२. वायु पु०, ६९।९७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।६०

२१३. विष्णु पु०, १।५।५९

२१४. वही, ३।११।३३

राजा कुबेर हैं, जो अलका नामक नगरी के अधीश्वर हैं[२१५]। अन्यत्र वायु पुराण में यक्षों का आधिपत्य कुबेर में सन्निहित करते हुए उनका सम्बन्ध कैलास से स्थापित किया गया है[२१६]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में वर्णन आया है कि जिस समय वैन्य के शासन में वसुधा का दोहन किया जा रहा था, यक्षों ने कुबेर को वसुधा-वत्स बनाया था[२१७]। यक्षों का आवास पर्वत-स्थल बताया गया है। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण में हिमालय के विषय में वर्णित है कि इस पर्वत पर राक्षस और पिशाचों के साथ यक्ष रहते हैं[२१८]। विष्णु पुराण में सुमेरु के पर्वत-अन्तरालों के विषय में बताया गया है कि इनमें यक्ष क्रीडा करते हैं[२१९]। पर, इस पुराण के वर्णनान्तर में यक्षों को पाताल का निवासी माना गया है[२२०]।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यक्ष शब्द का प्रयोग प्राचीन है। इसका उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों तथा उपनिषद्-ग्रन्थों में आया है[२२१]। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। हिलेब्रान्त ने इसका अर्थ संगीतज्ञ माना है[२२२]। कीथ ने इस शब्द का स्रोत 'यज्' धातु में ढूंढ़ने की चेष्टा की है[२२३]। कुमारस्वामी ने वैदिक साहित्य के आधार पर इस शब्द का तादात्म्य भयंकरता के साथ किया है[२२४]। पौराणिक उद्धरण भी इसी अर्थ को अभिव्यंजित करते हैं। यह दिखाया जा चुका है कि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने यक्ष शब्द का आधार 'क्षी' धातु माना है, जिसका अर्थ विनाश करना होता है[२२५]। एक अन्य स्थल पर भी दोनों पुराणों के वर्णन से भयंकरता का ही अर्थ स्पष्ट होता है। ऐसा कहा गया

---

२१५. वायु पु०, ६९।१९०; ब्रह्माण्ड ३।७।१६२-१६३

२१६. वायु पु०, ४१।२६

२१७. मत्स्य पु०, १०।२२

२१८. वही, ११४।८२

२१९. विष्णु पु०, २।२।४८

२२०. वही, २।५।४

२२१. कुमारस्वामी, वही, भाग २, पृ० १

२२२. कुमारस्वामी द्वारा उद्धृत, वही, पृ० १

२२३. वही, पृ० १

२२४. वही, पृ० १

२२५. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २११-२१२

है कि यक्षगण देखते-देखते मनुष्य के रक्त-मांस आदि का भक्षण कर जाते हैं[२२६]। पुराणेतर अन्य वेदोत्तरवर्त्ती ग्रन्थों में भी यक्षों के स्वरूप का स्पष्टीकरण मिलता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में यक्षों का आवास मन्दरगिरि बताया गया है[२२७]। इसी प्रकार कुबेर यक्षराज शब्द से अभिहित किये गये हैं[२२८]। यक्षों के विषय में ऐसे प्रसंग आलोचित पुराणों में भी मिलते हैं, जिनको व्यक्त करने का प्रयास पूर्वगामी अनुच्छेद में हो चुका है[२२९]।

नाग—नागों के विषय में भी पौराणिक उद्धरणों का प्रायः वही स्वरूप है; जो गन्धर्व, अप्सरा और यक्षों के प्रसंग में मिलता है। उदाहरणार्थ, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में सुमेरु के विषय में वर्णित है कि यह पर्वत अप्सरा, देवगण, गन्धर्व आदि के साथ-साथ उरगों द्वारा भी अधिष्ठित है[२३०]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में वर्णन आता है कि हेमकूट पर्वत; अप्सरा तथा गन्धर्व के साथ-साथ शेष, वासुकि, तक्षक आदि सर्पराजों के सान्निध्य से समलंकृत है[२३१]। विष्णु पुराण के वर्णनानुसार इनका आवास पाताल है। अतल, वितल आदि पातालों के विषय में वर्णित है कि यहाँ उच्चकुलीय नाग निवास करते हैं[२३२]। नाग-विषयक दूसरी कोटि के उद्धरण वे हैं, जिनमें नागों की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में उन्हें ब्रह्मा से उद्भूत माना गया है। ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मा के केशों से च्युत होकर इन्होंने अपसर्पण किया था, इसीलिए इन्हें सर्प कहते हैं। ब्रह्मा से हीन अर्थात् अलग होने के कारण इन्हें अहि तथा पन्नत्व अर्थात् शरीरान्तर-प्राप्ति के कारण पन्नग भी कहा जाता है[२३३]। ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं, जिनमें नागों को देव-श्रेणी में रखा गया है तथा नागोपासना का विवरण दिया गया है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण ने शेषनाग को विष्णु का स्वरूप वर्णित

---

२२६. वायु पु०, ६९।१९०-१९१; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।१६२-१६५

२२७. हाप्किंस, वही, पृ० १०

२२८. वही, पृ० १४२

२२९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २१५-२२०

२३०. वायु पु०, ३४।५५; ब्रह्माण्ड पु०, २।१५।४९

२३१. मत्स्य पु०, ११४।८२-८३

२३२. विष्णु पु०, २।५।४

२३३. वायु पु०, ९।३०-३३; ब्रह्माण्ड पु०, २।८।३५-३६

किया है[२३४] तथा प्रसंगान्तर में नागरूपी विष्णु की उपासना का स्पष्टीकरण किया है [२३५]। मत्स्य पुराण में प्रयागस्थ कम्बल और अश्वतर नामक नागों की उपासना का निर्देश मिलता है [२३६]।

जहाँ तक नाग-पूजा की वैदिक पृष्ठभूमि का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में फ़ोगेल का मत है कि इसका उल्लेख वैदिक साहित्य के प्रारम्भिक उद्धरणों में ही मिलने लगता है। ऋग्वेद प्रायः अनुष्ठान-प्रचुर ग्रन्थ है तथा इसे तत्कालीन सभ्यता के सार्वजनीन स्वरूप का प्रमाण नहीं माना जा सकता है, अतएव इसमें नागोपासना का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु, अथर्ववेद में स्पष्टतः सर्प-पूजा का वर्णन मिलता है[२३७]। वेदोत्तर-ग्रन्थों में महाभारत का साक्ष्य उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें पुराणों के समान ही नागों का आवास पाताल बताया गया है तथा शेषनाग का विष्णु-रूप वर्णित है[२३८]।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विष्णु, शिव, सूर्य तथा शक्ति के अतिरिक्त अन्य देवताओं के विषय में भी आलोचित पुराणों ने परिवर्तन की प्रवृत्ति प्रस्तुत किया है। वैदिक इन्द्र, अग्नि आदि प्रमुख देवता पौराणिक विष्णु तथा रुद्र-शिव की अपेक्षा निम्नस्तर पर आसीन हैं। पर, यह परिवर्तनात्मक दृष्टिकोण भी वैदिक परम्परा से अप्रभावित नहीं है। इन देवताओं के नाम, स्वरूप, गुण आदि वैदिक परम्परा से आवृत हैं। यदि इस सन्दर्भ में कहीं अन्तर भी दिखाई देता है तो वह न्यून और नगण्य है अथवा उसके अंकुर वैदिक वाङ्मय में वर्तमान हैं। इसी प्रकार देवकल्प गन्धर्व आदि के स्वरूप पर भी वैदिक विचारधारा का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

२३४. विष्णु पु०, ३।१७।२३
२३५. वही, ६।३।२४
२३६. मत्स्य पु०, १०६।२७
२३७. फ़ोगेल, इण्डियन सर्पेण्ट लोर, पृ० ६; मैकडानल, वही, पृ० १५३
२३८. हाप्किंस, वही, पृ० २३-२४

यज्ञ

यज्ञ के प्रति पुराणों की प्रवृत्ति—विष्णु पुराण में यज्ञ को सन्मार्ग की संज्ञा दी गई है[1] तथा इसे विष्णु से उद्भूत माना गया है[2]। प्रसंगान्तर में वर्णित है कि पृथ्वी यज्ञ का फल है और यज्ञ भारत में प्रतिष्ठित है[3]। नृप वेन के आख्यान में निरूपित है कि यज्ञ के अभाव में धर्म क्षीण हो जाता है; क्योंकि समस्त जगत् हविस् का परिणाम है[4]। नक्षत्रों के विषय में वर्णन आता है कि विष्णु का तृतीय पद (प्रस्तुत प्रसंग में ध्रुव का स्थान) तीनों लोकों का आधार है। इसी में नक्षत्रों की प्रतिष्ठा है, नक्षत्रों में मेघ तथा मेघों में वृष्टि सन्निहित है। वृष्टि से ही देवादि का संवर्द्धन होता है। वृष्टि का कारण आज्य (यज्ञीय घृतादि पदार्थ) है, (क्योंकि) इसी से परितुष्ट होकर अग्नि वृष्टि को सम्भव बनाते हैं[5]। एक अन्य स्थल के विवेचन में निरूपित है कि यज्ञ से देवता परितुष्ट होते हैं। देवपरितोष का परिणाम वृष्टि है। वृष्टि से प्राणिमात्र प्रसन्न होते हैं। अतएव यज्ञ कल्याण के कारण हैं[6]। पर और अवर के ज्ञाता व्यक्ति नित्यप्रति यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। यज्ञ का अनुष्ठान मनुष्यों का उपकारक है तथा पाप-क्षय करने

---

१. ततश्चासमंजसचरितानुकारिभिस्सागरैरपध्वस्तयज्ञादिसन्मार्गे...। विष्णु पु०, ४।४।१२
अपध्वस्ता विनाशिता यज्ञादयस्सन्मार्गा यस्मिन्। श्रीधर-भाष्य

२. त्वत्तो यज्ञः सर्वहुतः पृषदाज्यं पशुर्द्विधा । विष्णु पु०,१।१२।५६

३. इज्याफलस्य भूरेषा इज्या चात्र प्रतिष्ठिता। वही, २।७।११

४. देह्यनुज्ञां महाराज मा धर्मो यातु संक्षयम्।
हविषां परिणामोऽयं यदेतदखिलं जगत् । वही, १।१३।२५

५. वही, २।८।१०६-१०९; ततश्चाज्याहुतिद्वारा पोषितास्ते हविर्भुजः वृष्टेः कारणतां यान्ति।१०८

६. यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्यायन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः। वही, १।६।८

में समर्थ है। जिनके चित्त में कालजन्य पाप रहता है, वही यज्ञानुष्ठान नहीं करते[७]। अन्यत्र यज्ञ के क्षतिकारक को नरकगामी की संज्ञा दी गई है[८]। वायु पुराण के अनुसार कलियुग में ब्रह्मा तथा द्वापर में विष्णु के समान, त्रेतायुग में यज्ञ पूजा का विषय है[९]। वर्णनान्तर में इस पुराण ने यज्ञ की उत्पत्ति को शिव से सम्बन्धित किया है[१०] तथा शौचाचार के निरूपण में यज्ञ और वेद को समकोटि में रखा है[११]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार भगवती ने जगत्-जीवनार्थ यज्ञ और उसके विधानों का सृजन किया है। प्रस्तुत संदर्भ में इस पुराण का निर्देश है कि यज्ञ से प्रसन्न होकर देवता अभीष्ट पूरा करते हैं[१२]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि यज्ञ देवताओं के द्वारा त्रेता युग में प्रवर्तित हुआ था[१३]। प्रसंगान्तर में इस पुराण का कथन है कि यज्ञ ऋषियों और देवताओं के द्वारा अनुमोदित है[१४]।

उपर्युक्त स्थलों से यज्ञ की पौराणिक महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इनसे व्यक्त होता है कि देवों को यज्ञ के द्वारा आराधित करने की वैदिक भावना जीवित थी। वैदिक ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर एतत्समर्थक विचार व्यक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ,

---

७. परावरविदः प्राज्ञास्ततो यज्ञान्वितन्वन्ते।
अहन्यहन्यनुष्ठानं यज्ञानां मुनिसतम।
उपकारकरं पुंसां क्रियमाणाघशान्तिदम्।
येषां तु कालसृष्टोऽसौ पापविन्दुर्महामुने।
चेतःसु ववृधे चक्रुस्ते न यज्ञेषु मानसम्। विष्णु पु०, १।६।२७-२६

८. मखहा ग्रामहन्ता च यान्ति वैतरणीं नरः। वही, २।६।२४

९. ब्रह्मा कृतयुगे पूज्यस्त्रेतायां यज्ञ उच्यते।
द्वापरे पूज्यते विष्णुरहम्पूज्यश्चतुर्ष्वपि। वायु पु०, ३२।२१

१०. अत्र यज्ञप्रवृत्तिस्तु जायते हि महेश्वरात्। वही, ३२।१६

११. वेदैस्तुल्याः सर्वयज्ञक्रियास्तु यज्ञे जप्यं ज्ञानिनामाहुरग्र्यं। वही, १६।२१

१२. पुरा भगवती माया जगज्जीवनोन्मुखी।
यज्ञाश्च तद्विधानानि कृत्वा चैनानुवाच ह।
इष्टानि ते प्रदास्यन्ति पुष्टास्तु यज्ञभाविताः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।५३-५५

१३. त्रेतायुगे ह्यविकले कर्मारम्भः प्रसिध्यति।
यज्ञः प्रवर्तितश्चैव तदा ह्येव तु दैवतैः। मत्स्य पु०, १४२।५४-५६

१४. ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवैश्चापि यथाक्रमम्। वही, ११२।१२

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ देवताओं का अन्न घोषित है[१५]। एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि प्रजापति नें यज्ञ का सृजन किया है, जिसमें सर्वस्व का सन्निधान है तथा जो देवताओं के लिये आहार है[१६]। पुराणों के अतिरिक्त अन्य वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी ऐसी भावना की झाँकी मिलती है। उदाहरणार्थ, विष्णुस्मृति में यज्ञ को लक्ष्मी का निवास-स्थान बताया गया है[१७]। मनुस्मृति के अनुसार देवता हव्य पदार्थों का आहार करते हैं[१८]। वायु पुराण में वर्णित शिव द्वारा यज्ञ-प्रवर्तन का संदर्भ महत्त्व-पूर्ण माना जा सकता है। सामान्यतया पौराणिक प्रवृत्ति शिव को यज्ञ से पृथक् करती है। प्रस्तुत सन्दर्भ वायु पुराण का उत्तरकालीन संयोजन ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्माण्ड पुराण में समविषयक स्थल नहीं मिलते। इस दृष्टिकोण से, विवेचित वर्णन का मूल वायुप्रोक्त प्रारम्भिक पुराण में न होना संभावित लगता है।

याज्ञिक अनुष्ठान के उद्देश्य—विष्णु पुराण के अनुसार यज्ञ न करने से प्रवृत्ति-मार्ग में विघ्न पहुँचता है[१९]। अन्यत्र नृप वेन से ऋषिगण कहते हैं कि जिस राष्ट्र में यज्ञों के द्वारा विष्णु की आराधना होती है, वहाँ सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं[२०]। मनु के यज्ञ का उद्देश्य मित्रावरुण को प्रसन्न कर पुत्र पाना बताया गया है[२१]। मुनियों ने निस्सन्तान युवनाश्व के लिये पुत्रार्थ यज्ञ किया था[२२]। पुरूरवा ने उर्वशी-प्राप्ति की अभिलाषा से अनेक प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न किया था[२३]।

---

१५. यज्ञो हि देवानामन्नम्। श० ब्रा०, ५।१।१२

१६. प्रजापतिश्चासृजन्तैतावान्वै सर्वो यज्ञो यज्ञ उ देवानामन्नम्। वही, ८।१।२।१०

१७. यज्ञे वरे स्नातशिरस्थापि। विष्णुस्मृति, ९९।१६

१८. सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः। मनुस्मृति, १।९५

१९. तत्सर्वं......यज्ञव्यासेधकारिणः।
प्रवृत्तिमार्गव्युच्छित्तिकारिणो......। विष्णु पु०, १।६।३०-३१

२०. यज्ञैर्यज्ञेश्वरो येषां राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः।
सर्वेप्सितावाप्तिं ददाति नृप भूभृताम्। वही, १।१३।१९

२१. इष्टिं च मित्रावरुणयोर्मनुः पुत्रकामश्चकार। वही, ४।१।१८

२२. तस्य चापुत्रस्यातिनिर्वेदान्मुनीनामाश्रममंडले।
निवसतो दयालुभिर्मुनिभिरपत्योत्पादनायेष्टिः कृता। वही, ४।२।४९

२३. बहुविधान् यज्ञानिष्ट्वा...उर्वश्या सहावियोगमवाप। वही, ६।६।९३

वायु पुराण में एक स्थल पर यज्ञ को फलवान् बताया गया है[२४]। पुरूरवा से गन्धर्वगण यज्ञ को उत्तम लोक की प्राप्ति का साधन बताते हैं[२५]। मनु के विषय में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि उन्होंने पुत्र पाने की अभिलाषा से यज्ञ किया था[२६]। मत्स्य पुराण के अनुसार नल ने पुत्रार्थ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया था[२७]। प्रसंगान्तर में निरूपित है कि कश्यप ने अदिति को पुत्र पाने के लिए यज्ञ में प्रवृत्त होने का आदेश दिया था[२८]।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पुराणों में यज्ञ के सोद्देश्य होने का प्रतिपादन किया गया है। ऐसी भावना वैदिक काल से ही चली आ रही थी। शतपथ ब्राह्मण से व्यक्त होता है कि देवलोक-प्राप्ति की इच्छा से यज्ञ किया जाता था[२९]। अन्य ग्रन्थों में भी ऐसी प्रवृत्ति स्पष्ट की गई है। मनुस्मृति के अनुसार कामना का मूल संकल्प है, जिससे यज्ञ उद्भूत होता है[३०]।

यज्ञीय उपादान—चिति—विष्णु पुराण-गत वराह-स्तुति के वर्णन में वराह-मुख एवं चिति में एकता स्थापित की गई है[३१]। लक्ष्मी और विष्णु के संयोगात्मक वर्णन में चिति को लक्ष्मी का उपमान माना गया है[३२]। युवनाश्व के यज्ञ में वेदी का उल्लेख हुआ है[३३]। वायु पुराण में भी वराह के मुख की उपमा चिति से दी गई

---

२४. सर्वयज्ञफलश्चैव...तत्समः। वायु पु०, १०।८६

२५. तेनेष्ट्वा सुलोकं नः प्राप्स्यसि त्वं नराधिप। वही, ६१।४४

२६. अकरोत्पुत्रकामः परामिष्टिं प्रजापतिः। वायु पु०, ८५।६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६०।५

२७. अश्वमेधं तु पुत्रार्थमाजहार नरोत्तमः। मत्स्य पु०, ४४।६४

२८. करोत्विष्टिं पुत्रीयाम् । वही, ७।३३

२९. देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति...। शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।६

३०. संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। मनुस्मृति, २।३

३१. पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्रा दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे। विष्णु पु०, १।४।३२

३२. चितिर्लक्ष्मीर्हरिर्यूप इध्मा श्रीर्भगवान्कुशः। वही, १।८।२१

३३. कलशं वेदिमध्ये निवेश्यते ते मुनयः सुषुपुः। वही, ४।२।५०

है[३४]। कैलास के प्रसंग में मणिमय चितियों का वर्णन मिलता है[३५]। वेदी का उल्लेख वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इन्द्र-संपाद्य यज्ञ के विवरण में हुआ है[३६]। कृशानु को अग्नि-सम्राट् शब्द से अभिहित करते हुए दोनों पुराणों में वर्णित है कि इनका निवास उत्तरवेदी पर रहता है[३७]।

चिति अथवा अग्निचिति सोमयाग की वेदी के प्रस्तरों को कहते थे। शतपथ ब्राह्मण में अग्निचिति में सभी यज्ञों का समाहार माना गया है[३८]। सामान्यतः वेदी के पाँच प्रस्तर होते थे। प्रथम चिति अथवा प्रस्तर से सोमयज्ञ तथा द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम से क्रमशः राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध और अग्निसव द्योतित होते थे[३९]। यज्ञीय वेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। शतपथ ब्राह्मण में इसके विस्तार को पृथ्वी के समकक्ष माना गया है[४०]। वेदी के ऊपरी भाग में उत्तरवेदी का निर्माण किया जाता था। इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए शतपथ ब्राह्मण में इसे यज्ञ की नासिका माना गया है तथा यह निरूपित है कि उत्तरवेदी इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसको पूर्वनिर्मित वेदी के उन्नततर भाग में बनाया जाता है[४१]।

यज्ञशाला—इसका विवेचन विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मिलता है। विष्णु पुराण में जह्नु की यज्ञशाला को यज्ञवाट नाम दिया गया है[४२]। वायु और

---

३४. स वेदवाद्युपद्रंष्ट्रा क्रतुवक्षाश्चितीमुखः। वायु पु०, ६।१६

३५. यूपा मणिमयास्तत्र चितयश्च हिरण्मयाः। वही, ४७।२७

३६. देवदेवस्य वेद्यां वै दक्षिणे ततः। वायु पु०, ६५।८२
वेद्यर्द्धे दक्षिणे ततः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१।८३

३७. सम्राडग्निः कृशानुर्यो द्वितीयोत्तरवैदिकः। वायु पु०, २९।१९; ब्रह्माण्ड पु०, २।११।२१

३८. सर्वे हैते यज्ञा योऽयमग्निचितः। शतपथ ब्राह्मण, १०।१।५।१

३९. सौम्योऽध्वरः प्रथमा चितिः...राजसूयो द्वितीया वाजपेयस्तृतीया-श्वमेधश्चतुर्थ्यग्निसवः पंचमी...। वही, १०।१।५।३

४०. यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी। वही, ३।७।२।१

४१. नासिका ह वा एषा यज्ञस्य उत्तरवेदिः। अथ यदेनामुत्तरां वेदेरूपकिरति तस्मादुत्तरवेदिर्नाम। वही, ३।५।१।१२ वेदेः प्रागवयवभूतस्य प्रदेशस्योन्नततरत्वात् उत्तरवेदिः इति नाम सम्पन्नम्। हरिस्वामिन्-भाष्य

४२. तस्यापि जह्नुः... योऽसौ यज्ञवाटमखिलम्। विष्णु पु०, ४।७।४

ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार नैमिषारण्य में यज्ञ सम्पन्न करने वाले ऋषियों की यज्ञशाला को विश्वकर्मा ने सुवर्ण से बनाया था[४३]। एक अन्य स्थल पर अजैकपाद आदि अग्नियों के विषय में यज्ञशाला के मुख-भाग का उल्लेख हुआ है[४४]।

शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि यज्ञशाला का यज्ञीय भूमि पर बनाया जाना आवश्यक था। यह यज्ञीय भूमि की पूर्व और पश्चिमी दिशा को आवृत करता था। इस संदर्भ में ऐसा निर्देश है कि पूर्वी दिशा में देवताओं का निवास है तथा वे पश्चिम की ओर गतिशील होते हुए मनुष्यों के पास आते हैं[४५]।

यूप—विष्णु पुराण में लक्ष्मी और विष्णु के संयोगात्मक वर्णन में विष्णु की उपमा यूप से दी गई है[४६]। वराहस्तुति-निरूपण में इस पुराण ने यूप को वराह-दंष्ट्रा का उपमान माना है[४७]। यूप की ऐसी उपमा वायु पुराण के तद्विषयक वर्णन में भी मिलती है[४८]। अन्यत्र दक्षयज्ञ-वर्णन में भी इस पुराण ने यूपों का उल्लेख किया है[४९]। कैलास के विवरण में वायु और ब्रह्माण्ड पुराण उस स्थान को मणिमय बताते हैं[५०]।

यज्ञीय भूमि का सयूप होना आवश्यक था। इसकी महत्ता तथा व्युत्पत्ति

---

४३. हिरण्मयन्ततश्चक्रे यज्ञवाटं महात्मनाम्।
विश्वकर्मा स्वयं देवो। वायु पु०, २।२७; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।१७

४४. अजैकपादुपस्थेयः स वै शालामुखीयकः। वायु पु०, २९।२४; ब्रह्माण्ड पु०, २।१२।२५

४५. तच्छालां वा विमितं वा प्राचीनवंशं मिन्वन्ति।
प्राची हि देवानां दिक्पुरस्ताद्वै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानुपावृताः...।
श० ब्रा०, ३।१।१।६

४६. चितिर्लक्ष्मीर्हरिर्यूप इध्मा श्रीर्भगवान्कुशः। विष्णु पु०, १।८।२१

४७. पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्रा दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे। वही, १।४।३२

४८. स वेदवाद्युपदंष्ट्रः क्रतुवक्षाश्चितीमुखः। वायु पु०, ६।१६

४९. प्रभंजन्ते परे घोरा यूपानुत्पाटयन्ति च। वही, ३०।१४८

५०. यूपा मणिमयास्तत्र चितयश्च हिरण्मयाः। वायु पु०, ४७।२७; ब्रह्माण्ड पु०, २।१८।२८

पर प्रकाश डालते हुए शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि इसे यूप इसलिए कहा जाता है, क्योंकि देवताओं ने यज्ञ को यूप से 'योपित' किया था[५१]।

पशु—विष्णु पुराण के अनुसार त्रेतायुग में ब्रह्मा ने यज्ञ की उपादेयता के लिए पशुओं को सृष्ट किया था[५२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पशु को यज्ञीय उपादानों में प्रथम स्थान प्राप्त है[५३]। प्रसंगान्तर में निरूपित है कि जब त्रेतायुग में इन्द्र ने यज्ञ प्रवर्तित किया, उस समय मेध्य पशुओं के द्वारा यजन-विधि सम्पन्न की जा रही थी[५४]। वायु पुराण में वराह-वपु के सभी अवयवों की यज्ञीय उपादानों से उपमा देते हुए जानु-प्रदेश का उपमान पशु माना गया है[५५]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार प्राचीनकाल में भगवती ने सभी देवों एवं मनुष्यों का सृजन कर उनकी रक्षा के लिए पशुओं को सृष्ट किया तथा यज्ञ एवं उसके उपादानों को बनाकर मनुष्यों को पशुओं द्वारा यज्ञ करने का आदेश दिया[५६]। वायु पुराण के समान मत्स्य पुराण में भी यज्ञ के विविध उपादानों में पशुओं का प्रथम स्थान है[५७]। इसी प्रकार यह पुराण इन्द्र द्वारा प्रवर्तित यज्ञ के विवरण में मेध्य पशुओं का वर्णन करता है[५८]।

पशुबलि के साथ यह भावना प्रतिष्ठित थी कि यज्ञ में आलब्ध पशुओं को स्वर्ग मिलता है। ऋग्वेद में स्पष्टतः वर्णित है कि ऐसे पशुओं का देवताओं के साथ

---

५१. यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम। श० ब्रा०, १।६।११

५२. सृष्ट्वा पश्वौषधीस्सम्यग्युयोज तदाध्वरे। विष्णु पु०, १।५।५०

५३. पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानाञ्च संयोगो योग (याग) उच्यते। वायु पु०, ५६।४२
पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते। ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।४७

५४. यजन्ते पशुभिर्मेध्यैर्हुत्वा सर्वे समागताः। वायु पु०, ५७।९२; ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।११

५५. प्रायश्चित्तरतो घोरः पशुजानुर्महाकृतिः। वायु पु०, ६।१८

५६. यजध्वं पशुभिर्देवान्विधिनानेन मानवाः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।५५

५७. पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणायां च संयोगो यज्ञ उच्यते। मत्स्य पु०, १४५।४४

५८. आलब्धेषु च मेध्ये तु तथा पशुगणेषु वै। वही, १४३।६

संयोग होता है[५९]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ में हत पशु को अमरत्व की प्राप्ति होती है[६०]। एतत्सम भावना का प्रतिपादन मनुस्मृति में भी हुआ है[६१]।

अग्नि—विष्णु पुराण में वराह के अंगों की उपमा यज्ञीय उपादानों से देते हुए हुताशन को उनकी जिह्वा का उपमान माना गया है[६२]। पुरूरवा के विषय में वर्णन आता है कि गन्धर्वों ने उन्हें अभीष्ट लोक-प्राप्ति के उद्देश्य से अग्नि को तीन भागों में विभक्त कर यज्ञ करने का निर्देश किया था[६३]। विष्णु पुराण के समान वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी यज्ञ के उपमेय वराह की जिह्वा की तुलना अग्नि से हुई है[६४]। वायु पुराण में अन्यत्र वर्णन मिलता है कि पुरूरवा ने अग्नि को तीन भागों में विभक्त कर यज्ञ किया था[६५]। इन्द्र द्वारा प्रवर्तित यज्ञ के विषय में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणो में वर्णित है कि यज्ञ के प्रारम्भ में अग्नि प्रज्वलित हो रही थी[६६]। यह वर्णन मत्स्य पुराण में भी उपलब्ध है[६७]। यज्ञ में निस्सन्देह ही अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मण में सभी यज्ञों की प्रतिष्ठा अग्नि में मानी गई है[६८]।

यज्ञीय पात्र—विष्णु पुराण के एक वर्णन में स्रुक् को यज्ञ का साधन बताया गया है[६९]। वराह-स्तुति में स्रुक् की उपमा वराह-तुण्ड से दी गई

---

५९. न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि...। ऋग्वेद, १।१६२।२१

६०. घ्नन्ति वा एतत्पशुं...तदमृत आयुषि प्रतिष्ठति। श०ब्रा०,३।८।२।२७

६१. ...पशवो...यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्यच्छ्रितीः पुनः। मनुस्मृति, ५।४०

६२. हुताशनजिह्वोऽसि तनूरुहाणि दर्भाः प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव। विष्णु पु०, १।४।३२

६३. त्रिधा कृत्वोर्वशीसलोकतामनोरथमुद्दिश्य सम्यग्यजेथाः। वही, ४।६।७८

६४. अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः। वायु पु०, ६।१६ ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१६

६५. मथित्वाऽग्निं त्रिधा कृत्वा ह्यजत्स नराधिपः। वायु पु०, ९१।४७

६६. हविष्यग्नौ हूयमाने देवानां देवहोतृभिः। वायु पु०, ५७।९५; ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।३१

६७. हूयमाने देवहोत्रे अग्नौ बहुविधं हविः। मत्स्य पु०, १४३।७

६८. अग्नौ हि सर्वान्यज्ञांस्तन्वन्ते...। श० ब्रा० ४।५।१।१३

६९. कर्त्ता क्रियाणां स च इज्यते क्रतुः...।
स्रुगादि यत्साधनमप्यशेषं हरेर्न...॥ विष्णु पु०, २।७।४३

ै। वायु पुराण-गत दक्षयज्ञ-वर्णन में शिवदूतों द्वारा विध्वस्त उपकरणों में यज्ञ-पात्रों का सामान्य उल्लेख हुआ है[७१]। विष्णु पुराण की भाँति वायु पुराण में भी वराह-तुण्ड की उपमा स्रुक् से दी गई है[७२]। ब्रह्माण्ड पुराण ने भी एतद्विषयक वर्णन में वराह-मुख को जुहू का उपमेय माना है[७३]। शतपथ ब्राह्मण के वर्णनों से व्यक्त होता है कि स्रुक्, स्रुवा अथवा जुहू उन पात्रों को कहा जाता था, जिनमें आज्यपदार्थ को रखकर हवन करते थे[७४]।

कुश—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कुश की यज्ञीय उपादेयता व्यक्त है। विष्णु पुराण के एक वर्णन में यज्ञ-कर्म को निष्पन्न करने वाले उप-करणों में कुश की भी गणना हुई है[७५]। वराह-स्तुति में वराह-रोम की उपमा कुशों से दी गई है[७६]। यह उल्लेख वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भा मिलता है[७७]। कुश की यज्ञीय महत्ता वैदिककाल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण में इसे पवित्र एवं यज्ञोपयोगी बताया गया है[७८]।

समिधा—विष्णु पुराण में कुश की भाँति समिधा को भी यज्ञीय उपकरण माना गया है[७९]। इसमें संदेह नहीं कि यज्ञीय उपकरणों में समिधा को महत्त्व-

---

७०. स्रुक्तुण्डसामस्वरधीरनादप्राग्वंकायाखिलसत्रसन्धे। विष्णु पु०, १।४।३४

७१. चूर्णन्ते यज्ञपात्राणि यागस्यायतनानि च। वायु पु०, ३०।१५०

७२. आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान्। वही, ६।१७

७३. दीक्षासमाप्तीष्टिदंष्ट्रः क्रतुदंतो जुहूमुखः। ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१६

७४. अथ यां पंचमीं स्रुवा जुहोति...त्रिः स्रुवेणाज्यविलापन्याऽधिजुह्वां गृह्णाति यत्तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति। श० ब्रा०, ३।१।४।१६-१७

७५. ऋग्यजुःसामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म मतं तव।
परमार्थभूतं...समिदाज्यकुशादिभिः। विष्णु पु०, २।१४।२१-२३

७६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ६२

७७. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ६४

७८. ...हविरभिधारयन्ति दर्भैस्ते हि शुद्धा मेध्या...। श० ब्रा० ७।२।३

७९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७५

पूर्ण स्थान प्राप्त था। समिधा की यज्ञीय उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए शतपथ ब्राह्मण में इसे प्राण की संज्ञा दी गई है[८०]।

आज्य—विष्णु पुराण में लक्ष्मी की उपमा आज्य की आहुति से दी गई है[८१]। विष्णु-स्तुति में अन्यत्र पृषदाज्य (विष्णुचित्तीय व्याख्या के अनुसार दधिमिश्रित आज्य) को यज्ञ के साथ विष्णु से उत्पन्न माना गया है[८२]। प्रसंगान्तर में इस पुराण ने आज्य को यज्ञ के विभिन्न उपकरणों में परिगणित किया है[८३]। वायु पुराण में वराह के नासिका-छिद्र की उपमा आज्य से दी गई है[८४]। आज्य भी एक महत्त्वपूर्ण यज्ञीय उपकरण था, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण ने इसे देवताओं के लिये रुचिकर माना है[८५]।

हविस्—विष्णु पुराण ने इसकी महत्ता को व्यक्त करते हुए हविस् का तादात्म्य श्रीकृष्ण से स्थापित किया है[८६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में यह यज्ञ के विभिन्न उपकरणों में परिगणित मिलता है[८७]। दोनों पुराणों के अनुसार इन्द्र द्वारा प्रवर्तित यज्ञ की अग्नि में हविस् आहूत किया जा रहा था[८८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के उक्त दोनों वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलते हैं[८९]। हविस् देवताओं की आहुति को कहते थे। इसे गार्हपत्य अथवा आहवनीय में जलाया जाता था। इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि देवताओं

---

८०. स वै समिधो यजति।
प्राणा वै समिधः... । श० ब्रा०, १।५।४।१

८१. आज्याहुतिरसौ देवी पुरोडाशो जनार्द्दनः। विष्णु पु०, १।८।२०

८२. त्वत्तो यज्ञः सर्वहुतः पृषदाज्यं। वही, १।१२।५६

८३. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७५

८४. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७२

८५. यदाज्यं तज्जुष्टमेवेतद्देवेभ्यः। श० ब्रा०, १।७।२।१०

८६. सर्वरूपाय तेऽचिंत्य हविर्भूताय ते नमः। विष्णु पु०, ५।१८।४६

८७. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ५३

८८. हविष्यग्नौ हूयमाने ब्राह्मणैश्चाग्निहोत्रिभिः। वायु पु०, ५७।९५;
ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।१३

८९. पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणायां च संयोगो यज्ञ उच्यते। मत्स्य पु०, १४५।४४
हूयमाने देवहोत्रे अग्नौ बहुविधं हविः। वही, १४३।७

ने यज्ञ को सरस बनाने के लिये (हरिस्वामी की टीका के अनुसार) जुहू में परिशिष्ट आज्य को हविस् द्वारा सिंचित किया था[९०]।

पुरोडाश—विष्णु पुराण में पुरोडाश का उल्लेख मिलता है। लक्ष्मी और विष्णु के संयोगात्मक वर्णन में इसे विष्णु का उपमान माना गया है[९१]। अन्यत्र वर्णित है कि रजि-नरेश के पुत्रों द्वारा यज्ञभाग के अपहृत होने पर इन्द्र पुरोडाश-खण्ड के लिए उत्कंठित थे[९२]। पुरोडाश देवतोचित यज्ञीय आहार को कहते थे[९३]। पुरोडाश की उपयोगिता को व्यक्त करते हुए शतपथ ब्राह्मण में इसे यज्ञीय शिर की कोटि में रखा गया है[९४]।

दक्षिणा—विष्णु पुराण में लक्ष्मी और विष्णु के संयोगात्मक वर्णन में लक्ष्मी की उपमा दक्षिणा से दी गई है[९५]। गया तीर्थ में विधिवत दक्षिणा सम्पन्न कर यज्ञानुष्ठान का निर्देश किया गया है[९६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने दक्षिणा को यज्ञीय उपकरणों में परिगणित किया है[९७]। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ में 'सहस्रशत' दक्षिणा प्रदान किया था[९८]। वायु पुराण में वर्णित है कि ब्रह्मा ने गया तीर्थ में यज्ञ की प्रतिष्ठा के लिए विप्रों को दक्षिणा दी थी[९९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान मत्स्य पुराण में भी दक्षिणा को यज्ञीय उपकरणों में परिगणित किया

---

९०. ते देवाऽकामयन्त कथंन्विमं यज्ञं पुनराप्याययेम...यजुह्वाभाज्यं परिशिष्टमासीत्...तेनेव यथापूर्वं हवींष्यभ्यधारयन्...। श० ब्रा०, १।५।४।२४-२५

९१. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ८१

९२. शतक्रतुरुवाच पुरोडाशखण्डं दातुम्। विष्णु पु०, ४।९।१७-१८

९३. कीथ, वही, पृ० १०४७, काणे, वही, पृ० २५४, २७९

९४. शिरो ह वा स्तद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। शतपथ ब्राह्मण, १।२।१।२

९५. दक्षिणा त्वियम्। विष्णु पु०, १।८।२०

९६. यजेताश्वमेधेन विधिवद्दक्षिणावता। वही, ३।४।२०

९७. दक्षिणानाञ्च संयोगो याग उच्यते। वायु पु०, ५९।४२; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।४७

९८. समारेभे राजसूयं सहस्रशतदक्षिणम्। वायु पु०, ९०।२२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।२२

९९. यज्ञस्य प्रतिष्ठार्थं विप्रेभ्यो दक्षिणां ददौ। वायु पु०, १०६।४

गया है[१००]। प्रसंगान्तर में यह पुराण वर्णित करता है कि चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ में दक्षिणा का वितरण किया था[१०१]। यज्ञ में दक्षिणा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। शतपथ ब्राह्मण के संदर्भानुसार दक्षिणा के कारण यज्ञ की प्रशंसा होती है[१०२]।

वैदिक मन्त्रों की उपयोगिता—विष्णु पुराण के अनुसार यज्ञ ऋक्, यजुस् और साम द्वारा निष्पाद्य होता है[१०३]। वराह के विभिन्न अंगों की उपमा यज्ञ से देते हुए वेदों का तादात्म्य वराह-चरणों से स्थापित किया गया है[१०४]। अन्यत्र आख्यात है कि चतुष्पाद वेद से यज्ञ का आविर्भाव हुआ है[१०५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ऋक्, यजुस् और साम की यज्ञीय उपकरणों में गणना हुई है[१०६]। वराह-स्तुति में वराह-ध्वनि की उपमा सामस्वर (केवल वायु में) तथा वराह-स्कन्ध की वेद से (दोनों पुराणों में) दी गई है[१०७]। वर्णनान्तर में गायत्री, त्रिष्टुप्, एवं जगती आदि छन्दों को यज्ञ की योनि बताया गया है[१०८]। इन्द्र द्वारा प्रवर्त्तित यज्ञ के वर्णन में दोनों पुराण सस्वर सामगान का उल्लेख करते हैं[१०९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की भाँति मत्स्य पुराण में भी ऋक्, यजुस् और साम

---

१००. दक्षिणानाञ्च संयोगो यज्ञ उच्यते । मत्स्य पु०, १४५।४४

१०१. त्रैलोक्यं दक्षिणा तेन ऋत्विग्भ्यः प्रतिपादितम् । वही, २३।२२

१०२. दक्षिणाभिर्हि यज्ञ स्तूयते...। शतपथ ब्राह्मण, ६।४।१।११
यज्ञः खलु दक्षिणाभिः प्रशस्यते । हरिस्वामिन्-भाष्य

१०३. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी, ७५

१०४. पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्र ।
दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे । विष्णु पु०, १।४।३२

१०५. आद्यो वेदश्चतुष्पादः कृतः साहस्रसम्मितः ।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् । वही, ३।४।१

१०६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ५३

१०७. आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान् । वायु पु०, ६।१७
वेदस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यातिवेगवान् । वायु पु०, ६।२०;
ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१७

१०८. गायत्री चैव त्रिष्टुप् च जगती चैव योनयः सवनस्य । वायु पु०,
३१।४७; ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।१२

१०९. संप्रगीतेषु सर्वेषु सामगेष्वथ सुस्वरम् । वायु पु०, ५७।९३;
ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।१२

की गणना यज्ञीय उपकरणों के अंतर्गत हुई है[११०] तथा इन्द्र द्वारा प्रवर्त्तित यज्ञ में सस्वर सामगान का उल्लेख मिलता है[१११]। यज्ञ के विषय में वेद को महत्त्वशील मानने की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही चली आ रही थी। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि वेदों के द्वारा यज्ञ को विस्तारित किया जाता है[११२]।

प्रायश्चित्त—वायु पुराण में निरूपित है कि पृथु के यज्ञ में प्रमादवश बृहस्पति के द्रव्यों से इन्द्रद्रव्य-सम्मिश्रण के कारण प्रायश्चित्त का आविर्भाव हुआ है[११३]। नैमिषारण्य में सम्पन्न यज्ञ की प्रशंसा करते हुए वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि इसमें प्रायश्चित्त का सर्वथा अभाव था[११४]। यज्ञ की विधि में त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में इसे आवश्यक माना गया है[११५]।

यज्ञ-पुरोहित और उनकी संख्या—विष्णु पुराण में यज्ञानुष्ठान की व्यवस्था में अध्वर्यु, होता, उद्‌गाता तथा ब्रह्मा का उल्लेख आया है। अध्वर्यु का तादात्म्य यजुस् से, होता का ऋक् से, उद्‌गाता का साम से तथा ब्रह्मा का अथर्व से विहित है[११६]। नृप निमि ने अपने यज्ञ में वसिष्ठ को होता के रूप में चुना था[११७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ऋत्विजों की गणना यज्ञीय उपादानों में हुई है[११८]। चन्द्रमा के राजसूय यज्ञ में उद्‌गाता और ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है[११९]। ब्रह्माण्ड पुराण जमदग्नि के वाजिमेध में अध्वर्यु, उद्‌गाता, होता तथा ब्रह्मा का

---

११०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ५७
१११. संप्रगीतेषु देवेषु सामगेषु च सुस्वरम्। मत्स्य पु०, १४३।८
११२. वेदैर्यज्ञं तन्वते...। शतपथ ब्राह्मण, ५।४।७।५
११३. प्रमादात्तत्र संजज्ञे प्रायश्चित्तं च कर्मसु। वायु पु०, १।२९
११४. प्रायश्चित्तं दुरिष्टं वा न तत्र समजायत। वायु पु०, २।३२; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।३४
११५. ...तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते। श० ब्रा०, ४।५।७।५
११६. आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथा मुनिः।
औद्‌गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः। विष्णु पु०, ३।४।१२
११७. वसिष्ठं च होतारं वरयामास। वही, ४।५।२
११८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ५३
११९. हिरण्यगर्भश्चोद्‌गाता ब्रह्मा ब्रह्मत्वमुपेयिवान्। वायु पु०, ९०।२३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।२३

वर्णन करता है[१२०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की भाँति मत्स्य पुराण ने भी ऋत्विजों को यज्ञीय साधनों के अन्तर्गत माना है[१२१]। एक अन्य प्रसंग में सभी सोलह पुरोहितों का वर्णन मिलता है और इस प्रकार विवेचित है कि यज्ञ करने वाले पुरोहित को ऋत्विज कहते हैं। इनकी उत्पत्ति विष्णु के यज्ञार्थ हुई है। विभिन्न पुरोहित उनके भिन्न-भिन्न अंगों से उद्‌भूत हुए हैं। मुख से ब्रह्मा; बाहुद्वय से उद्‌गाता, सामग, होता तथा अध्वर्यु; पृष्ठ से ब्राह्मणाच्छंसि, प्रस्तोता, मित्रावरुण तथा प्रतिप्रस्तातृ; उदर से प्रतिहर्ता तथा पोता; उरुभाग से अच्छावाक् तथा नेष्टा; हथेलियों से अग्नीध्र; जानु से सुब्रह्मण्य एवं दोनों चरणों से ग्रावस्तुत् तथा उन्नेता उत्पन्न हुए हैं[१२२]। वैदिक ग्रन्थों में भी यज्ञ के पुरोहितों की संख्या सोलह विहित है। शतपथ ब्राह्मण का निर्देश है कि ऋत्विज सोलह की संख्या में ही नियुक्त करना चाहिए[१२३]। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में निम्नांकित षोडश-ऋत्विज का वर्णन मिलता हैं—होता मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थातृ, नेष्टा,

---

१२०. तस्याभूत्काश्यपोऽध्वर्युरुद्‌गाता गौतमो मुनिः ।
विश्वामित्रोऽभवद्धोता ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य मार्कण्डेयो महामुनिः ।
ब्रह्माण्ड पु०, ३।४७।४६

१२१. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ५७

१२२. ये च यज्ञकरा विप्रा ये चर्त्विज इति स्मृता ।
अस्मादेव पुरा भूता...... ।
ब्रह्माणं प्रथमं वक्त्रादुद्‌गातारं च सामगम् ।
होतारमपि चाध्वर्युं बाहूभ्यामसृजत्प्रभुः ।
ब्रह्मणो ब्राह्मणाच्छंसि प्रस्तोतारं च सर्वशः ।
तौ मित्रावरुणौ पृष्ठात्प्रतिप्रस्तारमेव च ।
उदरात्प्रतिहर्तारं पोतारं चैव पार्थिव ।
अच्छावाकमथोरुभ्यां नेष्टारं चैव पार्थिव ।
पाणिभ्यामथ चाग्नीध्रं ।
सुब्रह्मण्यं च जानुतः ।
ग्रावस्तुतं तु पादाभ्यामुन्नेतारं च याजुषम् । मत्स्य पु०,१६७।६-१०

१२३. ...षोडशऽर्त्विजस्तस्तस्मान्न सप्तदशमृत्विजं कुर्वीत...। शतपथ ब्राह्मण, १०।४।१।१६

उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसि, अग्नीध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य[१२४]।

सदस्य—विष्णु पुराण में मरुत्-यज्ञ के विषय में वर्णित है कि इस अवसर पर देवता सदस्य के रूप में वहाँ विद्यमान थे[१२५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार चन्द्रमा के राजसूय यज्ञ में नारायण सदस्य-पद पर आसीन थे[१२६]। मत्स्य पुराण के इस प्रसंग में सनकादि ऋषियों को सदस्य बताया गया है[१२७]। इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि यद्यपि शतपथ ब्राह्मण में सत्रहवें ऋत्विज की व्यवस्था नहीं है,[१२८] तथापि सदस्य का वर्णन अतिरिक्त रूप में कहीं-कहीं मिलता है[१२९]। यहाँ तक कि स्वयं शतपथ ब्राह्मण ने सदस्य को होता के रूप में वर्णित किया है[१३०]।

शामित्र—वायु और ब्रह्माण्ड पुराण शामित्र का भी उल्लेख करते हैं। दोनों पुराणों में वर्णित है कि मुनियों के द्वादशवर्षीय यज्ञ में मृत्यु शामित्र बने थे[१३१]। शामित्र उस व्यक्ति को कहते थे, जो यज्ञीय आहार पकाता था। शतपथ ब्राह्मण में इसी दृष्टि से निर्देशित है कि यदि यज्ञीय आहार पक न सके तो इसका पाप शामित्र को लगता है[१३२]।

---

१२४. होता मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुदध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्यग्नीध्रः पोतोद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य इति। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, २०।१।६

१२५. मरुतः परिवेष्टारस्सदस्याश्च दिवौकसः। विष्णु पु० ४।१।३३

१२६. सदस्यस्तत्र भगवान् हरिर्नारायणः प्रभुः। वायु पु०,९०।२३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।२३

१२७. सदस्याः सनकाद्यास्तु राजसूयविधौ स्मृताः। मत्स्य पु०, २३।२१

१२८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १२३

१२९. काणे, वही, पृ० ९८१

१३०. ...सदस्यानां होत्राणां... । शतपथ ब्राह्मण, ४।२।१।२९

१३१. इलाया यत्र पत्नीत्वं शामित्रं यत्र बुद्धिमान्।
मृत्युश्चक्रे महातेजास्तस्मिन् सत्रे महात्मनां। वायु पु०, २।६; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।७

१३२. तद्यदशृतं भवति...शमितरि तदेनो भवति...। शतपथ ब्राह्मण, ३।८।३।७

चमसाध्वर्यु—मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख मिलता है और ऐसा निरूपित है कि चन्द्रमा के राजसूय यज्ञ में विश्वेदेव चमसाध्वर्यु बने थे[१३३]। यद्यपि शामित्र के समान चमसाध्वर्यु की गणना ऋत्विजों के अन्तर्गत नहीं होती थी,[१३४] तथापि यज्ञ में इनका भी स्थान था। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण सदस्य के साथ चमसाध्वर्यु का भी वर्णन करता है[१३५]।

दीक्षा—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इसका सप्रसंग वर्णन आया है। दोनों ही पुराण यज्ञवराह की एकता दीक्षा से स्थापित करते हैं[१३६]। दीक्षा यजमान के यज्ञीय विनियोग को कहते थे[१३७]। शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि यह कार्य मृगचर्म पर सम्पन्न होता था[१३८]।

अवभृथ—विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में इसका वर्णन मिलता है। विष्णु पुराण के अनुसार मयूरावस्था में वर्तमान काशिराज की कन्या के वर को जनक के अश्वमेध-अवभृथ में परिपूत किया गया था[१३९]। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों के प्रसंगानुसार चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ में अवभृथ सम्पन्न किया था[१४०]। अवभृथ यज्ञीय अभिषेक को कहते थे[१४१]। शतपथ ब्राह्मण से विदित

---

१३३. चमसाध्वर्यवस्तत्र विश्वेदेवा दशैव तु। मत्स्य पु०,२३।२२

१३४. काणे, वही, पृ० ९८१

१३५. ..सदस्यानां होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वम्..। शतपथ ब्राह्मण, ४।१।६।२९

१३६. प्राग्वंशकायो द्युतिमान्नानादीक्षाभिरन्वितः। वायु पु०, ६।२०; ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१७

१३७. काणे, वही, पृ० ११३७

१३८. यज्ञस्य सर्वत्वाय कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते...। श० ब्रा०,१।१।४।३ सोमांगभूता दीक्षापि कृष्णाजिनस्योपरि क्रियते। हरिस्वामिन्-भाष्य

१३९. ...चकार तस्यावभृथे स्नापयामास तं तदा। विष्णु पु०, ३।१८।८५

१४०. प्राप्यावभृथव्यग्रः सर्वदेवर्षिपूजितः। वायु पु०, ९०।२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।२७

१४१. काणे, वही, पृ० १२००

होता है कि यह कार्य मौन होकर किया जाता था। इस अवसर पर सामगान आदि वर्जित था[१४२]।

विशिष्ट यज्ञों का उल्लेख : अश्वमेध—विष्णु पुराण के अनुसार सोमदत्त नामक नरेश ने शतसंख्य अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न किया था[१४३]। सगर का अश्वमेध कपिल मुनि के क्रोध के कारण असफल रहा। इसी प्रसंग में सगर-पुत्रों के दग्ध होने का भी उल्लेख हुआ है। अन्त में मुनि ने अनुनयवश सगर का अश्व लौटाया था। इसके उपरान्त नृप का यज्ञ पूरा हुआ[१४४]। वायु पुराण में दक्ष द्वारा अश्वमेध सम्पन्न किए जाने का वर्णन मिलता है[१४५]। अन्यत्र इस पुराण ने तपश्चर्या-रत व्यास के कटि-प्रान्तर की तुलना अश्वमेध से किया है[१४६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार जनक और कश्यप ने अश्वमेध यज्ञ किया था[१४७]। मत्स्य पुराणानुसार नल तथा जनमेजय ने अश्वमेध सम्पन्न किया था[१४८]। निस्सन्देह ही वैदिक यागों में अश्वमेध को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसकी महत्ता का अनुमान शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण से लगाया जा सकता है, जिसमें इसे यज्ञराज घोषित किया गया है[१४९]। इस प्रवृत्ति का समर्थन वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में पुराणों

---

१४२. तूष्णीमेव......अवभृथं यन्ति......तत्र न साम गीयते। शतपथ ब्राह्मण, २।५।२।४६

१४३. सोमदत्तः कृशाश्वाज्जज्ञे योऽश्वमेधानां शतमाजहार। विष्णु पु०, ४।१।५६

१४४. वही, ४।४।१६–३२ अत्रान्तरे च सगरो हयमेधमारभत। १६

१४५. दक्षो नाम महाभागो प्रजानां पतिरुत्तमः।
हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसाः। वायु पु०, ३०।११०

१४६. अश्वमेधं कटितटे नरमेधमथोदरे। वही, १०४।८४

१४७. अग्निक्षेत्रे कृष्यमाणे अश्वमेधे महात्मनः। वायु पु०, ८९।१७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६४।१७
कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत्पुण्ये वै पुष्करे तदा। वायु पु०, ६७।५३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।५।७

१४८. अश्वमेधं च पुत्रार्थमाजहार नरोत्तमः। मत्स्य पु०, ४४।६४
परीक्षितः सुतोऽसौ वै पौरवो जनमेजयः।
द्विरश्वमेधमाहृत्य महावाजसनेयकः। वही, ५०।६३

१४९. राजा वा एष यज्ञानां यदश्वमेधः। श० ब्रा०, १३।२।२।१

के अतिरिक्त स्मृति-ग्रन्थों से भी होता है। उदाहरणार्थ, विष्णुस्मृति में महापातकियों के शुद्धीकरण का कारण अश्वमेध माना गया है[१५०]।

राजसूय—विष्णु पुराण के अनुसार चन्द्रमा ने समस्त औषधि, द्विजाति तथा नक्षत्र की आधिपत्य-प्राप्ति के उपरान्त राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया था[१५१]। यह वर्णन वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में भी मिलता है[१५२]। राजा के लिए राजसूय यज्ञ सम्पन्न करना आवश्यक था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राजसूय यज्ञ करने के उपरान्त ही राजा कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है[१५३]।

वाजपेय—इसका वर्णन वायु पुराण में दो स्थलों तथा ब्रह्माण्ड पुराण में एक स्थल पर हुआ है। वायु पुराण में इसका सामान्य उल्लेख अश्वमेध के साथ हुआ है[१५४]। कलियुगीन राजाओं के वृत्तांत में दोनों पुराण प्रवीर नामक नरेश द्वारा वाजपेय-आहरण का उल्लेख करते हैं[१५५]। वैदिक भावना के अनुसार वाजपेय यज्ञ का सम्पन्न किया जाना साम्राज्यत्व का द्योतक था। शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि इसे सम्पन्न करने के बाद ही सम्राट् की मान्यता मिलती थी[१५६]।

अग्निष्टोम—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इसका उल्लेख मिलता है। इन पुराणों में विवेचित है कि सभी यज्ञों में अग्निष्टोम ब्रह्मा के प्रथम मुख से निर्मित हुआ था[१५७]। अग्निष्टोम को सोमयज्ञों की प्रकृति माना जाता था[१५८]। इसकी महत्ता

---

१५०. अश्वमेधेन शुद्धेयुर्महापातकिनस्त्विमे विष्णुस्मृति, ३५।६

१५१. स च राजसूयमकरोत् । विष्णु पु०, ४।६।८

१५२. स तत्प्राप्य महद्राज्यं सोमः सोमवतां प्रभुः ।
समारेभे राजसूयं सहस्रशतदक्षिणम् । वायु पु०, ९०।२२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।२२
तथेत्युक्तः स आजह्रे राजसूयं तु विष्णुना । मत्स्य पु०, २३।२०

१५३. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति । श० ब्रा०, ५।१।१।१३

१५४. अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च । वायु पु०, ३०।२९०

१५५. यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः । वायु पु०, ९९।३६६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।१८५

१५६. सम्राड् वाजपेयेन...स यो वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति । शतपथ ब्राह्मण, ५।१।१।१३-१४

१५७. अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात् । वायु पु०, ९।४४; ब्रह्माण्ड पु०, २।८।५०

१५८. काणे, वही, पृ० ११३३

पर प्रकाश डालते हुए शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि अग्निष्टोम से यजमान सभी यज्ञों को स्वायत्त करता है[१५९]।

दर्शपूर्णमास—इसका प्रसंग वायु पुराण में मिलता है, जिसके वर्णनानुसार दर्श और पूर्णमास के दिन यज्ञ करने से ब्रह्मलोक की सनातन प्राप्ति होती है[१६०]। दर्श अमावस्या को कहते थे तथा पूर्णमास मास के अन्तिम दिन को[१६१]। दर्शपूर्णमास यज्ञ की महत्ता प्रतिपादित करते हुए शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि इस यज्ञ से देवताओं ने अमरत्व को प्राप्त किया था[१६२]।

अग्निहोत्र—वायु पुराण में अग्निहोत्र को हविर्यज्ञ माना गया है[१६३]। इसे हविर्यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था[१६४]। शतपथ ब्राह्मण के उक्त वर्णन में अग्निहोत्र को भी दर्शपूर्णमास के समान महत्ता प्रदान की गई है[१६५]।

नरमेध—वायु पुराण में नरमेध का वर्णन भी मिलता है। इसकी तुलना तपःशील व्यास के उदर-भाग से की गई है[१६६]। प्रस्तुत पौराणिक उल्लेख का व्यज्यमान निष्कर्ष यही हो सकता है कि नरमेध की वेदसम्मत महिमा का तिरोभाव

---

१५९. एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञं संवृंक्तेऽन्तरेति सपत्नान्यज्ञात्तस्माद्वा..। श० ब्रा०, ४।२।३।१२
तस्मात्तथैव अग्निष्टोमसद्येन यजमानोऽपि सर्वं यज्ञं स्वायत्तं कुरुते। हरिस्वामिन्-भाष्य

१६०. दर्शञ्च पौर्णमासञ्च ये यजन्ति द्विजातयः।
न तेषां पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात् कदाचन। वायु पु०, २१।६४

१६१. काणे, वही, पृ० १००६

१६२. दर्शपूर्णमासौ...एतैर्यज्ञक्रतुभिर्यजमाना अमृतत्वमानशिरे। शतपथ ब्राह्मण, १०।४।३।४; अन्यत्र 'नामृतत्वमानशिरे' पाठ भी है। इसी पाठ का अनुसरण सायण तथा सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट (भाग ४३; पृ० ३५६) के लेखक ने किया है। पर हरिस्वामी ने 'अमृतत्वमानशिरे' पाठ को ही अनुसृत किया है। प्रसंग की दृष्टि से यही पाठ संगत लगता है।

१६३. अग्निहोत्रं हविर्यज्ञमेतत्प्रायतनन्तथा। वायु पु०, १२।३

१६४. काणे, वही, पृ० ९९८

१६५. ...अग्निहोत्रं...अमृतत्वमानशिरे। श० ब्रा०, १०।४।३।४

१६६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १४६

अभी नहीं हुआ था। इसकी वैदिक महत्ता के विषय में शतपथ ब्राह्मण का कथन उद्धृत किया जा सकता है, जिसके अनुसार पुरुषमेध में सर्वत्व की प्रतिष्ठा है[१६७]।

यज्ञ-विषयक उपर्युक्त विमर्श से यह ज्ञात होता है कि वैदिक कालीन धार्मिक परिकल्पन न्यूनाधिक अंशों में पौराणिक साहित्य में सजीव है। यज्ञ के प्रति जो श्रद्धेय दृष्टि वेदों की है, उसकी प्रतिच्छाया पुराणों में स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होती है। यज्ञ में जिन उपकरणों की अपेक्षा थी, जितने पुरोहित आवश्यक थे अथवा तद्विषयक जितने अन्य उपादान अनिवार्य थे; इनका जो विवरण पुराणों में प्रसंगार्थक अथवा प्रकरणार्थक रूप में समुपलब्ध होता है, वे वैदिक परम्परा-निर्वाह के द्योतक हैं। इसी कोटि के अन्तर्गत वे पूर्व विवेचित पौराणिक उद्धरण भी रखे जा सकते हैं, जिनमें विशिष्ट यज्ञों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। तथापि इतना निर्विवाद है कि पौराणिक साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों का गौरव क्षीण हो रहा था। इसका कारण तीर्थों की महत्ता मानी जा सकती है, जिसका उल्लेख आगामी अध्याय में किया जायगा।

---

१६७. सर्वम्पुरुषमेधः......। शतपथ ब्राह्मण, १३।६।१।११; वेदपरक साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के समन्वयात्मक अनुशीलन के लिये द्रष्टव्य, प्रो० गोवर्द्धन राय शर्मा—कृत दि एक्सकेवेशंस ऐट कौशांबी, पृष्ठांक ८५-२०५

तीर्थ

तीर्थ की महत्ता—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि महर्षि तथा देवताओं ने यज्ञ का विधान अवश्य किया है, पर दरिद्र मनुष्य यज्ञ करने में समर्थ नहीं हैं। यज्ञ में अनेक उपकरण तथा सामग्री की अपेक्षा रहती है। इसे राजा अथवा श्रीसंवृद्ध व्यक्ति ही सम्पन्न कर सकते हैं। इसीलिए ऋषियों ने इस परम रहस्यमय तीर्थ-गमन को पुण्यमय तथा यज्ञ की अपेक्षा विशिष्ट माना है। यह दरिद्र के लिए भी सम्भव है[१]। प्रयाग तीर्थ के विषय में वर्णन आया है कि वहाँ जाने से पग-पग पर अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलता है[२]। इसी सन्दर्भ में विवेचित है कि गंगा-यमुना के संगम पर अभिषेक करने से राजसूय और अश्वमेध-यज्ञ के समान पुण्य की प्राप्ति होती है[३]। शुक्लतीर्थ से जो फल मिलता है; वह तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ अथवा दान के द्वारा भी असम्भव है[४]। ऐसा व्यक्ति, जो कभी यज्ञ न करे, अपवित्र अथवा चोर ही क्यों न हो, वह यदि अविमुक्त क्षेत्र में वास करे तो उसे शिव के आलय में आवास मिलता है[५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार सप्त-गोदावर तथा गोकर्ण नामक तीर्थों में स्नान करने से (ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार दान करने से) अश्वमेध का फल

---

१. ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवैश्चापि यथाक्रमम्।
न हि शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः।
प्राप्यते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थानुगमनं पुण्यं यज्ञेभ्योऽपि विशिष्यते। मत्स्य पु०, ११२।१२-१५

२. प्रविष्टमात्रे तद्भूमावश्वमेधः पदे पदे। वही, १०८।९

३. तत्राभिषेकं यः कुर्यात्संगमे...तुल्यं फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः। वही, १०६।२१

४. तपसा वा ब्रह्मचर्येण यज्ञैर्दानेन वा पुनः। वही, १९२।२३

५. अनाहिताग्निर्नो यष्टा नो शुचिस्तस्करोऽपि वा।
अविमुक्ते वसेद्यस्तु स वसेदीश्वरालयम्। वही, १८४।८

मिलता है[६]। दशाश्वमेध तथा पंचाश्वमेध नामक तीर्थों में निस्सन्देह दस तथा पाँच अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त होता है[७]।

इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि वैदिक ग्रन्थों में तीर्थ-विषयक प्रसंग कम मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर वर्णित है कि यज्ञ करने से इन्द्र वैसे ही मिलते हैं, जैसे तीर्थ में वर्तमान जल पिपासार्त व्यक्ति को आप्यायित करता है[८]। तीर्थ शब्द का अर्थ इस स्थल पर मार्ग है, जैसा कि भाष्यकार सायण[९] तथा अन्य विचारकों[१०] ने स्वीकार किया है। ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जहाँ तीर्थ शब्द का तात्पर्य धार्मिक स्थान है। उदाहरणार्थ, एक छन्द में वर्णन आया है कि यजमान का हविस् वैसे ही देवताओं को प्राप्त होता है, जैसे तीर्थ में विसृष्ट जल[११]। तैत्तिरीय संहिता में यजमान को तीर्थ में स्नान करने का आदेश दिया गया है[१२]। तीर्थ का

---

६. सप्तगोदावरे चैव गोकर्णे च तपोवने।
अश्वमेधफलं तत्र स्नात्वा च लभते नरः। वायु पु०, ७७।१६
सप्तगोदावरे चैव गोकर्णे च तपोवने।
अश्वमेधफलं स्नात्वा तत्र दत्वा भवेत्ततः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१६

७. दशाश्वमेधिके तीर्थे तीर्थे पंचाश्वमेधिके।
यथोद्दिष्टं फलं तेषां क्रतूनां नात्र संशयः। वायु पु०, ७७।४५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।४५-४६

८. यज्ञो हि ष्मेन्द्रं कश्चिदृन्धंजुहुराणश्चिन्मनसा परियन्।
तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको दीर्घो न सिध्रमा कृणोत्यध्वा। ऋग्वेद, १।१७३।११

९. तीर्थे प्रसिद्धे मार्गे...। सायण

१०. काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, चतुर्थ भाग, पृ० ५५४

११. अधायि धीतिरससृग्रमंशास्तीर्थे न दस्मुप यन्त्यूमाः।
अभ्यानश्म सुवितस्य शूषं नवेदसो अमृतानामभूम। ऋग्वेद, १०।३१।३
तत्र दृष्टान्तः। तीर्थे न यथा गंगादितीर्थे तर्पणमुखे विसृष्टा अपामंशा देवसंघमुपैति तद्वत्। सायण

१२. अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवरुन्धे तीर्थे स्नाति। तैत्तिरीय संहिता, ६।१।१।१-२

तात्पर्य यहाँ नदी से है[१३]। तीर्थ की वास्तविक महत्ता का परिचय वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, विष्णुस्मृति का निर्देश है कि महापातकियों की शुद्धि अश्वमेध तथा सभी तीर्थों के अनुसरण से होती है[१४]। पर, जैसा कि काणे महोदय ने निर्दिष्ट किया है, यज्ञ की अपेक्षा तीर्थों को अधिक महत्त्वशील मानने की प्रवृत्ति महाभारत और पुराणों में ही प्राप्त होती है। वनपर्व में तीर्थ को यज्ञ की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण बताते हुए विवेचित है कि यज्ञ में उपकरण-बाहुल्य की आवश्यकता रहती है, जिसका सम्पादन राजा अथवा समृद्धिशाली व्यक्ति के द्वारा ही सम्भव है। साधारण व्यक्ति इस कार्य को नहीं सम्पन्न कर सकते। अतएव ऋषियों ने परम रहस्य वाले तीर्थ-गमन को यज्ञ की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है[१५]। जैसा कि पूर्व विवेचित हो चुका है कि यह सन्दर्भ शब्द-साम्य और तात्पर्य-साम्य के साथ मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है[१६]।

तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य—विष्णु पुराण में वर्णित है कि द्वारका का दर्शन करने से सभी पापों का नाश हो जाता है[१७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार तीर्थों का अनुसरण करने वाला पापी मनुष्य भी शुद्ध हो जाता है, फिर

---

१३. काणे, वही, पृ० ५५४

१४. अश्वमेधेन शुद्धेयुर्महापातकिनस्त्विमे ।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथानुसरणेन च। विष्णुस्मृति, ३५।६

१५. ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ।
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ।
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ।
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ।
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते। वनपर्व, ८२।१३-१७;
काणे, वही पृ० ५५४

१६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १

१७. तदतीव महापुण्यं सर्वपातकनाशनम्। विष्णु पु०, ५।३८।११

शुभकर्म-कर्त्ता का कहना ही क्या है[१८]। वायु पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि ब्रह्महत्या के भागी ऋषियों को पाप-विमुक्ति के लिए ब्रह्मा ने पवनपुर तीर्थ की यात्रा करने का आदेश दिया था[१९]। प्रयाग-तीर्थ के विषय में मत्स्य पुराण का निर्देश है कि कम्बल और अश्वतर के निवासस्थ जल के पान से सभी पापों की निवृत्ति होती है[२०]। गन्धर्वों के साथ समस्त देवगण, सिद्ध तथा महर्षि पापकर्म के निवारणार्थ प्रयाग-तीर्थ की रक्षा करते हैं[२१]। शिव तथा अन्य देवताओं से रक्षित वटवृक्ष समस्त पापों का अपहर्त्ता माना गया है[२२]। प्रयाग के स्मरण, नाम-संकीर्त्तन अथवा मृत्तिका के स्पर्श-मात्र से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है[२३]। सहस्र योजन से ही प्रयागस्थ गंगा के स्मरण-मात्र से पापी मनुष्य भी परम गति को प्राप्त करता है[२४]।

स्वर्ग तथा मोक्ष-लाभ—कनकनन्दी नामक तीर्थ के विषय में वायु पुराण के स्थलों में वर्णित है कि यहाँ स्नान करने से स्वेच्छाचारी विहंगम भी स्वर्ग

---

१८. तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धानो जितेन्द्रियः।
कृतपापश्च शुद्ध्येत किं पुनः शुभकर्मकृत्। वायु पु०, ७७।१२५
तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धानो समाहितः।
कृतपापश्च शुद्ध्येत किं पुनः शुभकर्मकृत्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१३३-१३४

१९. तान् ज्ञात्वा चेतसा ब्रह्मा प्रेषितः पवने पुरे।
तत्र गच्छत यूयं वः सद्यः पापं प्रणश्यति। वायु पु०, ६०।६८

२०. कंबलाश्वतरौ नागौ विपुले यमुनातटे।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते। मत्स्य पु०, १०६।२७

२१. ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
रक्षन्ति मण्डलं नित्यं पापकर्मनिवारणात्। वही, १११।१०

२२. तं वटं रक्षति सदा शूलपाणिर्महेश्वरः।
स्थानं रक्षन्ति वै देवा सर्वपापहरं शुभम्। वही, १०४।१०

२३. प्रयागं स्मरमाणस्य सर्वमायाति संक्षयम्।
दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्त्तनादपि।
मृत्तिकालंभनाद्वाऽपि नरः पापात्प्रमुच्यते। वही, १०४।११-१२

२४. योजनानां सहस्रेषु गंगायाः स्मरणान्नरः।
अपि दुष्कृतकर्मापि लभते परमां गतिम्। वही, १०४।१४

प्राप्त करते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार इस तीर्थ के सेवन-मात्र से मनुष्य सशरीर स्वर्ग जाता है[२५]। गोकर्णक्षेत्र के विवरण में इस पुराण का कथन है कि यहाँ संशयात्मा एवं तपःशील ऋषियों को पुनरावृत्ति-वर्जित निर्वाण की प्राप्ति हुई थी[२६]। मत्स्य पुराण में वर्णन आता है कि अविमुक्तक्षेत्र के सेवन से शंकर का सामीप्य मिलता है[२७]। इस क्षेत्र में कैवल्य की प्राप्ति होती है, जिसे देवताओं के लिए भी दुष्कर माना गया है[२८]।

उक्त उद्धरणों से तीर्थों की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। अन्य ग्रन्थों के समविषयक स्थल भी इनका समर्थन करते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुस्मृति तीर्थ को पापियों के शुद्धीकरण का कारण घोषित करती है[२९]। अन्यत्र इस स्मृति में तीर्थपूत ब्राह्मण की प्रशंसा करते हुए उसे पंक्तिपावन कहा गया है[३०]। महाभारत में वर्णित है कि तीर्थस्नान के कारण जन्म-बन्धन से मुक्ति मिलती है[३१]।

तीर्थाधिकारी—अविमुक्त क्षेत्र के विषय में मत्स्य पुराण वर्णित करता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर और म्लेच्छ आदि भी यहाँ प्राण-त्याग कर शिवपुर में आनन्द का उपभोग करते हैं[३२]। इस क्षेत्र में ब्राह्मण आदित्य की उपासना से अमरत्व की प्राप्ति कर चुके हैं तथा क्षत्रिय आदि तीनों वर्णों को शिव-भक्ति के

---

२५. तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति कामचाराः विहंगमाः। वायु पु०, ७७।१०६
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति स्वशरीरेण मानवाः। ब्रह्माण्ड पु०, १।१३।११४

२६. यत्र सर्वे तपस्तप्त्वा मुनयः संशितव्रताः निर्वाणं प्राप्ताः पुनरावृत्ति-वर्जितम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।५६।१०

२७. सर्वतीर्थाभिषिक्तश्च स प्रपद्यते मामिह। मत्स्य पु०, १८३।१८

२८. कैवल्यं परमं यान्ति देवानामपि दुर्लभम्। वही, १८०।५९

२९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १२४

३०. अथ पंक्तिपावनाः ...तीर्थपूतः। विष्णुस्मृति, ८३।१-९

३१. न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः। वनपर्व, ८२।३१

३२. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वर्णसंकराः।
कृमिम्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णाः पापयोनयः।
शिवे मम पुरे देवि जायन्ते तत्र मानवाः। मत्स्य पु०,१८१।१९-२१

कारण परम गति मिली है[३३]। विभिन्न जातियों में उत्पन्न वर्णसंकर एवं चाण्डाल आदि के विषय में भी यही वर्णन मिलता है[३४]।

स्त्री का अधिकार—प्रयाग तीर्थ के प्रसंग में मत्स्य पुराण ने पति के साथ स्त्री को तीर्थ-स्नान का अधिकार निर्देशित किया है[३५]। अविमुक्त क्षेत्र के विषय में यह स्पष्टतः आख्यात है कि यहाँ शिवोपासना करती हुई स्त्रियाँ परम गति प्राप्त करती हैं[३६]। मत्स्य पुराण के इन स्थलों का समर्थन महाभारत से भी किया जा सकता है। ऐसा कहा गया है कि तीर्थ में स्नान करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं[३७]। स्त्रियों के विषय में विवेचित है कि पुष्कर में स्नान-मात्र से उनके भी आजन्म-कृत पाप नष्ट हो जाते हैं[३८]।

तीर्थों में विहित कर्त्तव्य : सदाचार-पालन—वायु पुराण में गया के विषय में निर्देशित है कि तीर्थ का अभीप्सित फल तभी मिलता है, जब कि चित्त अचंचल रहता है, इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, मन एवं शरीर पवित्र रहता है तथा अहंकार आदि दूर रहते हैं[३९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि तीर्थों में धैर्य एवं श्रद्धा के साथ इन्द्रियों को वश में रखने से शुद्धि मिलती है[४०]। पापी,

---

३३. आदित्योपासनां कृत्वा विप्राश्चामरतां गताः।
अन्येऽपि ये त्रयो वर्णा भवभक्त्या समाहिताः।
अविमुक्ते तनुं त्यक्त्वा गच्छन्ति परमां गतिम्। मत्स्य पु०, १८४।३२

३४. नानावर्णा विवर्णाश्च चाण्डाला ये जुगुप्सिताः।
किल्विषैः पूर्णदेहाश्च प्रकृष्टैः पातकैस्तथा। वही, १८४।५७-५८

३५. यस्य पुत्रा स्नुषा भार्या पापाय स्नापयेत्तथा। वही, १०६।६

३६. स्त्रियः पतिव्रता याश्च भवभक्ताः समाहिताः।
अविमुक्ते विमुक्तास्ता यास्यन्ति परमां गतिम्। वही, १८४।३५

३७. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः वा राजसत्तम।
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे......। वनपर्व, ८२।३०-३१

३८. जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रिया...पुष्करे स्नातमात्रस्य प्रणश्यति। वही, ८२।३३-३४

३९. अहंकारविमुक्तो यः स तीर्थफलमश्नुते।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चापि सुसंयतम्। वायु पु०, ११०।४-५

४०. तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। वायु पु०, ७७।१२५
तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानो समाहितः। ब्रह्माण्ड पु०,३।१३।१३३

संशयात्मा, परलोक में अनास्था रखने वाले, ईश्वर की स्थिति में सन्देह करने वाले तथा तार्किक; इन पाँच प्रकार के लोगों को तीर्थों का फल नहीं मिलता[४१]। जिनके हृदय में पाप समाविष्ट रहता है, उन्हें पवित्र शालग्राम तीर्थ नहीं दिखाई देता[४२]। व्यास तीर्थ में वर्तमान वेदी को पापी लोग नहीं देख पाते[४३]। विन्ध्यगिरि की धारा को केवल साधुजन ही देखते हैं[४४]। इसी प्रकार स्वर्गमार्गप्रद में वर्तमान नन्दिकेश्वर की मूर्त्ति दुराचारी मनुष्यों के लिए अदृश्य मानी गई है[४५]। प्रयाग के महिमा-निरूपण में मत्स्य पुराण का कथन है कि जो तत्त्वज्ञानी मनुष्य गंगा-यमुना के संगम में सत्यनिष्ठ होकर, अहिंसाव्रती होकर, क्रोध को विजित कर तथा गाय और ब्राह्मण के हितार्थ आचरण करते हुए स्नान संपन्न करता है, उसके पाप क्षीण हो जाते हैं[४६]। प्रयाग में वर्त्तमान जिस वटवृक्ष की रक्षा स्वयं शूलपाणि महेश्वर करते हैं, वहाँ अधर्मी मनुष्य नहीं जा सकते[४७]। प्रयाग की यात्रा में लोभ-मोह को दूरस्थ करने का आदेश दिया गया है[४८]। ऐसा निर्देश है कि जिनमें श्रद्धा का अभाव है तथा जिनका चित्त पापासक्त है, वे देवता-अभिरक्षित प्रयाग को नहीं प्राप्त कर सकते[४९]। प्रयाग तीर्थ में स्नानार्थी को मन, वचन एवं कर्म से धर्म पालन

---

४१. अश्रद्दधानाः पाप्मानो नास्तिकाः स्थितसंशयाः ।
हेतुद्रष्टा च पंचैते न तीर्थफलमश्नुते । वायु पु०, ७७।१२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१३५-१३६

४२. दृष्ट्या न दृश्यते तत्र प्रत्यक्षमकृतात्मनाम् । वायु पु०, ७७।८९
दुष्कृतं दृश्यते तत्र प्रत्यक्षमकृतात्मनाम् । ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।८९

४३. सिद्धैस्तु सेवितः नित्यं दृश्यते नाकृतात्मभिः । वायु पु०, ७७।७९
सिद्धैस्तु सेविता नित्यं दृश्यते तु कृतात्मभिः । ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।८१

४४. धारां पश्यन्ति साधवः । वायु पु०, ७७।३४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।३५

४५. नान्दीश्वरस्य या मूर्त्तिर्दुराचारैर्न दृश्यते । वायु पु०, ७७।६३
नान्दीश्वरस्य सा मूर्त्तिर्निराचारैर्न दृश्यते । ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।६४

४६. सत्यवादी जितक्रोधो ह्यहिंसायां व्यवस्थितः ।
धर्मानुसारी तत्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रतः । मत्स्य पु०, १०४।१६

४७. अधर्मेणावृतो लोको नैव गच्छति तत्पदम् । वही, १०४।१

४८. ऐश्वर्यलोभमोहाद्वा गच्छेद्यानेन यो नरः । वही, १०६।७

४९. अश्रद्दधानाः पुरुषाः पापोपहतचेतसः । वही, १०८।११

का आदेश विहित है[५०]। प्रयाग के उपतीर्थों के विषय में वर्णन आया है कि इन स्थानों में ब्रह्मचर्य-व्रत द्वारा क्रोधादि को वश में करना चाहिए[५१]। संध्यावट के समीप ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर इन्द्रियों को संयत रखने का विधान मिलता है[५२]।

तपस्या—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि तीर्थों में जप, हवन और तपस्या से अनन्त फल की प्राप्ति होती है[५३]। उमातुंग, भृगुतुंग, ब्रह्मतुंग, महालय, काद्रवती, शांडिलीगुफा और वामनगुफा आदि तीर्थों में जप, हवन और ध्यान आदि अक्षय फल के विधायक होते हैं[५४]। अमरकण्टक में अंगिरा ने भीषण तपस्या की थी[५५]। वायु पुराण के अनुसार मरीचि ने गया में ब्रह्मा के आदेश से शिला पर आसीन होकर तपस्या की थी[५६]। भृगुतीर्थ के विषय में मत्स्य पुराण का कथन है कि यहाँ पर संपन्न तपस्या कभी क्षीण नहीं होती[५७]। अविमुक्त क्षेत्र में तपस्या बिना संशय के अक्षीण बताई गयी है[५८]। यम ने गोकर्ण तीर्थ में राग-विहीन होकर भीषण तपश्चर्या की थी[५९]।

श्राद्ध—वायु पुराण के अनुसार गया में आचरित श्राद्ध मोक्षदायक होता है[६०]।

---

५०. कर्मणा मनसा वाचा धर्मसत्यप्रतिष्ठितः। मत्स्य पु०, १०५।१३

५१. ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं यदि तिष्ठति। वही, १०६।३१

५२. अथ संध्यावटे रम्ये ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः। वही, १०७।४३

५३. श्राद्धश्चानन्त्यमेतेषु जप्यं होमतपांसि च। वायु पु०, ७७।५३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।५५

५४. जपो होमस्तथा ध्यानं यत्किंचित्सुकृतं भवेत्। वायु पु०, ७७।८३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।९३

५५. तपः सुदुश्चरं तेपे भगवानंगिराः पुरा। वायु पु०, ७७।५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।५

५६. शिलास्थितस्तपस्तेपे सर्वेषां दुष्करञ्च यत्। वायु पु०, ११२।३३

५७. न क्षरेत्तु तपस्तप्तं भृगुतीर्थे युधिष्ठिर। मत्स्य पु०, १९३।५६

५८. सर्वमक्षयमेतस्मिन्नविमुक्ते न संशयः। वही, १८४।६९-७०

५९. गोकर्णतीर्थे वैराग्यात्फलपत्रानिलाशनः। वही, ११।१८

६०. ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोगृहे मरणं तथा।
वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा।
ब्रह्मज्ञानेन किं कार्यं गोगृहमरणेन किं।
वासेन किं कुरुक्षेत्रे यदि पुत्रो गयां व्रजेत्। वायु पु०, १०५।१४-१५

ऐसा निर्देशित है कि नरक से त्रस्त होकर पितृगण कहते हैं कि जो पुत्र श्राद्धार्थ गया की यात्रा करता है, वह उन्हें संसार-सागर से पार कराता है[६१]। कीकट आदि देशों में मृत्यु प्राप्त करने वाले पितरों के उद्धारार्थ बुद्धिमान् मनुष्य को गया-श्राद्ध करना चाहिए[६२]। गया में वर्तमान मतंगपद का श्राद्धकर्त्ता अपने समस्त पितरों का उद्धार करता है[६३]। प्रेतपर्वत पर एकाग्र मन होकर सपिण्डों के लिए श्राद्ध करना चाहिए[६४]। उत्तरमानस में स्नान-तर्पण के उपरान्त श्राद्ध करने का आदेश विहित है[६५]। इसी प्रकार का श्राद्ध-विधान मतंग-वापी के विषय में भी निरूपित है[६६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार अमरकण्टक पर किया हुआ श्राद्ध पितरों को संतर्पण प्रदान करता है[६७]। प्रसंगान्तर में दोनों पुराणों का कथन है कि कालसर्पि नामक महान् तीर्थ में अक्षय श्राद्ध के इच्छुक मनुष्यों को नित्य प्रति श्राद्ध करना चाहिए[६८]। शालग्राम में जो श्राद्ध संपन्न होता है, उसमें अक्षीणता रहती है[६९]। कालंजर, दशार्ण, नैमिष, कुरुजांगल तथा वाराणसी में मनुष्य को सक्रिय होकर

---

६१. कांक्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकभयाद्भीरवः ।
गयां यास्यति यः पुत्रः स नस्त्राता भविष्यति । वायु पु०, १०५।८-९

६२. कीकटादिमृतानांच पितृणां तारणाय च । वही, १०५।२०

६३. मतंगस्य पदे श्राद्धी सर्वांस्तारयते पितॄन् । वही, १०८।२७

६४. कुर्याच्छ्राद्धं सपिण्डानां प्रयतः प्रेतपर्वते । वही, ११०।६

६५. उत्तरे मानसे स्नानं करोम्यात्मविशुद्धये ।
तर्पणं देवादींस्तर्पयित्वाथ श्राद्धं कुर्यात् सपिण्डकम् । वही, १११।२-३

६६. मतंगवाप्यां यः स्नात्वा तर्पणं श्राद्धमाचरेत् । वही, १११।३०

६७. धन्यास्ते पुरुषा लोके ये प्राप्यामरकंटकम् ।
पितृन्संतर्पयिष्यन्ति श्राद्धे पितृपरायणाः । वायु पु०,७७।१५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१५

६८. काश्यपस्य महातीर्थं कालसर्पिरिति श्रुतम् ।
तत्र श्राद्धानि देयानि नित्यमक्षयमिच्छता । वायु पु०, ७७।८७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।९८

६९. अक्षयं तु भवेच्छ्राद्धं शालग्रामे समन्ततः । वायु पु०, ७७।८८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।८९

श्राद्ध करना चाहिए[७०]। गंगा-विशिष्ट धर्मपृष्ठ, ब्रह्मसर, गया एवं गृध्रकूट आदि तीर्थों का श्राद्ध फलवान् घोषित हुआ है[७१]। मत्स्य पुराण में ब्रह्मेश्वर नामक तीर्थ के विषय में वर्णित है कि यहाँ पूर्णिमा तथा अमावस्या को सविध श्राद्ध संपन्न करना चाहिए[७२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के समान विष्णु पुराण में भी वर्णन आया है कि पितृगण अपने वंशधरों से गया में पिण्डदान की आशा लगाए रहते हैं[७३]। तीर्थों की श्राद्धीय उपयोगिता का समर्थन अन्य ग्रन्थों से भी होता है। विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार पितृगण इसके लिए आशावान् रहते हैं कि उनके पुत्र गया में श्राद्ध संपन्न करें[७४] तथा विष्णुस्मृति में वर्णित है कि पुष्कर के श्राद्ध का क्षय कभी नहीं होता है[७५]।

दान—वायु पुराण का निर्देश है कि गया में वर्तमान वैतरणी में स्नान कर गोदानी व्यक्ति अपने इक्कीस कुलों का उद्धार करता है[७६]। गया में पुत्रों के द्वारा अन्नदान पितरों की उत्कृष्ट कामना बताई गई है[७७]। ऐसा निरूपित है कि नीलवर्णी वृषभ का उत्सर्ग करने से मनुष्य के विगत इक्कीस कुलों का उद्धार होता

---

७०. कालंजरे दशार्णायां नैमिषे कुरुजांगले।
वाराणस्यां नगर्यां तु देयं श्राद्धं नित्यतः। वायु पु०, ७७।९३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१००-१०१

७१. गंगायां धर्मपृष्ठे च सरसि ब्रह्मणस्तथा।
गयायां गृध्रकूटे च श्राद्धं दत्तं महाफलम्। वायु पु०, ७७।९६-९७; ब्रह्माण्ड पु० ३।१३।१०४

७२. ततो गच्छेत्तु राजेन्द्र ब्रह्मतीर्थमनुत्तमम्।
अमोहकमिति ख्यातं पितृंश्चैव तर्पयेत्।
पौर्णमास्याममयां तु श्राद्धं कुर्याद्यथाविधि। मत्स्य पु०, १९१।१०४-१०५

७३. अपि नस्ते भविष्यन्ति कुले सन्मार्गशीलिनः।
गयामुपेत्य ये पिण्डान्दास्यन्त्यस्माकमादरात्। विष्णु पु०, ३।१६।१८

७४. अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः।
गयाशीर्षे...श्राद्धं यो नः कुर्यात्। विष्णु धर्मसूत्र, ८५।६६

७५. अथ पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धम्। विष्णुस्मृति, ८५।१

७६. स्नातो गोदो वैतरण्यां त्रिःसप्तकुलमुद्धरेत्। वायु पु०, ११२।२६

७७. गयां यास्यति यः पुत्रः स नस्त्राता भविष्यति।
गयां गत्वान्नदाता यः पुत्रस्तेन पुत्रिणः। वही, १०५।९-१०

है[७८]। गया में नील वृषभ का उत्सर्ग विष्णु पुराण में भी विहित है[७९]। मत्स्य पुराण के अनुसार गंगा-यमुना के संगम पर गाय, सुवर्ण, मणि तथा मुक्ता का दान करने से तीर्थवास सफल हो जाता है[८०]। प्रयाग में श्रोत्रिय, शान्त, धर्मरत तथा वेदों में पारंगत ब्राह्मण को पाटल वर्ण की कपिला गाय प्रदत्त करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है[८१]। प्रयाग में अपने वैभव के अनुसार दान निर्देशित है। ऐसा अनुष्ठान तीर्थफल में निस्सन्देह वृद्धि का कारण माना गया है[८२]। शुक्लतीर्थ में नीलवर्णी वृषभ का उत्सर्ग करने से शिवलोक में आवास मिलता है[८३]। तीर्थों में श्राद्ध के समान दान का उल्लेख भी अन्य ग्रन्थों के द्वारा समर्थित किया जा सकता है। प्रयाग के विषय में महाभारत भी वर्णित करता है कि यहाँ का स्वल्प दान भी महान् होता है[८४]। विष्णुस्मृति के अनुसार पितृगण की कामना रहती है कि उनके पुत्र गया में नीलवर्णी वृषभ का उत्सर्ग करें[८५]।

यज्ञ—वायु पुराण के अनुसार गया में वर्तमान भस्मकूट तीर्थ में वसिष्ठ ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया था[८६]। दक्ष ने गंगाद्वार में यज्ञ किया था[८७]। वायु और

---

७८. गयायांच वृषोत्सर्गात्त्रिःसप्तकुलमुद्धरेत्। वायु पु०, ११२।७०

७९. नीलं वा वृषभमुत्सृजेत् । विष्णु पु०, ३।१६।२०

८०. गंगायमुनयोर्मध्ये यस्तु गां संप्रयच्छति।
सुवर्णमणिमुक्ताश्च यदि वान्यत्परिग्रहम्।
सफलं तस्य तत्तीर्थम् यथावत्पुण्यमाप्नुयात्। मत्स्य पु०, १०५।१३-१४

८१. कपिलां पाटलवर्णां यस्तु धेनुं प्रयच्छति।
प्रयागे श्रोत्रियं...शान्तं धर्मज्ञं वेदपारगम्। वही, १०५।१६-१७

८२. तत्र दानं प्रकर्त्तव्यं यथाविभवसम्भवम्।
तेन तीर्थफलं चैव वर्धते नात्र संशयः। वही, १०६।१०

८३. अथवा नीलवर्णाभं वृषभं यः समुत्सृजेत्।
...नरो हरपुरे वसेत् । वही, १९१।६६-६७

८४. तत्र दत्तं स्वल्पमपि महद् भवति भारत। वनपर्व, ८५।८२

८५. नीलं वा वृषमुत्सृजेत् । विष्णुस्मृति, ८५।६७

८६. भस्मकूटे...इष्टिं चक्रेऽश्वमेधाख्यं वसिष्ठो मुनिसत्तमः। वायु पु०, ११२।६५-६६

८७. पुरा हिमवतः पृष्ठे दक्षो वै यज्ञमारभत्।
गंगाद्वारे शुभे देशे ऋषिसिद्धनिषेविते। वही, ३०।९४

ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आया है कि कश्यप का अश्वमेध यज्ञ पुष्कर में सम्पन्न हुआ था[८८]। विष्णु पुराण के अनुसार गया में दक्षिणा-सहित विधिवत अश्वमेध यज्ञ करने से पितरों को प्रसन्नता होती है[८९]। मत्स्य पुराण के वर्णनानुसार अविमुक्त क्षेत्र में आचरित यज्ञ कभी नष्ट नहीं होता[९०]। जामदग्न्य तीर्थ में इन्द्र ने अनेक यज्ञों को सम्पन्न कर देवों का स्वामित्व प्राप्त किया था[९१]। अधिसीमकृष्ण के शासन में ब्राह्मणों ने तीन वर्षों तक पुष्कर में यज्ञ किया था[९२]। तीर्थों में यज्ञ के प्रचलन को महाभारत और विष्णुस्मृति के वर्णन भी अनुमोदित करते हैं। दोनों ग्रन्थों में पुत्रों द्वारा गया में अश्वमेध यज्ञ का संपन्न करना पितरों की कामना मानी गई है[९३]।

आत्महत्या—मत्स्य पुराण के अनुसार प्रयाग में वर्तमान वटवृक्ष के मूल में, जो प्राणत्याग करता है, उसे रुद्रलोक की प्राप्ति होती है[९४]। जो मनुष्य, इस तीर्थ में अधःशिरा तथा ऊर्ध्व-पाद की मुद्रा में अग्निपान करता है, वह एक लाख वर्ष तक स्वर्गलोक में पूजित होता है[९५]। जो व्यक्ति विहग-उपभोगार्थ स्वशरीर का कर्त्तन कराता है, वह शत-सहस्र वर्ष चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित होता है[९६]। वाराणसी में सविध अग्नि-प्रवेश करने वाले व्यक्ति निस्संदिग्ध रूप में शिवमुख-प्रवेश की सत्क्रिया

---

८८. कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्यो वै पुष्करे पुरा। वायु पु०, ६७।५३
कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्यो वै पुष्करे तदा। ब्रह्माण्ड पु०, ३।५।७

८९. यजेत वाश्वमेधेन विधिवद्दक्षिणावता। विष्णु पु०, ३।१६।२०

९०. जप्तं दत्तं हुतं...सर्वं भवति चाक्षयम्। मत्स्य पु०, १८१।१७

९१. यत्रेष्ट्वा बहुभिर्यज्ञैरिन्द्रो देवाधिपोऽभवत्। वही, १९४।३५

९२. दुरापं दीर्घसत्रं वै त्रीणि वर्षाणि पुष्करे। वही, ५०।६७

९३. यजेत वाश्वमेधेन......... । वनपर्व, ८७।११; विष्णुस्मृति, ८५।६७

९४. वटमूलं समासाद्य यस्तु प्राणान्विमुंचति।
सर्वाल्लोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति। मत्स्य पु०, १०६।११

९५. अधःशिरास्तु यो ज्वालामूर्ध्वपादः पिबेन्नरः।
शतवर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते। वही, १०७।१५

९६. यः स्वदेहं कर्तित्वा शकुनिभ्यः प्रयच्छति।
शतं वर्षसहस्राणां सोमलोके महीयते। वही, १०७।१७-१८

संपन्न करते हैं[९७]। एतत्समर्थक निर्देश महाभारत में भी स्पष्ट किए गए हैं। वनपर्व के अनुसार वेद-सम्मत न होने पर भी प्रयाग-मरण सम्बन्धी संकल्प से विचलित नहीं होना चाहिए[९८]।

मुण्डन एवं कन्यादान—वायु पुराण के अनुसार गया तीर्थ के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण एवं उत्तर दिशा में मुण्डन कराना चाहिए[९९]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि जो मनुष्य गंगा-यमुना के संगम पर आर्ष विवाह-विधि के अनुसार कन्यादान करता है, वह नरक-यातना से अपनी रक्षा करता है[१००]। विष्णु पुराण के अनुसार गया में गौरी कन्या का विवाह पितरों की प्रसन्नता का कारण होता है[१०१]।

यात्रा-विधि—वायु पुराण के अनुसार गया-यात्रा के अवसर पर कर्पटी का वेश धारण कर पहले स्वग्राम की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। तदुपरान्त ग्रामान्तर में श्राद्धावशिष्ट अन्न का भोजन करना चाहिए। इसके पश्चात् दान न लेते हुए प्रतिदिन यात्रा करनी चाहिए[१०२]। मत्स्य पुराण ने प्रयाग तीर्थ की यात्रा में वृषभ-वाहन का प्रयोग निषिद्ध किया है[१०३]। तीर्थों में मुण्डनादि का प्रचलन पद्म पुराण

---

९७. अग्निप्रवेशं ये कुर्युरविमुक्ते विधानतः।
प्रविशन्ति मुखं ते मे निःसन्दिग्धं वरानने। मत्स्य पु०, १८३।७७

९८. न वेदवचनात्तात...मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति। वनपर्व, ८५।८३; काणे, वही, पृ० ६०६

९९. मुण्डं कुर्याच्च पूर्वेऽस्मिन्पश्चिमे दक्षिणोत्तरे। वायु पु०, १०५।२५

१००. गंगायमुनयोर्मध्ये यस्तु कन्यां प्रयच्छति।
आर्षेणैव विवाहेन यथाविभवसम्भवम्।
न स पश्यति तं घोरं नरकं तेन कर्मणा। मत्स्य पु०, १०६।८-९

१०१. गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां...विधिवद्दक्षिणावता। विष्णु पु०, ३।१६।२०

१०२. गयायात्रां प्रवक्ष्यामि शृणु नारद मुक्तिदाम्।
विधाय कर्पटीवेषं कृत्वा ग्रामं प्रदक्षिणम्।
ततो ग्रामान्तरं गत्वा श्राद्धशेषस्य भोजनम्।
ततः प्रतिदिनं गच्छेत्प्रतिग्रहविवर्जितः। वायु पु०, ११०।१-३

१०३. प्रयागतीर्थयात्रार्थी यः प्रयाति नरः क्वचित्।
बलीवर्दसमारूढः...... ।
नरके वसते घोरे... । मत्स्य पु०, १०६।४-५

में सुव्यक्त है। इसके निर्देशानुसार मुण्डन द्वारा शिरस्थ पाप नष्ट होता है[१०४]। तीर्थ-यात्रा में वृषभ-वाहन के विषय में वर्णित है कि ऐसा करने से तीर्थ-सेवी को गोवध का पाप लगता है[१०५]।

विशिष्ट तीर्थ-विवरण : प्रयाग—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि पृथ्वी पर साठ करोड़ दस सहस्र तीर्थ माने गए हैं। उन सभी की संस्थिति इस प्रयाग तीर्थ में है[१०६]। सभी तीर्थों में कतिपय विशेषताएँ हैं, पर बुद्धिमान् मनुष्य प्रयाग तीर्थ को विशेष रूप से अर्चित करते हैं। ब्रह्मा भी इस तीर्थराज का नित्य स्मरण करते हैं। प्रयाग तीर्थराज को प्राप्त कर मनुष्य को किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं रहती[१०७]। दुःखी और दरिद्र मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रयाग ही एकमात्र तीर्थ है[१०८]। किसी रोग से आक्रान्त मनुष्य, दीन अथवा वृद्ध हो, गंगा-यमुना के संगम पर प्राण-त्याग से वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। पुण्य-क्षीण होने पर भी वह स्वर्गच्युत होकर समृद्ध कुल में जन्म ग्रहण करता है[१०९]। प्रयाग का वर्णन वायु और

---

१०४. तीर्थोपवासः कर्त्तव्यः शिरसो मुण्डनं तथा।
शिरोगतानि पापानि यान्ति मुण्डनतो यतः। पद्म पु०, उत्तरखण्ड, २३७।४८

१०५. गोयाने गोवधादिकम् । वही, १९।२७

१०६. दश तीर्थसहस्राणि षष्ठिकोट्यस्तथापराः।
तेषां सांनिध्यमत्रैव ततस्तु कुरुनन्दन। मत्स्य पु०, १०६।२३

१०७. तथा सर्वेषु लोकेषु प्रयागं पूजयेद् बुधः।
पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठिर।
ब्रह्मापि स्मरते नित्यं प्रयागं तीर्थमुत्तमम्।
तीर्थराजमनुप्राप्य न चान्यत्किंचिदर्हति। वही, १०९।१५-१६

१०८. आर्त्तानां हि दरिद्राणां... ।
स्थानमुक्तं प्रयागं तु नाख्येयं तु कदाचन। वही, १०५।२

१०९. व्याधितो यदि वा दीनो वृद्धो वाऽपि भवेन्नरः।
गंगायमुनयोर्मध्ये यस्तु प्राणान्परित्यजेत्... ।
स्वर्गे क्रीडति मानवः ।
ततः स्वर्गात्परिभ्रष्टः क्षीणकर्मा...समृद्धे जायते कुले। वही, १०५।३-७

ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मिलता है। इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए यहाँ का श्राद्ध अक्षय माना गया है[११०]।

आलोचित पुराणों में वर्णित प्रयाग की महत्ता का समर्थन अन्य ग्रन्थों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में वर्णन आया है कि माघ मास में प्रयाग तीन करोड़ दस सहस्र तीर्थों का संगम बनता है। इस अवसर पर प्रयाग में स्नान से मनुष्य पापरहित होकर स्वर्ग प्राप्त करता है[१११]। अन्यत्र इस ग्रन्थ में वर्णित है कि प्रयाग-गमन से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है[११२]। कालिदास का कथन है कि गंगा-यमुना के संगम पर अभिषेक करने से मनुष्य पवित्र होकर तत्त्वज्ञान के बिना भी शरीर-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं[११३]।

प्रयाग तीर्थ के प्रचलन तथा उपतीर्थ—आलोचित पुराणों में प्रयाग के बहुविध धार्मिक प्रचलन की ओर संकेत किया गया है, जिनकी समीक्षा प्रसंगानुसार पूर्वगामी अनुच्छेद में हो चुकी है[११४]। इसके उपतीर्थों का वर्णन मत्स्य पुराण में हुआ है, जिसकी सूची निम्नांकित है—

उपतीर्थ का नाम	—	**मत्स्य पुराण**	—	**अन्य ग्रन्थ**
अग्नितीर्थ	—	१०८।२७	—	पद्म पु०, आदिखण्ड, ४५।२७
उर्वशीपुलिन	—	१०६।३४-४२	—	पद्म पु०, आदिखण्ड, ४३।३४-४३
कंबलाश्वतर-आवास	—	१०६।२७	—	वनपर्व, ८५।७७
कोटितीर्थ	—	१०६।४४	—	पद्म पु०, आदिखण्ड, ४३।४४

---

११०. भागीरथ्यां प्रयागे च नित्यमक्षयमश्नुते। वायु पु०, ७७।९२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१००

१११. दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथापराः।
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ।
माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः।
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्। अनुशासन पर्व, २५।३६-३८

११२. गमनात्तस्य तीर्थस्य...नरः पापात्प्रमुच्यते। वनपर्व, ८५।८०

११३. समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन बिनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः। रघुवंश, १३।१७

११४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १२६-१२८

उपतीर्थ का नाम	—	मत्स्य पुराण	—	अन्य ग्रन्थ	
दशाश्वमेधिक	—	१०६।४६	—	वनपर्व,	८५।७७
निरंजन	—	१०८।२६-३०	—	—	—
पंचकुण्ड	—	१०४।१६	—	—	—
प्रतिष्ठान	—	१०६।३०	—	वनपर्व,	८५।११४
भोगवती	—	१०६।४६	—	वनपर्व,	८५।७७
वटवृक्ष	—	१०६।११-१२	—	अग्नि पु०,	१११।१३
वासुकि-ह्लद	—	१०४।५	—	—	—
वेणीमाधव	—	१११।१	—	—	—
संध्यावट	—	१०६।४३	—	अग्नि पु०,	१११।१३
हंसप्रपतन	—	१०६।३२	—	पद्म पु०; आदिखण्ड,	३९।८०

इन तीर्थों की अनेकता पर प्रकाश डालते हुए मत्स्य पुराण में वर्णित है कि प्रयाग में अनेक तीर्थ हैं। इन्हें सैकड़ों वर्षों में भी गिनाना सम्भव नहीं है[११५]।

वाराणसी—वाराणसी की महत्ता स्पष्ट करते हुए मत्स्य पुराण में इसे प्रयाग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना गया है[११६]। इसी प्रसंग में विवेचित है कि नमिष, कुरुक्षेत्र, गंगाद्वार तथा पुष्कर तीर्थों के सेवन तथा स्नान से मोक्ष नहीं मिलता, पर इस तीर्थ की विशेषता यह है कि यहाँ मोक्ष सुलभ है[११७]। वाराणसी में सम्पन्न जप, दान, यज्ञ, तपस्या, ध्यान तथा अध्ययन आदि कभी नष्ट नहीं होते[११८]। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, कृमि, म्लेच्छ, पापयोनि में उत्पन्न नीच मनुष्य, कीट, चींटे, पशु तथा पक्षी काल के प्रभाव से यदि अविमुक्त क्षेत्र में

---

११५. अन्ये च वहवस्तीर्थाः सर्वपापहराः शुभाः।
न शक्यः कथितुं राजन्बहुवर्षशतैरपि। मत्स्य पु०, १०४।७

११६. प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादिदमेव महत्स्मृतम्। वही, १८०।५७

११७. नैमिषेऽथ कुरुक्षेत्रे गंगाद्वारे च पुष्करे।
स्नानात्संसेविताद्वाऽपि न मोक्षः प्राप्यते यतः।
इह संप्राप्यते येन तत एतद्विशिष्यते। वही, १८०।५५

११८. ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम्। वही, १८१।१७

शरीर-त्याग करते हैं, तो उन्हें शिव की पुरी का आनन्द मिलता है[११९]। पृथ्वीतल पर मनुष्य को बिना योग के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, पर अविमुक्तवासी को योग तथा मोक्ष दोनों एक साथ सुलभ होते हैं[१२०]। वाराणसी की महत्ता वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी व्यक्त की गई है। इनमें विवेचित है कि वाराणसी में योगेश्वर शंकर का निवास नित्य रहता है। यहाँ श्राद्ध करने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है[१२१]। वाराणसी की महत्ता का प्रतिपादन महाभारत से भी होता है, जिसके अनुसार इस क्षेत्र का दर्शनमात्र ब्रह्महत्या का निवारक होता है[१२२]।

वाराणसी-तीर्थ के प्रचलन—मत्स्य पुराण के निर्देशानुसार, जो मनुष्य अविमुक्त में पत्थर के टुकड़ों से पैरों को तोड़कर प्राण-त्याग करता है, उसे शिव-पद की प्राप्ति होती है[१२३]। इस तीर्थ में दान, यज्ञ तथा जलाभिषेक करने से शिव का साक्षात्कार होता है[१२४]। जो मनुष्य सुवर्ण की सींगों वाली, रजत-जटित खुरों वाली, सुन्दर वस्त्र तथा चमड़ों वाली तथा दूध देने वाली सवत्सा गौ को कांस्य-पात्र के साथ वेदज्ञ ब्राह्मण को प्रदान करता है, वह अपने पूर्वगामी सप्तकुल का उद्धार

---

११९. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वर्णसंकराः।
कृमिम्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णाः पापयोनयः।
कीटाः पिपीलकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणः।
कालेन निधनं प्राप्ता अविमुक्ते शृणु प्रिये।
शिवे मम पुरे देवि मोदन्ते तत्र मानवः। मत्स्य पु०, १८१।१९-२१

१२०. न हि योगादृते मोक्षः प्राप्यते भुवि मानवैः।
अविमुक्ते निवसतां योगो मोक्षश्च सिध्यति। वही, १८५।१५-१६

१२१. वाराणस्यां नगर्यां तु देयं श्राद्धं तु यत्नतः।
तस्यां योगेश्वरो नित्यं तत्तस्यां दत्तमक्षयम्। वायु पु०, ७७।९३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१०१

१२२. अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरुद्वह।
दर्शनाद्देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया। वनपर्व, ८४।७९

१२३. अश्मना चरणौ भित्वा तत्रैव निधनं व्रजेत्। मत्स्य पु०, १८१।२३

१२४. सर्वदानानि यो दद्यात्सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सर्वतीर्थाभिषिक्तश्च स प्रपद्यते मामिह। वही, १८३।१८

करता है[१२५]। इस तीर्थ के विशिष्ट प्रचलनों की सूचना महाभारत से भी मिलती है, जिसमें वर्णित है कि यहाँ प्राणोत्सर्ग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है[१२६]।

वाराणसी के विभिन्न नाम—वाराणसी के अतिरिक्त इस तीर्थ को काशी, अविमुक्त तथा श्मशान नाम दिए गए हैं। अविमुक्त के विषय में वर्णित है कि यह नाम इसलिये दिया गया है, क्योंकि यहाँ शिव सदा सन्निहित रहते हैं[१२७]। वाराणसी की सीमा वरणा से असी तक बताई गई है[१२८]। शिव का यह आवास-स्थान श्मशान के नाम से भी विख्यात है[१२९]। इसे श्मशान की संज्ञा इसलिए देते हैं, क्योंकि यह स्थान परम् गुह्य है[१३०] तथा इसके चतुर्दिक भूत, प्रेत, पिशाच और मातृकाएँ रहती हैं[१३१]।

उपतीर्थ—वाराणसी के पाँच उपतीर्थों की गणना हुई है—दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, विन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। इसी प्रसंग में विवेचित है कि इन्हीं पाँच श्रेष्ठ तीर्थों के साथ अविमुक्त का वर्णन किया जाता है[१३२]।

यद्यपि अलोचित अन्य पुराणों में वाराणसी का यह विस्तृत वर्णन नहीं मिलता, तथापि उत्तरकालीन पुराणों में इसका सविस्तार उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग के समर्थनार्थ कतिपय का वर्णन यहाँ उल्लेखनीय है। स्कन्द पुराण के काशी

---

१२५. सौवर्णश्रृंगीं रौप्यखुरां चैलाजिनपयस्विनीम्।
वाराणस्यां तु यो दद्यात् सवत्सां कांस्यभाजनाम्।
गां दत्वा तु वरारोहे ब्राह्मणे वेदपारगे।
आसप्तमं कुलं तारितं नात्र संशय। मत्स्य पु०, १८३।६७

१२६. प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः। वनपर्व, ८४।८०

१२७. तत्क्षेत्रं न मया मुक्तमविमुक्तं ततः स्मृतम्। मत्स्य पु०, १८१।१५

१२८. वरणाऽसी नदी यावत्तावच्छुक्लनदी तु वै। वही, १८३।१६

१२९. श्मशानमिति विख्यातमविमुक्तं शिवालयम्। वही, १८४।८

१३०. परं गुह्यं समाख्यातं श्मशानमिति संज्ञितम्। वही, १८४।५

१३१. भूतप्रेतपिशाचाश्च गणाः मातृगणास्तथा।
श्मशानिकपरीवाराः प्रियास्तस्य महात्मनः। वही, १८४।१२

१३२. तीर्थानां पंचकं सारं विश्वेशानन्दकानने।
दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो विन्दुमाधवः।
पंचमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका।
एभिस्तु तीर्थवर्यैश्च वर्ण्यते ह्यविमुक्तकम्। वही, १८५।६५-६६

खण्ड में वर्णित है कि काशी को देखने से सूर्य का मन चलायमान हो जाता है[१३३]। नारदीय पुराण ने मणिकर्णिका को सर्वोत्तम तीर्थ निरूपित किया है[१३४]। इसी प्रकार इस पुराण के प्रसंगान्तर में विवेचित है कि दशाश्वमेध में सभी तीर्थों की संस्थिति है[१३५]।

गया—वायु पुराण का कथन है कि गया तीर्थ सभी देशों में सभी तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है[१३६]। ब्रह्महत्या, मदिरापान, चौरकार्य, गुरुभार्या-समागम तथा पापात्माओं के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले सभी पाप गया में श्राद्ध करने से नष्ट हो जाते हैं[१३७]। यदि मनुष्य एक बार भी गया की यात्रा तथा इस तीर्थ में पिण्डदान करे तो जीवन में उसके लिए कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है[१३८]। गयासुर ने विष्णु आदि देवताओं से वरदान माँगा था कि जब तक पृथ्वी और पर्वत रहे, सूर्य-चन्द्रमा तथा नक्षत्र वर्तमान रहें तब तक गया की शिला पर ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर का निवास स्थायी रहे[१३९]। नैमिष, पुष्कर, गंगा, प्रयाग, अविमुक्त तथा स्वर्ग, अन्तरिक्ष और भूमण्डल के विभिन्न तीर्थ इस तीर्थ में अवस्थित होकर मनुष्यों का कल्याण करें[१४०]। इस तीर्थ के महत्ता-विषयक स्थल विष्णु, मत्स्य और

---

१३३. तस्यार्कस्य मनो लोलं तदासीत्काशिदर्शने ।
अतो लोलार्क इत्याख्या...... । स्कन्द पु०, काशीखण्ड, ४६।४८

१३४. तत्रापि सर्वतीर्थानामुत्तमा मणिकर्णिका । नारदीय पु० (उत्तर), ४८।६६

१३५. ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम् । स्कन्द पु०, काशीखण्ड, १०६।११०

१३६. गयातीर्थं सर्वदेशे तीर्थेभ्योऽप्यधिकं शृणु । वायु पु०, १०४।४

१३७. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः ।
पापं तत्संगजं कर्म गयाश्राद्धाद्विनश्यति । वही, १०५।१३

१३८. सकृद्गयाभिगमनं सकृत्पिण्डस्य पातनम् ।
दुर्लभं किं पुनर्नित्यमस्मिन्नेव व्यवस्थितौ । वही, १०५।२१

१३९. यावत्पृथ्वी पर्वताश्च यावच्चन्दार्कतारकाः ।
तावच्छिलायां तिष्ठन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । वही, १०६।६४

१४०. नैमिषं पुष्करं गंगा प्रयागश्चाविमुक्तकम् ।
एतान्यन्यानि तीर्थानि दिविभुव्यन्तरिक्षतः ।
समायान्तु सदा नृणां प्रयच्छन्तु हितं सुराः । वही, १०६।६६

ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मिलते हैं। प्रस्तुत विषय को व्यक्त करते हुए वायु पुराण में गया का श्राद्ध पितरों के आह्लाद का कारण माना गया है[१४१]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि गया पितरों का तीर्थ है। यह शुभावह क्षेत्र सभी तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है[१४२]। ब्रह्माण्ड पुराण में इसका उल्लेख जामदग्न्य की कथा के अंतर्गत हुआ है। इसमें आख्यात है कि पितरों का तृप्ति-प्रद ऐसा तीर्थ भुवन में अन्यत्र नहीं है[१४३]। इस तीर्थ की महत्ता अन्य ग्रन्थों में भी प्रतिपादित की गई है। उदाहरणार्थ, महाभारत में वर्णित है कि गया में पितरों को दिया हुआ अन्न अक्षय होता है[१४४]।

गया-विषयक वायु पुराण के विशिष्ट स्थल—आलोचित पुराणों में गया के विषय में वायु पुराण का वर्णन अधिक विस्तृत है, जिसका संक्षिप्त विवरण वक्ष्यमाण प्रकार से दिया जा सकता है। नामकरण के संदर्भ में ऐसा निरूपित है कि यज्ञ-कार्य के लिए ब्रह्मा के आदेश से गय नामक असुर ने यहाँ तपश्चर्या की थी। गयासुर के सिर पर ब्रह्मा ने शिला स्थापित कर यज्ञ सम्पन्न किया था। कालान्तर में इसी स्थान पर गय ने भी यज्ञ किया था। यही कारण है कि यह स्थान गया के नाम से विख्यात हुआ है[१४५]। एक सौ बारहवें अध्याय के वर्णन में गया तीर्थ के नाम का सम्बन्ध गय नामक राजा से किया गया है तथा निरूपित है कि राजा गय ने अनेक यज्ञों को सम्पन्न कर देवताओं को प्रसन्न किया था। देवताओं के प्रसन्न होने पर उसने अपने नगर को स्वनाम पर ही ब्रह्मा की पुरी के समान प्रसिद्ध होने का वरदान माँगा था[१४६]।

---

१४१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १२९-१३०

१४२. पितृतीर्थं गया नाम सर्वतीर्थवरं शुभम्। मत्स्य पु०, २२।४

१४३. पितृपिण्डप्रदानाय जामदग्न्योऽगमद्गयाम्।
पितृतृप्तिकरं क्षेत्रं तादृग्लोके न विद्यते। ब्रह्माण्ड पु०, ३।४७।१९

१४४. यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षयं भवति प्रभो। वनपर्व, ८७।१२

१४५. वायु पु० १०५।३-८

१४६. यज्ञं चक्रे गयो राजा बह्वन्नं बहुदक्षिणम्।
गयं विष्ण्वादयस्तुष्ट्वा वरं ब्रूहीति चाब्रुवन्।
गया पुरीति मन्नाम्ना ख्याता ख्याता ब्रह्मापुरी यथा। वही, ११२।१, ४, १०

इस स्थल पर विवेचनीय है कि व्यक्तिवाचक गय शब्द का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी हुआ है। ऋग्वेद के एक छन्द में (इसके रचयिता) गय द्वारा देवताओं की स्तुति का उल्लेख हुआ है[१४७]। अथर्ववेद में गय का उल्लेख असित और कश्यप नामक मायावियों के साथ हुआ है[१४८]। इनका सम्बन्ध वैदिक संहिताओं में बहुधा असुर, दास और राक्षसों के साथ किया गया है[१४९]। बहुत कुछ सम्भव है कि पुराणों में वर्णित गय का इस वैदिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध हो[१५०]।

गया के उपतीर्थ—वायु पुराण में गया में विद्यमान निम्नांकित उपतीर्थों का उल्लेख हुआ है:—विष्णुपद[१५१], गयाशिर[१५२], विरजगिरि[१५३], नाभिकूप[१५४], मुण्डपृष्ठाद्रि[१५५], प्रभासगिरि[१५६], शिलांगुष्ठ[१५७], प्रेतशिला[१५८], रामतीर्थ[१५९], वटेश्वर[१६०], रुक्मिणीकुण्ड[१६१], सारस्वतकुण्ड[१६२], शूलक्षेत्र[१६३], आदिपालगिरि[१६४], मुण्डपृष्ठाशिला[१६५], वैकुण्ठ, लोहदण्ड, गृध्रकूट, शोणक[१६६], ब्रह्मयोनि[१६७], उत्तरमानस[१६८],

---

१४७. अस्तावि जनो दिव्यो गयेन। ऋ० वे०, १०।६३।१७
दिव्यो दिविभवो जनो देवगणो गयेनैतन्नामकेन मयास्तावि अभिष्टुतोरभूत्। सायण

१४८. असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च। अथर्ववेद, १।१४।४

१४९. असुराणाम्...माया। वही, ४।२३।५;
दासस्य...माया। ऋग्वेद, ७।६६।४;
यातुधानमुत...मायया। वही, ७।१०५।२४

१५०. काणे, वही, पृ० ६४५

१५१. वायु पु०, १०५।२५
१५२. वही, १०५।२८
१५३. वही, १०६।८५
१५४. वही, १०६।८५
१५५. वही, १०८।१२
१५६. वही, १०८।१३
१५७. वही, १०८।१४
१५८. वही, १०८।१६
१५९. वही, १०८।१७
१६०. वही, १०८।५७
१६१. वही, १०८।५७
१६२. वही, १०८।५८
१६३. वही, १०८।६४
१६४. वही, १०८।६५
१६५. वही, १०८।७२
१६६. वही, १०८।७४
१६७. वही, १०८।८३
१६८. वही, १११।४

दक्षिणमानस[१६९], औदीच्य[१७०], कनखल[१७१], फल्गुतीर्थ[१७२], धर्मतीर्थ[१७३], महा-बोधि[१७४], शुक्रचरण, अगस्त्यचरण, क्रौञ्चमातङ्ग, कार्त्तिकेयचरण[१७५], गणेशचरण, गजकर्ण[१७६], रुद्रचरण[१७७], गदालोल[१७८], प्राचीसरस्वती[१७९], लेलिहान[१८०], ब्रह्मसर, दशाश्वमेध[१८१], हंसतीर्थ, अमरकण्टक, कोटितीर्थ[१८२], भस्मतीर्थ[१८३], धेनुकारण्य[१८४] तथा कर्दमाला[१८५]। प्रसंगवश ब्रह्माण्ड पुराण में भी धर्मपृष्ठ, ब्रह्मसर तथा गृध्रवट नामक उपतीर्थों का वर्णन मिलता है[१८६]।

मथुरा—विष्णु पुराण के अनुसार मधुरा (मथुरा) की ख्याति पहले मधुवन के नाम से थी। इसका कारण यह है कि यहाँ मधु नामक दैत्य रहता था। यहीं पर शत्रुघ्न ने लवण नामक दैत्य को मारकर मधुरा (मथुरा) नामक पुरी बसाई थी[१८७]। विष्णु पुराण की भाँति वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मथुरा की स्थापना का श्रेय शत्रुघ्न को प्राप्त है[१८८]। इसकी धार्मिक प्रसिद्धि पर प्रकाश डालते हुए विष्णु पुराण में उल्लेख आया है कि यहाँ विष्णु का सामीप्य सदैव रहता है।

---

१६९. वही, १११।६
१७०. वही, १११।६
१७१. वही, १११।७
१७२. वही, १११।१३
१७३. वही, १११।२६
१७४. वही, १११।२७
१७५. वही, १११।५४
१७६. वही, १११।५५
१७७. वही, १११।६४
१७८. वही, १११।७६
१७९. वही, ११२।२३
१८०. वही, ११२।२४
१८१. वही, ११२।३०
१८२. वही, ११२।३२
१८३. वही, ११२।५३
१८४. वही, ११२।५६
१८५. वही, ११२।६६
१८६. गयायां गृध्रवटे चैव श्राद्धं दत्तं महाफलम्। ब्रह्माण्ड पु०,३।१३।१०४
१८७. पुनश्च मधुसंज्ञेन दैत्येनाधिष्ठितं यतः।
ततो मधुवनं नाम्ना ख्यातमत्र महीतले।
हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्।
शत्रुघ्नो मधुरां नाम पुरीं यत्र चकार वै। विष्णु पु०, १।१२।३-४
१८८. माधवं लवणं हत्वा गत्वा मधुवनं च तत्।
शत्रुघ्नेन पुरी तस्य मथुरा तत्र सन्निवेशिता। वायु पु०, ८८।१८५;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।१८६

पाप-शमन के लिये पर्याप्त इस तीर्थ में ध्रुव ने तपश्चर्या की थी[१८९]। अन्यत्र वर्णन आता है कि ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को मथुरा के यमुना-जल में स्नान कर हरि-दर्शन से महान् फल मिलता है[१९०]। इसी प्रकार वायु पुराण के प्रसंगान्तर में मथुरा का वर्णन व्यास द्वारा चिन्तित तीर्थों के विषय में आया है[१९१]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि मथुरा में देवी की प्रतिष्ठा देवकी के स्वरूप में है[१९२]।

मथुरा के गौरव-द्योतक उक्त वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, रामायण में वर्णन आया है कि शत्रुघ्न ने बारह वर्ष में मथुरा को सम्पन्न बनाया था[१९३]। विष्णु पुराण के समान रघुवंश में भी मथुरा को मधुरा नाम प्रदत्त करते हुए इसकी स्थापना का श्रेय शत्रुघ्न को प्राप्त है[१९४]। इसकी धार्मिक प्रसिद्धि सुव्यक्त करते हुए पद्म पुराण में निरूपित है कि मथुरा में यमुना मोक्ष-प्रदायक है[१९५]। अन्यत्र मथुरा-निवासी को विष्णु का वल्लभ बताया गया है[१९६]।

कुरुक्षेत्र—विष्णु पुराण में उल्लेख आया है कि धर्म-क्षेत्रीय कुरुक्षेत्र को नृप संवरण के पुत्र कुरु ने स्थापित किया था[१९७]। अन्यत्र कुरुक्षेत्र में उपवास करना फलदायक बताया गया है[१९८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में सुतीर्थ शब्द कुरुक्षेत्र के विशेषणार्थ प्रयुक्त है[१९९]। इसी प्रसंग में निर्देशित है कि कुरुक्षेत्र में पितरों

---

१८९. यत्र वै देवदेवस्य सांनिध्यं हरिमेधसः।
सर्वपापहरे तस्मिंस्तपस्तीर्थे चकार सः। विष्णु पु०, १।१२।५

१९०. यज्ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यां स्नात्वा वै यमुनाजले।
मथुरायां हरिं दृष्ट्वा प्राप्नोति पुरुषः फलम्। वही, ६।८।३१

१९१. कण्ठे च मथुरापीठम्... । वायु पु०, १०४।८०

१९२. देवकी मथुरायां तु... । मत्स्य पु०, १३।३९

१९३. रामायण, उत्तरकाण्ड, ७०।६-९

१९४. रघुवंश, १५।२८

१९५. पद्म पु०, आदिखण्ड, २९।४६-४७

१९६. तस्मान्माथुरकं नाम विष्णोरेकान्तवल्लभम्। वही, ४।६९।१२

१९७. संवरणात्कुरुः य इदं धर्मक्षेत्रं चकार। विष्णु पु०,४।१९।७६-७७

१९८. प्रयागे पुष्करे चैव कुरुक्षेत्रे...कृतोपवासः। वही, ६।८।२९

१९९. सर्वतश्च कुरुक्षेत्रं सुतीर्थञ्च विशेषतः। वायु पु०, ७७।६७;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।६५

की पूजा से सत्पुत्र पितृऋण से मुक्त हो जाता है[२००]। मत्स्य पुराण के अनुसार कुरुक्षेत्र तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है [२०१]।

इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि धर्म के प्रतिष्ठित केन्द्रों में कुरुक्षेत्र का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही मिलने लगता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवताओं ने कुरुक्षेत्र में यज्ञ संपन्न किया था[२०२]। वेदोत्तरवर्त्ती ग्रन्थों में महाभारत के प्रसंगों से इसके धार्मिक गौरव की महत्ता को स्पष्ट किया जा सकता है। वनपर्व में वर्णित है कि जो व्यक्ति प्रशंसनीय कुरुक्षेत्र जाते हैं, उन्हें सभी पापों से मुक्ति मिलती है। (यहाँ तक कि) जो मनुष्य सदा यह कहता है—"कुरुक्षेत्र जाऊँगा, कुरुक्षेत्र में निवास करूँगा"—वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है[२०३]। कुरुक्षेत्र शब्द की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए टीकाकार नीलकण्ठ वर्णित करते हैं कि कुरु, कुत्सित ध्वनि अर्थात् पाप को कहते हैं, इसके क्षेपण के द्वारा जो त्राण करे वह कुरुक्षेत्र है[२०४]।

पुष्कर—विष्णु पुराण में पुष्करक्षेत्र-वासी के धार्मिक कृत्यों में उपवास की ओर संकेत किया गया है[२०५]। मत्स्य पुराण का कथन है कि पुष्कर में देवी-उपासना पुरुहूता के नाम से होती है[२०६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार पुष्कर में आचरित श्राद्ध और तपस्या अक्षय एवं महान् फल के विधायक होते हैं[२०७]।

---

२००. पुनः सन्निहितानां वै कुरुक्षेत्रे विशेषतः।
अर्चयेद्वा पितृंस्तत्र सत्पुत्रस्त्वनृणो भवेत्। वायु पु०, ७७।६६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।६७

२०१. त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते। मत्स्य पु०, १०६।३; २२।१८

२०२. कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते। श० ब्रा०, ४।१।५।१३

२०३. ततो गच्छेत् राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम्।
पापेभ्यो विप्रमुच्यन्ते तद्गताः सर्वजन्तवः। वनपर्व, ८३।१-२

२०४. कुत्सितं रौतीति कुरु पापं तस्य क्षेपणात् त्रायते इति कुरुक्षेत्रम्...।
वनपर्व, ८३।६ पर नीलकण्ठ

२०५. प्रयागे पुष्करे चैव कुरुक्षेत्रे तथार्णवे।
कृतोपवासः प्राप्नोति...। विष्णु पु०, ६।८।२६

२०६. पुष्करे पुरुहूतेति केदारे मार्गदायिनी। मत्स्य पु०, १३।३०

२०७. पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धं तपश्चैव महाफलम्। वायु पु०, ७७।४०; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।४०

इसकी धार्मिक महत्ता का समर्थन अन्य ग्रन्थों से भी किया जा सकता है। महाभारत में वर्णन आया है कि प्राचीनकाल में ऋषियों के साथ देवताओं ने महान् पुण्य से युक्त होकर पुष्कर में सिद्धि प्राप्त की थी। मनीषियों का कहना है कि पितर और देवताओं की अर्चना में रत होकर, जो मनुष्य यहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेध का दश-गुणित फल मिलता है [२०८]। पद्म पुराण के अनुसार इस लोक में पुष्कर की अपेक्षा श्रेष्ठ अन्य तीर्थ नहीं हैं[२०९]।

द्वारका—विष्णु पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण ने समुद्र से बारह योजन भूमि आयाचित कर द्वारकापुरी को निर्मित किया था[२१०]। द्वारका की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इस पुराण के प्रसंगान्तर में विवृत है कि समस्त क्षेत्र के समुद्र-प्लावित होने पर भी श्रीकृष्ण के भवन का अस्तित्व भक्तों के हितार्थ बना रहेगा[२११]। मत्स्य पुराण में द्वारका के लिये कृष्णतीर्थ नाम प्रयुक्त है[२१२]। वर्णानान्तर में उल्लिखित है कि द्वारका में रुक्मिणी के नाम से देवी प्रतिष्ठित हैं[२१३]। वायु पुराण में इसे व्यास द्वारा चिन्तित तीर्थों के अन्तर्गत रखा गया है[२१४]। द्वारका-विषयक ये वर्णन महाभारत तथा अन्य पुराणों में भी मिलते हैं। मौसलपर्व के अनुसार श्रीकृष्ण की मृत्यु के उपरान्त समुद्र ने द्वारका को प्लावित कर लिया था[२१५]। स्कन्द तथा गरुड जैसे उत्तरवर्ती पुराणों में इसे मोक्षदायक पुरी कहा गया है[२१६]।

---

२०८. पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः। तत्राभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवार्चने रतः। अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः। वनपर्व, ८३।२६-२७

२०९. नास्मात्परतरं तीर्थं लोकेऽस्मिन्पठ्यते। पद्म पु०, ५।२७।७८

२१०. इति संचित्य गोविन्दो योजनानां महोदधिम्।
यया‍चे द्वादश पुरीं द्वारकां तत्र निर्ममे। विष्णु पु०, ५।२३।१३

२११. द्वारकां च मया त्यक्तां समुद्रः प्लावयिष्यति।
मद्वेश्म चैकं मुक्त्वा तु भयान्मत्तो जलाशये।
तत्र सन्निहितश्चाहं भक्तानां हितकाम्यया। वही, ५।३७।३६

२१२. द्वारका कृष्णतीर्थं च तथार्बुदसरस्वती। मत्स्य पु०, २२।३८

२१३. रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने। वही, १३।३८

२१४. कण्ठस्थां द्वारकामेषां प्रयागं प्राणगं तथा। वायु पु०, १०४।७६

२१५. मौसलपर्व, ६।२३-२४

२१६. काशी......द्वारवत्यपि......मोक्षदाः। स्कन्द पु०,काशीखंड,६।६८
पुरी द्वारवती......मोक्षदायिका:। गरुड पु०,प्रेतखंड,३८।५-६

अन्य तीर्थों की तुलनात्मक तालिका

तीर्थ-नाम	आलोचित पुराण	अन्य ग्रन्थ
अच्छोदा	वायु पुराण, ४७।६, ७७।७६; ब्रह्माण्ड पुराण, २।१८।६, ३।१३।८०	—
अजतुंग	वायु पुराण, ७७।४८; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।४८	—
अमरकण्टक	वायु पुराण, ७७।१०, १५-१६; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।१०; मत्स्य पुराण, १८८।७९	पद्म पुराण, १।१५।६८-६९
उमातुंग	वायु पुराण, ७७।८०; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।८८	कूर्म पुराण, २।३७
कमलालय	मत्स्य पुराण, १३।३२	—
कलापग्राम	वायु पुराण, ९१।४३१; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।७४।२५०	भागवत पुराण, १०।८७।७
कुशप्लवन (कुशलवन)।	ब्रह्माण्ड पुराण, ३।५।४४-४५; वायु पुराण, ६७।९४	वनपर्व, ८५।३६
कृतशौच	मत्स्य पुराण, १३।४५, १७९।८७	वामन पुराण, ९०।५
कांची	वायु पुराण, १०४।७६; ब्रह्माण्ड पुराण, ४।३९।६३; ४।३८।१५; ४।४०।१५-१६; ४।४०।९१	पद्म पुराण, ६।११०।५
कुम्भ	वायु पुराण, ७७।४७; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।४७	—

तीर्थ-नाम	आलोचित पुराण	अन्य ग्रन्थ
गंगाद्वार	वायु पुराण, ३०।६४-६६; मत्स्य पुराण, २२।१०	—
गंगासागर-संगम	मत्स्य पुराण, २२।११	विष्णु धर्मसूत्र, ८५।२८
गंगोद्भेद	मत्स्य पुराण, २२।१३-२५	वनपर्व, ८४।६५
गोमंत	मत्स्य पुराण, १३।२८	हरिवंश, विष्णु पर्व, २९।११
चित्रकूट	मत्स्य पुराण, १३।३९	रामायण, २।५५।१९
चैत्ररथ	वायु पुराण, ४७।६; ब्रह्माण्ड पुराण, २।१८।७; मत्स्य पुराण, १३।२८	—
धूतपाप	वायु पुराण, ७७।२०; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।२०; मत्स्य पुराण, २२।३९; १९३।६२	पद्म पुराण, १।१५।६८-६९
पुरुषोत्तम	मत्स्य पुराण, १३।३५	ब्रह्माण्ड पुराण, ५८।३
प्रभास	विष्णु पुराण, ५।३०।३०; ५।२१।२५; वायु पुराण, ७७।४०; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।४०	वनपर्व, २८।५८
प्लक्ष	वायु पुराण, ६१।२८-२९; ब्रह्माण्ड पुराण, ३।६६।१८	—
बदर्याश्रम (बदरिकाश्रम)	विष्णु पुराण, ५।३७।३४	भागवत पुराण, ७।११।६
ब्रह्मतुंगह्रद	वायु पुराण, ७७।७१	—
ब्रह्मतुंडह्रद	ब्रह्माण्ड पुराण, ३।१३।७३	—

पूर्व पृष्ठांकित तालिका से स्पष्ट है कि इसमें कतिपय ऐसे तीर्थ हैं, जिनका वर्णन तीनों पुराणों में उपलब्ध है और कुछ का दो ही में तथा कुछेक ऐसे भी हैं, जो एक ही में वर्णित हैं। जिन तीर्थों का वर्णन वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में मिलता है, वे इस प्रकार हैं—अमरकण्टक, चैत्ररथ, धूतपाप, भृगुतुंग, मायापुरी तथा श्रीशैल। अमरकण्टक, धूतपाप तथा श्रीशैल का उल्लेख पद्म पुराण में एवं मायापुरी का स्कन्द पुराण में भी हुआ है। प्रभास का प्रसंग विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी आया है। महाभारत के वनपर्व में इस तीर्थ का निरूपण इसकी लोकप्रियता पर प्रकाश डालता है। जिन तीर्थों का वर्णन वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में है, वे हैं—अजतुंग, उमातुंग, अच्छोदा, कुशलवन (ब्रह्माण्ड पु० में कुशप्लवन), कलापग्राम, कांची, कुम्भ, प्लक्ष और हयशिरा। उमातुंग, कुशप्लवन, कलापग्राम, ब्रह्मतुंगह्लद (ब्रह्माण्ड पु० में ब्रह्मतुंडह्लद) तथा कांची का क्रमशः कूर्म पुराण, महाभारत, भागवत पुराण तथा पद्म पुराण में भी प्रसंग मिलता है। गंगाद्वार का वर्णन केवल वायु और मत्स्य पुराणों में प्राप्त होता है और केदार तीर्थ का ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में। इसका उल्लेख वनपर्व में भी हुआ है। कमलालय, गंगोद्भेद, गोमंत, चित्रकूट, गंगासागर-संगम, पुरुषोत्तम, भद्रेश्वर, मलय, वराहशैल, विश्वेश्वर, वैद्यनाथ, रामतीर्थ, रुद्रकोटि तथा सोमेश्वर का प्रसंग केवल मत्स्य पुराण में उपलब्ध है। चित्रकूट, पुरुषोत्तम, भद्रेश्वर तथा वराहशैल का उल्लेख क्रमशः रामायण, ब्रह्म पुराण, कूर्म पुराण तथा विष्णु धर्मसूत्र में, विश्वेश्वर और वैद्यनाथ का पद्म पुराण में, रामतीर्थ और रुद्रकोटि का वनपर्व में तथा इसी प्रकार सोमेश्वर का कूर्म पुराण में भी प्राप्त होता है।

समष्टि रूप में तीर्थ-विषयक उक्त उद्धरण वैदिक धर्म में परिवर्तन की सूचना देते हैं। जैसा कि पूर्व पृष्ठों पर दिखाया जा चुका है, वैदिक वाङ्मय में तीर्थों के विशद उल्लेख नहीं मिलते। एक-दो स्थलों पर तीर्थ शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। पर ऐसे उद्धरणों में तीर्थ शब्द का तात्पर्य नदी अथवा धार्मिक स्थान है। अधिक से अधिक ऐसे स्थलों को तीर्थ-सम्बन्धी भावना का स्रोत-मात्र माना जा सकता है। वैदिक धर्म में यज्ञ की प्रबलता थी, जिसका पौराणिक धर्म में पूर्ण समावेश नहीं था। पुराणों तथा महाभारत के प्रसंग इस बात को निश्चित रूप से सूचित करते हैं कि यज्ञ में विधानों की जटिलता थी, जो सामान्य जनसमुदाय के लिए दुष्कर था। इसके विपरीत तीर्थ-यात्रा जनसमूह का धर्म था, जिसमें जातिगत प्रतिबंध, विधानगत जटिलता तथा व्यक्तिगत व्यवधान का सर्वथा अभाव था। स्थल-स्थल पर पुराणों ने

तीर्थ में यज्ञाचरण का प्रसंग भी दिया है, जो इस बात का द्योतक है कि तीर्थ-यात्रा साधारण जन की भाँति समृद्धिशाली व्यक्तियों का भी धर्म था। इसके अतिरिक्त पुराणों में तीर्थ-महत्ता के परिचायक, जो स्थल हैं; उनका अन्य साक्ष्यों से समर्थित होना ही इसकी व्यापकता को स्पष्ट करता है। ये साक्ष्य विशिष्ट तीर्थ; उनके उपतीर्थ तथा अन्य अनेक धार्मिक स्थानों को भी समर्थित करते हैं, जिन्हें तीर्थ-सम उल्लिखित किया गया है।

वर्ण तथा जातियाँ

उत्पत्ति-विषयक उल्लेख—चारों पुराणों में चातुर्वर्ण्य का दैवी उद्भव परिकल्पित है। विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के उत्पत्ति-स्रोत विष्णु के मुख, बाहु, जंघा तथा चरण हैं[1]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में चारों वर्णों को ब्रह्म के एतत्सम अंगों से उत्पन्न माना गया है[2]। मत्स्य पुराण में विहित आदर्श के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ब्रह्मोद्भूत भगवान् वामदेव के मुख, बाहु, जंघा तथा चरण से क्रमशः उत्पन्न हैं[3]। इस संदर्भ में पुराणों ने वैदिक परम्परा का परिपोषण किया है। ऋग्वेद में चारों वर्णों को मूल पुरुष के इन्हीं अंगों से उत्पन्न माना गया है[4]। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी (शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में) चारों वर्णों को देवोद्भूत मानने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह परम्परा पुराणों के अतिरिक्त अन्य विविध वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी समावेशित हुई है। इन ग्रन्थों के साक्ष्य मान्यता-निरूपण और तात्पर्य-बोध की दृष्टि से पुराणों के समकक्ष हैं। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति का कथन है कि ब्रह्मा ने लोक-वृद्धि के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अपने मुख, बाहु, जंघा और चरण से

---

१. त्वन्मुखाद् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाहोः क्षत्रमजायत।
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः। विष्णु पु०, १।१२।६३-६४

२. वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणाः संप्रसूता यद्वक्षस्तः क्षत्रिया पूर्वभागे।
वैश्याश्चोरोर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः सर्वे वर्णाः गात्रतः संप्रसूता। वायु पु०, ६।११३; ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१०८

३. वामदेवस्तु भगवानसृजन्मुखतो द्विजान्।
राजन्यानसृजद्बाहोर्विट्छूद्रानूरुपादयोः। मत्स्य पु०, ४।२८

४. ऋग्वेद, १०।९०।१२ काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, खण्ड २, भाग १, पृ० ४७; वेदिक इण्डेक्स, खण्ड २, पृ० २४८; घाटे, लेक्चर्स ऑन ऋग्वेद, पृ० १६९-१७०

क्रमशः उत्पन्न किया[५]। आलोचित पौराणिक दृष्टांत इस बात को विवादरहित कर देते हैं कि एतद् द्योतित काल में चातुर्वर्ण्य प्रतिष्ठित हो चुका था। इसका स्पष्टीकरण अन्य अनेक पौराणिक उद्धरण से भी होता है, जिसका विवेचन निम्नांकित है—

चातुर्वर्ण्य की प्रशंसा—जम्बुद्वीप की प्रशंसा करते हुए विष्णु पुराण में वर्णन आया है कि इस द्वीप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र व्यवस्थित होकर निवास करते हैं[६]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में शाकद्वीप की प्रशंसा हुई है, जिसमें इस पुराण के मतानुसार ब्राह्मणादि चार वर्ण का आवास मिलता है[७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में देववर्ग को भी चातुर्वर्ण्य-युक्त बताया गया है[८]। ब्रह्माण्ड पुराण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से संयुक्त सृष्टि की व्यवस्था को शाश्वत घोषित किया गया है[९]।

व्यवस्था का मूल—पौराणिक मत में चातुर्वर्ण्य-विभाजन सामाजिक व्यवस्था का विधायक है। इनके प्रसंगानुसार प्रत्येक युग का अवसान होने पर समाज में अव्यवस्था आ जाती है[१०]। अतएव सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से वर्णों का विभाजन किया जाता है[११]। चारों वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों से एक दूसरे को अनुग्रहीत करते हैं[१२]।

---

५. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्। मनुस्मृति, १।३१

६. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः..। विष्णु पु०, २।३।६

७. तत्र पुण्या जनपदाश्चातुर्वर्ण्यसमन्विताः। मत्स्य पु०, १२२।२८

८. चातुर्वर्ण्यं हि देवानाम् ते चाप्येकत्र भुञ्जते। वायु पु०, ३०।६७; ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।६५

९. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रैः सृष्टिरेषा सनातनी। ब्रह्माण्ड पु०,३।३१।३२

१०. द्वन्द्वाभिभवदुःखार्तास्ता भवन्ति ततः प्रजाः। विष्णु पु०, १।६।१७
सम्भेदश्चैव वर्णानां कार्याणां च विनिर्णयः। वायु पु०, ५८।४; ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।३; मत्स्य पु०, १४४।४

११. मर्यादां संस्थापयामास...वर्णानामाश्रमाणां च। विष्णु पु०,१।६।३२; वायु पु०, ८।१६१

१२. ब्राह्मणाननुवर्तन्ते क्षत्रियाः क्षत्रियान्विशः।
वैश्याननुवर्तिनः शूद्राः परस्परमनुव्रताः। वायु पु०, ५७।५२; ब्रह्माण्ड पु०, २।२९।५७; मत्स्य पु०, १४२।५२

धर्माचरण का मूल—विष्णु पुराण में चातुर्वर्ण्य के उद्भव का उद्देश्य यज्ञ-निष्पादन माना गया है[१३]। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों का कथन है कि चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था का कारण धर्म की स्थापना तथा पापाचार की निवृत्ति है[१४]। इन तीनों पुराणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के क्रमशः जप, युद्ध, हवन तथा परिचर्या के रूप में निष्पाद्य कर्त्तव्यों को यज्ञसम माना गया है[१५]।

वर्ण-व्यवस्था का दार्शनिक आधार—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आया है कि मनुष्य पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में उत्पन्न होते हैं[१६]। विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्मा की सन्तान सत्त्व गुण से युक्त ब्राह्मण है और रज, रज एवं तम, तथा केवल तम से युक्त सन्तान क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र हैं[१७]। प्रसंग-क्रम में यह वर्णित है कि ये चारों वर्ण इसी रूप में ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से उत्पन्न हुए हैं[१८]।

वर्णगत सामाजिक स्तर में भेद—विष्णु पुराण का कथन है कि शूद्र का

---

१३. यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्। विष्णु पु०, १।६।७

१४. प्रच्छन्नपापा ये जेतुमशक्या मनुजा भुवि।
धर्मसंस्थापनार्थाय...वर्णानां प्रविभागश्च। वायु पु०, ५७।५६; ब्रह्माण्ड पु०, २।२६।६५; मत्स्य पु०, १४२।४२

१५. आरंभयज्ञाः क्षत्रस्य हविर्यज्ञा विशांपतेः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु जपयज्ञा द्विजोत्तमाः। वायु पु०, ५७।५०; ब्रह्माण्ड पु०, २।२६।५५; मत्स्य पु०, १४२।५०

१६. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा द्रोहिजनास्तथा।
भाविताः पूर्वजातीषु कर्मभिश्च शुभाशुभैः। वायु पु०,८।१४०-१४१; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१३३

१७. अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः।
वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन्।
रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुतः।
पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजोत्तम।
तमःप्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः। विष्णु पु०, १।६।४-५

१८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १७

कर्म द्विजातियों के आश्रित है[१९]। द्विजाति के अन्तर्गत प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; इन तीनों वर्णों को सम्मिलित माना जाता था। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में एक स्थल पर स्पष्टतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विजाति की संज्ञा दी गई है[२०]। धर्मशास्त्रों में भी इन्हीं वर्णों को द्विजाति कहा गया है[२१]। द्विजाति शब्द से इन वर्णों के वेदाध्ययन का अधिकार निरूपित होता है[२२]।

भिन्नयुगीन गौरव—विष्णु पुराण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की महत्ता विभिन्न युगों में मानी गई है[२३]। इस प्रसंग में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का वर्णन अधिक स्पष्ट है। दोनों पुराणों में कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के युग माने गये हैं[२४]।

लोक-विषयक भेद—चारों पुराणों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वकर्म-निरत ब्राह्मण प्राजापत्य-लोक के अधिकारी हैं। ऐसे क्षत्रिय, जो संग्राम में पलायमान नहीं होते, ऐन्द्र-लोक प्राप्त करते हैं। स्वधर्म के लिए विहित कर्म को संपन्न करने वाले वैश्य का मारुत-लोक में अधिकार है तथा शूद्र, जिनका निश्चित कर्त्तव्य परिचर्या है, गांधर्व-लोक प्राप्त करते हैं[२५]।

---

१९. द्विजातिसंश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्। विष्णु पु०, ३।८।३२

२०. ब्रह्मक्षत्रविशो युक्ता यस्मात्तस्माद्द्विजातयः। वायु पु०, ५९।२१; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२२

२१. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। मनुस्मृति, १०।४
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। याज्ञवल्क्य स्मृति,१।१०

२२. द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्। आपस्तंब धर्मसूत्र, १।१।१-६

२३. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्राश्च द्विजसत्तम।
युगे युगे महात्मानः समतीतास्सहस्रशः। विष्णु पु०, ४।२४।११६

२४. ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियस्य स्मृतम्।
वैश्यं द्वापरमित्याहुः शूद्रं कलियुगं स्मृतम्। वायु पु०, ७८।३६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१४।४६

२५. प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम्।
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम्।
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम्।
गांधर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम्। विष्णु पु०, १।६।३४-३५; वायु पु०, ८।१७३-१७४; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१६५-१६७

अशौच काल-भेद—विष्णु, वायु एवं मत्स्य पुराणों में वर्णित है कि ब्राह्मण की शुद्धि दस दिनों में, क्षत्रिय की बारह दिनों में, वैश्य की पन्द्रह दिनों में तथा शूद्र की एक मास में होती है[२६]।

नामकरण-भेद—विष्णु पुराण में ब्राह्मण का नाम शर्म, क्षत्रिय का वर्म, वैश्य का गुप्त तथा शूद्र का दास शब्द से युक्त करने का उल्लेख हुआ है[२७]।

फलोपलब्धि-भेद—आलोचित पुराणों की व्यवस्था के अनुसार धार्मिक कृत्यों के आचरण के परिणाम में बहुविध उपलब्धियों का स्वरूप वर्णानुसार परस्पर भिन्न होता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का कथन है कि शिवस्तुति-पठन से ब्राह्मण वेदज्ञ बनता है, क्षत्रिय को पृथ्वी-विजय में सफलता मिलती है, वैश्य को व्यापार-लाभ होता है तथा शूद्र को सामान्य सुख की प्राप्ति होती है[२८]। एतत्सम निर्देश का निरूपण मत्स्य पुराण में तीर्थ-यात्रा की फलागम-उपादेयता के संदर्भ में हुआ है[२९]।

कर्त्तव्य-भेद—चारों पुराणों में अध्यापन, युद्ध, वाणिज्य और परिचर्या क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के कर्त्तव्य निश्चित किये गये हैं[३०]। इन पौराणिक उद्धरणों से चारों वर्णों की स्तर-भिन्नता पर प्रकाश पड़ता है। इनसे व्यक्त होता

---

२६. मृतबन्धोर्दशाहानि ...... ।
विप्रस्यैतद् द्वादशाहं राजन्यस्याप्यशौचकम् ।
अर्धमासं तु वैश्यस्य मासं शूद्रस्य शुद्धये । विष्णु पु०, ३।१३।१९;
वायु पु०, ७९।२२-२३; मत्स्य पु०, १८।३

२७. शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम् ।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः । विष्णु पु०, ३।१०।९

२८. ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो जयते महीम् ।
वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रः सुखमवाप्नुयात् । वायु पु०, ५४।१११;
ब्रह्माण्ड पु०, २।२५।१०७-१०८

२९. ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रः प्राप्नोति सद्गतिम् । मत्स्य पु०, १९४।५०

३०. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः ।
इज्यायुधवाणिज्याद्यैर्वर्तयन्तो व्यवस्थिताः । विष्णु पु०, २।३।९;
वायु पु०, ८।१६९-१७१; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१६१-१६३; मत्स्य पु०, ११४।१२

है कि ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा, क्षत्रिय वैश्य की अपेक्षा तथा वैश्य शूद्र की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे। ऐसी भावना की प्रतिष्ठा उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र; इनमें क्रमशः पहले को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है[३१]। यही व्यवस्था धर्मशास्त्रों की भी है। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र और मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की अशौच-अवधि क्रमशः दस, बारह, पन्द्रह तथा तीस दिनों की बताई गई है[३२]। इन उद्धरणों के द्वारा जाति-प्रथा की जाटिलता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

जाति-परिवर्तन—जाति-प्रथा की जटिलता के द्योतक उक्त विधान-परक उद्धरणों के साथ-साथ ऐसे उदाहरण भी इन पुराणों में विकीर्ण हैं, जिनके द्वारा जाति-परिवर्तन का ज्ञापन होता है। इन चारों पुराणों में वे विशिष्ट ब्राह्मण वर्णित हैं, जिन्होंने क्षात्र धर्म को स्वीकार किया था[३३]। विष्णु पुराण में कहा गया है कि नृप दुरुक्षय के पुत्र ने बाद में विप्रत्व को स्वीकार किया था[३४]। शूद्रा से उत्पन्न कक्षीवान् के विषय में वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों का कथन है कि तपश्चर्या के कारण इन्हें ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई थी[३५]। ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में

३१. तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णा पश्चादनुयन्त्यक। श० ब्रा०, ६।४।४।१३

३२. शावमशौचं दशरात्रम्...एकादशरात्रं क्षत्रियस्य।
द्वादशरात्रं वैश्यस्य अर्धमासमेके। मासं शूद्रस्य। गौतम धर्मसूत्र,१४।१-५
शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति। मनुस्मृति, ५।८३

३३. मुद्गलाच्च मौद्गल्याः क्षात्रोपेता द्विजातयो बभूव। विष्णु पु०,४।१९।६०
रथीतराणां प्रवराः क्षात्रोपेता द्विजातयः। वायु पु०, ८८।७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।७
श्रूयंते हि तपःसिद्धा ब्रह्मक्षत्रादयो नृपाः। मत्स्य पु०,१४४।३७

३४. तच्च पुत्रत्रितयं पश्चाद्विप्रतामुपजगाम। विष्णु पु०,४।१९।२६

३५. विधूय सानुजो दोषान्ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्प्रभुः। वायु पु०, ९९।९४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।९६
विधूय मातृजं कायं ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्विभुः। मत्स्य पु०, ४८।८६

वर्णित है कि बलि के पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय दो प्रकार के वर्णों में विभक्त हुए[३६]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आख्यात है कि गोवध के कारण नृप-पुत्र पृषध्र शूद्रता को प्राप्त हुआ[३७]। विष्णु पुराण के अनुसार राजा त्रिशंकु नीच कर्म के कारण चण्डालत्व को प्राप्त हुए थे[३८]।

जाति-परिवर्तन के इन उदाहरणों से जाति-प्रथा की शिथिलता की सूचना मिलती है। इससे यह भी व्यक्त होता है कि जाति के निर्धारण में कर्म का स्थान न्यूनाधिक अंशों में विद्यमान था। अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे विचार प्रकट किए गए हैं। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति[३९] और महाभारत[४०] में ऐसे क्षत्रियों के प्रति संकेत किया गया है, जो अपने कर्म के कारण शूद्र हो गये थे। किन्तु, सामान्यतः जाति-प्रथा का रूप जटिल था। प्रत्येक वर्ण को निर्धारित कर्म-परिधि के अंतर्गत रहना पड़ता था। एतत् प्रतिपादक विचार पुराण-ग्रन्थों के अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था के बोधक धर्मशास्त्रों में भी प्राप्त होते हैं। गौतम धर्मसूत्र[४१] तथा मनुस्मृति[४२] में प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार आपत्तिकालीन अवस्था में ही वर्णों के कर्त्तव्य में परिवर्तन हो सकता था, सामान्य स्थिति में नहीं। आलोचित पुराणों में ऐसे विचार विष्णु पुराण में प्रकट किए गए हैं। इसके निर्देशानुसार आपत्तिकालीन अवस्था में ब्राह्मण, क्षात्रोचित कर्म को अपना सकता है तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्य के कर्म का अनुसरण कर सकते

---

३६. बालेया ब्राह्मणाश्चैव तस्य वंशकराः प्रभोः। वायु पु०, ९९।२९, ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।२८; मत्स्य पु०, ४८।२५

३७. पृषध्रस्तु मनुपुत्रो गुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगमत्। विष्णु पु०, ४।१।१७
पृषध्रो हिंसयित्वा तु गुरोर्गां निशि तत्क्षये।
शापाच्छूद्रत्वमापन्नश्च्यवनस्य महात्मनः। ब्रह्माण्ड पु०,३।६१।२
पृषध्रो गोवधाच्छूद्रो गुरुशापादजायत। मत्स्य पु०, १२।२५

३८. योऽसौ त्रिशंकुसंज्ञामवाप।
स चाण्डालतामुपागतश्च। विष्णु पु०, ४।३।२१-२३

३९. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणातिक्रमेण च। मनुस्मृति, १०।४३

४०. महाभारत, १३।३३

४१. आपत्कल्पो हि ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः। गौतम धर्मसूत्र ७।१

४२. अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण सह्यस्य प्रत्यनन्तरः। मनुस्मृति, १०।८१

हैं, पर शूद्र का नहीं। प्रस्तुत संदर्भ में इस बात पर बल दिया गया है कि यह व्यवस्था केवल आपत्काल के लिये है। समर्थ होने पर पुनः अपने कर्म का ही अनुसरण करना चाहिये[४३]। संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में यहाँ मृच्छकटिक का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके स्थलों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण चारुदत्त को एक सुसंपन्न व्यापारी होने का अवसर मिला था। अतएव नाटककार ने उसे 'द्विज-सार्थवाह' की संज्ञा दी है[४४]।

वर्णों का सामाजिक स्तर : विशेषाधिकार तथा नामार्थ शब्द—ब्राह्मण के लिए प्रायः ब्राह्मण अथवा विप्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पर कहीं-कहीं इसके द्योतनार्थ द्विज अथवा द्विजाति शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, चारों वर्णों के कर्त्तव्य-निरूपण में विष्णु पुराण ने एक ही प्रसंग में ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण, विप्र और द्विज शब्दों का उल्लेख किया है[४५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उद्भव-निरूपण में ब्राह्मण के लिए द्विजाति शब्द प्रयुक्त मिलता है[४६]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में एक स्थल पर मार्कण्डेय के आख्यान-प्रसंग में ब्राह्मण के लिये द्विज शब्द का व्यवहार हुआ है[४७]। आलोचित पुराणों के अतिरिक्त स्मृतियों में भी कहीं-कहीं ब्राह्मण को द्विज कहा गया है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में कव्य-दान के अधिकारी ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण

---

४३. गुणांस्तथापद्धर्मांश्च विप्रादीनामिमांछृणु ।
क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यकर्म तथापदि ।
राजन्यस्य च वैश्यस्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयोः ।
सामर्थ्येये सति तत्त्यज्यमुभाभ्यामपि पार्थिव ।
तदेवापदि कर्त्तव्यं न कुर्यात्कर्मसंकरम् । विष्णु पु०, ३।८।४०

४४. द्रष्टव्य, लेखक का निबंध, 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन'; हिन्दुस्तानी, १९६५, पृ० २७१

४५. नित्योदकी भवेद्विप्रः कुर्याच्चापरिग्रहम् ।
सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विजः ।
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम् । विष्णु पु०, ३।८।२४

४६. मनोः क्षत्रं विशश्चैव सप्तर्षिभ्यो द्विजातयः । वायु पु०, ६२।२२
ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।२३

४७. अपश्यद्देवकुक्षिस्थान्याजकाञ्छतशो द्विजान् । मत्स्य पु०, १६७।२८

शब्द के स्थान पर द्विज शब्द का प्रयोग हुआ है[४८]। पर ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ इस शब्द का तात्पर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों से है। इसका विवेचन पूर्वगामी तद्विषयक प्रसंग में हो चुका है[४९]।

ब्राह्मण : देव-सम—विष्णु पुराण में पुत्र-जन्म के अवसर पर निमंत्रित ब्राह्मणों का तादात्म्य देवों से किया गया है[५०]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ब्राह्मण रुद्र का शरीर है[५१]। मत्स्य पुराण में एक स्थल पर उपास्य चन्द्रमा एवं ब्राह्मण में एकता स्थापित की गई है[५२]। ऐसी प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव वैदिक काल में ही हो चुका था। तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मण को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है[५३]। इस प्रकार के उल्लेख स्मृतियों में भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णु स्मृति में ब्राह्मण को साकार देवता माना गया है[५४]।

ब्राह्मण : देवरक्षक—विष्णु पुराण के अनुसार बालखिल्य आदि ब्राह्मणों से अभिरक्षित होकर भगवान् सूर्य जगत् का पालन करते हैं[५५]। मत्स्य पुराण का कथन है कि बालखिल्य ऋषि सूर्य को उदय से अस्त तक अभिरक्षित करते हैं[५६]। पुराणों के अतिरिक्त ऐसे विचार अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णु स्मृति में स्वर्वासी देवताओं की स्थिति का कारण ब्राह्मणों की कृपा मानी गई है[५७]। महाभारत के अनुसार आकाश में सूर्य की स्थिति का आधार ब्राह्मणों का नमस्कार है[५८]।

---

४८. निवसन्नात्मवान्द्विजः। मनुस्मृति, ५।४२

४९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ४५-४७

५०. युग्मान्देवांश्च पित्र्यांश्च सम्यक्सव्यक्रमाद् द्विजान्। विष्णु पु०, ३।१३।२

५१. दीक्षितो ब्राह्मणश्चन्द्र इत्येवं तेऽष्टधा तनुः। ब्रह्माण्ड पु०,२।१०।२०

५२. चन्द्रोऽयं द्विजरूपेण। मत्स्य पु०, ५७।८१

५३. एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः। तै० सं०, १।७।३।१

५४. प्रत्यक्षदेवताः ब्राह्मणाः। विष्णु स्मृति १९।२०

५५. ततः प्रयाति भगवान्ब्राह्मणैरभिरक्षितः।
बालखिल्यादिभिश्चैव जगतः पालनोद्यतः। विष्णु पु०, २।८।५९

५६. बालखिल्या नयन्त्यस्तं परिवार्योदयाद्रविम्। मत्स्य पु०, १२६।२८

५७. ब्राह्मणानां प्रसादेन दिवि तिष्ठन्ति देवताः। विष्णु स्मृति १९।२१

५८. ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते। वनपर्व, ३०३।१६

ब्राह्मण की श्रेष्ठता—मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्म का अंश सभी प्राणियों में विद्यमान रहता है, पर ब्राह्मण में उसका अंश-विशेष होता है[५९]। विष्णु पुराण में ब्राह्मण-शरीर की छाया लाँघना तथा तत्समक्ष मलमूत्र-उत्सर्ग वर्जित माना गया है[६०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के निर्देशानुसार ब्राह्मण के आचरण के विषय में कभी तर्क नहीं करना चाहिये[६१]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करना अनुचित है[६२]। एतद् विषयक विचार उपनिषदों के समय से ही मिलने लगते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्राह्मण की निन्दा करना निषिद्ध है[६३]। विष्णु स्मृति में ब्राह्मण की छाया पर चरण-निक्षेप वर्जित किया गया है[६४]। मनु-स्मृति के अनुसार मनुष्यों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं[६५]।

ब्राह्मण की अवध्यता—विष्णु पुराण में ब्राह्मण-हन्ता एवं ऐसे लोगों के साथ सम्पर्क रखने वाले व्यक्ति को नरकगामी घोषित किया गया है[६६]। मत्स्य पुराण के अनुसार ब्राह्मण की हत्या करना अनुचित है, चाहे वह पापाचारी ही क्यों न हो[६७]। अन्यत्र ब्राह्मण की हत्या को भ्रूणहत्या के समान पाप माना गया है[६८]। ब्रह्माण्ड पुराण का कथन है कि ब्राह्मण-हत्या की निवृत्ति उत्कट तपस्या से भी नहीं हो सकती[६९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार ऋषियों को एक कार्य-विशेष के

---

५९. यथा सर्वेषु भूतेषु ब्रह्म सर्वत्र दृश्यते।
ब्राह्मणे वाऽस्ति यत्किंचिद्ब्राह्ममिति वोच्यते। मत्स्य पु०, १०९।१३-१४

६०. पूज्यदेवद्विजज्योतिश्छायां नातिक्रमेद् बुधः। विष्णु पु०, ३।१२।१४
गुरुद्विजादींस्तु बुधो नाधिमहेत्कदाचन। वही, ३।११।१०

६१. न ब्राह्मणान् परीक्षेत सदा देये तु मानवः। वायु पु०, ८३।२१
न ब्राह्मणं परीक्षेत् सदा देयं हि मानवैः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१९।२१

६२. ब्राह्मणो नावमन्तव्यो वन्दनीयश्च नित्यशः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२८।५४

६३. ब्राह्मणान्न निन्देत। बृहदारण्यक उपनिषद्, २।२०।२

६४. देवब्राह्मणगुरुबभ्रुदीक्षितानां छायां नाक्रामेत्। विष्णु स्मृति, ६३।४०

६५. बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृता। मनुस्मृति, १।९६

६६. सुरापो ब्रह्महा हर्ता सुवर्णस्य च सूकरे।
प्रयान्ति नरके यश्च तैः संसर्गमुपैति वै। विष्णु पु०, २।६।९

६७. ब्राह्मणं नैव हन्यात्तु सर्वपापेष्ववस्थितम्। मत्स्य पु०, २२७।२१४

६८. ब्रह्महत्यासहस्रस्य भ्रूणहत्याशतस्य च। वही, ८०।१२

६९. ..ब्रह्महत्योत्थपातक..नानेन तपसा प्रणश्यति। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२३।६६

लिए ब्रह्म-हत्या की शपथ लेनी पड़ी थी[७०]। वैदिक काल से ही ब्राह्मण को अवध्य मानने की प्रवृत्ति चली आ रही थी। शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि इस निन्द्य कार्यार्थ प्रायश्चित्त करना पड़ता था[७१]। ब्राह्मण की अवध्यता के उदाहरण धर्मसूत्र और स्मृतियों में भी मिलते हैं। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार सभी अपराधों के करने पर भी ब्राह्मण अवध्य है[७२]। इसी प्रकार विष्णु स्मृति और मनुस्मृति में ब्राह्मण को अवध्य माना गया है[७३]।

ब्राह्मण के कर्त्तव्य : अध्ययन—विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण को स्वाध्याय में तत्पर रहना चाहिये[७४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विद्या को ब्राह्मणों का धन माना गया है[७५]। मत्स्य पुराण में विद्या की श्रेष्ठता ब्राह्मणों की कसौटी बताई गई है[७६]। विद्या से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा निर्णीत करने की प्रवृत्ति वैदिक काल में ही आविर्भूत हो चुकी थी। छान्दोग्य उपनिषद् में अविद्वान् ब्राह्मण के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है[७७]। इसी प्रकार धर्मसूत्र और स्मृति-परक ग्रन्थों में अध्ययन ब्राह्मण का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है[७८]।

अध्यापन—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का कथन है कि वेद का प्रचार

---

७०. स कुर्याद्‌ब्रह्मवध्यां वै समयो नः प्रकीर्त्तितः। वायु पु०, ६१।१३; ब्रह्माण्ड पु०, २।३५।१६

७१. ब्रह्महत्यायै प्रायश्चित्तिः। शतपथ ब्राह्मण, १३।३।५।४

७२. बौधायन धर्मसूत्र, १।६।१६।१५

७३. ब्रह्महत्या.....महापातकानि। विष्णु स्मृति, ३५।१; मनुस्मृति, ८।८६

७४. दानं दद्याद्यजेद्देवान्यज्ञैस्स्वाध्यायतत्परः।
नित्योदकी भवेद्विप्रः कुर्याच्चाग्निपरिग्रहम्। विष्णु पु०, ३।८।२२

७५. विद्यावित्तं द्विजोत्तमाः। वायु पु०,६०।३८ (ब्रह्माण्ड पुराण में वित्तवित्तं द्विजोत्तमाः, २।३४।४१, पाठ मिलता है, जो भ्रांतिमूलक है। प्रसंग की दृष्टि से वायु पुराण का ही पाठ उपयुक्त है।)

७६. यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स वै सम्भवति द्विजानाम्। मत्स्य पु०, ३८।२

७७. छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।१

७८. द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्। गौतम धर्मसूत्र, १०।१
द्विजानां यजनाध्ययने। विष्णु स्मृति, २।६

ब्राह्मणों ने किया था[७९]। दोनों पुराणों में वसिष्ठ को वेद का निर्णायिक माना गया है[८०]। मत्स्य पुराण ने कण्डरीक नामक मन्त्री को वेद और शास्त्र का प्रवर्त्तक वर्णित किया है[८१]। विष्णु पुराण के अनुसार और्व ने सगर को वेद और शास्त्र की शिक्षा दी थी[८२]। ब्राह्मण के अध्यापन-विषयक उदाहरण उत्तरवैदिक साहित्य से ही मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक-उपनिषद् में क्षत्रिय का ब्राह्मण द्वारा अध्यापित होना अनुकूल व्यवस्था मानी गई है[८३]। धर्मसूत्र और स्मृतियों में ब्राह्मण के अध्यापक होने का प्रसंग अनेक स्थलों पर मिलता है[८४]। इस व्यवस्था के होते हुए भी क्षत्रियों के अध्यापन के उदाहरण मिलते हैं। इसके प्रमाण आगामी तद्विषयक विवेचन में उपलब्ध होंगे[८५]।

निर्धनता एवं सदाचार—विष्णु पुराण में ब्राह्मण का कुल सदाचार और पवित्रता से युक्त बताया गया है और विवेचित है कि ब्राह्मण किसी का अहित न कर सभी प्राणियों में मैत्री-भाव रखे तथा पत्थर और पराए रत्न में समान बुद्धि

---

७९. संहिताश्च ततो मन्त्रा ऋषिभिर्ब्राह्मणैस्तु ते। वायु पु०, ५७।६० (ब्रह्माण्ड पुराण में 'संहिताश्च' के स्थान पर 'संभृताच्च' पाठ मिलता है। शेष वायु पु० के समान ही है। यह पाठान्तर प्रसंग की दृष्टि से समीचीन नहीं लगता है। ब्रह्माण्ड पु०, २।२९।६६)

८०. पुरा कृतयुगे विप्रो वेदनिर्णयतत्परः।
वसिष्ठो नाम धर्मात्मा मानसो वै प्रजापतेः। वायु पु०, ५४।१८; ब्रह्माण्ड पु०, २।२५।१५

८१. कण्डरीकोऽपि धर्मात्मा वेदशास्त्रप्रवर्तकः। मत्स्य पु०, २१।३१

८२. कृतोपनयनं चैनमौर्वो वेदशास्त्राण्यस्त्रं......अध्यापयामास। विष्णु पु०, ४।३।३७

८३. प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति। बृहदारण्यक उपनिषद्, २।१।१५

८४. ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। गौतम धर्मसूत्र, १०।२
ब्राह्मणस्याध्यापनम्। विष्णु स्मृति, २।५

८५. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १७३

निहित करे। शान्ति, ज्ञान और तितिक्षा ब्राह्मण के गुण माने गये हैं[८६]। वायु पुराण में वर्णित है कि ब्राह्मण को अपनी जीविका का निर्वाह उंछवृत्ति से करना चाहिये[८७]। मत्स्य पुराण में सदाचारहीनता ब्राह्मणों का कर्मदोष माना गया है, जिसके परिणाम में प्रजा को भय का सामना करना पड़ता है[८८]। एतत्प्रतिपादक व्यवस्था वैदिक, धर्मसूत्र तथा स्मृति ग्रन्थों में भी मिलती है। उत्तरवैदिक साहित्य तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण के यहाँ लक्ष्मी नहीं निवास करतीं[८९]। वसिष्ठ धर्मसूत्र तथा मनुस्मृति में भी सभी प्राणियों से मैत्री-भाव रखना ब्राह्मण का लक्षण वर्णित है[९०]।

ब्राह्मण और प्रतिग्रह—विष्णु पुराण के अनुसार अविद्वान् ब्राह्मण को दान देना उचित नहीं है। ऐसा निर्देशित है कि ब्राह्मण को दानोपरान्त ही मिष्ठान्न ग्रहण करना चाहिये[९१]। काशी के एक राजा के विषय में वर्णित है कि प्रसूति-अवधि के उपरान्त भी उनकी कन्या उत्पन्न नहीं हुई, अतएव अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये काशिराज को नित्यप्रति ब्राह्मणों को दान करना पड़ा[९२]। मत्स्य

---

८६. तत्र चोत्सृष्टदेहोऽसो जज्ञे जातिस्मरो द्विजः।
सदाचारवतां शुद्धे योगिनां प्रवरे कुले। विष्णु पु०, २।१३।३६
सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विजः।
मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम्।
ग्राव्णि रत्ने च पारक्ये समबुद्धिर्भवेद् द्विजः। वही, ३।८।२४-२५
शान्तिज्ञानतितिक्षादिब्राह्मणगुणसंपत्। वही, ४।७।२७

८७. गूढस्वाध्यायतपसस्तथा चैवोंछवृत्तयः। वायु पु०, १०१।२८३

८८. दुरिष्टैर्दुरधीतैश्च दुराचारैर्दुरागमैः।
विप्राणां कर्मदोषैस्तैः प्रजानां जायते भयम्। मत्स्य पु०,१४४।३५-३६

८९. न वै ब्राह्मणे श्री रमते। तै० ब्रा०, ३।६।१४

९०. जाप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यं नं वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। वसिष्ठ धर्मसूत्र, २६।११
जाप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्नं वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। मनुस्मृति, २।८७

९१. सर्वमेकपदे नष्टं दानमश्रोत्रिये यथा। विष्णु पु०, ५।३८।३०
भुंक्तेऽप्रदाय विप्रेभ्यो मिष्टमेकोऽथवा भवान्। वही, ५।३८।३९

९२. राजा दिने दिने ब्राह्मणाय गां प्रादात्।
सापि तावता कालेन जाता। वही, ४।१३।१२२-१२३

पुराण में वर्णित है कि प्रतिग्रह का अधिकार उसी ब्राह्मण को प्राप्त है, जो ब्रह्म का ज्ञाता हो[९३]। प्रस्तुत पुराण के प्रसंगान्तर में निरूपित है कि दान का अधिकारी, वही ब्राह्मण हो सकता है, जो शान्तचित्त एवं वेद में पारंगत हो[९४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का कथन है कि ब्राह्मण देवों के मुख के समान हैं, अतएव उन्हें दान देना उचित है[९५]। वायु पुराण के प्रसंगानुसार यज्ञ की प्रतिष्ठा, विप्र की दक्षिणा में सन्निहित है[९६]। इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन धर्मसूत्र और स्मृतियों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र में श्रोत्रिय ब्राह्मण का भरणकर्त्ता राजा माना गया है[९७]। इसी प्रकार मनुस्मृति में निर्देशित है कि अविद्वान् ब्राह्मण को दान देने से दाता और ब्राह्मण दोनों का विनाश होता है[९८]।

ब्राह्मण और श्राद्ध—मत्स्य पुराण की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने से पितरों को प्रसन्नता होती है[९९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण को भोजन से संतुष्ट करना चाहिये[१००]। विष्णु पुराण का कथन है कि श्राद्ध में गुणवान् ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये[१०१]। ब्राह्मण के श्राद्धीय भोजन की प्रथा धर्मसूत्र और स्मृतियों के काल में पूर्णतः प्रचलित थी। इनके उद्धरणों से पौराणिक उल्लेखों का समर्थन हो सकता है। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र श्रोत्रिय, वाक्, रूप, वयस् एवं शील

---

९३. नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य। मत्स्य पु०, ४१।११

९४. विप्राय शान्ताय वेदव्रतपाराय च। मत्स्य पु०, ९५।२९

९५. ब्राह्मणेभ्यो विशेषेण मुखमेतत्तु दैवतम्। वायु पु०, ५०।१९९; ब्राह्मण्ड पु०, २।२१।१४९

९६. यज्ञस्य प्रतिष्ठार्थं विप्रेभ्यो दक्षिणां ददौ। वायु पु०, १०६।४२

९७. विभृयाद् ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्। गौतम धर्मसूत्र, १०।९-१०

९८. अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति। मनुस्मृति, ४।१९०

९९. ......विप्राः श्राद्धे भोज्याः प्रयत्नतः।
पितृणां वल्लभं यस्मादेषु श्राद्धं नरेश्वर। मत्स्य पु०, २०४।१

१००. पूर्वं निवेदयेत्पिण्डं पश्चाद्विप्रांश्च भोजयेत्। वायु पु०, ७६।२६
पूर्वं निवेदयेत्पिण्डान् पश्चाद्विप्रांश्च भोजयेत्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१२।२६

१०१. ब्राह्मणान्भोजयेच्छ्राद्धे............... । विष्णु पु०, ३।१५।१

से संपन्न ब्राह्मण को श्राद्ध में निमंत्र्य घोषित करता है[१०२]। मनुस्मृति में निरूपित है कि श्रुति के ज्ञाता तथा योग्यतम् ब्राह्मण को श्राद्धीय भोजन कराने से अधिक फल मिलता है[१०३]।

ब्राह्मण और यज्ञानुष्ठान—वायु पुराण के अनुसार ब्राह्मणों ने नृप जनमेजय का यज्ञ सम्पन्न कराया था[१०४]। विष्णु पुराण में वसिष्ठ को नृप सौदास का पुरोहित बताया गया है[१०५]। विष्णु और मत्स्य पुराणों के अनुसार पहले वसिष्ठ निमि के पुरोहित थे[१०६]। ब्राह्मण के पुरोहित होने की परम्परा प्रायः पूर्व वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद में तृत्सु वंश के शासक सुदास के पुरोहित विश्वामित्र एवं वसिष्ठ का वर्णन मिलता है[१०७]। उत्तर वैदिक काल तक पौरोहित्य कार्य ब्राह्मणों का विशेषाधिकार हो चुका था। इसका पुष्टीकरण ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लेख से होता है, जिसमें वर्णित है कि पुरोहित के अभाव में राजा द्वारा दिये गये हवनीय पदार्थ को देवता स्वीकार नहीं करते[१०८]। धर्मसूत्र और स्मृतियों में भी वर्णित है कि अपना तथा दूसरों का पुरोहित बनना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है[१०९]।

ब्राह्मण और राजनीति—मत्स्य पुराण के अनुसार राजा को चाहिये कि वह ब्राह्मण को कुपित न करे। ऐसा करने से राष्ट्र का विनाश हो जाता है[११०]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन मिलता है कि रजि नरेश के पुत्र, ब्राह्मणों

---

१०२. श्रोत्रियान्वाग्रूपवयःशीलसम्पन्नान् । गौतम धर्मसूत्र, १५।९

१०३. अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्। मनुस्मृति, ३।१२८

१०४. परीक्षितस्तु दायादो राजासीज्जन्मेजयः।
ब्राह्मणान् स्थापयामास स वै वाजसनेयिकान्। वायु पु०, ९९।२४४

१०५. कालेन गच्छता सौदासो यज्ञमयजत्।
परिनिष्ठितयज्ञे आचार्ये वसिष्ठे... । विष्णु पु०,४।४।४५-४६

१०६. वसिष्ठं च होतारं वरयामास। विष्णु पु०, ४।५।१-२
वसिष्ठस्तु महातेजा निमेः पूर्वपुरोहितः। मत्स्य पु०, २०१।१

१०७. ऋग्वेद, ३।३३।८;७।१८।८३

१०८. ऐतरेय ब्राह्मण, १८।२४

१०९. ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः । गौतम धर्मसूत्र, १०।२
......यजनं याजनं···कर्माण्यग्रजन्मनः । मनुस्मृति, १०।७५

११०. हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः। मत्स्य पु०, ३०।२५

से द्वेष के कारण नष्ट हो गये[१११]। ब्राह्मणों की राजनीतिक महत्ता वैदिक काल में ही प्रतिपादित हो चुकी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित को राजा के अर्द्धात्म-सदृश माना गया है[११२]। यह परम्परा आगे भी निर्बाधतः गतिशील थी। यही कारण है कि धर्मसूत्र और स्मृतियों के भिन्न-भिन्न स्थलों में ब्राह्मण की राजनीतिक महत्ता व्यक्त हुई है[११३]। ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि राजाओं के राज्याभिषेक अथवा नियुक्ति में ब्राह्मणों का विशेष योग रहता था। उदाहरणार्थ, देवापि और शान्तनु के विषय में विष्णु पुराण में वर्णित है कि देवापि के वेद-विरुद्ध आचरण करने पर ब्राह्मणों ने शान्तनु को राजा बनाया[११४]। विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों के अनुसार राजा के अभाव में ब्राह्मणों ने वेन के कर-स्थल से उनके पुत्र वैन्य को उत्पन्न कर राज्याभिषिक्त किया[११५]।

कतिपय उद्धरणों से प्रतीत होता है कि राजा की अनुपस्थिति में ब्राह्मण स्वयं शासन करते थे। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार अयोध्याधिपति त्रय्यारुण तथा उनके पुत्र सत्यव्रत के राज्य छोड़ने पर पुरोहित वसिष्ठ ने स्वयं अयोध्या का शासन संभाला था[११६]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार भगीरथ नृप ने

---

११. ब्रह्मद्विषो......तानपेतधर्मानिन्द्रो जघान। विष्णु पु०, ४।६।२०-२१; वायु पु०, ९२।९६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।१०३-४

११२. अर्धात्मा ह वा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः। ऐतरेय ब्राह्मण, ३४।८

११३. राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित्। गौतम धर्मसूत्र, १३।२६
यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुंजयाद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने। मनुस्मृति, ८।९

११४. ततस्ते ब्राह्मणाश्शान्तनुमूचुः। आगच्छ हे राजन्...पतितोऽयमनादि-कालमहितवेदवचनदूषणोच्चारणात्। ..इत्युक्तश्शान्तनुः राज्यमकरोत्। विष्णु पु०, ४।२०।२८-२९

११५. वेनस्य पाणौ मथिते...वैन्यो नाम महीपालो...। विष्णु पु०,१।१३।८-९; वायु पु०, ६२।१२५-१२६; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१४६-१४७; मत्स्य पु०, १०।६-१४

११६. अयोध्यां चैव राज्यं च तथैवान्तःपुरं मुनिः।
याज्योपाध्यायसंयोगाद्वसिष्ठः पर्यरक्षत। वायु पु०, ८८।९४
अयोध्यां चैव राष्ट्रं च तथैवान्तःपुरं मुनिः।
याज्योत्थान्यायसंयोगाद्वसिष्ठः पर्यरक्षत। ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।९३

वनवास के पूर्व राज्य को प्रधान मन्त्री के हस्तगत किया था[११७]। मत्स्य पुराण के अनुसार तपश्चर्यार्थ प्रस्थान करने के पूर्व पुरूरवा ने राज्य को मन्त्री के हाथों में सौंपा था[११८]।

क्षत्रिय : नामार्थ शब्द—क्षत्रिय के लिये क्षत्र शब्द का प्रयोग आलोचित चारों पुराणों में हुआ है[११९]। वायु पुराण में एक स्थल पर क्षत्र और ब्रह्म शब्दों को क्रमशः क्षत्रिय और ब्राह्मण के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है[१२०]। क्षत्रिय के लिये राजन्य शब्द का प्रयोग भी हुआ है[१२१]। पर सामान्यतः क्षत्रिय शब्द ही चारों पुराणों में व्यवहृत मिलता है[१२२]। क्षत्रिय के लिए इन तीनों शब्दों की प्रयोग-परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में क्षत्र शब्द का उल्लेख हुआ है, पर पराक्रम के अर्थ में[१२३]। चतुर्थ मण्डल में क्षत्रिय शब्द राष्ट्र-शास्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[१२४]। सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में क्षत्रिय के लिये राजन्य शब्द उल्लिखित है[१२५]। इसी प्रकार वैदिक साहित्य के भिन्न-भिन्न स्थलों में

---

११७. स मंत्रिप्रवरे राज्यं विन्यस्य तपसे वनम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।५६।३६

११८. राज्यं मंत्रिगतं कृत्वा जगाम हिमपर्वतम्। मत्स्य पु०, ११५।१७

११९. ...क्षत्रांतकारी भविष्यति । विष्णु पु०, ४।२४।२०
...यैः क्षत्रं संप्रवर्तितम् । वायु पु०, २८।२६
...यैः क्षत्रं संप्रवर्तितम् । ब्रह्माण्ड पु०, २।११।३४
...क्षत्रधर्मव्यवस्थितम् । मत्स्य पु०, १०३।२१

१२०. कीर्त्तनं ब्रह्मक्षत्रस्य...... । वायु पु०, १।४७; ब्रह्माण्ड पु०, में 'ब्रह्मवृक्षस्य' पाठ आता है । १।१।४६

१२१. राजन्यवैश्यहा...... । विष्णु पु०, २।६।१०

१२२. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च... । विष्णु पु०, १।६।६; मत्स्य पु०, ११४।१२;
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा... । वायु पु०, ८।१३६; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१३३

१२३. ऋग्वेद, १।१५७।२

१२४. वही, ४।४२।१

१२५. बाहू राजन्यः कृतः । वही, १०।९०।१२

क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं[१२६]। इस परम्परा का निर्वाह पुराणों के अतिरिक्त धर्मसूत्र और स्मृतियों ने भी किया है, जिनमें क्षत्रिय के लिये क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य तीनों शब्दों का प्रयोग हुआ है[१२७]। पर क्षत्रिय शब्द का प्रचलन अधिक उपलब्ध है।

क्षत्रिय के कर्त्तव्य: युद्ध-कौशल—मत्स्य पुराण की व्यवस्थानुसार रणकौशल क्षत्रियों के लिए अनिवार्य है। इस पुराण में विवेचित है कि उसे हस्ति और अश्व की शिक्षा में निपुण होना चाहिये। वह कर्मवीर हो तथा संकटापन्न परिस्थितियों के सहनार्थ उसमें क्षमता विद्यमान हो। व्यूह-रचना आदि युद्ध-विषयक कलाओं का उसे पूर्ण ज्ञान रहना चाहिये[१२८]। विष्णु पुराण में निर्देशित है कि शस्त्र, क्षत्रिय की श्रेष्ठ जीविका है[१२९]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि जो क्षत्रिय संग्राम में पलायमान नहीं होते, उन्हें इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है[१३०]। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में क्षत्रिय की साधना का उद्देश्य हैं; आक्रमण में सफलता तथा युद्ध में विजयश्री की प्राप्ति[१३१]। क्षत्रिय के रणकौशल का प्रतिपादन वैदिक काल में ही हो चुका था। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि क्षत्रिय विजेता के रूप में उत्पन्न होता है[१३२]। पुराणेतर उत्तरकालीन अन्य ग्रन्थों में

---

१२६. तत्क्षत्रायैवैतद्विश ...... । श० ब्रा०, ५।३।३।१०
तस्माद् क्षत्रियेण...... । वही, ४।१।४।६
तस्माद् ब्राह्मणो राजन्यवान्... । तैत्तिरीय संहिता, ४।१।१०

१२७. ...क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः । गौतम धर्मसूत्र, ५।४४
क्षत्रियं चैव...... । मनुस्मृति, ४।१३५
ब्रह्मक्षत्रं च...... । वही, ९।३२२
न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते । वही, ३।११०

१२८. कुलीनः शीलसंपन्नो धनुर्वेदविशारदः ।
हस्तिशिक्षाश्वशिक्षासु कुशलः श्लक्ष्णभाषितः ।
कृतज्ञः कर्मणां शूरः क्लेशसहस्त्वृजुः ।
व्यूहतत्त्वविधानज्ञः... । मत्स्य पु०, २१५।८-१०

१२९. शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका । विष्णु पु०, ३।८।२७

१३०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २५

१३१. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २८-२९

१३२. द्रष्टव्य, से० बु० ई०, ४४, पृष्ठ २९५

भी (उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में) युद्धकला में निपुणता क्षत्रिय का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य निर्देशित है[१३३]। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि हस्ति-शिक्षा में पाटव प्राप्त करना क्षत्रिय के लिये गौरव माना जाता था[१३४]।

प्रजा-पालन—विष्णु पुराण के अनुसार प्रजा का पालन करना क्षत्रिय का परम कर्त्तव्य है। इसी प्रसंग में निर्दिष्ट है कि अशिष्टों को उचित मार्ग पर लाने तथा शिष्ट लोगों का पालन करने से क्षत्रिय अभीष्ट लोक को प्राप्त करने में सफल होते हैं[१३५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के एक उदाहरण के अनुसार नृप पुरु ने समाज को आतंकित करने वाले दस्युओं का गतिरोध किया था[१३६]। एतत्सम स्थल धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी मिलते हैं। इनमें क्षत्रिय के कर्त्तव्य-परिधि के अंतर्गत प्रजा-पालन का विशेष उल्लेख हुआ है[१३७]।

धर्म-सम्मत युद्ध—विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि क्षत्रिय को धर्मपूर्वक युद्ध करना चाहिये[१३८]। क्षत्रिय के सत्कर्त्तव्य पर प्रकाश डालते हुए मत्स्य पुराण में वर्णित है कि युद्ध में पाप से परिहार करना बुद्धिमान् क्षत्रिय का लक्षण है[१३९]।

---

१३३. क्षत्रियश्च...जेता लभेत सांग्रमिकं वित्तम्। गौतम धर्मसूत्र, १०।१८-१९
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं...... । मनुस्मृति, ७।४४
ये आहवेषु बध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।३२४

१३४. द्रष्टव्य, लेखक का निबंध, 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन;' वही, पृष्ठ २७५

१३५. तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथ्वीपरिपालनम्। विष्णु पु०, ३।८।२७
दुष्टानाम् शासनाद्राजा शिष्टानां परिपालनात्।
प्राप्नोत्यभिमतांल्लोकान्...... । वही, ३।८।२९

१३६. दस्यून्संनिग्रहेण च...... । वायु पु०, ९३।६६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।६७

१३७. राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् । गौतम धर्मसूत्र, १०।७
प्रजानां रक्षणं...... । मनुस्मृति, १।८९
प्रजाभ्यश्चाभयं सदा...... । याज्ञवल्क्य स्मृति, १।३२३

१३८. क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्।
बधश्च धर्मयुद्धेन...... । विष्णु पु०, ६।७।३

१३९. शृणु राजन् महाबाहो क्षत्रधर्मव्यवस्थितम्।
नैव दृष्टं रणे पापं युध्यमानस्य धीमतः। मत्स्य पु०, १०३।२१

कार्तवीर्य के प्रसंग में निरूपित है कि उसने क्षत्रियोचित विधि से विजय-लाभ किया था[१४०]। ब्रह्माण्ड पुराण में न्यायोचित विधि से समाज की रक्षा करने वाले राजा सगर की प्रशंसा हुई है[१४१]। इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन धर्मसूत्र और स्मृतियों के प्रसंगानुकूल स्थलों से भी होता है, जिनमें धर्मपूर्वक युद्ध करना क्षत्रिय के लिए अपेक्षित माना गया है[१४२]।

शासन—क्षत्रिय के कर्त्तव्य का विवेचन करते हुए विष्णु पुराण में विहित है कि राजा को चाहिये कि वह वर्णों को (उनके धर्म में) स्थिर करे[१४३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र को अनेक विधियों से संतुष्ट करने वाले राजा पुरु का गौरव-गान हुआ है[१४४]। ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि सगर ने ब्राह्मण आदि वर्णों को उनके धर्म में व्यवस्थित किया था[१४५]। मत्स्य पुराण में चारों वर्णों को उनकी कर्त्तव्य-सीमा में स्थिर करने वाले नृप बलि का प्रसंग मिलता है[१४६]। क्षत्रिय के इस कर्त्तव्य के विषय में वैदिक परम्परा-निर्वाह परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में निर्दिष्ट है कि क्षत्रिय का राज्याभिषेक विश्व के शासनार्थ विहित है[१४७]। कौटिल्य ने भी कहा है कि राज-शासन का अर्थ प्रजा को कर्त्तव्यनिष्ठ करना होता है[१४८]।

दान एवं यज्ञ—क्षत्रिय की दानशीलता पर बल देते हुए विष्णु पुराण में

---

१४०. ...क्षात्रेण विधिना जिता । मत्स्य पु०, ४३।१८

१४१. ...यथान्यायं ररक्षाव्याहतेन्द्रियः । ब्रह्माण्ड पु०, ३।५०।२

१४२. राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् न्याय्यदण्डत्वम् । गौतम धर्मसूत्र, १०।७-८;
न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम् । याज्ञवल्क्य स्मृति, ३।३२६

१४३. वर्णसंस्थां करोति यः । विष्णु पु०, ३।८।२९

१४४. ...कामैश्च द्विजसत्तमान् वैश्यांश्च परिपालनैः आनृशंस्येन शूद्रांश्च । वायु पु०, ९३।६५-६६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।६६-६७

१४५. ब्राह्मणादींस्तथा वर्णान्स्वे स्वे धर्मे पृथक् पृथक् । ब्रह्माण्ड पु०, ३।५०।२

१४६. चतुरो नियतान्वर्णान्स वै स्थापयिता प्रभुः । मत्स्य पु०, ४८।२८

१४७. द्रष्टव्य, से० बु० ई०, भाग ४४, पृ० २४९

१४८. कौटिल्य अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री—सम्पादित), पृष्ठ ६

वर्णित है कि उसे स्वयं याचक नहीं होना चाहिये[१४९]। पुरूरवा के तेज को विवृत करते हुए उसकी दानशीलता और यज्ञानुष्ठान को प्रशंसित किया गया है[१५०]। प्रसंगान्तर में विवेचित है कि विदेह के शासक ने प्रचुर धन का वितरण और अनेक यज्ञों को सम्पन्न किया था[१५१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में नृप वृहदश्व के वंशधरों की यज्ञ तथा दक्षिणा-मूलक प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है[१५२]। वायु पुराण में भोजवंशीय क्षत्रियों को अनेक अश्वमेध तथा दक्षिणाओं का श्रेय दिया गया है[१५३]। मत्स्य पुराण में ययाति नृप के विषय में वर्णन आता है कि उन्होंने अनेक यज्ञों को सम्पन्न कर प्रजा-पालन किया था[१५४]। वैदिक काल में ही क्षत्रिय की दानशीलता और याज्ञिक-क्रिया की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण निर्देशित करता है कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को चाहिये कि वह सुवर्ण, भूमि तथा पशु का दान करे[१५५]। ऐसे उदाहरण, कौटिल्य-अर्थशास्त्र और स्मृति-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं[१५६]।

अध्ययन—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार राजकुमार कृत ने योगी हिरण्यनाभ से शिक्षा ली थी। कृत को अनेक संहिताओं की रचना का श्रेय दिया गया है[१५७]। विष्णु पुराण में नृप दीर्घतमा के पुत्र धन्वन्तरि के विषय में वर्णित है कि उन्हें आयुर्वेद को आठ भागों में विभक्त करने का वरदान मिला था[१५८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार नृप वृहदश्व (ब्रह्माण्ड में कुवलाश्व)

---

१४९. न याच्ञा क्षत्रबन्धूनां धर्मायैतत्सतां मतम्। विष्णु पु०, ३।७।६

१५०. पुरूरवास्त्वतिदानशीलोऽतियज्वा... । वही, ४।६।३५

१५१. इयाज यज्ञान्सुबहून्ददौ दानानि चार्थिनाम् । वही, ३।१८।६०

१५२. बहुधार्मिकाः सर्वे यज्वानो भूरिदक्षिणाः। वायु पु०, ८८।३१; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।३२

१५३. ईजानास्तेऽश्वमेधैस्तु सर्वेऽश्वमेधैस्तु नियुतदक्षिणैः। वायु पु०, ३२।५२

१५४. पालयामास स महीमीजे च विधिवन्मखैः। मत्स्य पु०, २४।५५

१५५. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९।६

१५६. कौटिल्य-अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री-सम्पादित), पृ० ७; प्रजानां रक्षणं दानमिज्या...। मनुस्मृति, १।८९

१५७. यं हिरण्यनाभो योगमध्यापयामास यश्चतुर्विंशतिं...संहितांश्चकार। विष्णु पु०, ४।१९।५१; वायु पु०, ६१।४४; ब्रह्माण्ड पु०, २।३५।५६

१५८. त्वमष्टधा सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि । विष्णु पु०, ४।८।१०

के सभी पुत्र विद्या में पारंगत थे[१५९]। राजा वसु के विषय में आख्यात है कि महर्षियों ने यज्ञविषयक विवाद के समझौते के लिये उनसे परामर्श लिया था[१६०]। मत्स्य पुराण में राजा के ज्ञानार्थ दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और वार्ता आदि परंपरा-प्रसिद्ध विद्याएँ अपेक्षित मानी गई हैं[१६१]। यह परम्परा भी वैदिक काल से चली आ रही थी। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक वेद और उपनिषदों के ज्ञाता वर्णित हैं[१६२]। स्मृतियों में क्षत्रियों की कर्त्तव्य-परिधि के अन्तर्गत अध्ययन भी सम्मिलित है[१६३]। एतत्सम व्यवस्था का निर्देश कौटिल्य ने भी किया है[१६४]। अलोचित पुराणों में राजाओं की योग-साधना तथा तपश्चर्या का उल्लेख भी हुआ है। विष्णु पुराण में नृप प्रियव्रत के वंशज हिरण्यनाभ, मरु, कृत तथा भरत की योग-साधना का प्रसंग उपलब्ध है[१६५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इक्ष्वाकुवंशीय राजा मनु (ब्रह्माण्ड पुराण के पाठानुसार मरु) की यौगिक साधना का वृत्तांत मिलता है[१६६]। मत्स्य पुराण ने नृप बलि के महायोगित्व-स्तर का उल्लेख किया है[१६७]।

---

१५९. सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः। वायु पु०, ८८।३०; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।३१

१६०. संधाय वाक्यमिन्द्रेण प्रपच्छुश्चेश्वरं वसुम्। वायु पु०, ५७।१०३; ब्रह्माण्ड पु०, २।३०।२३

१६१. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं त्वात्मविद्यां वार्तारंभाश्च लोकतः। मत्स्य पु०, २१५।५४

१६२. बृहदारण्यक उप०, ४।२।१

१६३. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। मनुस्मृति, १।८९

१६४. अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री—संपादित), पृ० ७

१६५. प्रियव्रतस्य पुत्रास्ते...त्रयो योगपरायणाः । विष्णु पु०, २।१।९-१०
हिरण्यनाभः योगमवाप । वही, ४।४।१०७
मरुः ...... योगमास्थाय । वही, ४।४।१०९
कृतः... यं हिरण्यनाभः योगमध्यापयामास । वही, ४।१९।५१
भरतः स महीपतिः योगाभ्यासरतः । वही, २।१।३४

१६६. मनुस्तु योगमास्थाय कलापग्राममास्थितः । वायु पु०, ८८।२०९
मरुस्तु योगमास्थाय कलापग्राममास्थितः । ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।२१०

१६७. बलेश्च ब्रह्मणा दत्तो वरः...महायोगित्वम् । मत्स्य पु०, ४८।२६

प्रसंगान्तर में इस पुराण का कथन है कि धर्म की वृद्धि के लिए महायोगी राजाओं का जन्म होता है[१६८]। योगी की भाँति तपस्वी राजाओं का उल्लेख भी चारों ही पुराण करते हैं। इस संदर्भ में विष्णु पुराण में ययाति और रैवत; वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में ययाति; वायु तथा ब्रह्माण्ड में ऋषभ तथा मत्स्य में रजि का प्रसंग उपलब्ध होता है[१६९]।

वैश्य : नामार्थ शब्द—आलोचित पुराणों में वैश्य वर्ण के लिये अधिकांशतः वैश्य शब्द का ही प्रयोग हुआ है; यद्यपि वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में इस अर्थ में विश शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने द्विजाति शब्द के विवेचन में वैश्यार्थ विश शब्द का उल्लेख किया है[१७०]। ब्रह्माण्ड पुराण में एक स्थल पर एतदर्थ विट् शब्द व्यवहृत हुआ है[१७१]। मत्स्य पुराण में क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्त्तव्य-विवरण में वैश्य के लिये विश शब्द उपलब्ध है[१७२]।

वैश्यार्थ विश शब्द का प्रयोग उत्तर वैदिक साहित्य से प्रारम्भ होता है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय[१७३] तथा शतपथ ब्राह्मण ने[१७४] क्षत्रिय और वैश्य-विवरण में क्षत्रिय एवं वैश्यार्थ क्रमशः क्षत्र तथा विश शब्दों का उल्लेख किया है। वैश्य और विश शब्दों में वैश्य शब्द का प्रयोग प्रचीन है। ऋग्वेद में वैश्य के लिये

---

१६८. यदा धर्मस्य ह्रसते शाखा...जायन्ते च तदा शूरा...महायोगा। मत्स्य पु०, १४२।५६

१६९. विष्णु पुराण, ४।६।३०; वायु पु०, ९३।१०१; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८। १०४-१०५; मत्स्य पु०, ३५।१६; विष्णु पु०, ४।१।६६; वायु पु०, ३३।५१; ब्रह्माण्ड पु०, २।१४।६१; मत्स्य पु०, २४।४२

१७०. ब्रह्मक्षत्रविशोयुक्ता यस्मात्तस्माद्द्विजातयः। वायु पु०, ५९।२१; ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।२२

१७१. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रैः सृष्टिरेषा सनातनी। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३२।३२

१७२. हविर्यज्ञाः विशः स्मृताः। मत्स्य पु०, १४२।५०; द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १५

१७३. तस्माद् ब्रह्मणश्च क्षत्राच्च विशोन्यतोऽपक्रमिणीः। तै० ब्रा०, १।६।५

१७४. तत्क्षत्रायैवैतद्विशं...... । शतपथ ब्राह्मण, ४।३।३।१०

वैश्य शब्द ही व्यवहृत मिलता है। इस ग्रन्थ में विश शब्द का प्रयोग अर्थान्तर में हुआ है, जिससे जनसमुदाय का तात्पर्य ध्वनित होता है[१७५]। ऐसा विदित होता है कि विश शब्द के व्यवहार की एतत्सम परम्परा कालान्तर में भी सजीव थी। यही कारण है कि मत्स्य पुराण में एक स्थल पर राजा के लिये विशांपति सम्बोधनार्थ प्रयुक्त किया गया है[१७६]। धर्मसूत्र और स्मृतियों में भी वैश्य के लिये विश शब्द का प्रयोग मिलता है[१७७]। पर उत्तर वैदिक साहित्य तथा वेदोत्तर ग्रन्थों में वैश्य का ही प्रयोग-प्राचुर्य दिखाई देता है।

वैश्य के विहित कर्त्तव्य—विष्णु पुराण के अनुसार लोकपितामह ब्रह्मा ने पशुपालन, वाणिज्य और कृषि वैश्य के जीविकार्थ निश्चित किया था[१७८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी पशुपालन, वाणिज्य और कृषि वैश्यों के लिए ब्रह्मा-निर्देशित जीविका बताई गई है[१७९]। मत्स्य पुराण में वैश्य का कर्त्तव्य वाणिज्य और कृषि उद्घोषित है[१८०]। अन्यत्र यह पुराण भारत के गौरव-निरूपण में पशुपालन, कृषि एवं वाणिज्य का उल्लेख करता है[१८१]।

इन उद्धरणों में पुराण, वैदिक परम्परा में परिवर्तन तथा स्मृति आदि ग्रन्थों से समता प्रदर्शित करते हैं। वैदिक काल में वैश्यों की जीविका मूलतः कृषि और पशुपालन में केन्द्रित थी। उनके कर्मक्षेत्र में 'पणि' अर्थात् व्यापार का मात्र

---

१७५. काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, खण्ड १, पृ० ३३

१७६. एवमासाद्य तत्सर्वमादावेव विशांपते। मत्स्य पु०, ५८।१६

१७७. प्राणसंमितो वैश्यस्य । वसिष्ठ धर्मसूत्र, ११।५७
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रबधो...... । मनुस्मृति, ११।६७

१७८. पशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च मनुजेश्वर।
वैश्याय जीविका ब्रह्मा ददौ लोकपितामहः। विष्णु पु०, ३।८।३०

१७९. वैश्यानेव तु तानाहुः कीनाशान्वृत्तिसाधकान्। वायु पु०, ८।१६५
पशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं चैव विशां ददौ। ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१६२

१८०. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या...इज्यायुतवाणिज्यादि...। मत्स्य पु०, ११४।१२

१८१. पशुपाल्यं वणिक्कृषिः । वही, १२३।२३

बीजारोपण था[१८२]। पर स्मृतियों में स्पष्ट रूप से वैश्य के कर्त्तव्य में कृषि और पशुपालन के साथ-साथ व्यापार को प्रधान स्थान दिया गया है[१८३]।

अध्ययन एवं अनुष्ठान—विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय के समान वैश्य को भी दान, अध्ययन और यज्ञ में निरत रहना चाहिए[१८४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि यज्ञ, अध्ययन एवं दान वैश्यों का ब्रह्मा द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य है[१८५]। मत्स्य पुराण में एतद्बोधक वर्णन नहीं मिलते, पर वैश्यों के धार्मिक कर्त्तव्य पर अवश्य प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ, अविमुक्त क्षेत्र के विषय में निरूपित है कि इसके सेवन से वैश्य को भी मोक्ष-लाभ होता है[१८६]। वैश्य-कुलोद्भूत किसी कन्या के विषय में आख्यात है कि भीमद्वादशी नामक व्रत का अनुष्ठान कर उसने इन्द्राणी का पद प्राप्त किया था[१८७]। वैश्यों के विषय में उक्त प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रारंभ भी वैदिक काल में हो चुका था। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय संहिता में उन्हें पशु की कामना करने का आदेश दिया गया है[१८८]। यह परम्परा स्मृतियों में पूर्णतः परिलक्षित होती है, जिनमें वैश्यों के कर्त्तव्य के अन्तर्गत दान, यज्ञ और अध्ययन का उल्लेख हुआ है। इन पौराणिक तथा पुराण-समर्थक, अलोचित अन्य उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैश्यों का सामाजिक स्तर उन्नत था। इनकी

---

१८२. वेदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३३३-३३४

१८३. वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणञ्चैव...... । मनुस्मृति, ८।४१०
वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारग्रहम्।
वार्त्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां च विवर्धनम्। वही, ९।३२६-३३१

१८४. तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते। विष्णु पु०, ३।८।३१

१८५. सामान्यानि तु कर्माणि ब्रह्मक्षत्रविशां पुनः।
यजनाध्ययनं दानं सामान्यानि तु तेषु च। वायु पु०, ८।१७२; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१६३-१६४

१८६. अन्येऽपि ये त्रयो वर्णा भवभक्त्या समाहिताः।
अविमुक्ते तनुं त्यक्त्वा गच्छन्ति परमां गतिम्। मत्स्य पु०, १८२।४१

१८७. जाताऽथवा वैश्यकुलोद्भवाऽपि पुलोमकन्या पुरुहूतपत्नी... । वही, ६९।५९-६०

१८८. पशुकामो खलु वैश्यो यजते। तैत्तिरीय संहिता, २।५।१०।२

संरक्षित स्थिति तथा सम्मानमय स्तर का संज्ञापन स्मार्त-सम्मत[१८९] एवं पुराण-प्रोक्त विशिष्ट विवरणों द्वारा होता है। विष्णु पुराण में वैश्य का उल्लेख क्षत्रिय-कोटि में करते हुए वैश्य-हत्या का परिणाम नरक-गमन विहित है[१९०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में क्षत्रिय के समान वैश्य की उत्पत्ति भी मनु से वर्णित है[१९१]। मत्स्य पुराण में भी वैश्य का वर्णन क्षत्रिय के साथ हुआ है। ऐसा विवेचित है कि कलियुग में क्षत्रियों के समान वैश्य की महत्ता भी क्षीण हो जायगी[१९२]।

वैश्य का निम्न स्तर—विष्णु पुराण में वैश्यों का कर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय के आश्रित आख्यात है[१९३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वैश्यार्थ जीविका की प्रेरणा राजा की अनुकम्पा मानी गई है[१९४]। वायु पुराण में अन्यत्र वैश्यों को पापी बताते हुए उनका वर्णन शूद्रों के साथ हुआ है[१९५]। इन उद्धरणों से वैश्यों के निम्न सामाजिक स्तर की सूचना मिलती है। यह परम्परा भी वैदिक काल से चली आ रही थी। ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्यों को पराश्रयी, दूसरे का कृपाश्रित तथा इच्छानुसार विजित करने का विषय माना गया है[१९६]। गौतम धर्मसूत्र, महाभारत और मनुस्मृति में ब्राह्मण को वैश्य से यज्ञीय उपकरण-अपहार का अधिकार निर्देशित मिलता है[१९७]।

शूद्र : नामार्थ शब्द—आलोचित पुराणों में शूद्र वर्ण के लिये शूद्र शब्द का ही प्रयोग-प्राचुर्य मिलता है, पर कहीं-कहीं एतदर्थ वृषल शब्द भी प्रयुक्त

---

१८९. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। मनुस्मृति, १।९०

१९०. राजन्यवैश्यहा......तप्तकुण्डे...... । विष्णु पु०, २।६।१०

१९१. मनोःक्षत्रं विशश्चैव...... । वायु पु०, ६२।२१; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।२३

१९२. उत्सीदन्ति तथा चैव वैश्यैः सार्धं तु क्षत्रियाः। मत्स्य पु०, १४४।३८

१९३. द्विजातिसंश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्। विष्णु पु०, ३।८।३२

१९४. वैश्यैरपि......पृथुरेव......वृत्तिदाता...... । वायु पु०, ६३।१०; ब्रह्माण्ड पु०, २।३७।१०-११

१९५. पापकारिणः वैश्या......शूद्राश्च...... । वायु पु०, ३०।३२०

१९६. ऐतरेय ब्राह्मण, २९।४

१९७. द्रव्यादानं......अन्यत्रापि शूद्राद् । गौतम धर्मसूत्र, १८।२५-२८ तदलाभे वैश्यात्। मस्करिभाष्य, पृ० २९६; महाभारत, १२।१६५-७ यो वैश्यः स्याद्बहुपशु...तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये। मनुस्मृति, ११।१२

हुआ है। ऐसे स्थल विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में उपलब्ध हैं। विष्णु पुराण में गर्हित ब्राह्मणों के वर्णन-प्रसंग में शूद्रा के लिये वृषली शब्द का उल्लेख हुआ है[१९८]। इसी प्रकार वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के चातुर्वर्ण्य-विवरण में शूद्रार्थ वृषल शब्द व्यवहृत हुआ है[१९९]। शूद्र और वृषल शब्दों में शूद्र का प्रयोग प्राचीन है। वैदिक साहित्य में सामान्यतः शूद्र वर्णार्थ शूद्र शब्द का ही व्यवहार हुआ है[२००]। वृषल शब्द के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तर वैदिक साहित्य से प्रारम्भ होती है,[२०१] जिसमें अधिकांशतः शूद्र शब्द ही प्रयुक्त किया गया है। कहीं-कहीं स्मृतियों में भी शूद्र के लिये वृषल शब्द प्रयोग में आया है[२०२]।

शूद्र का कर्त्तव्य—विष्णु पुराण ने शूद्र को 'परिचर्यानुवर्ती' अभिधान दिया है,[२०३] जिसके अनुसार शूद्र का कर्त्तव्य सेवा-वृत्ति स्पष्ट है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की व्यवस्थानुसार शूद्र के दो प्रधान कर्त्तव्य हैं—(१) शिल्प तथा (२) भृति[२०४]। मत्स्य पुराण में परिचर्या-वृत्ति को शूद्र के लिये यज्ञ-कल्प उद्घोषित हुआ है[२०५]। इस प्रकार शूद्र का कर्त्तव्य सेवा-कार्य था। इसका प्रतिपादन वैदिक काल ही में हो चुका था। उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण में शूद्र को दूसरों का सेवक माना गया है[२०६]। धर्मसूत्र और स्मृतियों ने भी शूद्र का कर्त्तव्य त्रयी वर्ण की सेवा उद्घोषित किया है[२०७]।

---

१९८. वृषलीसूतिपोष्टा वृषलीपतिरेव च । विष्णु पु०, ३।१५।८

१९९. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या वृषलाश्चैव सर्वशः । वायु पु०, ७८।२९
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो वृषलः स न संशयः । ब्रह्माण्ड पु०, ३।१४।३८

२००. पद्भ्यां शूद्रोऽजायत । ऋग्वेद, १०।९०।१२

२०१. वृहदारण्यक उपनिषद्, ६।४।१८

२०२. कुशीलवोऽवकीर्णश्च वृषलीपतिरेव च । मनुस्मृति, ३।१५४

२०३. ...शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम् । विष्णु पु०, १।६।३५

२०४. शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः । वायु पु०, ८।१६३
शिल्पाजीवं भृतां चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः । ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१६३

२०५. ...परिचारयज्ञाः शूद्राश्च । मत्स्य पु०, १४२।५०;
द्रष्टव्य, पृष्ठांक १५४

२०६. अन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यो... । ऐतरेय ब्राह्मण, ३५।३

२०७. तेषां परिचर्या शूद्रस्य नियता च वृत्तिः । वसिष्ठ धर्मसूत्र, २।२०
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया । मनुस्मृति, १।९१

धार्मिक कृत्य और शूद्र—विष्णु पुराण के अनुसार शूद्र को पाक-यज्ञ करना चाहिये, किन्तु इस अवसर पर मन्त्रोच्चारण वर्जित है[२०८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवेचित है कि गृहस्थ के लिये निर्धारित पाँच महायज्ञों के अनुष्ठान का अधिकार शूद्र को भी है, पर मन्त्रोच्चारण निषिद्ध किया गया है[२०९]। मत्स्य पुराण में भी समविषयक व्यवस्था प्रतिपादित हुई है[२१०]। इन पौराणिक उल्लेखों का समर्थन गौतम धर्मसूत्र, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति आदि के उद्धरणों से भी होता है, जिनमें स्पष्टतः निर्देशित है कि धार्मिक क्रियाओं के अनुष्ठान में शूद्र को मन्त्रोच्चारण का अधिकार नहीं है[२११]।

शूद्र का दयनीय स्तर—वेदाध्ययन के विषय में शूद्र के अनधिकार पर प्रकाश डालते हुए मत्स्य पुराण उद्घोषित करता है कि अव्यवस्थित कलियुग में शूद्र वेद का अध्ययन करते हैं[२१२]। विष्णु पुराण के अनुसार शूद्र का यज्ञ करने से ब्राह्मण नरकगामी होता है[२१३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार शूद्र को श्राद्धावशिष्ट अन्न देने से श्राद्ध का फल नहीं मिलता[२१४]। शूद्र के दयनीय स्तर का स्पष्टीकरण स्मृतियों में भी प्राप्त होता है, जिनके स्थल प्रायः पुराण-सम ही हैं। मनुस्मृति में ऐसे गुरु की गर्हणा की गई है, जिसका शिष्य शूद्र है[२१५]। मनुस्मृति तथा विष्णु स्मृति,

---

२०८. अमंत्रयज्ञो......पाकयज्ञैर्यजेत च । विष्णु पु०, ३।८।३३-३४

२०९. शूद्रेणापि कर्त्तव्या पंचैते मंत्रवर्जिताः । वायु पु०, ७६।१९; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१२।१९

२१०. शूद्रोऽप्यमन्त्रवत्कुर्यादनेन विधिना बुधः । मत्स्य पु०, १७।६४

२११. अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मंत्रः पाकयज्ञैस्स्वं यजेतेत्येके । गौतम धर्मसूत्र, १०।६३-६४
मन्त्रवर्जनं दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च । मनुस्मृति, १०।१२७
नमस्कारेण मंत्रेण पंचयज्ञान्न हापयेत् । याज्ञवल्क्य स्मृति,१।१२२

२१२. अधीयन्ते तदा वेदान् शूद्रा धर्मार्थकोविदाः । मत्स्य पु०, १४४।४२

२१३. अयाज्ययाजकाश्चैव... नरके यान्ति । विष्णु पु०, २।६।१८; श्रीधरीय भाष्य के अनुसार अयाज्य का अर्थ शूद्र है।

२१४. शूद्रायानुपेताय श्राद्धोच्छिष्टं न दापयेत् । वायु पु०, ७९।८४
शुद्रायान्नमेतद्वै श्राद्धोच्छिष्टं न दापयेत् । ब्रह्माण्ड पु०, ३।१५।५६

२१५. शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव...... । मनुस्मृति, ३।१५६

दोनों ही ग्रन्थों में शूद्रार्थ यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण को निन्दित माना गया है[२१६]। मनु के मतानुसार श्राद्धावशिष्ट अन्न, वृषल को दान करने से नरक मिलता है[२१७]।

शूद्र के प्रति उदार भावनाएँ—ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं, जहाँ शूद्र के प्रति उदार विचार व्यक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण में शूद्र-हन्ता को पापी की कोटि में रखा गया है[२१८]। विष्णु और मत्स्य पुराणों में शूद्र की दान-क्रिया का उल्लेख हुआ है[२१९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार यदि शूद्र भक्ति में निमग्न रहे, मदिरापान न करे, इन्द्रियों को संयत रखे तथा निर्भय रहे, तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है[२२०]। इस सन्दर्भ में पुराण-समर्थक स्थल मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में भी मिलते हैं। इन ग्रन्थों में शूद्र की हत्या का सम्बन्ध पाप से विहित मिलता है[२२१]।

दास—वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में दास के उल्लेख मिलते हैं। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार जनक ने अश्वमेध के अवसर पर ग्राम, रत्न और सुवर्ण के साथ-साथ अनेक दासों (ब्रह्माण्ड पुराण में दासियों) का दान किया था[२२२]। मत्स्य पुराण ने एक स्थल पर दास को निर्धन बताते हुए कहा है कि उसके धन का उपभोग अन्य व्यक्ति करते हैं[२२३]। अन्यत्र दास और दासी से युक्त राज्य

---

२१६. शूद्रयाजिनः... । विष्णु स्मृति, ८२।१४; मनुस्मृति, ३।१७८

२१७. श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति...... । मनुस्मृति, ३।२४९

२१८. पूर्णे वानस्यवस्थातुं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् । मत्स्य पु०, २२७।३६

२१९. दानं दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च । विष्णु पु०, ३।८।३४
दानप्रधानः शूद्रः स्यादित्याह भगवान्प्रभुः । मत्स्य पु०, १७।७१

२२०. अमद्यपश्च यः शूद्रो भवभक्तो जितेन्द्रियः । वायु पु०, १०१।३५३; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।३१४

२२१. ...व्रतं......शूद्रहा चरेत् । मनुस्मृति, ११।१३२; याज्ञवल्क्य स्मृति, ३।६।७

२२२. ग्रामरत्नानि दासांश्च मुनीन्प्राह नराधिपः ।
सर्वानिहं प्रपन्नोऽस्मि शिरसा...... । वायु पु०, ६०।३७; ब्रह्माण्ड पु०, २।३४।३६

२२३. त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य तस्य तद्धनम् । मत्स्य पु०, ३१।२२

का उपभोग करना उत्कट साधना का फल बताया गया है[२२४]। राजकन्या देवयानी के विषय में आख्यात है कि उसने ब्राह्मणकन्या शर्मिष्ठा की दासी-वृत्ति अपनाई थी[२२५]। प्रस्तुत पौराणिक उद्धरण इसे सुस्पष्ट कर देते हैं कि दास की स्थिति शोचनीय थी। उसे सामान्य सम्पत्ति की श्रेणी में रखा जाता था। वस्तुतः ऐसी परम्परा ऋग्वेद से ही चली आ रही थी। एक स्थल पर ऋग्वेद में दो सौ दासों के लाभार्थ प्रार्थना की गई है[२२६]। ऋग्वेद में ऐसे प्रसंग भी हैं, जिनमें दासों के बधार्थ प्रार्थना का वर्णन है। किन्तु इनसे यह सुनिश्चित नहीं हो पाता कि इनमें दास का तात्पर्य मानव योनि से है; अथवा उन देव-शत्रुओं से है, जो इन्द्र के द्वारा पराभूत उद्घोषित किये गये हैं। अधिक संभावना इसी बात की लगती है कि ऐसे ऋग्वैदिक स्थलों में दास, देव-शत्रु के ही द्योतक हैं[२२७]। इस प्रसंग में पुराणों के स्थल, स्मृति उद्धरणों से अधिकांश रूप में मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति और नारद स्मृति में दास को निर्धन बताया गया है। मनुस्मृति इस बात पर भी बल देती है कि अर्जित धन पर दास का स्वत्व नहीं रहता है[२२८]।

चाण्डाल—विष्णु पुराण में चाण्डाल को पतित मानते हुए उसे कुत्ता और पक्षियों की श्रेणी में रखा गया है[२२९]। एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि श्राद्धान्न पर चाण्डाल की दृष्टि पड़ जाय, तो देवता और पितर अपना भाग नहीं लेते[२३०]।

---

२२४. ततः स्वर्गात्परिभ्रष्टो राजा भवति..गृहं तु लभते दासीदाससमन्वितम्।
मत्स्य पु०, १८६।३०

२२५. द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह त्वदधीनाऽस्मि...।
वही, ३०।१७

२२६. शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम्।
शतं दासां अति स्रजः। ऋग्वेद, ८।५६।३

२२७. दास ऐण्ड दस्यूज़ इन ऋग्वेद, पंडित के० चट्टोपाध्याय, रोम के अंतार्राष्ट्रीय प्राच्य सम्मेलन में प्रेषित प्रपत्र।

२२८. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधना स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्। मनुस्मृति, ८।४१६
त्रय एवाधना भार्या पुत्रश्च दासस्तथा सुतः। नारद स्मृति, ५।४१

२२९. श्वचाण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यान्नरेश्वर ये चान्ये पतिताः...।
विष्णु पु०, ३।११।५५

२३०. चाण्डालपापि......वीक्षिते...... । वही, ३।१६।१३

मत्स्य पुराण में चाण्डाल को अधम और पातकी माना गया है[२३१]। इस ग्रन्थ में ऐसा भी निर्देशित है कि यदि ब्राह्मण चाण्डाल-स्त्री का संग करता है, उसके साथ भोजन करता है अथवा उसका प्रतिग्रह स्वीकार करता है, तो ज्ञानावस्था में ऐसा करने से वह उन्हीं के वर्ग में आ जाता है[२३२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में चाण्डाल का स्पर्श करना पाप की श्रेणी में रखा गया है, जिसका निराकरण प्रायश्चित्त से होता है[२३३]। इस प्रकार पौराणिक व्यवस्था में चाण्डलों की स्थिति निम्नस्तरीय है। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है कि चाण्डाल-योनि में वही लोग जन्म ग्रहण करते हैं, जिनके पूर्वजन्म का कर्म असत् रहता है[२३४]। मनु ने स्पष्ट शब्दों में चाण्डाल का सहवास निषिद्ध किया है[२३५]। चाण्डालों के विषय में उक्त प्रकार की सूचना चीनी यात्री फ़ाहियान के यात्रा-विवरण से भी मिलती है[२३६]।

वर्णसंकर तथा मिश्रित जातियाँ—वर्णसंकर के विषय में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में प्रकाश डाला गया है। इनमें निर्देशित है कि सूत का वर्ण विकृत है, क्योंकि इसका उत्पत्ति क्षत्रिय और ब्राह्मणी के संयोग से हुई है[२३७]। ऐसे विचार स्मृतियों में भी स्पष्ट किये गये हैं। उदाहरणार्थ, नारद-स्मृति में वर्णसंकर का आधार प्रतिलोम विवाह माना गया है[२३८]। स्मरणीय है कि वैदिक ग्रन्थों में

---

२३१. नानावर्णाः विवर्णाश्च चण्डाला ये जुगुप्सिताः।
किल्बिषैः पूर्णदेहाश्च प्रकृष्टैः पातकैस्तथा। मत्स्य पु०, १८४।५६

२३२. चाण्डालंत्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति। वही, २२७।५४

२३३. स्पृष्ट्वा श्वानं श्वपाकं वा तप्तकृच्छ्रं समाचरेत्। वायु पु०, ७८।६७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१४।७८

२३४. कपूयचरणा अभ्याशो...चाण्डालयोनिं वा। छान्दोग्य उपनिषद्, ५।१०।७

२३५. न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न...। मनुस्मृति, ४।७९

२३६. गाइल्स, फ़ाहियान; पृ० ४३

२३७. अधरोत्तरचारेण जज्ञे तद्वर्णवैकृतम्।
यच्च क्षत्रात्समभवद्ब्राह्मण्यां हीनयोनितः।
सूतः पूर्वेण साधर्म्यात्तुल्यधर्मः प्रकीर्त्तितः। वायु पु०, ६२।१४०; ब्राह्मण्ड पु०, २।३६।१६३-१६४

२३८. प्रतिलोम्येन यज्जन्म स ज्ञेयो वर्णसंकरः। नारद स्मृति, १२।१०२

वर्णसंकर-विषयक कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। इनमें निषाद आदि का केवल सामान्य उल्लेख प्राप्त होता है, जो उत्तरकालीन ग्रन्थों में वर्णसंकर के अंतर्गत घोषित किये गये हैं[२३९]।

वर्णसंकर की सामाजिक दशा—वायु, मत्स्य तथा ब्रह्माण्ड पुराणों ने वर्णसंकर के सामाजिक वहिष्कार तथा निकृष्ट स्तर पर भी प्रकाश डाला है। वायु पुराण के अनुसार विकृत वर्ण वालों के यहाँ भिक्षान्न ग्रहण करना जघन्य-वृत्ति है[२४०]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार अन्त्यजों[२४१] के घर लक्ष्मी अधिक दिनों तक नहीं निवास करतीं[२४२]। मत्स्य पुराण में अन्त्यज का प्रतिग्रह ब्राह्मण के लिये निषिद्ध विहित है[२४३]। इस प्रकार पुराणों के विचार वर्णसंकरों के प्रति अनुदार हैं तथा उन्हें जुगुप्सा की दृष्टि से देखा गया है। स्मृतियों में भी एतत्सम विचार व्यक्त हुए हैं। यहाँ प्रमाणार्थ नारद स्मृति का उद्धरण उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार वर्णसंकर से स्त्रियों की सुरक्षा राजा का धर्म है[२४४]।

मिश्रित जातियाँ—आलोचित पुराणों में निम्नांकित मिश्रित जातियों के उल्लेख मिलते हैं—

अन्ध्र—वायु पुराण में अन्ध्र को भविष्यत्कालीन जातियों के अन्तर्गत किया गया है[२४५]। एतद्बोधक समान वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[२४६]। मनुस्मृति में इनके वर्णसंकर होने का विवरण उपलब्ध है[२४७]।

---

२३९. वी०एम०आप्टे, सोशल ऐण्ड रिलिजस लाइफ़ इन दि गृह्यसूत्राज़, पृ० ३

२४०. भैक्षचर्या विवर्णेषु जघन्या वृत्तिरुच्यते। वायु पु०, १६।१२; 'विवर्ण' पाठ एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल द्वारा प्रकाशित पुस्तक में मिलता है। आनन्दाश्रम द्वारा प्रकाशित वायु पुराण की प्रति में 'विवर्ण' के स्थान पर 'त्रिवर्ण' पाठ आता है।

२४१. अन्त्यज का तात्पर्य वर्णसंकर से ही है। द्रष्टव्य, मनुस्मृति, ८।६८

२४२. किन्तु भिल्ले किराते च शैलूषे चांत्यजातिने लक्ष्मीर्न तिष्ठति चिरं शापाद्वल्मीकजन्मनः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।१९

२४३. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २३२

२४४. तस्माद्राज्ञा विशेषेण स्त्रियो रक्ष्यास्तु संकरात्। नारद स्मृति, १२।१०९

२४५. वायु पु०, १०।३६

२४६. मत्स्य पु०, ५०।७६

२४७. मनुस्मृति, १०।३६

अंबष्ठ—विष्णु पुराण में नदीतट के निवासी जातियों के प्रसंग में अंबष्ठ का वर्णन मिलता है[२४८]। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण और वैश्या के संयोग से उत्पन्न जाति को अंबष्ठ कहते थे[२४९]।

आभीर—अंबष्ठ के समान आभीर को भी विष्णु पुराण ने नदीतट के निवासी जातियों में परिगणित किया है[२५०]। वायु पुराण में आभीरों का संदर्भ भविष्य की जातियों में हुआ है[२५१]। यही वर्णन मत्स्य पुराण में भी मिलता है[२५२]। मनुस्मृति के स्थलों में ब्राह्मण और अंबष्ठा के संयोग से उत्पन्न संतान को आभीर नाम प्रदान किया गया है[२५३]।

कारूष—आभीर की भाँति कारूष को भी विष्णु पुराण ने नदीतट की निवासी जाति माना है[२५४]। मत्स्य पुराण में इसे मिश्रित जातियों में परिगणित किया गया है[२५५]। मनुस्मृति के स्थलों में भी कारूष मिश्रित जातियों के अंतर्गत वर्णित हुआ है[२५६]।

कैवर्त—वायु पुराण में कैवर्त का उल्लेख भविष्यत्कालीन जातियों में हुआ है[२५७]। मनुस्मृति में इनकी मिश्रित जातियों में गणना हुई है[२५८]।

क्षत्तृ—वायु और मत्स्य पुराणों में कैवर्त की भाँति क्षत्तृ को भी भविष्यत्कालीन जातियों में परिगणित किया गया है[२५९]। बौधायन धर्मसूत्र में शूद्र और क्षत्रिया से उत्पन्न व्यक्ति को क्षत्तृ बताया गया है[२६०]।

---

२४८. विष्णु पु०, २।३।१८
२४९. मनुस्मृति, १०।८; याज्ञवल्क्य स्मृति, १।९१
२५०. विष्णु पु०, २।३।१६
२५१. वायु पु०, ९९।२६९
२५२. मत्स्य पु०, ५०।७६
२५३. मनुस्मृति, १०।१५
२५४. विष्णु पु०, २।३।१७
२५५. मत्स्य पु०, ११४।४८
२५६. मनुस्मृति, १०।२३
२५७. वायु पु०, ९९।२६९
२५८. मनुस्मृति, १०।३४
२५९. वायु पु०, ९९।२६९; मत्स्य पु०, ५०।७५
२६०. बौधायन धर्मसूत्र, १।९।७

धीवर—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में धीवर का उल्लेख नदीतट पर निवास करने वाली जातियों में प्राप्त होता है[२६१]। यही वर्णन मत्स्य पुराण में मिलता है[२६२]। गौतम धर्मसूत्र में धीवर, वैश्य और क्षत्रिया के संयोग से उत्पन्न माना गया है[२६३]।

निषाद—विष्णु पुराण में निषाद को विन्ध्यशैल का निवासी तथा पापकर्मा बताया गया है। इनकी उत्पत्ति नृप वेन के जंघ-स्थल से मानी गई है[२६४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में निषाद की उत्पत्ति का सम्बन्ध नृप वेन के कर-मंथन से आख्यात है[२६५]। मनुस्मृति में निषाद की उत्पत्ति ब्राह्मण और शूद्रा के संयोग से विवृत की गई है[२६६]।

पारशव—वायु और मत्स्य पुराणों में पारशव का उल्लेख भविष्यत्कालीन जातियों के प्रसंग में हुआ है[२६७]। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में ब्राह्मण और शूद्रा से उत्पन्न निषाद का ही दूसरा नाम पारशव उद्घोषित है[२६८]।

पुलिन्द—पारशव के समान पुलिन्द का उल्लेख भी वायु और मत्स्य पुराणों ने भविष्यत्कालीन जातियों में किया है[२६९]। वैखानस स्मार्तसूत्र में पुलिन्द को वैश्य और शूद्रा के संयोग से उत्पन्न माना गया है[२७०]।

भिल्ल—ब्रह्माण्ड पुराण ने भिल्ल का भी उल्लेख किया है। इसके स्थलों में भिल्ल को अन्त्यज की संज्ञा प्रदान करते हुये यह वर्णित है कि लक्ष्मी इनके यहाँ अधिक दिनों तक नहीं रहती[२७१]। वेदव्यास स्मृति में भिल्ल को अन्त्यज नाम दिया गया है। इसका उल्लेख चर्मकार आदि जातियों के साथ हुआ है[२७२]।

---

२६१. वायु पु० ४७।५१; ब्रह्माण्ड पु०, २।१७।५४
२६२. मत्स्य पु०, १२१।५३
२६३. गौतम धर्मसूत्र, ४।१७
२६४. विष्णु पु०, १।१३।३३-३६
२६५. वायु पु०, ६२।१२१-१२३; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१४२-१४४
२६६. मनुस्मृति, १०।८
२६७. वायु पु०, ९९।२६९; मत्स्य पु०, ५०।७५
२६८. मनुस्मृति, १०।८; याज्ञवल्क्य स्मृति, १।९२
२६९. वायु पु०, ९९।२६९; मत्स्य पु०, ५०।७५
२७०. वैखानस स्मार्तसूत्र, १०।१४
२७१. ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।१९
२७२. वेदव्यास स्मृति, १।१२-१३

मागध—विष्णु पुराण में मगध और मागध दो नाम मिलते हैं। मगध का वर्णन नदीतट की जातियों के प्रसंग में हुआ है[२७३]। वर्णनान्तर में मागध को शाकद्वीपीय क्षत्रिय बताया गया है[२७४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मगध का वर्णन सूत के साथ मिलता है[२७५]। मनुस्मृति से बिदित होता है कि मगध वैश्य और क्षत्रिया के संयोग से उत्पन्न व्यक्ति को अभिहित करते थे[२७६]।

म्लेच्छ—विष्णु पुराण में म्लेच्छ का वर्णन कलियुग के राजाओं के विवरण में हुआ है[२७७]। वायु पुराण में म्लेच्छों का निवास-स्थान हिमालय वर्णित किया गया है[२७८]। सूतसंहिता के विवरण में म्लेच्छ की उत्पत्ति वैश्य और ब्राह्मणी के संयोग से मानी गई है[२७९]।

शूलिक—मत्स्य पुराण में शूलिक को नदीतट पर निवास करने वाली जातियों में गिनाया गया है[२८०]। वैखानस स्मातसूत्र में शूलिक को क्षत्रिय और शूद्रा से उत्पन्न माना गया है[२८१]।

शैलूष—ब्रह्माण्ड पुराण में शैलूष को अन्त्यज कहा गया है[२८२]। याज्ञवल्क्य स्मृति में इनको रजक की कोटि में रखा गया है[२८३]। रजक की गणना भी अन्त्यजों में होती थी[२८४]।

---

२७३. विष्णु पु०, २।३।१६

२७४. वही, २।४।६९

२७५. वायु पु०, ६२।१४६; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१६३

२७६. मनुस्मृति, १०।११-१७

२७७. विष्णु पु०, ४।२४।६९

२७८. वायु पु०, ४१।४६

२७९. काणे, वही, भाग २, खण्ड १, पृष्ठ ९२

२८०. मत्स्य पु० १२१।४५

२८१. वैखानस स्मार्तसूत्र १०।१३

२८२. ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।१९

२८३. याज्ञवल्क्य स्मृति, २।४८

२८४. वेदव्यास स्मृति, १।१२-१३

किरात—विष्णु पुराण में किरातों का निवास पूर्वी भारत माना गया है[२८५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में किरात नदीतट की जातियों में परिगणित हैं[२८६]। अन्यत्र ब्रह्माण्ड पुराण ने इनको अन्त्यज माना है[२८७]। मत्स्य पुराण में किरातों का निवास-स्थान हिमालय वर्णित है[२८८]। अमरकोश किरातों को म्लेच्छों का ही भेदान्तर निरूपित करता है[२८९]।

इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि आलोचित पुराणों में उपर्युक्त जातियों को स्पष्टतः मिश्रित जाति नहीं बताया गया है। तथापि पौराणिक स्थलों के साथ स्मृति तथा अन्य ग्रन्थों के तद्विषयक तुलनात्मक अध्ययन से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वयं पुराणों में कहीं-कहीं इन जातियों के विषय में प्रसंगतः ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनसे प्रस्तुत विषय पर ही प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण ने ऐसे ही वर्णनों में एक स्थल पर व्रात्य शब्द का प्रयोग किया है[२९०]। बौधायन धर्मसूत्र में व्रात्य का अर्थ वर्णसंकर से लिया गया है[२९१]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण ने किरात आदि जातियों को एक स्थल पर वर्णसंकरता का कारण माना है[२९२]। वायु पुराण में संकर-बोधक जातियों का वर्णन भी इसके वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत हुआ है[२९३]। मत्स्य पुराण में एक स्थल पर ऐसी जातियों के बोधनार्थ विवर्ण शब्द प्रयुक्त है[२९४]। विवर्ण शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में एक स्थान पर वायु पुराण में भी मिलता है[२९५]। कहीं-कहीं शूद्र और अन्त्यजों में भेद स्थापित करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है[२९६]।

---

२८५. विष्णु पु०, २।३।८
२८६. वायु पु०, ४७।४८; ब्रह्माण्ड पु०, २।१७।५०
२८७. ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।१९
२८८. मत्स्य पु०, १२१।४९
२८९. अमरकोश, २।१०।२०
२९०. विष्णु पु०, ४।२४।६९
२९१. बौधायन धर्मसूत्र, १।९।१५
२९२. ब्रह्माण्ड पु०, ४।२९।१३२
२९३. वायु पु०, १०४।१३
२९४. मत्स्य पु०, १८४।६७
२९५. वायु पु०, १६।१२
२९६. ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।३

उक्त उद्धरणों के आधार पर समष्टि रूप में यह कहा जा सकता है कि आलोचित पुराणों ने जाति-प्रथा का सर्वांगीण स्वरूप उपस्थित किया है। इनके वर्णनों में कहीं-कहीं वैदिक परम्परा का निर्वाह दृष्टिगोचर होता है। पर अधिकतर इनमें परिवर्द्धनात्मक दृष्टिकोण ही व्यक्त है। ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग, इनके कर्त्तव्य एवं अधिकार तथा इस प्रकार के अन्य पर्यालोचित विषयों में दोनों ही प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। ऐसी धारणा पुराणों तक ही सीमित नहीं है। स्मृति तथा लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों से उनका सन्तोषजनक समर्थन ही वस्तुस्थिति का ज्वलन्त प्रमाण है।

आश्रम-व्यवस्था

दैवी सम्बन्ध—पौराणिक मत में आश्रम-व्यवस्था देवोद्भूत एवं देव-संबद्ध है। एतद् विषयक स्थलों की समीक्षा से यह प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि इनमें वर्ण-व्यवस्था के समान आश्रमगत व्यवस्थापन भी सामाजिक संतुलन का आधार स्वीकृत किया गया है। उदाहरणार्थ, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के एक समानार्थक प्रसंग में आश्रम का संश्रय-स्थान विष्णु को उद्घोषित किया गया है[1]। समविषयक प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए, मत्स्य पुराण ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, अरण्य एवं यति जैसे चतुराश्रम-स्तर के सम्बोधनशील शब्दों को शिव के विशेषणार्थ प्रयुक्त किया है[2]। अन्य अनेक आलोचित पुराण-उद्धरण भी आश्रम-व्यवस्था की पौराणिक मान्यता को निर्विवाद कर देते हैं। इनकी आलोचना वक्ष्यमाण शीर्षकों के अनुसार प्रस्तावित है।

आश्रम-मर्यादा की धार्मिक महत्ता—विष्णु पुराण में वर्णित है कि विभिन्न आश्रमों की व्यवस्था-पालन से विशिष्ट लोक सुलभ होते हैं[3]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के वचनानुसार आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य धर्म है[4]। दोनों पुराणों के सन्दर्भान्तर में विवेचित है कि आश्रम-धर्म का पालन साधु-स्वभाव के व्यक्ति ही कर सकते हैं[5]। आश्रम-धर्म का उल्लंघन करने वालों को निन्द्य मानकर वायु पुराण में अन्यत्र आख्यात है कि ऐसे व्यक्ति नरकस्थ होते हैं[6]। मत्स्य पुराण में वर्णन आता है कि आश्रम-धर्म से परिभ्रष्ट होने वालों को कठिन यातनाओं का भागी होना पड़ता

---

१. चातुराश्रम्यसंश्रयः। वायु पु०, ६७।३७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७२।३६

२. आरण्याय गृहस्थाय यतये ब्रह्मचारिणे। मत्स्य पु०, ४७।१३९

३. वर्णानामाश्रमाणां च...... लोकांश्च। विष्णु पु०, १।६।३३

४. वर्णानामाश्रमाणां संस्थितिर्धर्मतस्तथा। वायु पु०, १।१०१; ब्रह्माण्ड पु० २।३२।२६

५. एवमाश्रमधर्माणां साधनात् साधवः स्मृताः। वायु पु०, ५६।२५; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२६

६. वेदाश्रमान्मुक्तचित्तः कुंभीकानधिगच्छति। वायु पु०, ८३।६०

है[७]। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि आश्रम-व्यवस्था का सम्बन्ध धर्माचरण से माना जाता था, अतएव यह सामाजिक संतुलन के कारणार्थ प्रतिष्ठित था।

आश्रम : सामाजिक सुगठन का कारण—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि आश्रमों का चिन्तन इसलिए किया गया है कि समाज के विभिन्न सदस्य अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करें[८]। राजा सगर के शासन की प्रशंसा करते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि उनके काल में आश्रम के नियमों का पूर्णतः पालन किया जाता था[९]। विष्णु और मत्स्य पुराणों में कलियुग के समाज का विषादमय स्वरूपांकन करते हुए वर्णित है कि इस युग में समाज के अन्य व्यवस्थापक तत्त्वों के समान आश्रम-मर्यादा भी नष्ट हो जायगी[१०]।

इन उद्धरणों से आश्रमों के पुराण-सम्मत महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। आश्रमों के महत्ता-विषयक उद्धरण अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि आश्रम-धर्म का पालन करने वाले पुण्य-लोक की प्राप्ति करते हैं[११]। इसी प्रकार के विचार अनुगीता में भी प्रकट किए गए हैं[१२]। नारद स्मृति में वर्णित है कि राजशासन का उद्देश्य आश्रम-व्यवस्था की रक्षा है[१३]।

आश्रम : संख्या एवं क्रम—विष्णु पुराण की व्यवस्था के अनुसार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राट्; ये चार आश्रमी ही संभावित हैं। पाचवें आश्रमी का परिकल्पन नहीं किया जा सकता है[१४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में

---

७. भ्रष्टश्चाश्रमधर्मेषु... यातनास्थानमागताः। मत्स्य पु०, १४१।६६-६७

८. कुतः कर्मक्षितिं प्राहुराश्रमस्थानवासिनः।
ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान्नामनामतः। वायु पु०, ८।१७०-१७१; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७०-१७१

९. अनाश्रमी द्विजः कश्चिन्न बभूव। ब्रह्माण्ड पु०, ३।५०।७

१०. देवता च कलौ सर्वा सर्वस्सर्वस्य चाश्रमः। विष्णु पु०, ६।१।१४
आश्रमाणां विपर्यासः कलौ संपरिवर्तते। मत्स्य पु०, १६५।१८

११. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। छान्दोग्य उपनिषद्, २।२३।१

१२. अनुगीता, अ० २०, से० बु० ई०, भाग ८, पृ० ३१५

१३. चतुर्णामाश्रमाणा च रक्षणात्......। नारद स्मृति, १।१२

१४. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमी।
परिव्राड् वा चतुर्थोऽत्र पंचमो नोपपद्यते। विष्णु पु०, ३।१८।३६

वर्णित है कि वर्णों के धर्म को प्रतिष्ठित करने के उपरान्त ब्रह्मा ने चार आश्रमों को स्थापित किया[१५]। मत्स्य पुराण में भी गृहस्थ, भिक्षु, आचार्यकर्मा (ब्रह्मचारी) तथा वानप्रस्थ; चार आश्रमी बताए गए हैं[१६]।

इस प्रकार आलोचित पुराणों के निर्देशानुसार आश्रमों की संख्या चार है। चतुराश्रम-संख्या का निर्धारण पूर्व पौराणिक काल ही में हो चुका था। स्मरणीय है कि वैदिक ग्रन्थों में आश्रम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। पर ब्रह्मचर्यादि अथवा इनके समानार्थक शब्दों के उल्लेख स्थल-स्थल पर प्राप्त होते हैं[१७]। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक स्थल पर ब्रह्मचारी की उपमा बृहस्पति से दी गई है[१८]। सन्दर्भान्तर में वर्णित है कि देवताओं ने गृहस्थ आश्रम के प्रचलनार्थ पुरुष को पत्नी से संयुक्त किया है[१९]। ताण्ड्य महाब्राह्मण में वैखानसों को इन्द्र का कृपा-भाजन विवृत है[२०]। इसी प्रकार मुनियों का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में आख्यात है कि वे पिशंग वर्ण की मेखला पहनते हैं[२१]। प्रस्तुत प्रसंग-विषयक वैदिक वर्णनो की विशेषता यह है कि इनमें आश्रमों का क्रमबद्ध और व्यवस्थित निर्देश नहीं मिलता। ऐसा विचार है कि उपनिषदों के काल तक आश्रम-बोधक भावना की पूर्वपीठिका प्रस्तुत हो चुकी थी[२२]। धर्मशास्त्रों में वर्णन-क्रम में कुछ अन्तर के साथ चारों

---

१५. ततः स्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाश्रमान्।
गृहस्थो ब्रह्मचारित्वं वानप्रस्थं सभिक्षुकम्। वायु पु०, ८।१६८-१६९; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१६९

१६. चरन्गृहस्थः कथमेति देवान् कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा।
वानप्रस्थः सत्पथे सन्निविष्टो...... । मत्स्य पु०, ४०।१

१७. द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, खण्ड २, भाग १, पृ०, ४१८

१८. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः...तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः। ऋग्वेद, १०।१०९।५

१९. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। ऋग्वेद १०।८५।३६

२०. ताण्ड्य महाब्राह्मण, १४।४।७

२१. मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते माला। ऋग्वेद, १०।१३६।२

२२. द्रष्टव्य, रानाडे, ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फ़िलासफ़ी, पृ०, ६०-६१, पंढारी नाथ प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइज़ेशन, पृ० ८४, राजबली पांडेय, हिन्दू संस्काराज़, पृ० २६२

आश्रम का वर्णन मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन और वानप्रस्थ; इन चार आश्रमों का उल्लेख हुआ है[२३]। गौतम धर्मसूत्र ने चारों आश्रमियों को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वानप्रस्थ नाम दिया है[२४]। इसी प्रकार विष्णु स्मृति में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा यती का उल्लेख मिलता है[२५]।

विशिष्ट आश्रम : ब्रह्मचर्य—विष्णु पुराण की व्यवस्था के अनुसार उपनयन सम्पन्न होने के उपरान्त बालक को ब्रह्मचर्य-निर्वाहार्थ तथा वेदाध्ययनार्थ गुरु-गृह का आश्रय लेना चाहिये[२६]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ब्रह्मचारी को गुरुवासी माना गया है,[२७] जिसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी को गुरु के घर निवास कर ब्रह्मचर्यार्थ विहित कर्मों को सम्पन्न करना चाहिए[२८]।

अपेक्षित कर्त्तव्य : विद्याध्ययन—विष्णु पुराण में निर्देशित है कि ब्रह्मचारी को सावधान होकर वेदाध्ययन में तत्पर रहना चाहिए[२९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ब्रह्मचारी का लक्ष्य विद्याभ्यास माना गया है[३०]। मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मचर्य में तभी सिद्धि मिल सकती है, जब कि ब्रह्मचारी अध्ययन में निरन्तर रत रहे[३१]।

---

२३. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमिति। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २।६।२१।१

२४. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः। गौतम धर्मसूत्र, ३।२

२५. एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं च वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्। विष्णु स्मृति, २६।६०

२६. बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः।
गुरुगेहे वसेद्भूप ब्रह्मचारी समाहितः। विष्णु पु०, ३।६।१

२७. स्मृतं तेषां तु यत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम्। विष्णु पु०, १।६।३६
स्मृतं तेषां तु तेषां तत्स्थानंतदेव गुरुवासिनाम्। वायु पु०, ८।१६४; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१८०

२८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी, ३२-३४

२९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २६

३०. गुरुशुश्रूणं भैक्ष्यं विद्यार्थी ब्रह्मचारिणः। वायु पु०, ८।१७४; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७५; वायु पुराण में विद्यार्थी के स्थान पर विद्याद्वै पाठ मिलता है।

३१. स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी। मत्स्य, पु०, ४०।२

गुरु-सेवा—विष्णु पुराण का निर्देश है कि ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य गुरु के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए । वह उसी समय रुके, जब कि गुरु रुकें । वह उसी समय चले, जब कि गुरु चलें । वह उसी स्थान पर बैठे, जो गुरु के स्थान से नीचे हो । उसे वही अध्ययन करना चाहिए, जो गुरु के मुंह से निकले । जब गुरु स्नान कर चुकें, तभी वह अपनी स्नान-क्रिया सम्पन्न करे । वह प्रतिदिन गुरु के लिए समिधा, जलादि नित्य कर्मोपयोगी उपकरणों को एकत्र करे[३२] । मत्स्य पुराण में वर्णित है कि ब्रह्मचारी को गुरु के कार्यार्थ सदैव तत्पर रहना चाहिए । उसे गुरु के सोने के उपरान्त ही सोना चाहिए तथा उनके उठने के पूर्व ही उठ जाना चाहिए[३३] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में गुरु-सेवा करना ब्रह्मचारी का परम धर्म बताया गया है[३४] ।

अन्य कर्त्तव्य—विष्णु पुराण में विहित है कि ब्रह्मचारी को पवित्रता से रहना चाहिए । उसका चित्त एकाग्र होना चाहिए । वह नित्य प्रति दोनों संध्याओं में सूर्य और अग्नि की उपासना करे[३५] । मत्स्य पुराण का कथन है कि ब्रह्मचारी का स्वभाव मृदु होना चाहिए । वह अपनी इन्द्रियों को संयत रखे तथा प्रमाद से दूर रहे[३६] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि ब्रह्मचारी को भूमि पर ही शयन करना चाहिए । वह दण्ड, मेखला, जटा (वायु पु०), तथा मृगचर्म धारण करे (ब्रह्माण्ड पु०)[३७] । उसे ब्रह्मचर्य-बाधक कार्य से पृथक् रह कर चिन्ता, कल्पना (वायु पु०), अधिक वार्त्तालाप (ब्रह्माण्ड पु०) में अप्रवृत्त रह कर, निवृत्तिपरक होते

---

३२. विष्णु पु०, ३।८।३-६; शौचाचारव्रतं तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः । वही, ३।९।२

३३. गुरुकर्मसु चोद्यतः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी । मत्स्य पु०, ४०।२

३४. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ३०

३५. शौचाचारव्रतं तत्र कार्यं... उभे संध्ये रविं भूप तथैवाग्निं समाहितः । विष्णु पु०, ३।९।२-३

३६. मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः ...... । मत्स्य पु०, ४०।२

३७. दण्डी च मेखली चैव ह्यधःशायी तथा जटी । वायु पु०, ८।१७४
दण्डी च मेखली चैव अधःशायी तथाजिनी । ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७५

हुए, इन्द्रिय-संयम (वायु पु०) और तपस्या (ब्रह्माण्ड पु०) का विकास करना कर्त्तव्य विहित हैं[३८]।

भैक्ष्य—विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्मचारी को ऐसे अन्न का आहार करना चाहिये, जो भिक्षा द्वारा उपलब्ध हो[३९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य एवं दिनचर्या के निरूपण में भिक्षा-वृत्ति परिगणित है[४०]।

इन पुराणों में आलोचित ब्रह्मचर्य-आश्रम का विवरण धर्मशास्त्रों के वर्णनों से अधिकांशतः साम्य रखता है। उदाहरणार्थ, वसिष्ठ धर्मसूत्र में निरूपित है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व गुरु के समीप ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन करना चाहिए[४१]। यही व्यवस्था याज्ञवल्क्य स्मृति में भी विहित है[४२]। मनुस्मृति में वर्णित है कि ब्रह्मचारी के लिये यह अपेक्षित है कि वह निष्कपट ढंग से एकत्र भिक्षान्न का गुरु को समर्पण करने के उपरान्त भोजन करे[४३]। अन्यत्र आख्यात है कि गुरु की सेवा से ब्रह्मचारी गुरुगत विद्या को प्राप्त करने में सफल होता है[४४]।

गृहस्थ : नामार्थ शब्द—आलोचित पुराणों में गृहस्थ के लिए प्रायः गृहस्थ शब्द का ही प्रयोग उपलब्ध है। कहीं-कहीं एतदर्थ गृही शब्द भी प्रयुक्त है, जिसके प्रमाण वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में प्राप्त होते हैं[४५]। ऐसी प्रवृत्ति वैदिक काल में ही उद्भूत हो चुकी थी। उदाहरणार्थ, जाबालोपनिषद् में गृहस्थार्थ गृही

---

३८. मैथुनस्यासमाचारो ह्यचिन्तनमकल्पनम्।
निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यं तच्छिद्रं दम उच्यते। वायु पु०, ५९।४६
मैथुनस्यासमाचारो न चिन्ता नानुजल्पनम्। ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।५१

३९. भिक्षान्नमश्नीयात्। विष्णु पु०, ३।९।५

४०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ३०

४१. वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाविशीर्णब्रह्मचर्यो... । वसिष्ठ धर्मसूत्र,७।३

४२. वेदव्रतानि वा पारं नीत्वा... अविप्लुतब्रह्मचर्यो...। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।५१।५२

४३. समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदर्थममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयात् । मनुस्मृति, २।५१

४४. गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति। वही, २।२१८

४५. गृहिणां न्यासिनाश्चोक्तौ। वायु पु०, १।८७; ब्रह्माण्ड पु०, १।१।८०
त्रींल्लोकाञ्जयते गृही...... । मत्स्य पु०, २११।२७

शब्द व्यवहृत हुआ है[४६]। पुराणेतर वेदोत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति का निर्वाह दिखाई देता है। मनुस्मृति के एक श्लोक में गृहस्थार्थ गृहस्थ तथा गृही दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं[४७]। इसी प्रकार कालिदास-कृत शाकुन्तल में गृहस्थ के स्थान पर गृही शब्द का उल्लेख आया है[४८]।

गार्हस्थ्य-आश्रम का गौरव—विष्णु, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में गार्हस्थ्य-आश्रम को अन्य अश्रमों का स्रोत माना गया है[४९]। यह व्यवस्था धर्मशास्त्र-सम्मत निर्देश के समकक्ष प्रतीत होती है। गौतम धर्मसूत्र तथा मनुस्मृति में निर्देशित है कि गृहस्थ से ही अन्य आश्रमों का उद्भव होता है[५०]। गृहस्थ-आश्रम के गौरवोद्भावक इन उद्धरणों का मूल प्रस्तुत आश्रम की सामाजिक संतुलन में कारणभूत महत्ता है। अन्य तीन आश्रमियों के विपरीत गृहस्थ का समाज से प्रत्यक्ष सम्पर्क था[५१]।

गार्हस्थ्य-आश्रम का क्रम—विष्णु पुराण में ब्रह्मचर्य आश्रम को यापित करने के उपरान्त गार्हस्थ्य-आश्रम में प्रवेश करना अपेक्षित माना गया है[५२]। मत्स्य पुराण में गृहधर्मी का उल्लेख करते हुए निरूपित है कि गृहस्थ-आश्रम का क्रम ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् आता है[५३]। इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति[५४] के तद्विषयक उद्धरणों से किया जा सकता है, जिनमें ब्रह्मचर्य-आश्रम के उपरान्त गृहस्थ बनना अपेक्षित बताया गया है।

---

४६. ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। जाबालोपनिषद्, ४; द्रष्टव्य, काणे, वही, पृ०, ४२१

४७. गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही। मनुस्मृति, ३।७८

४८. पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु...... । अभिज्ञानशकुन्तलम्, ४।६

४९. तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्। विष्णु पु०, ३।६।११
पूर्वं गृहस्थाश्रमः स्मृतः त्रयाणामाश्रमाणां प्रतिष्ठायोनिरेव च। वायु पु०, ८।१७२; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७२-१७३

५०. तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम्। गौतम धर्मसूत्र, ३।३
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि। मनुस्मृति, ६।८९

५१. पंढारीनाथ प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइज़ेशन, पृ० ९५

५२. गार्हस्थ्यमाविशेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्कृतिः। विष्णु पु०, ३।९।७

५३. मनुजास्तत्र जायन्ते यतो न गृहधर्मिणः।
क्रमेणाश्रमसंप्राप्तिर्ब्रह्मचारिव्रतादनु । मत्स्य पु०, १५४।१५३

५४. अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्। मनुस्मृति, ३।२
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।५२

गार्हस्थ्य-आश्रम का उद्देश्य—विष्णु पुराण में ब्रह्मचर्य-आश्रम के उपरान्त पत्नी को विधिवत् अंगीकार करना मनुष्य के लिए आवश्यक विहित है[५५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में स्त्री-परिग्रह को ब्रह्मा का आदेश उद्घोषित किया गया है[५६]। मत्स्य पुराण के अनुसार वनवासी बनने के पूर्व एक से दो हो जाना अनिवार्य है[५७]। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गार्हस्थ्य-आश्रम के विषय में पौराणिक उद्देश्य वंश-परम्परा की अभिवृद्धि है। वैदिक काल से ही यह परम्परा चली आ रही थी। उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण में सन्तानहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ माना गया है[५८]। उत्तरकाल में भी यह प्रवृत्ति सजीव थी। शाकुन्तल में सन्तानयुक्त मनुष्य का जीवन धन्य वर्णित है[५९]।

गृहस्थ के कर्त्तव्य—मत्स्य पुराण में गृहस्थ का सम्बन्ध कर्मयोग से किया गया है तथा ऐसा विहित है कि कर्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा उत्कृष्ट है[६०]। यह ज्ञानयोग का साधक है[६१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवेचित है कि गृहस्थ साधु कहलाने का अधिकारी उसी अवस्था में हो सकता है, जब कि वह कर्मक्षेत्र में साधक की भाँति आचरण करे[६२]। विष्णु पुराण में कुत्सित ज्ञान, अहंकार-भावना, दम्भ, परिताप, उपघात और परुषता से दूर रहकर अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से

---

५५. विधिनावाप्तदारस्तु गार्हस्थ्यमखिलं कुर्यात्। विष्णु पु०, ३।९।८

५६. दाराग्निहोत्रसंयोगे मिथ्यामारभतेति च।
एवमुक्त्वा तु तं ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत। वायु पु०, ६७।८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।४।३-४

५७. द्वितीयां कुरु वै तनुम्। मत्स्य पु०, १७५।३०

५८. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः। ऐतरेय ब्राह्मण, ३३।११

५९. अभिज्ञानशकुन्तलम्, ७।१७

६०. क्रियायोगः कथं सिध्येद् गृहस्थादिषु सर्वदा।
ज्ञानयोगसहस्राद्धि कर्मयोगो विशिष्यते। मत्स्य पु०, २५८।१

६१. अयमेव क्रियायोगः ज्ञानयोगस्य साधकः। वही, ५२।११

६२. क्रियाणां साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते। वायु पु०, ५९।२३; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२४

पालन करना योग्य गृहस्थ का लक्षण निरूपित है[६३]। मत्स्य पुराण में विहित उपर्युक्त व्यवस्था औपनिषदिक विवरणों के सन्निकट है, जिनमें कर्मयोग को ज्ञानयोग की पूर्वपीठिका कहा गया है[६४]। ये उद्धरण गृहस्थ के जटिल क्रिया-कलाप पर भी प्रकाश डालते हैं। स्मृतियों में भी गृहस्थ के विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य स्मृति के गृहस्थ धर्मप्रकरण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह आदि का उल्लेख विवृत हुआ है[६५]।

अर्थार्जन—विष्णु पुराण में वर्णित है कि गार्हस्थ्यानुकूल कार्यों के सम्पन्नार्थ मनुष्य को धन की व्यवस्था करनी चाहिए। किन्तु ऐसी व्यवस्था का आधार उसका कर्म ही विहित है[६६]। मत्स्य पुराण के अनुसार गृहस्थ को धार्मिक साधनों से द्रव्यार्जन करना चाहिए। परधन का गृहस्थी में व्यय करना निषिद्ध माना गया है[६७]। एतत्सम व्यवस्था का प्रतिपादन स्मृतियों ने भी किया है। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य स्मृति में विवेचित है कि गृहस्थ को स्वधर्मानुकूल, सरल और शठता से वर्जित जीविका का आश्रय लेना चाहिए[६८]।

अतिथि-सत्कार—विष्णु पुराण के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि वह मधुर वचनों से अतिथि-सत्कार करे। इसी संदर्भ में पुराण का निर्देश है कि यदि अतिथि गृहस्थ के घर से असन्तुष्ट लौटते हैं, तो उसके समस्त पुण्य क्षीण हो

---

६३. अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव गृहे सतः।
परितापोपघातौ च पारुष्यं न शस्यते।
यस्तु सम्यक्करोत्येवं गृहस्थः परमं विधिम्।
सर्वबन्धविनिर्मुक्तो लोकानाप्नोत्यनुत्तमान्। विष्णु पु०, ३।९।१६-१७

६४. आर० डी० रानाडे, सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फिलासफ़ी, पृ० २४

६५. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्। याज्ञवल्क्य स्मृति, गृहस्थ धर्मप्रकरण, श्लोक २२

६६. विधिनावाप्तदारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मणा। विष्णु पु०, ३।९।८

६७. धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत...... ।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत्पुरातनी। मत्स्य पु०, ४०।३

६८. आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा। याज्ञवल्क्य स्मृति, वही, श्लोक ३

जाते हैं[६९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आतिथेय बनना गृहस्थ का परम कर्त्तव्य बताया गया है[७०]। मत्स्य पुराण में निर्देशित है कि गृहस्थ का उद्देश्य अतिथि को भोजन से सन्तुष्ट करना भी होना चाहिए[७१]। इन निर्देशों का समर्थन गौतम धर्म-सूत्र[७२], मनुस्मृति[७३], याज्ञवल्क्य स्मृति[७४] के उद्धरणों से भी होता है, जिनमें अतिथि-सत्कार गृहस्थ-परिधि के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

पितृतर्पण—विष्णु पुराण के अनुसार गृहस्थ को पितरों की अर्चना निवापन (पिण्डदान) से करनी चाहिए[७५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में गृहस्थ के कर्त्तव्यों में श्राद्ध-क्रिया पर विशेष बल दिया गया है[७६]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी गृहस्थ के लिए पितृ-तर्पण आवश्यक माना गया है[७७]।

यज्ञ—विष्णु पुराण में निरूपित है कि देवताओं के प्रसादार्थ गृहस्थ को यज्ञ करना चाहिए[७८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में याज्ञिक अनुष्ठान गृहस्थ के अपेक्षित कर्त्तव्यों के अन्तर्गत विहित है[७९]। मत्स्य पुराण की व्यवस्थानुसार गृहस्थ के लिये अर्जित धन का याज्ञिक क्रिया में यथोचित व्यय करना आवश्यक है[८०]।

---

६९. तेषां स्वागतदानादि वक्तव्यं मधुरं नृप।
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति। विष्णु पु०, ३।९।१५

७०. दाराऽग्नयोऽथातिथेयइज्याश्राद्धक्रियाः प्रजाः।
इत्येष वै गृहस्थस्य समासाद्धर्म्मसंग्रहः। वायु पु०, ८।१७३; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७४

७१. धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत।
दद्यात्सदैवातिथीन्भोजयेच्च। मत्स्य पु०, ४०।३

७२. भोजयेत्पूर्वमतिथि......। गौतम धर्मसूत्र, ५।२६

७३. मनुस्मृति, ३।११४

७४. संभोज्यातिथि...। याज्ञवल्क्य स्मृति, वही, श्लोक ५

७५. निवापेन पितृन्......। विष्णु पु०, ३।९।९

७६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७०

७७. पितृंछ्राद्धैरन्नदानैर्भूतानि बलिकर्मभिः। मत्स्य पु०, ५२।१४

७८. निवापेन पितृनर्चन्यज्ञैर्देवांस्तथातिथीन्। विष्णु पु०, ३।९।९

७९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७०

८०. धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत। मत्स्य पु०, ४०।३

बलिकर्म—विष्णु पुराण का कथन है कि भूतों की सन्तुष्टि के लिए गृहस्थ को बलिकर्म निष्पन्न करना चाहिए[८१]। मत्स्य पुराण के अनुसार गृहस्थ बलिकर्म द्वारा भूतों की अर्चना-क्रिया का समाचरण करता है[८२]।

स्वाध्याय—विष्णु पुराण के अनुसार स्वाध्याय से गृहस्थ ऋषियों की पूजा करता है[८३]। मत्स्य पुराण में मुनियों के अर्चनार्थ गृहस्थ द्वारा स्वाध्याय-रत रहना अपेक्षित बताया गया है[८४]।

पंच महायज्ञ—मत्स्य पुराण में स्पष्टतः वर्णित है कि उपर्युक्त अतिथि-सत्कार आदि पाँच यज्ञ हैं, जो पाँच प्रकार के दैनिक हिंसाओं के अपनोदनार्थ विहित हैं। ये पंच हिंसाएँ—कण्डनी (ओखली में अन्न छाँटने से), पेषणी (पीसने से), चुल्ली (चूल्हे में भोजन बनाने से), जलकुंभी (कुएँ से घड़े में जल लेने से) तथा प्रमार्जनी (झाड़ू देने से)—नित्य प्रति होती हैं[८५]। इन पाँच महायज्ञों का प्रतिपादन वैदिक काल ही में हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण में इन पाँचों को क्रमशः भूतयज्ञ (बलिकर्म), मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सत्कार), पितृ-यज्ञ (तर्पण), देव-यज्ञ तथा ब्रह्म-यज्ञ (स्वाध्याय) नाम दिए गए हैं[८६]। कालान्तर के अन्य ग्रन्थों के द्वारा भी इस परम्परा-निर्वाह की सूचना मिलती है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में वर्णित हुआ है कि गृहस्थ नित्य प्रति चुल्ली, पेषणी, उपस्कर (झाड़ू), कण्डनी और जलकुंभ के द्वारा पाँच पाप करता है, जिनके निवारणार्थ पाँच महायज्ञ विहित हुए हैं। ये पाँच महायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ,

---

८१. अन्नैर्मुनींश्च स्वाध्यायैरपत्येन प्रजापतिम्। विष्णु पु०, ३।९।१०

८२. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७७

८३. स्वाध्यायैरर्चयेच्चर्षीन् होमैर्विद्वान्यथाविधि। मत्स्य पु०, ५२।१४

८५. पंचैते विहिता यज्ञाः पंचसूनापनुत्तये।
कण्डनी पेषणी चुल्ली जलकुंभी प्रमार्जनी।
पंच सूना गृहस्थस्य तेन स्वर्गं न गच्छति। मत्स्य पु०, ५३।१६

८६. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। शतपथ ब्राह्मण, ११।५।६।१
अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोत्यहरहर्दद्यादोदपात्रात्तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोत्यहरहः स्वधा कुर्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोत्यहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात्तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति। वही, ११।५।६।२
अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। वही, ११।५।६।३

पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ। ऐसा निरूपित है कि ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय तथा तर्पण; होम, बलिकर्म और अतिथि-सत्कार क्रमशः पितृयज्ञ, देवयज्ञ भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ के द्योतनार्थ विहित हैं[८७]।

वानप्रस्थ—आलोचित पुराणों में वानप्रस्थ के लिए अधिकांशतः वानप्रस्थ शब्द ही व्यवहृत हुआ है। किन्तु, कहीं-कहीं एतदर्थ वैखानस शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने एक स्थल पर तृतीय आश्रम के निर्वाहार्थी को वैखानस की संज्ञा दी है[८८]। विष्णु पुराण में वानप्रस्थ आश्रमी सौभरि के क्रिया-कलाप के लिए 'वैखानस-निष्पाद्य' शब्द विशेषणार्थ प्रयुक्त हुआ है[८९]। मत्स्य पुराण ने मलयाचल पर सपत्नीक तपस्या करने वाले ऋषि अगस्त्य की साधना को 'वैखानस' शब्द से अभिहित किया है[९०]। इन दोनों शब्दों में 'वैखानस' शब्द अधिक प्राचीन है। इसका प्रयोग वैदिक ग्रन्थों के काल ही में होने लगा था। ताण्ड्य महाब्राह्मण में उन वैखानस ऋषियों का वर्णन मिलता है, जो मुनिमरण नामक स्थान पर मृत्यु को प्राप्त हुए थे[९१]। तैत्तिरीय आरण्यक में वैखानस को प्रजापति का नख बताया गया है[९२]। ऐसा विचार है कि वैखानस शब्द वानप्रस्थ का मूल रूप है[९३]। अमरकोश के भाष्यकार क्षीरस्वामी ने वैखानस और वानप्रस्थ,

---

८७. पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्। मनुस्मृति, ३।६८-७०

८८. साधनात्तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः। वायु पु०, ५९।२३; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२५

८९. सौभरिरपहाय पुत्रगृहासनपरिच्छदादिकमशेषमर्थजातं सकलभार्यासमन्वितो वनं प्रविवेश। तत्राप्यनुदिनं वैखानसनिष्पाद्यमशेषक्रियाकलापं...। विष्णु पु०, ४।२।१२९

९०. मलयस्यैकदेशे तु वैखानसविधानतः।
सभार्यः संवृतो विप्रैस्तपश्चक्रे सुदुश्चरम्। मत्स्य पु०, ३१।६७

९१. ताण्ड्य महाब्राह्मण, १४।४।७

९२. ये नखास्ते वैखानसाः। तैत्तिरीय आरण्यक, १।२३

९३. काणे, वही, पृ०, ९१७

इन दोनों शब्दों को एकार्थक माना है[९४]। यद्यपि कालान्तर में वानप्रस्थ के प्रयोग की बहुलता दिखाई देती है, तथापि वैखानस शब्द पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र में तृतीय आश्रम को वैखानस नाम दिया गया है[९५]।

वानप्रस्थ का क्रम—विष्णु पुराण के अनुसार गार्हस्थ्य-उचित कर्त्तव्यों को पूरा करने के बाद अवस्था के ढलने पर मनुष्य को वानप्रस्थी होना चाहिए[९६]। गृहस्थ-जीवन के उपरान्त वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार न करने वाले मनुष्य को पापकर्मा कहा गया है[९७]। गार्हस्थ्य-सुलभ भौतिक सुखों की उपेक्षा कर वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करना शुभदायक घोषित किया गया है[९८]। विष्णु और मत्स्य पुराणों में वर्णित है कि सभी राजोचित सुखों से विस्पृहा उत्पन्न होने के उपरान्त ययाति नृप ने वनवास ग्रहण किया था[९९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आख्यात है कि वृहदश्व नृप ने अपने पुत्र कुवलाश्व को राजोचित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए निर्दिष्ट कर स्वयं पर्वत (वायु पुराण) / वनवास (ब्रह्माण्ड पुराण) का आश्रय लिया[१००]। ऐसी ही व्यवस्था का प्रतिपादन स्मृतियों ने भी किया है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में निरूपित है कि गृहस्थ जब अपने शरीर का पका हुआ बाल, चमड़े की झुर्रियाँ तथा प्रपौत्र को देख ले, उस समय उसे वन का आश्रय लेना चाहिए[१०१]।

पत्नी-सहवास—विष्णु पुराण में वानप्रस्थ के अवसर पर पत्नी का सहवास

---

९४. वानप्रस्थः वैखानसाख्यः । क्षीरस्वामी

९५. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः । गौतम धर्मसूत्र, ३।२

९६. वयःपरिणतो... गृहाश्रमी... वनं गच्छेत्... । विष्णु पु०, ३।९।१८

९७. यस्तु संत्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रस्थो न जायते..पापकृन्नरः। वही, ३।१८।३७

९८. परित्यज्याखिलं तंत्रं गन्तव्यं तपसे वनम् । वही, ५।३८।८९

९९. पुरोस्सकाशादादाय जरां दत्त्वा च यौवनम् ।
राज्येऽभिषिच्य पूरुं च प्रययौ तपसे वनम् । विष्णु पु०, ४।१०।३०
दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः । मत्स्य पु०, ३४।२९

१००. सुतं व्यादिश्य तनयं धुन्धुमारणमुद्यतम् ।
जगाम पर्वतायैव...... । वायु पु०, ८८।४७;
स तमादिश्य तनयं धुंधुमारणमच्युतम् ।
जगाम वनायैव...... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।४८

१०१. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् । मनुस्मृति, ६।२

ऐच्छिक उद्घोषित है एवं ऐसा निरूपित है कि उसे पुत्रों के पास रखा जा सकता है[१०२]। मान्धाता नृप के बारे में वर्णित है कि उन्होंने समस्त स्त्रियों के साथ वनवास का आश्रय लिया था[१०३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार राजर्षि ययाति ने सपत्नीक वनवास के लिए प्रयाण किया था[१०४]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में वर्णित है कि अगस्त्य ऋषि सभार्या वैखानस-आश्रम की क्रिया सम्पन्न कर रहे थे[१०५]। इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन स्मृतियों द्वारा भी होता है। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य स्मृति में वानप्रस्थ के समय पत्नी का सहवास वैकल्पिक घोषित करते हुए निरूपित है कि उसे पुत्रों के पास रखा जा सकता है[१०६]।

वानप्रस्थ-आश्रम के उद्देश्य : तपस्या—आश्रम धर्म का उल्लेख करते हुए वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने तपस्या का आचरण वैखानस का लक्षण माना है[१०७]। विष्णु पुराण में उपलब्ध है कि वानप्रस्थी को शीत और उष्ण का सहन करते हुए तपस्या करनी चाहिए[१०८]। मत्स्य पुराण के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने वैखानस विधि के अनुसार दुष्कर तपस्या का आचरण किया था[१०९]। वानप्रस्थ-आश्रम का प्रधान लक्षण तपश्चर्या का संपादन था। इसका स्पष्टीकरण धर्मसूत्र और स्मृतियों में भी हुआ है। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र में वैखानस को तपःशील कहा गया है[११०]। मनुस्मृति के मत में वानप्रस्थ-आश्रमी के लिये तपश्चर्या के द्वारा स्वशरीर को शोषित करना अपेक्षित है[१११]।

---

१०२. पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा। विष्णु पु०, ३।६।१८

१०३. सकलभार्यासमन्वितो वनं प्रविवेश। वही, ४।२।१२६

१०४. स राजर्षिः सदारः प्रस्थितो वनम्। वायु पु०, ९३।१०२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।१०४

१०५. मलस्यैकदेशे तु वैखानसविधानतः।
सभार्यः संवृतो विप्रैस्तपश्चक्रे सुदुश्चरम्। मत्स्य पु०, ६१।३७

१०६. सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम्। याज्ञवल्क्य स्मृति, वानप्रस्थ-प्रकरण श्लोक; ४५

१०७. साधनात्तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः। वायु पु०, ५९।२४; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२५

१०८. तपश्च तस्य राजेन्द्र शीतोष्णादिसहिष्णुता। विष्णु पु०, ३।६।२२

१०९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १०५

११०. वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलः। गौतम धर्मसूत्र, ३।२६

१११. तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः। मनुस्मृति, ६।२४

वनसुलभ सरल-आहार—विष्णु पुराण में वानप्रस्थ-आश्रमी के लिए पर्ण, फल और मूल का आहार निर्दिष्ट किया गया है[११२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी उसके लिए वन्यान्न, मूल, फल तथा औषधि की व्यवस्था विहित है[११३]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि वानप्रस्थी के आहार में नियमन रहना चाहिए[११४]। वानप्रस्थ के नियमों के पालक ययाति नृप के विषय में विहित है कि वे शिलोंछ-वृत्ति (खेतों में बचे हुए अनाजों) से भोजन करते थे[११५]। इस प्रकार वानप्रस्थी को वनसुलभ सरल-आहार के द्वारा जीवन यापित करना पड़ता था। गौतम धर्मसूत्र में वर्णन आया है कि वानप्रस्थी को मूल और फल का भोजन करना चाहिए[११६]। मनुस्मृति में भी विहित है कि वानप्रस्थी को शाक, फल और मूल पर प्राणमात्र का निर्वाह करना चाहिए[११७]।

वस्त्र—विष्णु पुराण के व्यवस्थानुसार वानप्रस्थी को अपना परिधान और उत्तरीय वनसुलभ चर्म, कुश और काश से बनाना चाहिए[११८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में निरूपित है कि उसे अपने वस्त्र की आवश्यकता मृगचर्म और पत्ते से पूरा करना चाहिए[११९]। इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन स्मृतियों के द्वारा भी होता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में वानप्रस्थी के लिए चर्मचीर-धारण की व्यवस्था विहित है[१२०]। इस प्रसंग में चीर के दो अर्थ प्रस्तावित किए गए हैं, फटा कपड़ा तथा कुश[१२१] अथवा वल्कल। प्रस्तुत संदर्भ में चीर का तात्पर्य वल्कल ही प्रतीत होता

---

११२. पर्णमूलफलाहारः... । विष्णु पु०, ३।९।१९
११३. धान्यमूलफलौषधम्... । वायु पु०, ८।१७५; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७६
११४. तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यो वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः । मत्स्य पु०, ४०।४
११५. शिलोंछवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः । वही, ३५।१४
११६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ११०
११७. शाकमूलफलानि च । मनुस्मृति, ६।१५
११८. चर्मकाशकुशैः कुर्यात्परिधानोत्तरीयके । विष्णु पु०, ३।९।२०
११९. चीरपत्राजिनानि...... । वायु पु०, ८।१७५; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७६
१२०. वसीत चर्म चीरं वा...... । मनुस्मृति, ६।६
१२१. सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट, भाग २५, पृ० १९९, पाद टिप्पणी १

है । ऐसी भावना का समर्थन भासकृत प्रतिमा नाटक से किया जा सकता है । इस ग्रन्थ में वनवास के लिए उद्यत राम के वस्त्र-बोधनार्थ एक ही प्रसंग में वल्कल और चीर दोनों ही शब्द व्यवहृत हुए हैं[१२२] ।

स्नान—विष्णु पुराण के व्यवस्थानुसार वानप्रस्थी को नित्यप्रति तीन बार स्नान करना चाहिए[१२३] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने दोनों संध्याओं में स्नान करना वानप्रस्थी के लिए अपेक्षित माना है[१२४] । इस संदर्भ में विष्णु पुराण का वर्णन याज्ञवल्क्य स्मृति और वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों का निर्देश मनुस्मृति से साम्य रखता है । याज्ञवल्क्य स्मृति में वानप्रस्थी के लिए त्रिकाल-स्नान की व्यवस्था विहित है, पर मनुस्मृति में दो बार स्नान का ही विधान निर्णीत है[१२५] ।

होमानुष्ठान—विष्णु पुराण ने होमकार्य वानप्रस्थी के लिए प्रशस्य माना है[१२६] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी होमानुष्ठान वानप्रस्थी के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत वर्णित है[१२७] । मत्स्य पुराण में हवन-कार्य, वानप्रस्थ-विधान उद्घोषित है[१२८] । एतत्सम व्यवस्था का प्रतिपादन धर्मशास्त्र भी करते हैं । उदाहरणार्थ, वसिष्ठ धर्मसूत्र में वानप्रस्थी के लिए 'आहिताग्नि' विशेषणार्थ प्रयुक्त है[१२९] ।

---

१२२. लक्ष्मणः—चीरमेकाकिना बद्धम्...... ।
राम: —वल्कलानि नाम...... । प्रतिमा नाटक, अंक १

१२३. तद्वत्त्रिषवणं स्नानं शस्तमस्य नरेश्वर । विष्णु पु०, ३।९।२०

१२४. उभे सन्ध्येऽवगाहश्च...... । वायु पु०, ८।१७५; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७६

१२५. त्रिषवणस्नायी...... । याज्ञवल्क्य स्मृति, वानप्रस्थ-प्रकरण, श्लोक ४८
सायं स्नायात्प्रगे तथा । मनुस्मृति, ६।६; अन्यत्र मनुस्मृति में भी वानप्रस्थी के लिए तीन बार स्नान करना अपेक्षित माना गया है । उपस्पृशंस्त्रिषवणम् । वही, ६।२४

१२६. देवताभ्यर्चनं होमस्सर्वाभ्यागतपूजनम् । विष्णु पु०, ३।९।२१

१२७. होमश्चारण्यवासिनां...... । वायु पु०, ८।१७५; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७६

१२८. अग्नींश्च विधिवज्जुहवन्वानप्रस्थविधानतः । मत्स्य पु०, ३५।१३

१२९. आहिताग्निः स्यात् । वसिष्ठ धर्मसूत्र, ९।१०

अतिथि-सत्कार—विष्णु पुराण का कथन है कि अतिथि तथा अभ्यागत का सत्कार करना वानप्रस्थी का परम कर्त्तव्य है[१३०]। नहुष राजा की प्रशंसा करते हुए मत्स्य पुराण में आख्यात है कि वानप्रस्थ-आश्रम में उन्होंने समुचित सत्कार के द्वारा अतिथियों को प्रसन्न रखा था[१३१]। वानप्रस्थी के लिए अतिथि-सत्कार का निर्देश धर्मशास्त्रों में भी मिलता है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार वानप्रस्थी के यहाँ आए हुए निषिद्ध व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी लोग अतिथि हैं[१३२]। वसिष्ठ का मत है कि वानप्रस्थी को चाहिए कि वह आश्रम में आए हुए अतिथि की सेवा करे[१३३]।

दान—विष्णु पुराण में भिक्षा-प्रदान वानप्रस्थी का प्रशस्य कर्त्तव्य विहित है[१३४]। मत्स्य पुराण में आदेशित है कि वानप्रस्थी दूसरों का दाता है[१३५]। इन उद्धरणों का समर्थन मनुस्मृति के एतद् विषयक स्थलों से भी होता है। इस स्मृति में निरूपित है कि वानप्रस्थी को अपनी शक्ति के अनुसार भिक्षा-प्रदान सम्पन्न करना चाहिए[१३६]।

धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों के प्रकाश में उपर्युक्त पौराणिक स्थलों के अध्ययनोपरान्त वानप्रस्थ आश्रम के विषय में दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं—एक तो गृहस्थ-आश्रम से इसका वैशिष्य-बोधक पार्थक्य और दूसरे इस आश्रम के कर्त्तव्यों की जटिलता। इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ-आश्रम का सम्बन्ध अर्थ से अधिक था। अर्थ के अतिरिक्त काम की भी इसमें महत्ता थी[१३७]। यही कारण है कि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने गृहस्थ-आश्रम को रजोगुण का आश्रित माना है[१३८]। सांख्यकारिका के अनुसार रजोगुण का स्वभाव उत्तेजनशील होता है[१३९]। यद्यपि

---

१३०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १२६
१३१. अतिथीन्पूजयन्नित्यं...... । मत्स्य पु०, ३५।१४
१३२. सर्वातिथिःप्रतिषिद्धवर्जम् । गौतम धर्मसूत्र, ३।३०
१३३. आश्रमागतमतिथिमभ्यर्चयेत् । वसिष्ठ धर्मसूत्र, ९।७
१३४. भिक्षाबलिप्रदानं च शस्तमस्य नरेश्वर । विष्णु पु०, ३।९।२१
१३५. दाता परेभ्यो...... । मत्स्य पु०, ४०।४
१३६. दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः । मनुस्मृति, ६।७
१३७. पंढारी नाथ प्रभु, वही, पृष्ठांक ८१
१३८. गृहिणां न्यासिनाञ्चोक्तौ रजःसत्त्वसमाश्रयात्। वायु पु०, १।१८७; ब्रह्माण्ड पु०, १।१।८०
१३९. उपष्टम्भकं चलं च रजः । सांख्यकारिका, १३

धर्माचरण भी गृहस्थ का कर्त्तव्य था, तथापि जैसा कि आगामी विवरणों में स्पष्ट किया जायेगा, इसमें परमार्थ तत्त्व का अभाव था। वानप्रस्थ्य तथा संन्यास के लिए विहित धर्म के विपरीत इसका सम्बन्ध समाज से भी था[१४०]। गृहस्थ का समाज से अविच्छेद्य सम्बन्ध था। पर वानप्रस्थी नगर और नागरिकों से पृथक् एवं निर्लिप्त निवासार्थ वन का आश्रय लेता था। ग्रन्थान्तरों के स्थल भी प्रस्तुत सम्भावना स्पष्ट कर देते हैं। भासकृत स्वप्नवासवदत्तम् में अरण्यवासी तपस्वियों का उद्देश्य नगर-सुलभ परिभव से परिहार माना गया है[१४१]। यह विवेचित हो चुका है कि वानप्रस्थी तपस्या का आचरण करता था। इसके अतिरिक्त आहार आदि विषयक अन्य उद्धरणों का उल्लेख भी किया जा चुका है[१४२]। निश्चय ही इन उद्धरणों से उसके कर्त्तव्य-दुरूहता पर प्रकाश पड़ता है।

संन्यास-आश्रम : नामार्थ शब्द—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने स्वविवेच्य विषयों के अन्तर्गत चतुर्थ आश्रम के लिए संन्यास शब्द का प्रयोग किया है[१४३]। अन्यत्र वायु पुराण में चतुर्थ आश्रम के कर्त्तव्य-निर्वाहार्थी को भिक्षु की संज्ञा दी गई है[१४४]। प्रसंगान्तर में चतुर्थ आश्रमी के लिए यती शब्द प्रयुक्त मिलता है[१४५]। विष्णु पुराण में चतुर्थ आश्रम में प्रवेशार्थी सौभरि मुनि को भिक्षु कहा गया है[१४६]। अन्यत्र चतुर्थ आश्रम को स्वीकार करने वाले को परिवाट् की संज्ञा प्रदत्त है[१४७]। मत्स्य पुराण में चतुर्थ आश्रमी को भिक्षु शब्द से अभिहित किया गया है[१४८]। इनमें यती शब्द ही अधिक प्राचीन है। ऋग्वेद में एक स्थल पर

---

१४०. पंढारीनाथ प्रभु, वही, पृष्ठांक ८१

१४१. नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते वनमधिगम्य मनस्विनो वसन्ति। स्वप्नवासवदत्तम्, १।५

१४२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २०३

१४३. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १३८

१४४. गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। वायु पु०, ५९।२५

१४५. रागिणां च विरागाणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। वही, १०४।१२

१४६. वैखानसनिष्पाद्यमशेषक्रियाकलापं निष्पाद्य...भिक्षुरभवत्। विष्णु पु०, ४।२।१३०

१४७. यस्तु सन्त्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रस्थो न जायते।
परिव्राट्...... । वही, ३।१८।३७

१४८. चरन्गृहस्थः कथमेति देवान्कथं भिक्षुः ... । मत्स्य पु०, ४०।१

उन यतियों का उल्लेख हुआ है, जिन्होंने इन्द्र से रक्षित प्रस्कण्व के विरुद्ध भृगु की रक्षा किया था[१४९]। अथर्ववेद में इन्द्र को यतियों का हन्ता बताया गया है[१५०]। इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यती आर्य-धर्म के अन्तर्गत नहीं थे[१५१]। पर, वे शनैः शनैः आर्योचित परिधि में अन्तर्भूत हुये। यही कारण है कि ताण्ड्य महा-ब्राह्मण ने वृहद्गिरि नामक यती को इन्द्र से रक्षित माना है[१५२]। धर्मसूत्र और स्मृतियों में चतुर्थ आश्रमी के लिए यती शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। यती के अतिरिक्त परिव्राट् अथवा परिव्राजक[१५३], भिक्षु[१५४] तथा संन्यास[१५५] शब्दों का व्यवहार भी इन ग्रन्थों में इसी प्रसंग में मिलता है।

चतुर्थ आश्रम का क्रम—विष्णु पुराणोक्त व्यवस्थानुसार मनुष्य को चाहिए कि वह गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थी बने, तत्पश्चात् परिव्राट् का धर्म स्वीकार करे अन्यथा वह पाप का भागी होता है[१५६]। इसी पुराण के वर्णानान्तर में विवेचित है कि मनीषियों ने आश्रमों के क्रम में भिक्षु के आश्रम को चौथा स्थान दिया है[१५७]। वायु पुराण में वर्णित है कि ज्ञान-प्राप्ति आश्रम-त्रय का क्रमशः परित्याग के उपरान्त अन्तिम आश्रम में होती है[१५८]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में चतुर्थ आश्रम का क्रम वानप्रस्थ के बाद निर्धारित किया गया है[१५९]। इस प्रकार संन्यास-आश्रम का क्रम निर्धारण वानप्रस्थ के उपरान्त था। इस व्यवस्था का प्रतिपादन स्मृतियों ने भी किया है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में विहित है कि मनुष्य

---

१४९. येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ। ऋग्वेद, ८।३।९

१५०. इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न। अथर्ववेद, २।५।३

१५१. काणे, वही, पृष्ठ ४१९

१५२. ताण्ड्य महाब्राह्मण, ८।१।४

१५३. परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्वा प्रतिष्ठेत। वसिष्ठ धर्मसूत्र,१०।१

१५४. अनिचयो भिक्षुः । गौतम धर्मसूत्र, २।१०।५

१५५. ससत्या ऊर्ध्वं संन्यासमुपदिशन्ति । बौधायन धर्मसूत्र, २।१०।५

१५६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १४७

१५७. चतुर्थश्चाश्रमो भिक्षोः प्रोच्यते यो मनीषिभिः। विष्णु पु०, ३।९।२४

१५८. आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तस्तु परमाश्रमम्।
अतः संवत्सरस्यान्ते प्राप्य ज्ञानमुत्तमम्। वायु पु०, १७।१

१५९. गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थो यतिस्तथा। ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२६; मत्स्य पु०, ४०।२-५

को आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर परिव्राट् बनना चाहिये[१६०]। पर कभी-कभी ब्रह्मचर्य अथवा गृहस्थ आश्रमोपरान्त भी संन्यास धर्म की दीक्षा स्वीकृत की जा सकती थी। जाबालोपनिषद् में ब्रह्मचर्य अथवा गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थी अथवा परिव्राजक बनना वैकल्पिक माना गया है[१६१]। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी व्यवस्था का अनुसरण सर्वथा एवं सर्वजन-सुलभ नहीं था। इसका कारण यह है कि मोक्ष-मार्ग के अनुसन्धान में मोक्षार्थी भिक्षु को एक ऐसी पूर्वपीठिका की आवश्यकता पड़ती थी, जहाँ स्थित होकर वह संसार के समस्त सम्भावित पापों का अपहार कर तदुपरान्त संन्यास-आश्रमार्थ सक्षम बन सके अन्यथा पूर्वानुभूत भौतिक भोगों की आसक्ति उसकी प्रज्ञा को नष्ट कर सकती थी[१६२]। प्रस्तुत प्रसंग पर विष्णु पुराण के एक उदाहरण द्वारा प्रकाश पड़ता है। सौभरि के विषय में इस ग्रन्थ में वर्णन आया है कि उन्होंने वानप्रस्थ में सभी पापों का क्षय किया, तदुपरान्त मनोवृत्ति के परिपक्व होने पर वे भिक्षु हुए[१६३]। यद्यपि सामान्यतः आलोचित पुराणों में आश्रम-क्रम की मर्यादा पर ध्यान दिया गया है तथापि वैकल्पिक व्यवस्था अथवा उदाहरण इनमें यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। विष्णु-पुराण में उल्लेख आया है कि ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। पर, पूर्वसंकल्प के अनुसार यदि मनुष्य चाहे तो वह गुरु, गुरुपुत्र अथवा गुरुपत्नी की सेवा में रत रहते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम में जीवन व्यतीत कर सकता है[१६४] अथवा अपनी इच्छानुसार वह वैखानस अथवा परिव्राट्

---

१६०. वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत। मनुस्मृति, ६।३३

१६१. यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। जाबालोपनिषद् ४

१६२. पंढारीनाथ प्रभु, वही, पृ० ६६

१६३. तत्राप्यनुदिनं वैखानसनिष्पाद्यमशेषक्रियाकलापं निष्पाद्य क्षपितसकल-पापः परिपक्वमनोवृत्तिः... भिक्षुरभवत्। विष्णु पु०, ४।२।१३०; द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १४६

१६४. गृहीतविद्यो गुरवे दत्त्वा च गुरुदक्षिणाम्।
गार्हस्थ्यमिच्छन्भूपाल कुर्याद्दारपरिग्रहम्।
ब्रह्मचर्येण वा कालं कुर्यात्संकल्पपूर्वकम्।
गुरोश्शुश्रूषणं कुर्यात्तत्पुत्रादेरथापि वा। विष्णु पु०, ३।१०।१३
याज्ञवल्क्यस्मृति में ऐसे ब्रह्मचारी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी की संज्ञा दी गई है। नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसंनिधौ। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।४९

भी बन सकता है[१६५]। मित्रज्योति नामक नृप के पुत्रों के विषय में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि गृहस्थ-आश्रम का परित्याग करने के उपरान्त उन्होंने यतिधर्म का आश्रय लिया था[१६६]। मत्स्य पुराण के वर्णनानुसार नहुषपुत्र यति ने कुमारावस्था में ही वैखानस व्रत स्वीकार किया था[१६७]।

संन्यास-आश्रम का उद्देश्य : मोक्ष—विष्णु पुराण में निरूपित है कि चतुर्थ आश्रम का विधिपूर्वक पालन करने वाला व्यक्ति इन्धनरहित अग्नि के समान गतिशून्य शान्ति का अनुभव करते हुए, ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। कदाचित् इसी दृष्टि से इस आश्रम को मोक्ष-आश्रम नाम भी प्रदत्त है[१६८]। वायु पुराण में वर्णन आता है कि अन्तिम आश्रम के नियमों का अनुसरणकर्त्ता, बन्धन के कारणभूत शुभ और अशुभ कर्मों का परित्याग कर, जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है, तो वह जन्म और पुनर्जन्म के आवर्त्त से सर्वथा मुक्त हो जाता है[१६९]। मोक्षाभिलाषी मित्रज्योति के पुत्रों के विषय में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवेचित है कि यति-धर्म का पालन करते हुए वे ब्रह्म में लीन हुये[१७०]। संन्यास-धर्म के लक्ष्य के विषय में मत्स्य पुराण

---

१६५. वैखानसो वापि भवेत्परिव्राडथवेच्छया।
पूर्वसंकल्पितं यादृक् तादृक्कुर्यान्नराधिप। विष्णु पु०,३।१०।१३-१५

१६६. संन्यस्य गृहधर्माणि वैराग्यं समुपस्थिताः।
यतिधर्ममवाप्येह ब्रह्मभूताय ते गताः। वायु पु०, ९३।५-६;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।६

१६७. यतिः कुमारभावेऽपि योगी वैखानसोऽभवत्। मत्स्य पु०, २४।५१

१६८. मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तम्।
शुचिस्सुखं कल्पितबुद्धियुक्तः।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशांतः।
स ब्रह्मलोकं श्रयते द्विजातिः। विष्णु पु०, ३।९।३३

१६९. अवस्थितो ध्यानरतिर्जितेन्द्रियः।
शुभाशुभे हित्य च कर्मणी उभे।
इदं शरीरं प्रविमुच्य शास्त्रतो।
न जायते म्रियते वा कदाचित्। वायु पु०, १७।७

१७०. यतिधर्ममवाप्येह ब्रह्मभूयाय ते गताः। वायु पु०, ९३।५-६;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।५-६

में निरूपित है कि इसका पालनकर्त्ता अमरत्व को प्राप्त करता है[१७१]। इस प्रकार चतुर्थ आश्रम के क्रिया-कलाप का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना था। इसका समर्थन स्मृतियों से भी होता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में विहित है कि चतुर्थ आश्रम के नियमों का पालन करने से द्वन्द्व-विहीन परम गति मिलती है[१७२]।

मोक्षार्थ-कर्त्तव्य—विष्णु पुराण में भिक्षु के लिए शत्रु और मित्र में सम-भाव रखना; जरायुज, अण्डज आदि सभी जीवों से कभी द्रोह न करना; काम-क्रोध, दर्प, लोभ, मोह आदि समस्त दोषों का परित्याग अपेक्षित बताया गया है[१७३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार संन्यासी को दया, क्षमा, अक्रोध, सत्य आदि गुणों का विकास करना चाहिए[१७४]। मत्स्य पुराणोक्त व्यवस्था के अनुसार संन्यासी के लिए काम-परित्याग वाञ्छनीय है[१७५]। दूसरे शब्दों में चतुर्थ आश्रमी के लिए आध्यात्मिक उन्नयन में सहायक आचारपरक गुणों का विकास अपेक्षित था। यही व्यवस्था स्मृति-ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य-स्मृति के यति-धर्मप्रकरण में सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा आदि सदाचार-विधायक गुणों पर बल दिया गया है[१७६]।

अनासक्ति—विष्णु पुराण के अनुसार संन्यासी को पुत्र, द्रव्य और पत्नी के प्रति निरीह रहना चाहिए[१७७]। वायु पुराण में आदेशित है कि भिक्षु को ब्रह्म-प्राप्ति

---

१७१. मत्स्य पु०, ४०।११-१७, अथास्य लोकः सर्वो यः अमृतत्वाय कल्पते। वही, ४०।१७

१७२. एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम्। मनुस्मृति, ६।९६

१७३. मित्रादिषु समो मैत्रस्समस्तेष्वेव जन्तुषु।
जरायुजाण्डजादीनां...कुर्वीत न द्रोहं...।
...कामः क्रोधस्तथा दर्पलोभादयश्च ये।
तांस्तु सर्वान् परित्यज्य...... । विष्णु पु०, ३।९।२६-३०

१७४. दया भूतेषु च क्षमा......सत्यं च। वायु पु०, ८।१७६-१७७; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७७-१७९

१७५. यस्तु कामान्परित्यज्य...... । मत्स्य पु०, ४०।१४

१७६. सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः...... । याज्ञवल्क्य स्मृति, यति-धर्मप्रकरण, श्लोक ६६

१७७. पुत्रद्रव्यकलत्रेषु त्यक्तस्नेहो...... । विष्णु पु०, ३।९।२५

में सहायक ज्ञान का लाभ उसी दशा में हो सकता है, जब कि वह सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति-त्याग करे[१७८]। मत्स्य पुराण के आलोचित उद्धरण में भिक्षु द्वारा अनासक्ति का विकास सुस्पष्ट है[१७९]। धर्मशास्त्र भी एतत्सम विधान का ही प्रतिपादन करते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र में भिक्षु को 'अनिचय' की संज्ञा दी गई है[१८०]। गौतम धर्मसूत्र के भाष्यकर्त्ता मस्करि ने 'अनिचय' का तात्पर्य द्रव्यादि का परित्याग माना है[१८१]। मनु ने मोक्षाभिलाषी संन्यासी के लिए राग का क्षय आवश्यक निरूपित किया है[१८२]।

इन्द्रिय-निग्रह—वायु पुराण में संन्यासी के लिए जितेन्द्रिय बनना अपेक्षित विहित है[१८३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में अव्यवाय होना भिक्षु का परम कर्त्तव्य माना गया है[१८४]। अव्यवाय और जितेन्द्रिय समानार्थक हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार जितेन्द्रिय ही वास्तविक भिक्षु है[१८५]। इन उद्धरणों का समर्थन धर्मशास्त्रों से भी किया जा सकता है। गौतम धर्मसूत्र में भिक्षु के लिए 'ऊर्ध्वरेता' शब्द विशेषणार्थ प्रयुक्त है[१८६]। मनुस्मृति में भी विवेचित है कि इन्द्रिय-निरोध से भिक्षु अमरत्व को प्राप्त करने में सफल होता है[१८७]।

भैक्ष्य एवं अल्पाहार—विष्णु पुराण में विहित है कि भिक्षु को भिक्षान्न द्वारा मात्र प्राण-निर्वाहार्थ आहार करना चाहिए। इस क्रिया की तुलना अग्निहोत्र से की गई है तथा ऐसा निर्देशित है कि भिक्षान्न वह हवन है, जिसे भिक्षु अपने शरीर में स्थित अग्नि (जठराग्नि) में आहूत कर परलोक प्राप्त करने में समर्थ होता

---

१७८. त्यक्तसङ्गो...... । वायु पु०, १७।४
१७९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १७५
१८०. अनिचयो भिक्षुः । गौतम धर्मसूत्र, ३।११
१८१. अनिचयशब्देनौपचयिकद्रव्यस्य त्याग उच्यते । गौतम धर्मसूत्र, ३।११; मस्करि-भाष्य
१८२. रागद्वेषक्षयेण च । मनुस्मृति, ६।६०
१८३. जितेन्द्रियः...... । वायु पु०, १७।४
१८४. अव्यवायश्च...... । वायु पु०, ८।१७६; ब्राह्माण्ड पु०, २।७।१७७
१८५. जितेन्द्रियः... स भिक्षुः... । मत्स्य पु०, ४०।५
१८६. ऊर्ध्वरेताः...... । गौतम धर्मसूत्र, ३।१२
१८७. इन्द्रियाणां निरोधेन......अमृतत्वाय कल्पते । मनुस्मृति, ६।६०

है[१८८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि जब मुसल का शब्द सुनाई न पड़े, तभी भिक्षु को भिक्षान्नार्थ पर्यटन करना चाहिए[१८९]। मत्स्य पुराण में विवेचित है कि भिक्षु को उतना ही भोजन करना चाहिए, जिससे प्राण-धारण करने की शक्ति बनी रहे[१९०]। चतुर्थ आश्रम के विषय में भिक्षा-वृत्ति तथा अल्पाहार के उदाहरण धर्मशास्त्र तथा स्मृतियों में भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र में विहित है कि भिक्षु को भिक्षार्थ ग्राम में जाना चाहिए[१९१]। मनुस्मृति के अनुसार उसे अल्पाहार करना चाहिए[१९२]। अन्यत्र इस ग्रन्थ में वर्णित है कि चतुर्थ आश्रमी को उस समय भिक्षाटन करना चाहिए, जबकि मुसल का शब्द न सुनाई दे[१९३]। यह वर्णन वायु और ब्रह्माण्ड के आलोचित वर्णन से पर्याप्त साम्य रखता है।

भ्रमणशीलता—विष्णु पुराण में आदेशित है कि भिक्षु को ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि व्यतीत करना चाहिए। इसका कारण यह है कि एक स्थान पर अधिक काल तक निवास से प्रीति अथवा द्वेष की सम्भावना हो सकती है[१९४]। चतुर्थ आश्रम के संदर्भ में मत्स्य पुराण भी वर्णित करता है कि भिक्षु वही है, जिसका कोई घर नहीं है और जो अनेक स्थानों का भ्रमण करता है[१९५]। इन उद्धरणों का अनुमोदन धर्मशास्त्र भी करते हैं। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार भिक्षु को एक रात्रि

---

१८८. प्राणयात्रानिमित्तं च...भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहान्।
कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति।
विप्रस्तु भैक्ष्योपहितैर्हविर्भिश्चिताग्निकानां व्रजति स्म लोकान्। विष्णु पु०, ३।९।२९-३२

१८९. आसन्नमुसले भैक्षम्...... । वायु पु०, ८।१७६; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७७

१९०. यावत्प्राणाभिसन्धानं तावदिच्छेच्च भोजनम्। मत्स्य पु०, ४०।१३

१९१. भिक्षार्थी ग्राममियात् । गौतम धर्मसूत्र, ३।१४

१९२. अल्पान्नाभ्यवहारेण...... । मनुस्मृति, ६।५९

१९३. सन्नमुसले......भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्। वही, ६।५६

१९४. एकरात्रस्थितिर्ग्रामे पंचरात्रस्थितिः पुरे। विष्णु पु०, ३।९।२८

१९५. अनोकशायी विगृहश्च...देशानेकचरः स भिक्षुः। मत्स्य पु०, ४०।५

से अधिक ग्राम में नहीं रहना चाहिए[१९६]। मनुस्मृति में निरूपित है कि जीवों के रक्षार्थ तथा शरीर-क्षय के लिए उसे अहर्निश पृथ्वी का भ्रमण करना चाहिए[१९७]।

इसके अतिरिक्त आलोचित पुराणों में योग की साधना में लीन रहना[१९८], सभी प्राणियों को अभय देना और स्वयं भी निर्भय रहना[१९९] तथा कौपीन धारण करना[२००] भिक्षु की विशेषताएँ परिगणित हैं। गौतम धर्मसूत्र में भी विहित है कि भिक्षु को कौपीन मात्र धारण करना चाहिए[२०१]। वसिष्ठ के अनुसार परिव्राजक को चाहिए कि वह सभी प्राणियों को दक्षिणा-सदृश अभय प्रदान करे, क्योंकि जो व्यक्ति सभी को अभयदान देता है उसे किसी से भय नहीं रहता[२०२]। मनुस्मृति के अनुसार चतुर्थ आश्रमी को योग-आश्रय के माध्यम से परमात्मा के सूक्ष्म तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए[२०३]।

उपर्युक्त समीक्षा से यह स्पष्ट है कि आश्रम के विषय में आलोचित पुराणों का विवरण व्यापक है। आश्रमों के नाम, स्वरूप और क्रम पर इनके द्वारा विशेष प्रकाश पड़ता है। जिन नामों का प्रयोग हुआ है, उनमें अनेकता की प्रवृत्ति प्राचीन परम्परा में नवीन संयोजन का परिचायक है। आश्रमों के जिस स्वरूप का चित्रण

---

१९६. रात्रिं ग्रामे वसेत्। गौतम धर्मसूत्र, ३।२१
एकस्मिन्ग्रामे दिनद्वयं न वसेदित्यर्थः। गौतम धर्मसूत्र, ३।२१; मस्करि-भाष्य

१९७. संरक्षणार्थं सर्वजन्तूनां रात्रावहनि वा सदा शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत्। मनुस्मृति, ६।६८

१९८. यतमानो यतिः साधुः स्मृतो योगस्य साधनात्। वायु पु०, ५९।२४; ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२५

१९९. अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा यश्चरते मुनिः।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित्। विष्णु पु०, ३।९।३१

२००. कौपीनाच्छादानं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम्। मत्स्य पु०, ४०।१२

२०१. कौपीनाच्छादनार्थं वासो विभृयात्। गौतम धर्मसूत्र, ३।१८

२०२. परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्वा प्रतिष्ठेत्। अत्राप्युदाहरन्ति। अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः। तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं जातु विद्यते। वसिष्ठ धर्मसूत्र, १०।१-२

२०३. सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः। मनुस्मृति, ६।६४

इनमें हुआ है, वह धर्मसूत्र आदि ग्रन्थों से बहुत कुछ साम्य रखता है। कहीं-कहीं इन पर वैदिक प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। आश्रमों के वर्णन-क्रम में कहीं-कहीं अन्तर अवश्य है, पर यह प्रवृत्ति पुराणों तक ही सीमित नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि धर्मशास्त्रों की व्यवस्था से पौराणिक व्यवस्था के साम्य द्वारा वस्तुस्थिति की इयत्ता एवं विवेच्य विषय का परिधि-विस्तार सुव्यक्त हो जाता है।

संस्कार

पौराणिक प्रवृत्ति : संस्कार-महत्ता—इलावृत वर्ष के धर्म-प्रवण परिवेश को स्पष्ट करते हुए मत्स्य पुराण में इस स्थान के कारणभूत उपादानों के अंतर्गत जातकर्मादि विविध संस्कारों पर विशेष बल दिया गया है[१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने सामान्य रूप में जातकर्म संस्कार को शुद्धि-सुयोग का विषय माना है[२]। विष्णु पुराण में संस्कार नित्य एवं नैमित्तिक उद्घोषित हैं तथा मनुष्यों के लिये वाञ्छनीय स्वीकृत किये गये हैं[३]। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि संस्कारों की मूल महत्ता (संस्क्रियते अनेन इति संस्कारः) इस दृष्टि से मान्य थी, क्योंकि इनके द्वारा शुद्धि-सन्निधानार्थ सुअवसर मिलता था। इसमें संदेह नहीं कि शुचिता-सन्निवेश एवं धर्मार्थ समाचरण के कारण संस्कार लोकप्रिय थे[४]। संस्कार-विधान की पृष्ठभूमि में इस बद्धमूल धारणा का स्पष्टीकरण, पौराणिकों के अतिरिक्त अन्य व्यवस्थापकों ने भी किया है। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य स्मृति में विहित है कि चूडा-कर्म आदि संस्कार पाप-अपहार के कारण हैं[५]।

पुराण-विहित संस्कार : ऋतु-उपगम—विष्णु पुराण में इसका निर्देश मिलता है, जिसकी व्यवस्थानुसार अनुकूल ऋतु के अवसर पर युग्म-रात्रि में ही पत्नी-संग अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में कतिपय आवश्यक एवं अनुसरणीय नियमों का प्रतिपादन भी किया गया है। सहवास के पूर्व शारीरिक और मानसिक स्थिति को ध्यान में रखना पड़ता था। अप्रसन्न, अस्वस्थ, रजोविशिष्ट, भय-त्रस्त, गर्भिणी, अनुदार, अकामिनी, विषयान्तर-अभिलाषिणी, क्षुधा-ग्रस्त, अथवा अतिभुक्त आदि अवस्थाएँ ऐसी थीं; जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इन विशेष अवस्थाओं में सहवास निषिद्ध था। स्नान, अलंकार-धारण, अनुलेप-प्रयोग तथा मानसिक

---

१. इलावृतमिति ख्यातं...जातकर्मादिकाः क्रियाः। मत्स्य पु०, १३५।२-३

२. पवित्रं वा द्विजश्रेष्ठ शुद्धये जन्मकर्मसु। वायु पु०, ७५।६७
पवित्रं वा द्विजश्रेष्ठाः शुद्धये जन्मकर्मणाम्। ब्रह्माण्ड पु०,३।११।१०६

३. नित्यनैमित्तिकाः काम्याः क्रियाः पुंसामशेषतः। विष्णु पु०, ३।१०।२

४. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, हिन्दू संस्कार, पृ० ३३

५. एवमेनः शमं याति...... । याज्ञवल्क्य स्मृति,१।१३

आह्लाद; पति के लिए आवश्यक थे। प्रातः एवं सायंकाल, शौचावेग तथा पर्व के अवसरों पर दाम्पत्य-संग निषिद्ध था। यह मर्यादा इतनी सुदृढ थी कि युगल की अनिच्छित स्थिति में उपगम आज्ञत नहीं था[६]।

यह स्मरणीय है कि विष्णु पुराणगत-आलोचित विधान किसी संस्कार-विशेष के वर्णन-क्रम में नहीं मिलता है। पर यह वर्णन स्मार्तोक्त ऋतु-संगमन के समकक्ष है। वैखानस स्मार्तसूत्र में इसका उल्लेख गर्भाधान संस्कार से पृथक् हुआ है। इसमें एतदर्थ निषेक शब्द का प्रयोग भी मिलता है। निषेक से इसमें संस्कारों की गणना ही प्रारंभ हुई है[७]। पर यह समानता दोनों ग्रन्थों में प्रयुक्त (विष्णु पुराण में ऋतु-उपगम तथा वैखानस स्मार्त सूत्र में ऋतु-संगमन) शब्द-साम्य के आधार पर मानी जा सकती है। वस्तुतः इसके विधान स्मृतियों में निहित गर्भाधान संस्कार से ही साम्य प्रदर्शित करते हैं। युग्म रात्रियों में स्त्री संग का आदेश तथा पर्वादिक दिनों में परिहार का उल्लेख स्मृतियों में गर्भाधान के प्रसंग में ही हुआ है[८]। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि विष्णु पुराणोक्त ऋतु-उपगम में निषेक एवं गर्भाधान दोनों का ही समाहार है[९]।

पुंसवन—पौराणिक मत में पुंसवन संस्कार के विधि एवं आदर्श की इयत्ता

---

६. ऋतावुपगमश्शस्तस्स्वपत्न्यामवनीपते ।
...युग्मासु रात्रिषु ।
नाद्यूनां तु स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम् ।
नानिष्टां न प्रकुपितां न त्रस्तां न च गर्भिणीम् ।
नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम् ।
क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां...... ।
स्नातस्स्रग्गन्धधृक्प्रीतो......सकामस्सानुरागश्च व्यवायं पुरीषो व्रजेत् ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र......स्त्री......संभोगी...प्रयाति नरकं मृतः ।
विष्णु पु०, ३।११।११२-११७

७. ऋतौ संगमनम् निषेकमित्याहुः । वैखानस स्मार्तसूत्र, ६।२
अथ निषेकादिसंस्कारान् व्याख्यास्यामः । वही, १।१, काणे, वही, भाग २, खण्ड १, पृ० १९५

८. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ६३-६४

९. षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु संविशेत् ।
...पर्वाण्याद्याश्च वर्जयेत् । याज्ञवल्क्य स्मृति, १।७९

क्या थी, इसका मूल्यांकन चारों पुराणों में वर्णित आख्यानों के द्वारा किया जा सकता है। विष्णु पुराण में विवृत है कि कश्यप ने दिति-संग, पराक्रमी पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से किया था। इस उद्देश्य के पूर्णार्थ उन्होंने दिति को शुचिता-सम्मित जीवन-यापन का आदेश दिया था[१०]। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में निरूपित है कि देवावृध ने तेजस्वी तनय को प्राप्त करने की अभिलाषा से गर्भाधान-क्रिया को संपन्न किया था[११]। विष्णु पुराण की भाँति मत्स्य पुराण में भी वर्णन आया है कि कश्यप ने तेजस्वी पुत्र-प्राप्ति की दृष्टि से दिति में गर्भ आहित किया था। वर्णन-क्रमानुसार यह निरूपित है कि गर्भ के रक्षणार्थ सावधान रहना पड़ता था। गर्भ-निर्वाह की अवधि तक दिति के लिये निषिद्ध क्रियाएँ इस प्रकार थीं—संध्या-वेला में भोजन; वृक्षमूल, मुसल, उलूखल, वल्मीक को आसनार्थ प्रयुक्त करना; मानसिक उद्वेग; पृथ्वी पर चिह्न बनाना; कलह करना; अंगड़ाई लेना; मुक्तकेश रहना तथा अपवित्र रहना। इसके साथ-साथ अपेक्षित एवं आचरणीय क्रियाएँ वक्ष्यमाण थीं— गुरुजनों की सेवा, मांगलिक कार्यों में तत्पर रहना, सुन्दर वस्त्रादि का धारण करना, वास्तु-पूजा संपन्न करना, प्रसन्नचित्त रहना, पति के प्रियकर एवं हितकर कार्यों में अनुराग प्रदर्शन इत्यादि[१२]। वर्णन-प्रसंग में यह उल्लिखित है कि

---

१०. शक्रं पुत्रो निहन्ता ते...शौचिनी धारयिष्यसि...इत्येवमुक्तवा तां देवीं संगतः कश्यपो मुनिः। विष्णु पु०, १।२१।३३-३४

११. तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः। वायु पु०, ६६।१२
तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः। ब्राह्माण्ड पु०,३।७१।१२

१२. दित्यां गर्भमाधत्त कश्यपः प्राह तां पुनः।
संध्यायां नैव भोक्तव्यं...... ।
न स्थातव्यं न गन्तव्यं वृक्षमूलेषु सर्वदा।
नोपस्करेषूपविशेन्मुसलोलूखलादिषु ।
वल्मीकायां न तिष्ठेत न चोद्विग्नमना भवेत्।
विलिखेन्न न नखैर्भूमिं नाङ्गारेण न भस्मना।
वर्जयेत्कलहं लोकैर्गात्रभङ्गं तथैव च।
न मुक्तकेशा तिष्ठेत नाशुचिः स्यात्कदाचन।
कुर्यात्तु गुरुशुश्रूषां नित्यं माङ्गल्यतत्परा।
कृतरक्षा सुभूषा च वास्तुपूजनतत्परा। मत्स्य पु०, ७।३६-४५

जो गर्भिणी स्त्री इस प्रकार का आचरण करती है, उसका पुत्र शीलवान् एवं आयुष्मान् होता है[१३]।

इस प्रकार की क्रियाओं का उद्देश्य वीर और गुणी पुत्र को पाना था। यह परम्परा उस युग से चली आ रही थी, जब युद्धार्थ पुरुषों की आवश्यकता थी और प्रत्येक युद्ध में पुरुष-संख्या में कमी हो जाती थी[१४]। अथर्ववेद में पति पत्नी के निकट कामना प्रकट करता है कि दस मास के उपरान्त उसे पुत्र मिले[१५]। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृतियों के काल में पुत्र-प्राप्ति के अनेक विधि-विधानों का आविर्भाव हुआ था[१६]। गृह्यसूत्रों के युग में पुंसवन-संस्कार गर्भधारण के तीसरे या चौथे मास में अथवा उसके पश्चात् संपन्न किया जाता था[१७]। स्मृतियों में भी प्रायः यही विधि मिलती है। पर, उसमें मातृ-पूजा तथा आभ्युदयिक श्राद्ध दो नवीन क्रिया-कलापों का उल्लेख है[१८]। जहाँ तक पुराणों का संबंध है, उक्त उदाहरणों से केवल यही व्यक्त होता है कि वीर और तेजस्वी पुत्र-लाभार्थ विधि-विधानों का अनुसरण किया जाता था। संस्कार के अंतर्गत किसी स्थल पर पुंसवन शब्द के अभिहित न होने के कारण यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इसका स्वरूप क्या था अथवा स्मृतियों और पुराणों में इस संबंध में समता कहाँ तक थी ? मत्स्य पुराण में दान और वास्तु-पूजा का उल्लेख हुआ है। स्मृतियों में मातृ-पूजा और आभ्युदयिक श्राद्ध का वर्णन उपलब्ध है। अतएव दोनों के विधानों से असमानता का तत्त्व अवश्य परिलक्षित होता है।

सीमन्तोन्नयन—आलोचित पुराणों में सीमन्तोन्नयन संस्कार का सन्दर्भ विष्णु पुराण में प्राप्त होता है। पुराण-विवरण की विशेषता यह है कि इसमें प्रस्तुत संस्कार का निर्देश आनुषंगिक है तथा प्रधानता गृहस्थ के कर्त्तव्य-आदर्शों को प्रदत्त है। ऐसा निरूपित है कि गृहस्थ को सीमन्तोन्नयन के अवसर पर प्रयत्नशील

---

१३. इतिवृत्ता भवेन्नारी विशेषेण तु गर्भिणी।
यस्तु तस्या भवेत्पुत्रः शीलायुर्वृद्धिसंयुतः। मत्स्य पु०, ७।४७

१४. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ७३

१५. आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः। अ० वे०, १।४।८-९

१६. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ७४-७५

१७. वही, पृ० ७४

१८. वही, पृ० ७५

होकर नान्दीमुख नामक पितरों की अर्चना करनी चाहिए[१९]। नान्दीमुख में पितामह के पूर्ववर्ती तीन पितरों को सम्मिलित माना जाता था। गृह्यसूत्रों से ज्ञात होता है कि सीमन्तोन्नयन के अवसर पर पत्नी के सीमन्त (केश) का उन्नयन पति के लिए अपेक्षित था[२०]। विष्णु पुराण की भाँति पारस्कर गृह्यसूत्र में विहित है कि सीमन्तोन्नयन के अवसर पर नान्दीमुख पितरों को अर्चित करना चाहिये[२१]। इस दृष्टि से पौराणिक विधान गृह्यसूत्रों की पद्धति के समकक्ष मानी जा सकती है।

जातकर्म—एक विशिष्ट संस्कार के रूप में प्रस्तुत संस्कार का सन्दर्भ विष्णु पुराण में मिलता है। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण इसका निर्देश-मात्र करते हैं[२२]। विष्णु पुराण में निरूपित है कि पुत्र-जन्म के अवसर पर जातकर्म-क्रिया संपन्न करनी चाहिये। इस संस्कारार्थ संपाद्य एवं अपेक्षित क्रिया-कलापों में आभ्युदयिक श्राद्ध को प्रमुखता प्रदान की गई है। प्रसंगान्तर में इस पुराण ने जातकर्म के संपादनार्थ पिता के द्वारा सवस्त्र स्नान करना तथा नान्दीमुख पितृगण के प्रीणनार्थ आभ्युदयिक श्राद्ध का पुनरुल्लेख किया है[२३]। इस संस्कार का सामान्य निर्देश देते हुये; वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराण इसे शुद्धि-सुअवसर एवं प्रतिष्ठा-विषय के रूप में वर्णित करते हैं[२४]। इसमें संदेह नहीं कि विष्णु पुराणोक्त जातकर्म-विषयक विधि-विधान पर्याप्त रूप में प्रचलित थे। अन्य अनेक ग्रन्थों में ब्रह्म पुराण का उद्धरण उल्लेखनीय है, जिसमें जातकर्म के अवसर पर पिता द्वारा सवस्त्र स्नान एवं नान्दीमुख

---

१९. सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने।
नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्प्रयतो गृही। विष्णु पु०, ३।१३।६

२०. बौधायन गृह्यसूत्र, १।१०।७

२१. द्रष्टव्य; राजबली पांडेय, वही, पृष्ठ ८१

२२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २१६

२३. जातस्य जातकर्मादिक्रियाकाण्डमशेषतः।
पुत्रस्य कुर्वीत पिता श्राद्धं चाभ्युदयात्मकम्।
.........विप्रान्भोजयेन्मनुजेश्वर। विष्णु पु०, ३।१०।४-५
सचैलस्य पितुः स्नानं जाते पुत्रे विधीयते।
जातकर्म तदा कुर्याच्छ्राद्धमभ्युदये च यत्।
नान्दीमुखं पितृगणस्तेन......प्रीयते। वही, ३।१३।१-४

२४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २१५

श्राद्ध का आदेश विहित है। ब्रह्म पुराण का यह उद्धरण वीरमित्रोदय संस्कार-प्रकाश में वर्णित मिलता है[२५]।

नामकरण—संस्कार-विशेष के रूप में जातकर्म की भाँति नामकरण का विवरण, आलोचित चारों पुराणों में विष्णु पुराण ने ही स्पष्ट किया है। इसकी पंक्तियों में दो बातों पर बल दिया गया है—एक तो नामकरण का काल तथा दूसरे नामार्थक शब्दों का स्वरूप-विचार। नामकरण-काल के लिये जन्मोपरांत दसवाँ दिन विहित है। नाम-संबोधनार्थ देवता-वाचक शब्द प्रशस्त माने गये हैं। नामोपरांत; शर्म, वर्म, गुप्त एवं दास शब्द क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रार्थ निर्देशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त; अर्थहीन, अप्रशस्त, अपशब्द-सूचक, अमंगल-बोधक, घृणा-व्यञ्जक तथा विषमाक्षर-युक्त नाम का प्रयोग भी निषिद्ध हुआ है। इसी प्रकार नामार्थक शब्दों में अतिदीर्घत्व, अतिह्रस्वत्व तथा अतिगुरुत्व का अपहार अपेक्षित उद्घोषित करते हुए उच्चारण-सुगम नाम पर बल दिया गया है[२६]। वर्णनान्तर में विवेचित है कि नामकरण के अवसर पर नान्दीमुख नामक पितरों की अर्चना करनी चाहिए[२७]। जहाँ तक नामकरण के स्वरूप का संबंध है विष्णु पुराणोक्त विधान गृह्यसूत्रों के समकक्ष माना जा सकता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के नामोपरान्त क्रमशः शर्म, वर्म और गुप्त शब्द को संयुक्त करने का निर्देश मिलता है[२८]। बौधायन गृह्यशेष सूत्र

२५. जातं कुमारं स्वं दृष्ट्वा स्नात्वाऽऽनीय गुरून् पिता।
नान्दीश्राद्धावसाने तु जातकर्म समाचरेत्। ब्रह्म पु०, वी० मि० सं०, भा० १, पृ० १८२ पर उद्धृत। द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ९४

२६. ततश्च नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि।
देवपूर्वं नराख्यं हि शर्मवर्मादिसंयुतम्।
शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंभवम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः।
नार्थहीनं न चाशस्तं नापशब्दयुतं तथा।
नामंगल्यं जुगुप्स्यं वा नाम कुर्यात्समाक्षरम्।
नातिदीर्घं तु नातिह्रस्वं नातिगुर्वक्षरान्वितम्।
सुखोच्चार्यं तन्नाम कुर्याद्यत्प्रवणाक्षरम्। विष्णु पु०, ३।१०।८

२७. नामकर्मणि बालानां...नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्...। वही, ३।१३।६

२८. शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य। पारस्कर गृह्यसूत्र, १।१७

में भी प्रायः यही व्यवस्था मिलती है। पर, इसमें शूद्र के नाम के साथ दास शब्द के प्रयोग का भी विधान निहित है, जो विष्णु पुराण के वर्णन के सन्निकट है[२९]। विष्णु पुराण के समान खादिर गृह्यसूत्र में भी देवबोधक नाम की व्यवस्था की गई है[३०]। इसके अतिरिक्त दस रात्रि के उपरान्त नाम रखने का विधान भी इस ग्रन्थ में स्वीकार किया गया है[३१]।

चूडाकर्म—प्रस्तुत संस्कार का प्रसंग विष्णु एवं मत्स्य पुराणों में प्राप्त होता है। अन्य उल्लिखित संस्कारों के समान चूडाकर्म के संदर्भ में भी विष्णु पुराण ने नान्दीमुख पितरों की अर्चना का विधान दिया है[३२]। मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख अशौच-अवधि के वर्णन-क्रम में हुआ है। ऐसा वर्णित है कि चूडाकर्म के उपरान्त तीन रात्रि तक तथा एतत्पूर्व एक रात्रि तक बालक का अशौच होता है[३३]। इस प्रकार दोनों ही पुराणों में चूडाकर्म का विशद उल्लेख नहीं है। मत्स्य पुराण की व्यवस्था इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है, क्योंकि एतत्सम निर्देश मनुस्मृति में भी प्राप्त होता है[३४]। दोनों के तुलनात्मक साक्ष्य के आधार पर व्यवस्था के प्रचलन और प्रकर्ष का अनुमान लगाया जा सकता है।

उपनयन—प्रस्तुत संसार की विधि एवं निदर्शन के स्थल विष्णु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण में वर्णित है कि उपनयन संस्कार से संस्कृत होकर गुरु के घर में विद्या-लाभ करना चाहिए[३५]। सगर के विषय में निर्दिशित है कि उपनयन संस्कार संपन्न करने के उपरांत और्व ने उन्हें वेद-शास्त्र का अध्ययन कराया था[३६]। जडभरत के विषय में आख्यात है कि उपनयन के उपरांत उनसे गुरु के

---

२९. अत्राप्युदाहरन्ति-शर्मान्तं ब्राह्मणस्य, वर्मान्तं क्षत्रियस्य, गुप्तांतं वैश्यस्य... शूद्रस्य दासान्तमेव वा। बौधायन गृह्यशेषसूत्र, १।११।१०

३०. को नामासीत्युक्तो देवताश्रयम्......। खादिर गृह्यसूत्र, २।४।१२

३१. जनानदूर्ध्वंदशरात्रात्...... । वही, २।३।६

३२. चूडाकर्मादिके तथा...नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्। विष्णु पु०, ३।१३।६

३३. नैशं वाऽचूडस्य त्रिरात्रं परतः स्मृतम्। मत्स्य पु०, १८।३

३४. निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते। मनुस्मृति, ५।६७

३५. ततोऽननन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरुवेश्मनि।
...कुर्याद्विद्यापरिग्रहम् । विष्णु पु०, ३।१०।१२

३६. कृतोपनयनं चैनमौर्वो वेदशास्त्राणि...अध्यापयामास। वही, ४।३।३७;

द्वारा अध्यापित होने की आशा की गई थी[३७]। कृष्ण और बलराम के विषय में उल्लेख आया है कि सर्वज्ञान-संपन्न होने पर भी गुरु-शिष्य की परम्परा-निर्वाह के प्रदर्शनार्थ उन्होंने उपनयन से संस्कृत होकर सान्दीपनि मुनि के यहाँ विद्याध्ययन किया था[३८]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शिवदत्त ने अपने पुत्रों का उपनयन कर उन्हें सांगोपांग वेद पढ़ाया था[३९]। इन पौराणिक स्थलों में उपनयन संस्कार के महत्त्व एवं उद्देश्य को स्पष्ट किया गया है। आश्रम-विषयक अध्याय में इसका विवेचन किया जा चुका है कि शिक्षा-ग्रहण के पूर्व ब्रह्मचारी का उपनयन सम्पन्न होता था। उपनयन संस्कार का अर्थ समझाते हुए आपस्तंब धर्मसूत्र में भी निरूपित है कि उपनयन विद्याध्ययन के लिए इच्छुक व्यक्ति के श्रुति-विहित संकार को कहते हैं[४०]।

विवाह : पौराणिक दृष्टिकोण—विष्णु पुराण के स्थलों में ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या-लाभ के उपरान्त विवाहित होना अपेक्षित माना गया है[४१]। इसी प्रसंग में निरूपित है कि सहधर्मचारिणी सहित गार्हस्थ्य-जीवन के पालन से महान् फल मिलता है[४२]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार सपत्नीक व्यक्ति का ही अभिषेक करना चाहिए[४३]। मत्स्य पुराण में भार्या-समन्वित ब्राह्मण को ही दान का अधिकारी विहित किया गया है[४४]।

विवाह का मूलोद्देश्य : सन्तान-परम्परा—विष्णु पुराण में विहित आदर्श के अनुसार सन्तान-विस्तार की इच्छा से विवाह करना अपेक्षित है। वर्णन-क्रम में इस पुराण ने यह विवृत किया है कि इस आदर्श की उपेक्षा करने से मनुष्य निस्तेज

---

३७. न पपाठ गुरुप्रोक्तं कृतोपनयन... । विष्णु पु०, २।१३।३६

३८. विद्यार्थं जग्मतुर्बालौ कृतोपनयनक्रमौ। वही, ५।२१।१६

३९. उपनीय क्रमात्सर्वाञ्छिवदत्तो महायशाः।
वेदानध्यापयामस सांगांश्च सरहस्यकान्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३५।३१-१४;
द्रष्टव्य, पृष्ठांक १६२

४०. उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार इति। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १।१।६

४१. गृहीतविद्यो... कुर्याद्दारपरिग्रहम्। विष्णु पु०, ३१०।१३

४२. सहधर्मचारिणीं प्राप्य गार्हस्थ्यं सहितस्तया।
समुद्वहेद्दात्येत्सम्यग्गूढं महाफलम्। वही, ३।१०।२६

४३. अनुकूलाङ्गनासमायुक्तमभिषिञ्चेदिति श्रुतिः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।१५

४४. चन्द्रोऽयं द्विजरूपेण सभार्य इति कल्पयेत्।
भूषणैर्द्विजदाम्पत्यमलंकृत्य गुणान्वितम्। मत्स्य पु०, ५४।२४

हो जाता है[४५]। अन्यत्र इस ग्रन्थ के स्थलों में ऐसे कथानक-द्वय का उदाहरण उपलब्ध है, जिसमें उक्त आदर्श का परिपोषण हुआ है। इनमें पहला कथानक मारिषा का है; जिसका पाणिग्रहण सोमराज ने वंश-वृद्धि के उद्देश्य से प्रचेताओं के साथ सम्पन्न कराया था[४६]। दूसरा कथानक वीरण-दुहिता असिक्नी के विषय में विवृत है; जिसके साथ दक्ष ने सन्तान के विस्तारार्थ विवाह किया था[४७]। वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों के विवरण में स्त्री को अवध्य उद्घोषित किया गया है तथा ऐसा निरूपित है कि उसके जीवन से ही लोक-वृद्धि सम्भव है[४८]। मत्स्य पुराण में विवेचित है कि गृहधर्मी से संसार की वृद्धि होती है[४९]। इन पौराणिक स्थलों से स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य विवाह था और इसका मूल उद्देश्य सन्तान-परम्परा का निर्वाह था। वस्तुतः ऐसी प्रवृत्ति वैदिककाल से ही चली आ रही थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन आया है कि एकाकी पुरुष अपूर्ण है, पत्नी उसका अर्धांग है[५०]। ऐसी धारणा प्रतिष्ठित थी कि मनुष्य सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है[५१]। वेदोत्तर काल में यह परम्परा निरवच्छिन्न रूप में प्रवाहित रही। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में वर्णित है कि मनुष्य स्वयं, पत्नी और सन्तानों के साथ पूर्ण होता है[५२]।

---

४५. सान्तानिकादयो वा ते याच्यमाना निराकृताः...येनासि विगतप्रभः। विष्णु पु०, ५।३८।३८

४६. मारिषा नाम...भार्या वोऽस्तु ध्रुवं वंशविवर्द्धिनी। वही, १।१५।८

४७. ...सिसृक्षुः विविधाः प्रजाः असिक्नीमवहत्कन्याः वीरणस्य प्रजापतेः। वही, १।१५।९०

४८. उवाच वैन्यं नाधर्मं स्त्रीवधे परिपश्यसि।
मदृते च विनश्येयुः प्रजाः पार्थिवसत्तम। वायु पु०, ६२।१५५-५६
उवाच वैनं (न्यं) नाधर्मं स्त्रीवधे परिपश्यसि।
मत्कृते न विनश्येयुः प्रजाः पार्थिव वर्द्धिताः। ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१८१-१८२

४९. मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिणः।
तस्य कर्तुर्नियोगेन संसारो येन वर्धितः। मत्स्य पु०, १५४।१५२-५३

५०. अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नीः। तैत्तिरीय ब्राह्मण, २।९।४-७

५१. प्रजया पितृभ्यः...। तैत्तिरीय संहिता, ६।३।१०-५

५२. एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजैति ह। मनुस्मृति, ९।४५

शाकुन्तल में पुत्रविहीन दुष्यन्त भावी पिण्डदान-व्यवधान के कारण अपने जीवन को धिक्कारते हैं[५३]।

विवाह का स्वरूप : अनुकूलता—विष्णु पुराण में वर्णित है कि तुल्यस्वभाव वालों में ही विवाह अपेक्षित होता है[५४]। रैवत नृप के विषय में वर्णन आता है कि उन्होंने श्लाघ्य वर के साथ स्त्रियों में रत्न के समान अपनी कन्या का विवाह किया था[५५]। वायु पुराण के अनुसार धर्म को अपनी कन्या के अनुरूप वर पाने के लिए तीनों लोकों में भ्रमण करना पड़ा[५६]। मत्स्य पुराण में वर्णन आया है कि जो वर कुल, जन्म, अवस्था, विभूति तथा समृद्धि से सम्पन्न हो, उसे बिना माँगे ही कन्या प्रदान करना चाहिए[५७]। अन्यत्र वर्णन आता है कि वर के दोषो की समीक्षा किये बिना कन्या-प्रदान उचित नहीं है[५८]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में गुणवान् पति-प्राप्ति कन्या की साधना का परिणाम घोषित है[५९]। इन पौराणिक स्थलों का समर्थन अन्य साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। मनुस्मृति के अनुसार निष्क्रिय, कापुरुष और रोगी से कन्या का विवाह करना अनुपयुक्त है[६०]। स्वप्नवासवदत्तं में पद्मावती सदृश भर्त्ता पाने की अभिलाषा रखती है[६१]। जूनागढ़ के अभिलेख में स्कन्दगुप्त की

---

५३. धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति। अभिज्ञानशकुन्तलम्, ६।७

५४. विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृप इष्यते। विष्णु पु०, ३।१२।२२

५५. श्लाघ्यो वरोऽसौ तनया तवेयं स्त्रीरत्नभूता सदृशो हि योगः। वही, ४।१।६२

५६. धर्मो धर्मव्रतायास्तु त्रिषु लोकेषु मार्गयन्।
नानुरूपं परं लेभे धर्मोऽथ वरसिद्धये। वायु पु०, १०७।४-५

५७. कुलजन्मवयोरूपविभूत्यृद्धियुतोऽपि यः।
वरस्तस्यापि चाऽऽहूय सुता देया ह्याचतः। मत्स्य पु०, १५४।४१५

५८. वरो दोषाननाख्याय यः कन्यां वरयेदिह।
दत्ताऽप्यदत्ता सा तस्य राज्ञा दण्ड्यः शतद्वयम्। वही, २२७।१८

५९. भवन्तु पतयः श्लाध्याः जन्मनि जन्मनि। विष्णु पु०, १।१५।६४
गुर्विणी लभते पुत्रम् कन्या विन्दते सत्पतिम्। वायु पु०, ५४।११२; ब्रह्माण्ड पु०, २।२५।१०६

६०. हीनक्रियं निष्पुरुषं......रोमशार्शसम्......। मनुस्मृति, ३।७

६१. त्वमपि सदृशं भर्त्तारम् लभस्व। स्वप्नवासवदत्तं, अंक १

इच्छुक लक्ष्मी की उपमा, उस अंगना से दी गई है, जो गुण और दोष की भलीभाँति परीक्षा कर वर का चयन करती है[६२] ।

वरणानुकूल कन्या के लक्षण—आलोचित पुराणों ने वरणानुकूल कन्या के शील एवं लक्षण को प्रधानता प्रदान किया है । एतदर्थ विधान-परक स्थल विष्णु एवं मत्स्य पुराणों में मिलते हैं तथा समर्थन-प्राय उदाहरण वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में । विष्णु पुराण के अनुसार, जो अति श्याम अथवा पांडुवर्णा हो, जिसके अंगों में अधिकता या न्यूनता हो, जो अपवित्र, रोमयुक्त, अकुलीना, रोगिणी हो, जिसका स्वभाव कर्कश हो, जो कटुभाषिणी हो, जिसमें श्मश्रु के चिह्न हों, जो पुरुषाकृति-सम हो, जो क्षीणकाया हो अथवा काक-सम रुक्ष वाणी बोलती हो, जिसके पलक पर बाल न हों, जिसकी जंघाओं पर रोएँ हों, जिसके हँसते समय कपोलों पर गड्ढे पड़ते हों, जिसकी कान्ति मनहूस हो, नख पांडुवर्ण के हों, हाथ-पैर भारी हों, जिसके दांत घने न हों, तथा जो दंतुर हो, ऐसी स्त्री से विवाह करना अपेक्षित नहीं है[६३] । मत्स्य पुराण के अनुसार दोषयुक्त कन्या के अवगुणों को छिपाकर उसका दान करना अपराध है तथा इस प्रकार का कन्या-प्रदत्तक राजा के द्वारा दण्डित होना चाहिए (दण्ड की मात्रा छियानबे पण घोषित किया गया है)[६४] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कर्दम प्रजापति के लिए प्रदेय प्रियव्रत की कन्या को लक्षण-सम्पन्न (महाभागा) बताया गया है[६५] । पुराणों के अतिरिक्त लक्षण-संपन्न, अनुकूल कन्या के साथ विवाह करने की व्यवस्था अन्य साक्ष्यों से भी स्पष्ट होती है । उदाहरणार्थ, आश्वलायन-गृह्यसूत्र में उसी कन्या के साथ विवाह अपेक्षित माना गया है, जो बुद्धि, रूप, शील और स्वास्थ्य से संपन्न हो[६६] । मनुस्मृति के अनुसार वही स्त्री व्याह करने योग्य

---

६२. क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य ध्यात्वा च कृत्स्नान् गुणदोषहेतून् । व्यपेत्य सर्वान् मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार । का० इं० इं०, ३, पृष्ठ ५८

६३. विष्णु पु०, ३।१०।१६-२४

६४. यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् । मत्स्य पु०, २२७।१५

६५. प्रियव्रतात् प्रजावन्तः वीरात् कन्या व्यजायत ।
कन्या सा तु महाभागा कर्द्दमस्य प्रजापतेः । वायु पु०, ३३।७; ब्रह्माण्ड पु०, २।१४।७

६६. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १।५।३

है, जिसके शरीर के अंगों में कोई दोष न हो, जिसका नाम प्रशस्त हो तथा जिसकी गति में हंस और हाथी की मस्ती हो[६७]।

विवाहार्थ कन्या की अवस्था—विष्णु पुराण में वर्णित है कि वर और बधू की अवस्था में तीन और एक का अनुपात होना चाहिए[६८]। अन्यत्र वर्णन आता है कि गौरी कन्या से विवाह करने पर पितरों को प्रसन्नता होती है[६९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में गौरी कन्या का विवाह पितरों की कामना-पूर्त्ति का कारण माना गया है[७०]। गौरी सात वर्ष की कन्या को कहते थे[७१]। कहीं-कहीं आठ वर्ष की कन्या को भी गौरी कहा गया है[७२]। बाल्यावस्था में कन्या के विवाह की व्यवस्था अन्यत्र भी उपलब्ध है। गौतम धर्मसूत्र में निरूपित है कि ऋतुकाल के पूर्व ही कन्या-दान उचित है[७३]। मनुस्मृति की व्यवस्था के अनुसार भी सदृश वर को विवाह की अवस्था न आने पर भी कन्या-प्रदान करना उपयुक्त है[७४]।

सिद्धान्त और उदाहरणों में असंगति—विष्णु पुराण के अनुसार शिवभक्त बाणासुर की पुत्री का विवाह उस समय हुआ, जब कि उसके हृदय में यौवनोचित भोग की अनिर्वचनीय इच्छा जागृत हो चुकी थी[७५]। मत्स्य पुराण में दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री के विषय में वर्णित है कि उसके विवाह का प्रश्न उस समय सामने आया, जब कि वह पूर्ण रूप से युवती हो चली थी और उसका ऋतुकाल आ गया था[७६]। ये उदाहरण न केवल पौराणिक सिद्धान्तों से ही अपितु स्मृतियों से भी विरोध रखते हैं। उदाहरणार्थ, वसिष्ठ का कथन है कि पिता को ऋतुकाल के पूर्व

---

६७. अव्यांगांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। मनुस्मृति, ३।१०
६८. वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणस्स्वयंम्। विष्णु पु०, ३।१०।१६
६९. गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां नीलं वा वृषभमुत्सृजेत्। वही, ३।१६।२०
७०. गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां नीलं वा वृषभमुत्सृजेत्। वायु पु०, ८३।१२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१९।११
७१. सप्तवर्षा भवेद् गौरी। सं० प्र०, पृ० ७६८
७२. द्रष्टव्य, राजबली पांडे, वही, पृ०, २४१
७३. प्रदानं प्रागृतोः। गौतम धर्मसूत्र, १८।२२
७४. वराय सदृशाय च अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्यात्...। मनुस्मृति, ९।८८
७५. विष्णु पुराण, ५।३२।११-३०
७६. ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा कमलेक्षणा।
ऋतुकालश्च संप्राप्तः...... । मत्स्य पु०, ३१।७

ही कन्या का विवाह करना चाहिए[७७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार देवावृध और सावित्री का समागम उस समय हुआ, जब कि सावित्री यौवन के रहस्यों से परिचित हो चुकी थी[७८]। पुराणेतर संस्कृत साहित्य के अन्य साक्ष्यों के द्वारा भी प्रस्तुत संभावना की ही यथार्थता सुव्यक्त होती है। स्वप्नवासवदत्तं में वर्णन आता है कि जिस समय पद्मावती का विवाह संपन्न हुआ, उसका बाल्यकाल व्यतीत हो चुका था[७९]। शाकुन्तल में विवृत है कि जब शकुन्तला के विवाहार्थ चिन्तित कण्व उसके दैव को अनुकूल बनाने के लिए तीर्थाटनार्थ गये थे, उस समय शकुंतला की सखी उसके यौवन को उलाहना दे रही थी[८०]।

सवर्ण विवाह—मत्स्य पुराण में आख्यात है कि ब्राह्मण-कन्या देवयानी की प्रणय-याचना को राजकुलोत्पन्न ययाति ने सवर्णों में परस्पर विवाह-विधान के अभाव-वश स्वीकार नहीं किया[८१]। विष्णु पुराण के अनुसार नृप सगर की केशिनी नामक भार्या विदर्भ राजवंश की कन्या थी[८२]। वायु और मत्स्य पुराणों में वर्णन आता है कि नृप उशीनर का विवाह राजवंश में उत्पन्न कन्याओं के साथ हुआ[८३]। प्रस्तुत पौराणिक उदाहरण धर्मशास्त्रों की व्यवस्था से पर्याप्त साम्य प्रदर्शित करते हैं, जिनमें सवर्ण विवाह-विधि को ही अपेक्षित माना गया है[८४]।

---

७७. प्रयच्छेत्...कन्यां ऋतुकालभयात् पिता। वसिष्ठ स्मृति, १७; द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० २४१

७८. चिन्तयामास राजानं तामियेष स पार्थिवः।
तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः। वायु पु०, ९६।११-१२
वरयामास राजानं तामियेष स पार्थिवः।
तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७७।१२

७९. चेटी—निर्वर्त्यतां तावदयं कन्याभावरमणीयः कालः।
वासवदत्ता—अभित इव तेऽद्य वरमुखं पश्यामि। स्वप्नवासवदत्तम्, अंक २

८०. पयोधरविस्तारयितृकं यौवनम् उपालभस्व। शाकुन्तलम्, अंक १

८१. विद्ध्यौनसि भद्र ते न त्वदर्होऽस्मि भामिनि।
अविवाह्याः स्म राजानो देवयानि पितुस्तव। मत्स्य पु०, ३०।१८

८२. ......विदर्भराजतनया केशिनी च...। विष्णु पु०, ४।४।१

८३. उशीनरस्य पत्न्यस्तु पञ्च राजर्षिवंशजाः। वायु पु०, ९९।१८

८४. द्रष्टव्य, गौतम धर्मसूत्र, ४।१; वसिष्ठ धर्मसूत्र, ८।१; मनुस्मृति, ३।४; याज्ञवल्क्य स्मृति, १।५३

असगोत्र तथा असप्रवर विवाह—मत्स्य पुराण में सगोत्रों में विवाह के असंभव संबंध पर ध्यान देते हुए ब्रह्मा के साथ शतरूपा के विवाह पर आश्चर्य और खेद प्रकट किया गया है[८५]। विभिन्न ऋषियों के गोत्र और प्रवर का उल्लेख करते हुए यह विहित है कि इन गोत्रों और प्रवरों में परस्पर विवाह नहीं होते[८६]। कौशिक गोत्र के विषय में विष्णु पुराण विवृत करता है कि इस गोत्र का विवाह दूसरे ऋषियों (के गोत्र) के ही साथ हो सकता है[८७]। पुराणों के अतिरिक्त धर्मसूत्र और स्मृति-ग्रन्थों में भी असगोत्र तथा असप्रवर विवाह का निर्देश किया गया है[८८]।

असपिण्ड-विवाह—विष्णु पुराण में विवेचित है कि गृहस्थ आश्रम में प्रवेशार्थी को चाहिए कि वह ऐसी कन्या से विवाह करे, जिससे वह मातृपक्ष से पाँचवीं और पितृपक्ष से सातवीं पीढ़ी तक संबंधित न हो[८९]। यही व्यवस्था याज्ञवल्क्य स्मृति में भी प्रतिपादित की गई है[९०]।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह—वृष्णिवंशीय शौरि के विषय में मत्स्य पुराण में निरूपित है कि उसकी पत्नियों में एक वैश्य जाति की कन्या भी थी[९१]। मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि चाक्षुष और कक्षीवान् नामक तपस्वियों का जन्म ऋषि और शूद्रा के संयोग से हुआ था[९२]। विष्णु पुराण में शूद्रा के साथ संबंध रखने वाले ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है, जिसे श्राद्ध में वर्जित माना गया है[९३]। स्मरणीय है कि स्मृतियों में उच्च वर्ण के साथ निम्नवर्णीय कन्या के विवाह-सम्बन्ध को अनुलोम संज्ञा प्रदत्त की गई है[९४]। इसके विपरीत निम्न वर्ण के साथ उच्च वर्णोत्पन्न कन्या के विवाह-सम्बन्ध को प्रतिलोम विवाह अभिहित किया

---

८५. परस्परं च संबंधः सगोत्राणामभूत्कथम्। मत्स्य पु०, ४।२
८६. वही, १९६।३७, ४०, ५१
८७. विष्णु पु०, ४।७।३९
८८. असमानप्रवरैर्विवाहः। गौतम धर्मसूत्र, ४।२; मनुस्मृति, ३।५
८९. पंचमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम्।
गृहस्थश्चोद्वहेत्कन्यां नान्येन विधिना नृप। विष्णु पु०, ३।१०।२३
९०. पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।५३
९१. वैश्यायामदधाच्छौरिः पुत्रं कौशिकमग्रजम्। मत्स्य पु०, ४६।२०
९२. वायु पु०, ९९।७०; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।७१; मत्स्य पु०, ४८।६२
९३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १७८; पाद टिप्पणी १९८
९४. याज्ञवल्क्य स्मृति, १।९२

गया है[९५]। इनके स्थलों में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तति के प्रति गर्हणा-बोधक एवं अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तति के प्रति गौरव-बोधक वचन मिलते हैं[९६]। प्रतिलोम विवाह का उदाहरण आलोचित चारों पुराणों में प्राप्त होता है। ययाति के विषय में इनका कथन है कि नृप ने आचार्य शुक्र की कन्या को भार्या के रूप में स्वीकार किया था[९७]। पर, जहाँ तक सामाजिक सन्तुलन एवं व्यवस्था का प्रश्न है, स्मृतियों की भाँति ही पुराण भी प्रतिलोम-विवाह के प्रति श्रद्धेय नहीं हैं। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में यह स्पष्टतया आख्यात है कि प्रतिलोम-जन्य सन्तति धर्म-च्युत होती है, जिसका शीघ्र पतन होता है[९८]।

विवाह-भेद—विवाह के भेद-भेदान्तर का स्पष्टीकरण विष्णु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों के स्थलों में हुआ है। विष्णु पुराण के अनुसार विवाह के वक्ष्यमाण आठ प्रकार हैं— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इसी सन्दर्भ में यह निर्देशित है कि इस अष्टविधि में, जो विधि, जिस वर्ण के लिए अनुकूल हो, तदनुसार दार-परिग्रह करना चाहिए। इस बात पर भी बल दिया गया है कि महर्षियों द्वारा, जो विधि अनुमोदित नहीं है, उसका परित्याग करना चाहिए[९९]। ब्रह्माण्ड पुराण के विवरणानुसार विवाह की चार ही विधियाँ हैं, जिनके कारण मनुष्य नारी-युक्त होता है। इन चारों का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है; कालक्रीत, क्रयक्रीत, स्वयंयुत तथा पितृदत्त। इनमें कालक्रीत एवं क्रय-क्रीत को क्रमशः वेश्या एवं दासी की संज्ञा से अभिहित किया गया है। तीसरी विधि

---

९५. याज्ञवल्क्य स्मृति १।९४

९६. असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः। वही, १।९५

९७. विष्णु पु०, ४।१०।४; वायु पु०, ९३।१५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।१५; मत्स्य पु०, ३०।३४-३७

९८. तस्मात्प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति।
असंकीर्णा च धर्मेण प्रतिलोमचरेषु च। वायु पु०, ९३।४३
तस्मात्प्रजा नु विच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति।
संकीर्णेषु च धर्मेण प्रतिलोमनरेषु च। ब्रह्माण्ड पु०, ३।६८।४३
तस्मात्प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति।
संकीर्णांश्चौरधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च। मत्स्य पु०, ९३।१३-१४

९९. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गांधर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचष्टमो मतः। विष्णु पु०, ३।१०।२४

के विषय में यह उल्लिखित है कि यह गान्धर्वोचित विवाह है तथा एतद् द्वारा मनुष्य भार्या की प्राप्ति करता है। चौथी विधि के विषय में ऐसा निर्देशित है कि एतदनुसार मनुष्य पितृ-प्रदत्त, सहधर्मिणी भार्या का लाभ करता है[१००]।

उपर्युक्त दोनों पुराणों में विष्णु पुराण का निर्देश स्मृतियों से पूर्णरूपेण साम्य रखता है। विष्णु स्मृति के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच[१०१]। विवाह के यही आठ भेद मनुस्मृति में भी विहित हैं, जिसमें निरूपित है कि प्रथम चार ब्राह्मण के लिए, राक्षस क्षत्रिय के लिए, तथा आसुर वैश्य और शूद्र के लिए उपयुक्त विवाह-विधि है। क्षत्रिय के लिए गान्धर्व विवाह भी समीचीन माना गया है[१०२]। जहाँ तक ब्रह्माण्ड पुराण में उपलब्ध विवाह-भेद का प्रश्न है; इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि यह स्थल पुराण के ललितोपाख्यान-अंश में विवृत है। प्रस्तुत अंश स्थल-प्रक्षेप का प्रमाण है। ब्रह्माण्ड पुराण के मूल संस्करण में यह अंश नहीं था। मूल वायु-प्रोक्त पुराण में इसकी संस्थिति का अभाव भी विवाद-रहित है। ऐसी स्थिति में आलोचित स्थल को पुराण-व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता है। संस्कृत साहित्य में कालक्रीत एवं क्रयक्रीत के उदाहरण मृच्छकटिक में मिलते हैं। इसके स्थलों में वेश्या के शरीर को पण्यभूत एवं क्रीत माना गया है। इसी प्रकार प्रस्तुत नाटक में शर्विलक और रदनिका का परिणय, क्रय-क्रीत प्रथा की ओर संकेत करता है।

विवाह के विभिन्न उदाहरण : आर्ष विवाह—तीर्थोचित क्रिया-प्रक्रिया के प्रतिपादनार्थ मत्स्य पुराण में आर्ष विवाह-विधि के अनुसार कन्या-प्रदान अपेक्षित

---

१००. कालक्रीता क्रयक्रीता पितृदत्ता स्वयंयुता।
नारी पुरुषयोरेवमुद्वाहस्तु चतुर्विधः।
कालक्रीता तु वेश्या स्यात्क्रयक्रीता तु दासिका।
गंधर्वोद्वाहिता युक्ता भार्या स्यात्पितृदत्तका।
समानधर्मिणी युक्ता भार्या पितृवंशवदा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१५।४-६

१०१. अथाष्टौ विवाहा भवन्ति। ब्राह्मो दैवः आर्षः प्रजापत्योः गान्धर्वः आसुरो राक्षसः पैशाचश्चेति। विष्णु स्मृति, २४।१७-१८

१०२. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाश्चाष्टमोऽधर्मः। २१
चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः। २४
गन्धर्वो राक्षश्चैव धर्म्यो क्षत्रस्य तौ स्मृतौ। २६, मनुस्मति, अ० ३

माना गया है[१०३]। आर्ष विवाहानुसार कन्या का पिता वर से यज्ञादि धर्म-विहित कार्य के संपन्नार्थ एक अथवा दो गौ-मिथुन प्राप्त करता था[१०४]।

आसुर-विवाह—विष्णु पुराण में इसका प्रसंग उपलब्ध है। भृगु के पुत्र ऋचीक के विषय में आख्यात है कि वे गाधि-पुत्री सत्यवती से विवाह करना चाहते थे। पर गाधि ने ऋचीक की वृद्धतावश उन्हें कन्या देना स्वीकार नहीं किया। किन्तु जिस समय शुल्कार्थ ऋचीक ने चन्द्रमा एवं वायु के समान कान्तिमान और वेगवान अश्वतीर्थ नामक स्थान में उत्पन्न एक सहस्र श्यामकर्ण अश्वों को उन्हें समर्पित किया, तब ऋचीक को सत्यवती प्राप्त हुई[१०५]। इस विवाह को आसुर-विवाह के अन्तर्गत किया जा सकता है। मनु के अनुसार जिस विवाह में पति कन्या तथा उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन प्रदान कर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह करता है, उसे आसुर विवाह कहते हैं[१०६]।

राक्षस-विवाह—विष्णु पुराण में इसका दृष्टान्त प्राप्त होता है। प्रस्तुत पुराण की पंक्तियों में वर्णित है कि कुण्डिन-नरेश रुक्मी की पुत्री रुक्मिणी थी। श्रीकृष्ण ने युद्ध में रुक्मी को परास्त कर रुक्मिणी को प्राप्त किया तथा उसके साथ सम्यक् पूर्वक् विवाह सम्पन्न किया। पुराणकार ने इसे राक्षस-विवाह की संज्ञा दिया है[१०७]। स्मृतियों में प्रतिपादित व्यवस्था में युद्ध-हृता कन्या के साथ सम्पन्न विवाह राक्षस-विधि के अन्तर्गत विहित है[१०८]।

गान्धर्व-विवाह—प्रस्तुत विवाह-प्रकार के दृष्टान्त आलोचित चारों पुराणों में प्राप्त होते हैं। इनमें प्रथम दृष्टान्त है, पुरूरवा एवं उर्वशी के परिणयान्त प्रणय

---

१०३. गंगायमुनयोर्मध्ये यस्तु कन्यां प्रयच्छति। आर्षेणैव विवाहेन...।
मत्स्य पु०, १०६।८

१०४. एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते। मनुस्मृति, ३।२९

१०५. विष्णु पु०, ४।७।१२-१४

१०६. ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते। मनुस्मृति, ३।३१

१०७. निर्जित्य रुक्मिणं सम्यगुपयेमे च रुक्मिणीम्।
राक्षसेन विवाहेन सम्प्राप्तां मधुसूदनः। विष्णु पु०, ५।२६।११

१०८. युद्धहरणेन राक्षसः। विष्णु स्मृति, २४।२५
राक्षसो युद्धहरणात्। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।६१

का; जिसका सन्दर्भ विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों की समस्थलीय पंक्तियों में विवृत है[१०९]। वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में शतरूपा की प्रणय-परिचर्चा स्पष्ट की गई है; जिसने चतुर्दिक् यशस्वी मनु का पति-रूप में वरण किया था[११०]। प्रद्युम्न के विषय में विष्णु पुराण विवृत करता है कि उस पराक्रमशील ने शुभलक्षणा रुक्मी-तनया को स्वयंवर में प्राप्त किया था[१११]। इसी पुराण में काशिराज के प्रसंग में निर्देशित है कि उन्हें स्वकन्या के आग्रहवश स्वयंवर का आयोजन करना पड़ा था, जिसमें उसने मनोनुकूल पति का चयन किया था[११२]। धर्मशास्त्रोक्त व्यवस्था की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पौराणिक कथानक गान्धर्व विवाह-विधि के उदाहरण हैं। गौतम धर्मसूत्र में विहित है कि विवाह का वह प्रकार, जिसमें कन्या स्वयं ही पति का वरण करती है, गान्धर्व-विधि है[११३]। मनु का मत है कि जब कन्या एवं वर कामुकतावश स्वेच्छापूर्वक संयोग करें; तो ऐसी स्थिति में सम्पन्न विवाह गान्धर्व-विधि अभिधेय है[११४]। इस प्रकार गान्धर्व-विवाह में प्रधानता कन्या एवं वर के पारस्परिक अनुराग की थी। ऐसी विवाह-विधि में पिता की अभिरुचि गौण थी। यही कारण है कि उत्तरकालीन स्मृतिकारों ने स्वयंवर को भी गान्धर्व-विवाह माना है[११५]।

---

१०९. विष्णु पु०, ४।६।३५-४७; वायु पु०, २।१५; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।१६; मत्स्य पु०, २४।३०-३२

११०. भर्त्तारं दीप्तयशसं पुरुषं प्रत्यपद्यत। वायु पु०, १०।११; ब्रह्माण्ड पु०, २।९।३६

१११. प्रद्युम्नोऽपि महावीर्यो रुक्मिणस्तनयां शुभाम्।
स्वयंवरे तां जग्राह...... । विष्णु पु०, ५।२८।६

११२. ततस्सा पितरं तन्वी विवाहार्थमचोदयत्।
स चापि कारयामास तस्या राजा स्वयंवरम्। वही, ३।१८।८७

११३. अलंकृन्येच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः। गौतम धर्मसूत्र, ४।१०

११४. इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः। मनुस्मृति, ३।३२

११५. त्वं मे पतिस्त्वं मे भार्येत्येवं कन्यावरयोः परस्परं नियमबन्धात् पित्रादिकतृकदाननिरपेक्षाद्यो विवाहः स गान्धर्व इत्यर्थः।......एवं स्वयंवरोऽपि गान्धर्व विवाह एव। वीरमित्रोदय, याज्ञवल्क्य स्मृति, १।६१ के आधार पर। द्रष्टव्य, काणे, वही, पृ० ५२३

बहु-विवाह—विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में वर्णन आता है कि दक्ष प्रजापति ने वंश-वृद्धि के लिये अपनी दस कन्याएँ धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताइस सोम को, चार अरिष्टनेमि को, दो अंगिरा को तथा दो कृशाश्व को प्रदान किया[११६]। प्रसूति के संयोग से उत्पन्न दक्ष प्रजापति की चौबीस कन्याओं के विषय में विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि उन्हें धर्मराज, ऋषि तथा पितरों ने पत्नी के रूप में स्वीकार किया[११७]। इन उदाहरणों में बहु-विवाह का उद्देश्य सन्तानवृद्धि में सन्निहित है। पर ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं, जिनमें बहु-विवाह के मूल में वासना की परितृप्ति ही क्रियाशील थी। मत्स्य पुराण में नृप ययाति की देवयानी और शर्मिष्ठा नामक दो पत्नियों का उल्लेख हुआ है[११८]। शर्मिष्ठा के प्रेम का आधार उसके अभिसरण की बलवती इच्छा की परिणति थी। इसी प्रकार वायु और मत्स्य पुराणों में उशीनर नृप की पाँच, पांडु नृप की दो, विष्णु और मत्स्य पुराणों में कृष्ण की सोलह सहस्र पत्नियों का वर्णन आता है[११९]। बहु-विवाह के उदाहरण ऋग्वेद से ही मिलने लगते है। इसकी पंक्तियों में निरूपित है कि इन्द्र की पत्नी सपत्नियों को मारकर इन्द्र की हृदयेश्वरी बन गई थी[१२०]। उत्तरकालीन विचारकों ने बहुविवाह कम अवस्थाओं में संभव माना है। उदाहरणार्थ, आपस्तंब धर्मसूत्र में विहित है कि यदि पत्नी वंध्या अथवा अधार्मिक हो, तभी दूसरा विवाह किया जा सकता है[१२१]। पर संस्कृत के ग्रंथों में अनेकत्र बहु-विवाह के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, स्वप्नवासवदत्तं में सपत्नियों की ईर्ष्या का चित्र प्रस्तुत है[१२२]।

---

११६. विष्णु पु०, १।१५।१०३-१०५; वायु पु०, ६३।४०-४२; ब्रह्माण्ड पु०, २।३७।४२-४४; मत्स्य पु०, ५।१०-१२

११७. विष्णु पु०, १।७।२४-२७; वायु पु०, १०।२५-३०; ब्रह्माण्ड पु०, २।९।५०-५३

११८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २२७

११९. वायु पु०, ९९।१८; मत्स्य पु०, ४८।१६; वायु पु०, ९९।२३४; मत्स्य पु०, ४५।१; विष्णु पु०, ५।२९।५; मत्स्य पु०, ७०।२

१२०. ऋग्वेद १०।१५९।५-६

१२१. धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। आपस्तंब धर्मसूत्र,२।५,११,१२-१३

१२२. वासवदत्ता—इदं तावदौषधं किं नाम
चेटी —सपत्नीमर्दनं नाम
वासवदत्ता—इदं नाम गुम्फितव्यम्। स्वप्नवासवदत्तं, अंक ३

शाकुंतल में 'प्रत्याख्यान' से भयभीत शकुन्तला की सखियाँ राजाओं के 'बहुपत्नीत्व' के न्याय से उसके भविष्य के विषय में आशावती होती हैं[१२३]।

पौराणिक उदाहरण : धर्मशास्त्रीय समीक्षा—प्रस्तुत प्रकरण पर एक पौराणिक उदाहरण के द्वारा विशेष प्रकाश पड़ता है। वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि नृप ज्यामघ पुत्रहीन था। पर ऐसी स्थिति में भी उसने दूसरा विवाह नहीं किया[१२४]। उक्त नृप ने जिस विशेष व्यक्तिगत परिस्थिति के कारण दूसरा विवाह नहीं किया, इसका स्पष्टीकरण विष्णु पुराण की पंक्तियों में हुआ है। इसके विवरण के अनुसार नृप ज्यामघ अपनी पत्नी शैव्या के वशीभूत था, अतएव अपुत्रता के निवारणार्थ वह दूसरा विवाह नहीं कर सका[१२५]। इस उदाहरण से यह व्यक्त है कि सन्तति की अविद्यमान-स्थिति में, विवाहान्तर का प्रचलन अवश्य था[१२६]। धर्मशास्त्रीय निर्देशों की समीक्षा से सुस्पष्ट होता है कि सन्तति-सम्पन्ना स्त्री के रहते हुए, कलत्रांतर-लाभ गर्हित था। सन्तति-युक्त नारी का त्याग करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी हो सकता था[१२७]। पर यदि स्त्री वन्ध्या हो तो विवाहोपरांत आठवें वर्ष में दूसरा विवाह आज्ञप्त था[१२८]।

बहुपतित्व—आलोचित पुराणों के स्थलों में बहुपतित्व के दो उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनमें पहला मारिषा का उदाहरण है, जिसके दस पतियों का उल्लेख हुआ है[१२९]। ऐसा वर्णित है कि मारिषा को ये सभी पति विष्णु के वरदान-स्वरूप प्राप्त हुए थे। पुराण-पंक्तियों में यह भी परिचर्चित है कि परिणय के

---

१२३. बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते। अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ३

१२४. ज्यामघस्याभवद्भार्या शैव्या बलवती भृशम्।
अपुत्रोऽपि स वै राजा भार्यामन्यां न विन्दति। वायु पु०, ९५।३२
ज्यामघस्याभवद्भार्या शैव्या बलवती भृशम्।
अपुत्रोऽपि स वै राजा भार्यामन्यां न विन्दति। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७०।३३

१२५. भार्यावश्यास्तु ये केचित्...तेषां तु ज्यामघः श्रेष्ठः...। अपुत्रा तस्य सा पत्नी......अपत्यकामोऽपि भयान्नान्यां भार्यामविन्दत। विष्णु पु०, ४।१२।१३-१४

१२६. धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २।५।११

१२७. अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम् त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राजा दण्डेनभूयसा। नारद स्मृति, स्त्रीपुंस, ९५

१२८. वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। मनुस्मृति, ९।८१

१२९. विष्णु पु०, १।१५।८-६८

पूर्व ये तपश्चर्या में रत थे[१३०]। इस परिणय-व्यवस्था का मूल उद्देश्य था, लोक-वृद्धि की क्रम-बद्धता को सम्भव बनाना[१३१]। स्मरणीय है कि प्रस्तुत उदाहरण जन-जीवन में सुलभ लोक-प्रथा का प्रमाणभूत नहीं हो सकता। विष्णु पुराण-गत पंक्तियों में इसका सन्दर्भ लोकसृष्टि-बोधक विवरण में मिलता है। इस सृष्टि-उद्भव के रहस्यात्मक पक्ष को पुराणकार ने मात्र आख्यान का आवरण दिया है, जो विष्णु पुराण की रचनात्मक विशेषता है। प्रस्तुत आख्यान को सर्ग शब्द से विख्यात पुराण-गठन का प्रथमांग ही माना जा सकता है, न कि लोक-मत में प्रतिष्ठित प्रचलन का प्रमाण। दूसरा उदाहरण द्रौपदी का है, जिसके पाँच पतियों का सन्दर्भ विष्णु एवं मत्स्य पुराणों के विवरण में मिलता है[१३२]। प्रस्तुत उदाहरण को भी समाज के सार्वजनीन स्वरूप का प्रमाण नहीं माना जा सकता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि द्रौपदी के इस प्रकार के विवाह का विरोध हुआ था[१३३]। तंत्रवार्तिक-कार कुमारिल के मातानुसार सदृशरूपा पांच कन्याओं को औपचारिक रूप में अर्थापत्ति प्रमाण से एक ही द्रौपदी मान लिया गया था[१३४]। व्यवस्था की दृष्टि से पुराणकार भी बहुपतित्व के पक्ष में नहीं हैं। विष्णु पुराण की पंक्तियों में ऐसे व्यक्ति की गर्हणा हुई है, जो पतियुक्त स्त्री के साथ विवाह करता है। पुराणकार के मत में इस कोटि का मनुष्य श्राद्ध में निमंत्रण के योग्य नहीं है[१३५]। मत्स्य पुराण के स्थलों में ऐसे व्यक्ति को प्रायश्चित्त का भागी उद्घोषित किया गया है[१३६]।

अन्त्येष्टि—विष्णु पुराण के अनुसार मृत-देह को स्नान करा कर, पुष्प-माला से विभूषित कर, गाँव से बाहर जलाकर, जलाशय में सवस्त्र स्नान करना चाहिए। इसके उपरान्त 'यत्र-तत्र स्थितायैतदमुदकाय' आदि का उच्चारण करते हुये जलाञ्जलि देना चाहिए। गोधूलि के समय नक्षत्रों के दिखाई देने पर गाँव में प्रवेश कर अशौच कृत्य का सम्पादन विहित है। मृत-व्यक्ति के निमित्त पृथिवी पर

---

१३०. विष्णु पु०, १।१५।१

१३१. वही, १।१५।१०

१३२. विष्णु पु०, ४।२०।४१; मत्स्य पु०, ५०।५३

१३३. महाभारत, आदि पर्व, १९५।२७-२९

१३४. तंत्रवार्तिक, पृ० २०९; द्रष्टव्य, काणे; वही, पृ० ५५५

१३५. परपूर्वापतिश्चैव...श्राद्धे नार्हति केतनम्। विष्णु पु०, ३।१५।७-८

१३६. यत्पुंस : परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्। मत्स्य पु०, २२७।५५

पिण्डदान करना उचित है । केवल दिन के समय भोजन करना चाहिए । भोजन में मांस वर्जित है । अशौच-काल में ब्राह्मणों की इच्छानुसार उन्हें भोजन कराना चाहिए । इससे मृत-जीव की तृप्ति होती है । अशौच के पहले, तीसरे, सातवें अथवा नवें दिन वस्त्र-त्याग कर बाहर स्नान करना चाहिए । अशौच के चौथे दिन अस्थि-चयन करने का आदेश विहित है । इसके उपरान्त सपिण्डों का अंग-स्पर्श किया जा सकता है । भस्म और अस्थि के चयनोपरान्त शय्या और आसन का प्रयोग किया जा सकता है, पर स्त्री-संग नहीं । बालक, प्रवासी, पतित और तपस्वी के मरने तथा उद्‌वंधन द्वारा आत्मघात करने पर अशौच की शीघ्र निवृत्ति होती है । सामान्यतया ब्राह्मण का अशौच दस दिन, क्षत्रिय का बाहर दिन, वैश्य का पन्द्रह दिन तथा शूद्र का एक मास रहता है । अशौच के अन्त में विषम संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, तदनन्तर उनके उच्छिष्ट के निकट प्रेतात्मा प्रीणनार्थ कुश पर पिण्डदान करना चाहिए[१३७] । प्रस्तुत पुराण के प्रसंगान्तर में निरूपित है कि जिस समय बलराम और कृष्ण का अंतिम संस्कार किया जा रहा था, रुक्मिणी आदि आठ पटरानियाँ कृष्ण के देह का आलिंगन कर तथा रेवती बलराम का आश्लेष कर प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हुईं[१३८] । मत्स्य पुराण में तीन प्रकार की दाह-क्रिया का उल्लेख मिलता है—(१) शव को जलाना (२) गाड़ना तथा (३) उसे फेंकना[१३९] । अन्यत्र वर्णित है कि अस्थि-संचयनोपरान्त ही अंग-स्पर्श करना उचित है । प्रेतात्मार्थ बारह दिनों तक पिण्डदान का निर्देश किया गया है । इसका कारण यह है कि पिण्ड उसके लिए पाथेय के रूप में सुख प्रदान करता है । विवरण-क्रम में यह भी विवृत है कि बारह दिनों तक प्रेतात्मा प्रेतपुरी में नहीं जाता । वह अपने घर, पुत्र और स्त्री को देखता रहता है । अतएव उसकी

---

१३७. विष्णु पु०, ३।१३।८-१९

१३८. अर्जुनोऽपि तदान्विष्य रामकृष्णकलेवरे ।
संस्कारं लंभयामास तथान्येषामनुक्रमात् ।
अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणीप्रमुखास्तु याः ।
उपगुह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम् ।
रेवती चापि रामस्य देहमाश्लिष्य सत्तमा ।
विवेश ज्वलितं वह्निं तत्संगाह्लादशीतलम् । विष्णु पु० ५।३८।१-३

१३९. अष्टक उवाच—यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा निखन्यते वाऽपि निकृष्यते वा । मत्स्य पु०, ३९।१७

तुष्टि के लिए दस रात्रि तक जल-सञ्चय विहित है। ग्यारहवें दिन ग्यारह ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इसी संदर्भ में प्रस्तुत पुराण का यह भी निर्देश है कि चूडाकर्म-संस्कार के पूर्व बालक का अशौच एक रात्रि तक तथा उससे बड़ी अवस्था वाले का अशौच तीन रात तक रहता है। ब्राह्मण का अशौच दस दिन पर्यंत, क्षत्रिय का बारह, वैश्य का पन्द्रह तथा शूद्र का तीस दिनों का विहित मिलता है[१४०]।

उपर्युक्त पौराणिक वर्णनों से यह सुस्पष्ट है कि अन्त्येष्टि-संस्कार सविध सम्पादित किया जाता था। धर्मशास्त्रों ने स्पष्टतया अन्त्येष्टि-क्रिया को विशिष्ट संस्कार के बोधनार्थ उद्घोषित किया है[१४१]। दाह-संस्कार के तीन प्रचलित प्रकार थे, जिनमें भूनिखात का प्रतिष्ठापन ऋग्वेद के ही काल में हो चुका था[१४२]। आगे चलकर छोटे शिशुओं के अतिरिक्त यह प्रथा हिन्दू-समाज से लुप्त हो गई[१४३]। शव को खुले स्थानों में फेकने की प्रथा भी वैदिक काल में प्रचलित थी[१४४]। शव के अग्नि में जलाये जाने की क्रिया के विषय में ऐसा विश्वास था कि अग्नि में दी हुई आहुति शव को स्वर्गमन में सहायता पहुँचाती है[१४५]। दाह-क्रिया के पश्चात् अस्थि-सचयन की प्रथा गृह्यसूत्रों के काल से प्रारम्भ हुई[१४६]। यह शवनिखात की प्राचीन प्रथा का अवशेष है[१४७]। उदक-कर्म मृतक को जल देने की क्रिया को कहते थे। यह प्रथा भी गृह्य-सूत्रों के काल में प्रतिष्ठित थी[१४८]। यद्यपि विधवा का पति के शव के साथ चिता पर बैठने की परम्परा बाद में विलुप्त हो गई, पर गृह्यसूत्रों के काल तक यह प्रथा प्रचलित थी[१४९]। अन्त्येष्टि-क्रिया का अन्तिम भाग पिण्डदान माना गया है[१५०]।

---

१४०. मत्स्य पु०, १८।२-८

१४१. निषेकादिश्मशानान्तो... । मनुस्मृति, २।१६; याज्ञवल्क्य स्मृति, १।१०

१४२. ऋग्वेद, १०।१८।१०-१३

१४३. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ३०३

१४४. अथर्ववेद, १८।२।३४

१४५. आश्वलायन गृहसूत्र, ४।१-२

१४६. वही, ५।५

१४७. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ३२७

१४८. पारस्कर गृह्य, सूत्र, ३।१०।१६-२३

१४९. बौधायन पितृमेध सूत्र; १।८।३-५

१५०. द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, वही, पृ० ३३४

गृह्यसूत्रों से भी विदित होता है कि इसे अशौच-आवधि में सम्पन्न किया जाता था[१५१]। जहाँ तक अशौच-अवधि का संबंध है, स्मृति और पौराणिक वर्णनों की समता का विवेचन पूर्व परिच्छेद में किया जा चुका है[१५२]।

उपर्युक्त समीक्षा से यह सुव्यक्त है कि आलोचित पुराणों के उद्धरणों में यदि किसी संस्कार-विशेष के विषय में विवरण उलब्ध है, तो विवाह-संस्कार के सन्दर्भ में; अन्यथा अन्य विविध संस्कारों से संबंधित इनका विवरण सन्तोषजनक एवं पर्याप्त नहीं है। इसका मूलभूत कारण यही हो सकता है कि संस्कार-सम्बद्ध पौराणिक सन्दर्भ प्रासंगिक हैं, सोद्देश्य नहीं। इनका विवेच्य विषय संस्कारों का परिचय देना नहीं हैं। इस आधार पर हम सहसा यह नहीं कह सकते कि धर्मसूत्र, स्मृति आदि की व्यवस्था पुराणों को मान्य नहीं है। स्थल-स्थल पर पुराणों में जातकर्म आदि शब्दों के साथ 'आदि' शब्द प्रयुक्त मिलता है, जिनसे पुराण-सम्मत संस्कारों की संख्या-बाहुल्य का पता चलता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि जातकर्म और गर्भाधान संस्कार के अवसर पर गणेश की पूजा करनी चाहिए। इस प्रसंग में दोनों शब्दों को आदि शब्द से संयुक्त किया गया है[१५३]। इस प्रकार के उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण के अतिरिक्त आलोचित अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं[१५४]। इसके अतिरिक्त पुराणों में संक्षेपतः अथवा सविस्तर जिन संस्कारों का वर्णन हुआ है, तद्विषयक विधान व्यवस्थापकों के मत से अधिकतर साम्य रखता है। यह यथार्थ है कि पुराणों की व्यवस्था स्वयं अपने ही उदाहरणों के साथ समाहित नहीं होती। पर, इससे केवल समाज में उनकी मान्यता की सीमा का पता चलता है। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि संस्कार-विषयक अलोचित पौराणिक उद्धरणों के नियम, निर्देश एवं निदर्शन धर्मशास्त्रों के प्रायः निकट ही हैं।

---

१५१. पारस्कर गृह्यसूत्र, ३।१०।२७-२८

१५२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १५६, १५७

१५३. जातकर्मादिसंस्कारे गर्भाधानादिकेऽपि च। ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२।४३

१५४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २१५

शिक्षा

विद्याविषयक पुराण-प्रवृत्ति—विष्णु पुराण में वर्णित है कि वास्तविक विद्या वही है, जो मुक्ति का साधन है। विद्या का दूसरा स्वरूप वह है, जिसके द्वारा मनुष्य शिल्प-नैपुण्य प्राप्त करने में सफल होता है[१]। सन्दर्भान्तिर में निरूपित है कि ज्ञान-उद्भव के आधारभूत साधन शास्त्र और विवेक हैं[२]। इसी प्रसंग में अज्ञान को तिमिर-सम उद्घोषित किया गया है[३]। समविषयक तत्त्व की उद्भावना करते हुये वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों के स्थल ज्ञान के पारमार्थिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। वायु पुराण में वर्णन आता है कि ज्ञान से मनुष्य को शाश्वत की प्राप्ति होती है[४]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण ने एक स्थल पर ज्ञान को अप्रतिम (अर्थात् तुलना रहित) विशेषण-बोधक शब्द से अभिहित किया है[५]। प्रस्तुत प्रसंग के अधिक अनुरूप वर्णन इन दोनों पुराणों के स्थलान्तर में उपलब्ध हैं, जहाँ वेद-त्रयी को 'संवरण' की संज्ञा प्रदान की गई है[६]।

उपर्युक्त पौराणिक उद्धरणों से प्रधानतः विद्या की पारमार्थिक महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि विष्णु पुराण का उक्त उद्धरण महाभारत से अक्षरशः साम्य रखता है। महाभारत में भी विवेचित है कि वास्तविक विद्या वही है, जो मोक्ष-लाभ में सहायता प्रदान करती है[७]। स्मरणीय है कि यह प्रवृत्ति वैदिक-काल में ही उद्भूत हो चुकी थी। ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की

---

१. सा विद्या या विमुक्तये।
विद्यान्या शिल्पनैपुण्यम्। विष्णु पु०, १।१९।४१

२. आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते। वही, ६।५।६१

३. अन्धं तम इवाज्ञानम्। वही, ६।५।६२

४. ज्ञानात् शाश्वतस्योपलब्धिः। वायु पु०, १६।२१

५. ज्ञानेनाप्रतिमेन। ब्रह्माण्ड पु०, १।४।१५

६. सर्वेषामेव भूतानां त्रयी संवरणं स्मृतम्। वायु पु०, ७८।२६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१४।३५

७. सा विद्या या विमुक्तये। द्रष्टव्य, अल्टेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृ० ४

श्रेष्ठता का आधार माना गया है[८]। विष्णु पुराण के उक्त वर्णन से विद्या का गौण उद्देश्य भी सुव्यक्त होता है। पर गौण होते हुए भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता थी। हितोपदेश में इसे लौकिक सुख का साधन माना गया है[९]।

विद्या-प्रारम्भ का समय—विष्णु पुराण का कथन है कि उपनयन संस्कार से संस्कृत होने के उपरान्त विद्याध्ययनार्थ गुरु-गृह का आश्रय लेना चाहिए[१०]। अन्यत्र निरूपित है कि उपनयन संस्कारोपरान्त कृष्ण और बलराम विद्या-लाभार्थ अवन्तिपुरवासी सान्दीपनि मुनि के यहाँ गए थे[११]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में प्रस्तुत क्रिया की उपमा तीर्थ-यात्रा से दी गई है। इस विवरण में यह सुस्पष्ट किया गया है कि गुरु रूपी तीर्थ सभी तीर्थों से बढ़कर है[१२]। मत्स्य पुराण के अनुसार कच का छात्र-जीवन आचार्य शुक्र के घर व्यतीत हुआ था[१३]। ऐसी स्थिति में यही प्रतीत होता है कि पौराणिक व्यवस्था में विद्यारम्भ का समय बाल्यकाल ही मान्य है। स्मृतियों में स्थल-स्थल पर प्रस्तुत प्रसंग पर बल दिया गया है[१४]। हितोपदेश में भी वर्णित है कि बालकों पर नीति-उपदेश का उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है, जैसे नवीन भाण्ड को आकार देने के पूर्व शुद्धीकृत किया जाता है[१५]।

---

८. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सरवायो मनोजवेषु असमा बभूवुः। ऋग्वेद, १०।७१।७

९. वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या...जीवलोकस्य सुखानि। हितोपदेश, प्रस्तावा १६

१०. ततोऽनन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरुवेश्मनि...कुर्याद् विद्यापरिग्रहम्। विष्णु पु०, ३।१०।१२

११. विद्यार्थं जग्मतुर्बालौ कृतोपनयनक्रमौ। वही, ५।२१।१९

१२. गुरुतीर्थे परा सिद्धिस्तीर्थानां परमं पदम्। वायु पु०, ७७।१२८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।१२६

१३. समापितव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा। मत्स्य पु०, २६।१; २५।२५-६६

१४. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थिनोऽष्टमे। मनुस्मृति, २।३७; द्रष्टव्य, राजबली पांडेय, हिन्दू संस्कार, पृ० १५४

१५. यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते। हितोपदेश, प्रस्तावना, ८

शिक्षा-केन्द्र—ब्रह्माण्ड पुराण में शिवदत्त नामक ब्राह्मण के विषय में वर्णन आता है कि उसने अपने पुत्रों को सांगोपांग वेदों का अध्ययन कराया था[१६]। इस उद्धरण से यह व्यक्त होता है कि शिक्षित परिवार में बालक को स्वगृह में ही प्रशिक्षित किया जाता था। इसका समर्थन वैदिक उद्धरणों से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद् में निरूपित है कि आरुणि ने अपने पुत्र को दर्शन के गूढ़ तत्त्वों से परिचित कराया था[१७]। पर, इस प्रकार के स्थल ब्रह्माण्ड पुराण में अन्यत्र अथवा अन्य तीनों पुराणों में नहीं मिलते हैं। शिक्षा के साधनभूत जिन केन्द्रों का उल्लेख इनमें हुआ है, उनका विवरण अनुगामी अनुच्छेदों में प्रस्तावित है।

गुरुकुल—मत्स्य पुराण में विहित है कि गुरुकुल में शिक्षा समाप्त कर लौटने वाले ब्राह्मणों का आदर करना राजा का कर्त्तव्य है[१८]।

ऋषि-आश्रम—ब्रह्माण्ड पुराण में ऋचीक के आश्रम को अनेक मुनि और शिष्यों द्वारा अलंकृत बताया गया है[१९]। विष्णु पुराण में इक्षुमती नदी के तट पर आश्रम बनाकर रहने वाले कपिल मुनि को मोक्ष-धर्म का ज्ञाता वर्णित है तथा ऐसा आख्यात है कि दुःखप्राय संसार में कल्याण का मार्ग क्या है, इस प्रश्न को सुलझाने के लिए एक बार सौवीर-नरेश बड़ी सज-धज से उनके आश्रम में प्रस्थित हो रहे थे[२०]।

तीर्थ-स्थान—मत्स्य पुराण में विवेचित है कि वाराणसी तीर्थ में अध्ययन का क्रम निरन्तर चलता रहता है[२१]। इसी प्रसंग में उल्लिखित है कि एक बार भिक्षा न मिलने के कारण व्यास ऐसा शाप देने के लिए उद्यत हुए कि वाराणसी में तीन पीढ़ी तक विद्या न चले[२२]। विष्णु पुराण में वर्णन आता है[२३] कि अल्पपुण्य

१६. उपनीय क्रमात्सर्वाञ्छिवदत्तो महायशाः वेदानध्यापयामास सांगांश्च सरहस्यकान्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३५।१३-१४
१७. तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच। छान्दोग्य उपनिषद्, १।११।४
१८. आवृत्तानां गुरुकुलाद्द्विजानां पूजको भवेत्। मत्स्य पु०, २१५।५८
१९. ब्रह्माण्ड पु०, ३।२१।१८-२०
२०. विष्णु पु०, २।१३।५३-५४
२१. ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम्। मत्स्य पु०, १८१।१७
२२. मा भूस्त्रैपौरुषी विद्या...व्यासो वाराणसीं शपन्। वही, १८५।२२
२३. सन्देहनिर्णयार्थाय......मुनिं तत्र जाह्नवीसलिले। विष्णु पु०, ६।२।२-५

से सुमहान् फल कैसे मिलता है, इस सन्देह के निवारणार्थ एक बार ऋषिगण गंगा स्नान करने वाले व्यास के समीप गए थे।

विद्वन्मण्डली—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि महर्षि अंगिरा ने संशयात्मक बातों के निर्णयार्थ एक बार ऋषियों की सभा आयोजित किया था[२४]। मत्स्य पुराण में श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में इसी प्रकार की सभा का वर्णन मिलता है[२५]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में प्रसंग आया है कि एक बार ऋषियों ने सुमेरु पर्वत पर एक समाज का आयोजन किया था। इस समाज में सभी ऋषियों का एकत्र होना अनिवार्य माना गया था[२६]। यह स्मरणीय है कि इन पुराणों में उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्थित विद्यालय का उल्लेख नहीं मिलता है। जिन साधनों के सन्दर्भ इन ग्रन्थों में मिलते हैं, उनका समर्थन अन्य साक्ष्यों द्वारा भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कादम्बरी में बाण के पूर्वज कुबेर नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है तथा यह वर्णित है कि कुबेर के घर ब्रह्मचारी बड़ी सावधानी से वेदाध्ययन करते थे[२७]। इसी प्रकार शाकुन्तल में कुलपति कण्व के

---

२४. इत्येदंगिराः प्राह ऋषीणां शृण्वतां तदा।
पृष्टस्तु संशयं सर्वं पितृणां प्राह संसदि। वायु पु०, ८३।१२५;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।२०।१६

२५. तस्यां कदाचिदासीनः सभायाममितद्युतिः।
भार्याभिर्वृष्णिभिश्चैव भूभृद्भिर्भूरिदक्षिणैः।
कुरुभिर्देवगन्धर्वैरभितः कैटभार्दनः।
प्रवृत्तासु पुराणेषु धर्मसंवर्द्धिनीषु च।
कथान्ते भीमसेनेन परिपृष्टः प्रतापवान्। मत्स्य पु०, ६९।१०-१२

२६. ऋषियोंऽद्य महामेरोः समाजे नागमिष्यति।
तस्य वै सप्तरात्रात्तु ब्रह्महत्या भविष्यति। विष्णु पु०, ३।५।३-४
मेरुपृष्ठं समासाद्य तैस्तदा त्विति मंत्रितम्।
यो नोऽत्र सप्तरात्रेण नागच्छेद्विजसत्तमाः।
स कुर्याद् ब्रह्मबध्यां वै समयो नः प्रकीर्तितः। वायु पु०, ६१।१३;
ब्रह्माण्ड पु०, २।३५।१५

२७. जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यूजंषि सामानि च यस्य शंकिताः।
कादम्बरी, पूर्व भाग।

आश्रम का विवेचन मिलता है[२८]। तीर्थ भी विद्यावितरण के साधन थे। महाभारत में विद्या-लाभ तीर्थयात्रा का फल माना गया है[२९]।

शिक्षा-विधि : प्रवचन—विष्णु पुराण में विहित है कि पितामह अब्जयोनि के प्रवचन से ऋषियों ने प्रस्तुत पुराण का ज्ञान-लाभ किया था। ऐसा आख्यात है कि ब्रह्मा के शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने गुरुओं से इसका श्रवण किया था[३०]। मत्स्य पुराण के वर्णन से विदित होता है कि पुराण के प्रवक्ता वर्ण्य-शैली को ग्राह्य बनाने की चेष्टा करते थे। जिस समय ऋषिगण तारक-बध की कथा सुन रहे थे, उन्हें अमृतपान के समान सुख मिल रहा था[३१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के वर्णन से पता चलता है कि प्रवचन करने वाले उदाहरण-बोधक श्लोकों द्वारा वर्ण्य-विषय को समर्थित भी करते थे[३२]। इसमें सन्देह नहीं कि प्रवचन और श्रवण शिक्षा-शैली का प्रमुख स्वरूप था। यह परम्परा वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्रवचन तथा श्रवण-विधि का वैदिक वाङ्मय के प्रवाह में महान् योग था[३३]।

शास्त्रार्थ—विष्णु पुराण में वर्णित है कि तुल्य स्वभाव वालों में विवाद अपेक्षित होता है[३४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि विवाद में ऋषियों द्वारा पराजित होने के उपरान्त वसु का अधःपतन हुआ था[३५]। अन्यत्र विवेचित है कि नैमिषारण्य में ऋषियों ने वितण्डात्मक वचनों द्वारा अपने

---

२८. अभिज्ञानशकुन्तलम्, प्रथम अंक

२९. विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते। वनपर्व, ८२।९

३०. कथयामि यथापूर्वं दक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः।
पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः।
तैश्चोक्तं पुरुकुत्साय भूभजे नर्मदातटे।
सारस्वताय तेनापि मह्यं सारस्वतेन च। विष्णु पु०, १।२।८-९

३१. त्वन्मुखक्षीरसिन्धूत्था कथेयममृतात्मिका।
कर्णाभ्यां पिबतां तृप्तिरस्माकं न प्रजायते। मत्स्य पु०, १४६।२

३२. अत्रोदाहरहन्तीमं श्लोकं पौराणिकाः पुरा। वायु पु०, ७०।७६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।८३-८४

३३. अल्टेकर, वही, पृ० १४७

३४. विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृपेष्यते। विष्णु पु०, ३।१२।२२

३५. संवादो यत्र कीर्त्यते ऋषीणां वसुना सार्द्धं वसोश्चाधः पुनर्गतिः। वायु पु०, १।१०२; ब्रह्माण्ड पु०, १।१।९३

प्रतिवादियों को निस्तेज किया था[३६]। ऐसी परम्परा का प्रादुर्भाव भी वैदिक काल में हो चुका था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि विद्यार्थी-जीवन में शास्त्रार्थ का स्थान महत्त्वपूर्ण था। विवाद में सफल होने के लिए विद्यार्थी उत्सुक रहा करते थे[३७]।

स्वाध्याय—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ऋचीक का आश्रम स्वाध्याय के विपुल घोष से प्रतिनादित होता रहता था[३८]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि मनुष्य स्वाध्याय से ऋषियों को प्रसन्न करता है[३९]। विष्णु पुराण में श्रेष्ठ शास्त्रों का अध्ययन करना गृहस्थ का कर्त्तव्य माना गया है[४०]। स्वाध्याय की शृंखला भी वैदिक काल से ही चली आ रही थी। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय में प्रमाद दिखाना विद्यार्थी के लिए अकर्तव्य घोषित है[४१]। ऐसे स्थल मनुस्मृति में भी उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में स्वाध्याय ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ दोनों के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत वर्णित मिलता है[४२]।

पुस्तक—मत्स्य पुराण में सभी विद्याओं के ज्ञाता बुध को पुस्तकयुक्त बताया गया है[४३]। ब्रह्माण्ड पुराण में श्रीपुर की कथा के प्रसंग में वर्णित है कि इसका श्रवण करना चाहिए, जानकारों से इसके विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए, इधर-उधर इसके वर्णनों का चयन करना चाहिए, तदुपरान्त उसे पुस्तकाकार करना चाहिए[४४]। वायु पुराण में विवेचित है कि गयाख्यान-विषयक पुस्तक लिखने

---

३६. वितण्डावचनाश्चैके निजघ्नुः प्रतिवादिनः। वायु पु०, २।३०; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।३२

३७. सभा च समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उपमा संविदाने शिक्षाच्चारु वदानिपितरः संविदाने। अथर्ववेद, ७।१२।१

३८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २४१

३९. स्वाध्यायेन महर्षयः । मत्स्य पु०, १७८।७१

४०. सच्छास्त्रविनोदेन...... । विष्णु पु० ३।११।९७

४१. स्वाध्यायान्मा प्रमदः । तैत्तिरीय उपनिषद्, १।११

४२. यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं... । मनुस्मृति २।१०७

४३. सकमण्डलुपुस्तकः बहुविद्यो बुधः स्मृतः । मत्स्य पु०, ११।५५

४४. आकर्णयन्ति पृच्छन्ति विचिन्वन्ति च ये नराः। ये पुस्तके धारयन्ति... । ब्रह्माण्ड पु०, ४।३८।१०१

अथवा लिखवाने से लक्ष्मी प्रसन्न रहती है[४५]। पर, ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन में स्वाध्याय और प्रवचन की ही विशेष महत्ता थी। अन्य साक्ष्यों से भी विदित होता है कि पुस्तक-अध्ययन की अपेक्षा आचार्य-प्रवचन को ही श्रवण करना श्रेयस्कर समझा जाता था[४६]।

अवकाश—मत्स्य पुराण में विद्याध्ययन के विषय में स्वास्थ्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए वर्णित है कि विद्याभ्यास में शरीर को विनाशशील नहीं मानना चाहिए[४७]। कुमार सम्भव के पंचम सर्ग के एक उद्धरण से इसे समर्थित किया जा सकता है, जिसमें ऐसा निरूपित है कि धर्मार्जन में शरीर ही प्रधान है[४८]। कदाचित् इसी दृष्टि से अनध्याय के दिन निर्धारित किए गए थे। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि मेघ-गर्जन के समय, पर्व के दिनों में, ग्रहण के समय तथा अशौचकाल में अध्ययन नहीं करना चाहिए[४९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विहित है कि अनध्याय के दिन अध्ययन करने के कारण इन्द्र ने सुकर्मा के शिष्यों का संहार किया था[५०]। मत्स्य पुराण के स्थलों में अनध्याय के दिन अध्ययन और अध्यापन दोनों ही अकार्य घोषित हैं[५१]। अन्यत्र इस पुराण में श्राद्ध के अवसर पर स्वाध्याय निषिद्ध किया गया है[५२]। अतएव अनध्याय के दो प्रकार के समय थे। एक तो वह, जो पहले से निर्धारित रहते थे, जैसे पूर्णिमा आदि। इसे इस दृष्टि से आवश्यक मानते होंगे कि शरीर तथा मस्तिष्क को विश्राम और परिवर्तन की अपेक्षा थी। अशौच काल अथवा श्राद्ध का समय तथा मेघ-गर्जन के समय अनिश्चित एवं आकस्मिक थे। ऐसे

---

४५. लिखेद्वा लेखयेद्वापि पूजयेद्वापि पुस्तकम्।
तस्य गेहे स्थिरा लक्ष्मीः सुप्रसन्ना भविष्यति। वायु पु०, ११२।६४

४६. अल्टेकर; वही; पृष्ठ ७

४७. शरीरं शाश्वतं मन्ये विद्याभ्यासे धनार्जने। मत्स्य पु०, २०१।११

४८. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् । कुमार सम्भव, ५।३३

४९. अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु ।
अनध्यायं बुधः कुर्यादुपरागादिके तथा। विष्णु पु०, ३।१२।३६

५०. अनध्यायेष्वधीयानांस्तान् जघान् शतक्रतुः। वायु पु०, ६१।२६; ब्रह्माण्ड पु०, २।३४।३३

५१. अधीयानोऽप्यनध्याये दण्ड्यः अध्यापश्च द्विगुणं तथा। मत्स्य पु०, २२७।१५१

५२. स्वाध्यायं कलहं चैव... श्राद्धनिरूद्वास्येह निर्वपेत्। वही, १६।५७

समय चित्त की स्थिरता सम्भव नहीं थी, इसीलिए अध्ययन वर्जित था। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी वर्णित है कि मेघ-गर्जन, अमावस तथा पूर्णमासी आदि के अवसर पर अध्ययन नहीं करना चाहिए[५३]।

पुत्र द्वारा अध्यापित होना निषिद्ध—विष्णु पुराण में निरूपित है कि जो लोग पुत्र द्वारा अध्यापित होते हैं, वे नरक में जाते हैं[५४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पुत्र द्वारा अध्यापित एवं आज्ञापित होना, दोनों को ही गर्हित माना गया है[५५]। इन पौराणिक उद्धरणों को स्मृतियों के उद्धरण आंशिक रूप में ही समर्थित करते हैं। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में सेवक से अध्यापित होना अकार्य माना गया है[५६]।

छात्रोचित कर्त्तव्य : विनय—वायु पुराण के अनुसार नैमिषारण्य में सावर्णि आदि ऋषियों ने अपनी ज्ञान-पिपासा को बड़े विनय के साथ प्रस्तावित किया था[५७]। विष्णु पुराण के वर्णनानुसार ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी ईश्वर का रूप समझाने के बाद प्रह्लाद अपने गुरु से क्षमा-याचना कर रहा था[५८]।

श्रद्धा—विष्णु पुराण के अनुसार भीष्म ने कलिंग नामक द्विज से ज्ञान-लाभार्थ श्रद्धा का समाश्रय लिया था[५९]। वायु पुराण के अनुसार सृष्टि का रहस्य उसी व्यक्ति को समझाना चाहिए, जिसमें श्रद्धा हो[६०]।

गुरु-सम्मान—विष्णु पुराण में वर्णित है कि गुरु को अपमानित करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है[६१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी गुरु को अपमानित, आक्रोशित अथवा ताडित करने वाले व्यक्ति के जीवनान्तर का उपर्युक्त

---

५३. याज्ञवल्क्यस्मृति... । स्नातधर्मप्रकरण, ४५-४६
५४. पुत्रैरध्यापिता ये च ते पतन्ति श्वभोजने। विष्णु पु०, २।६।२७
५५. पुत्रैरध्यापिता ये च...ते सर्वे नरकं यान्ति नियतं श्वभोजने। वायु पु०, १०१।१७३; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१७६
५६. भृताध्यापनमेव च। मनुस्मृति ११।६३, भृतादध्ययनात्। याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्त-प्रकरण, ३५
५७. विनयेनोपसंगम्य पप्रच्छ स महाद्युतिम्। वायु पु०, २१।२
५८. भवद्भिरेतत्क्षन्तव्यम्...... । विष्णु पु०, १।१८।२८
५९. स पृष्टः भूयः श्रद्दधानेन वै द्विजः। वही, ३।७।११
६०. नाश्रद्दधानाविदुषे । वायु पु०, १०३।७०
६१. अवमन्ता गुरूणां यो... । विष्णु पु०, २।६।१२

फल बताया गया है[६२]। मत्स्य पुराण के अनुसार जिस स्थान पर गुरु-पूजा नहीं होती, वहाँ सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं[६३]।

आज्ञापालन—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार गुरु वसिष्ठ की आज्ञापालनार्थ सगर ने अपने बाहु-पराक्रम का अप्रतिम प्रदर्शन किया था[६४]। विष्णु पुराण में वर्णित है कि गुरु वैशंपायन की आज्ञा को भंग करने के कारण याज्ञवल्क्य का आयुर्वेद-ज्ञान नष्ट हो गया[६५]।

गुरु-सेवा—मत्स्य पुराण में विवेचित है कि गुरु-सेवा करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है[६६]। वायु पुराण में गुरु की शुश्रूषा करना योगी शिष्य का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है[६७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में निरूपित है कि ब्राह्मण को सेवा-कार्य नहीं करना चाहिए। पर, गुरु-सेवा करना अपवाद परिगणित है[६८]। विष्णु पुराण के अनुसार गुरु की सेवा में रत रहकर प्रह्लाद ने सभी विद्याओं का अध्ययन किया था[६९]। मत्स्य पुराण के एक स्थल से पता चलता है कि शिष्य, गुरु के व्यक्तिगत कार्यों को भी करता था। शुक्र के शिष्य कच के विषय में वर्णित है कि आचार्य के आदेश से कच उनकी गायों को चराया करता था[७०]। गर्गाचार्य के शिष्यों के विषय में कहा गया है कि गुरु के आदेश से वे वन में उनकी दोग्ध्री की रक्षा करते थे[७१]। यह स्मरणीय है कि इन कार्यों से विद्यार्थी के अध्ययन

---

६२. गुरूंश्चैवावमन्यन्ते ...। वायु पु०, १०१।१५६; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१५८
६३. न पूज्यते गुरुर्यत्र सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः। मत्स्य पु०, ६२।२१
६४. सगरः स्वां प्रतिज्ञां च गुरोर्वाक्यं निशम्य च। वायु पु०, ८८।१३६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।१३७
६५. ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।
मुच्यतां यत्त्वयाधीतं मत्तो विप्रावमानक। विष्णु पु०, ३।५।८
६६. गुरुशुश्रूषया चैव ब्रह्मलोकं समश्नुते। मत्स्य पु०, २१०।११
६७. अक्रोधो गुरुशुश्रूषा......। वायु पु०, १६।१८
६८. शुश्रूषणं वाप्यगुरोरहो वा कार्यं नैतद्धिद्यते ब्राह्मणस्य। वायु पु०, ७६।७१
शुश्रूषणं चाप्यगुरोररेर्वाप्यकार्यमेतद्धि सदा द्विजानाम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१५।४५
६९. जग्राह विद्यामनिशं गुरुशुश्रूषणोद्यतः। विष्णु पु०, १।१७।२८
७०. गां रक्षन्तं वने। मत्स्य पु०, २५।३१
७१. गर्गादेशाद्वने दोग्ध्रीं रक्षन्तस्ते तपोधनाः। वही, २०।५

अथवा नित्यप्रति के कर्त्तव्यों में कोई विघ्न नहीं पहुँचता था[७२]। विष्णु पुराण में विहित है कि कृष्ण और बलराम गुरु की परिचर्या करते हुए वेदाध्ययन में निरत रहते थे[७३]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार जामदग्नि, गुरु-सेवा के साथ-साथ अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों को भी सम्पादित करते थे[७४]। इन उद्धरणों से पता चलता है कि गुरु के प्रति शिष्य को सम्मान, श्रद्धा और सेवाभाव प्रदर्शित करना पड़ता था। ऐसी प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव वैदिक काल ही में हो चुका था[७५]। शतपथ ब्राह्मण में आचार्य के समीप शिष्य द्वारा समिधा-आदान का वर्णन मिलता है[७६]। यह परम्परा कालान्तर में भी जीवित रही। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में माता और पिता की कोटि में गुरु को रखते हुए विहित है कि आचार्य को सर्वदा प्रसन्न करना चाहिए। इनकी सेवा ही सबसे बड़ी तपस्या है[७७]।

शिष्य की पात्रता—वायु पुराण के अनुसार योग-विद्या ऐसे शिष्य को सिखानी चाहिए, जो गुरु के समीप एक वर्ष तक रह चुका हो। इसके विपरीत पापी, अपवित्र तथा एक वर्ष से कम के निवासी को ऐसे ज्ञान का वितरण करना निषिद्ध किया गया है[७८]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि गुरु, गुणवान् शिष्य पर ही अनुग्रह दिखाता है[७९]। मत्स्य पुराण के अनुसार गुरु के उपदेश अच्छे शिष्य के ही कान में प्रवेश करते हैं[८०]। कच के विषय में निरूपित है कि उसके शील, दाक्षिण्यादि गुणों से तुष्ट होने पर ही शुक्र ने उसे अपना शिष्य बनाया था[८१]। विष्णु पुराण के अनुसार कृष्ण और बलराम के चरित्र से परितुष्ट होने के उपरान्त

---

७२. अल्टेकर, वही, पृ० ६०

७३. वेदाभ्यासकृतप्रीती संकर्षणजनार्दनौ।
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ। विष्णु पु०, ५।२१।२०

७४. गुरुशुश्रूषको नित्यं नित्यनैमित्तिकादरः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३४।४६

७५. अल्टेकर, वही, पृ० ६०

७६. समित्पाणिः प्रतिचक्रम...... । श० ब्रा०, ११।४।१।६

७७. तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते। मनुस्मृति, २।२२८

७८. नाशुचौ नापि पापाय नाप्यसंवत्सरोषिते। वायु पु०, १०३।६६

७९. सच्छिष्यानुग्रहार्थाय...... । ब्रह्माण्ड पु०, ४।४३।६८

८०. गुरूक्तान्युपदिष्टानि सच्छिष्यस्य श्रुताविव। मत्स्य पु०, १५१।६

८१. शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च। वही, ३५।१६

सान्दीपनि ने उन्हें शास्त्रादि का उपदेश दिया था[८२]। अन्यत्र ब्रह्माण्ड पुराण में विवेचित है कि शिष्य को शील आदि निर्मल गुणों से सम्पन्न होकर गुरुगत ज्ञान के ग्रहणार्थ प्रयत्नशील रहना चाहिए[८३]। इस प्रकार ज्ञान-वितरण के पूर्व शिष्य के पात्रता की परीक्षा अपेक्षित थी। उसी स्थिति में आचार्य शिष्य को अपने संरक्षण में स्वीकार करता था, जब कि वह उसके गुणों से पूर्ण सन्तुष्ट होता था[८४]। विष्णु स्मृति में भी विहित है कि अपरिचित व्यक्ति का न तो यज्ञ करना चाहिए और न उसे अध्यापित ही करना चाहिए[८५]।

संयम-नियम का पालन—मत्स्य पुराण के अनुसार शुक्राचार्य के आश्रम में प्रवेश करने के पूर्व कच को ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ी थी[८६]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विद्या की साधना और ब्रह्मचर्य में अभिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित है[८७]। विष्णु पुराण में विहित है कि गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य-बाधक कार्य कदापि नहीं करना चाहिए[८८]। यही मत स्मृतियों का भी है। मनुस्मृति का कथन है कि गुरु के यहाँ ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य अपेक्षित है कि वह अपनी इन्द्रियों को पूर्ण संयत रखे[८९]।

भिक्षावृत्ति—छात्रोचित भिक्षा-वृत्ति का विवेचन आश्रम-विषयक अध्याय में किया जा चुका है। इस विषय से सम्बन्धित कतिपय अन्य स्थलों का उल्लेख यहाँ समीचीन है। विष्णु पुराण में विहित है कि भोजन के पूर्व गृहस्थ को भोज्य-पदार्थ का अंश विद्यार्थियों को प्रदान करना चाहिए[९०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि भोजनार्थ ब्रह्मचारी को भिक्षावृत्ति का आश्रय

---

८२. विचिन्त्य तौ तदा मेने प्राप्तौ चन्द्रदिवाकरौ।
सांगांश्च चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राणि चैव हि। विष्णु पु०, ५।२१।२३

८३. आददीत ततो ज्ञानं...शीलादिविमलानेकगुणसम्पन्नभावनः।
ब्रह्माण्ड पु०, ४।४३।३९-४०

८४. अल्टेकर, वही, पृ० ५४

८५. नापरीक्षितं याजयेत् नाध्यापयेत्। विष्णु स्मृति, २९।४-५

८६. ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरो। मत्स्य पु०, २५।२३

८७. विद्यायाः साधनात्साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः। वायु पु०, ५९।२३;
ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।२४

८८. द्विजदेवगुरूणां च व्यवायी नाश्रमे भवेत्। विष्णु पु०, ३।११।११९

८९. गुरौ वसन् संनियम्येन्द्रियग्रामम्। मनुस्मृति, २।१७५

९०. दत्त्वा तु भक्तं शिष्येभ्यः...... गृही। विष्णु पु०, ३।११।८०

लेना चाहिए[९१]। इस प्रकार भिक्षाटन ही विद्यार्थी के उदर-निर्वाह का सम्बल था। विष्णु पुराण के उद्धरण से यह निष्कर्ष निकालना अनुपयुक्त न होगा कि विद्यार्थी की भिक्षावृत्ति में सामाजिक कर्त्तव्य की भावना सन्निहित थी। समाज से भिक्षान्न प्राप्त कर समाज के प्रति वह अपने भावी कर्त्तव्य का अनुभव करता था। विद्यार्थी के समान समाज भी संस्कृति के विकास में स्वकीय योग प्रदान करता था[९२]। पौराणिक स्थलों का समर्थन स्मृतियों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विष्णु स्मृति में निरूपित है कि ब्रह्मचारी, यति और भिक्षु गृहस्थ से ही जीवित रहते हैं, अतएव गृहस्थ को ऐसे आभ्यागतों का अपमान नहीं करना चाहिए[९३]।

देशाटन—वायु पुराण में वर्णित है कि गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य को पृथ्वी का विचरण करना चाहिए। यह निरूपित है कि ऐसा करने से ज्ञान और ज्ञेय की वस्तुस्थिति का पता चलता है[९४]। अन्य तीन पुराणों में ऐसे स्थल नहीं मिलते हैं। अतएव सामान्य विद्यार्थी-जीवन में यह नियम कहाँ तक सही था, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता[९५]।

श्रद्धा-भाव की स्थायिता—ब्रह्माण्ड पुराण का कथन है कि शिष्य को अभ्यागत गुरु का सत्कार मेध्य पशु के द्वारा करना चाहिए[९६]। मत्स्य पुराण के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर गुरु को भी निमंत्रित करना चाहिए[९७]। ऋभु नामक आचार्य के विषय में विष्णु पुराण में विवेचित है कि उन्होंने अपने भूतपूर्व शिष्य

---

९१. गुरुशुश्रूषणं भैक्षं विद्याद् ब्रह्मचारिणः। वायु पु०, ८।१७४
गुरुशुश्रूषणं भैक्ष्यं विद्यार्थी ब्रह्मचारिणः। ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१७५

९२. अल्टेकर, वही, पृ० ६३

९३. ब्रह्मचारी यतिर्भिक्षुर्जीवन्त्येते गृहाश्रमात्।
तस्मादभ्यागतानेतान्गृहस्थो नावमानयेत्। विष्णु स्मृति, ५९।२७

९४. अनुज्ञाप्य गुरुश्चैव विचरेत् पृथ्वीमिमाम्।
सारभूतमुपासीत ज्ञानं यज्ज्ञेयसाधकम्। वायु पु०, १७।२

९५. अल्टेकर, वही, पृ० ९३

९६. देवतार्थे पित्रर्थे तथैवाभ्यागते गुरौ।
......हन्यान्मेध्यान्पशून्द्विजः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।५७

९७. भोजयेच्चापि दौहित्रं यत्नतः स्वसुहृद्गुरून्। मत्स्य पु०, १६।१०

निदाघ के ज्ञान की परीक्षा सत्कृत अतिथि के रूप में लिया था[९८]। इन स्थलों से स्पष्ट होता है कि गुरु के प्रति सम्मान और श्रद्धा की भावना गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त भी बनी रहती थी। विष्णु पुराण के उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि समय-समय पर गुरु शिष्य के घर जाकर उसके ज्ञान की परीक्षा भी लेता था[९९]। इसका समर्थन अन्य साक्ष्यों से भी होता है। उदाहरणार्थ, एक जातक में विवृत है कि अपने भूतपूर्व शिष्य के घर जाने पर गुरु को इस बात से सन्तोष हुआ था कि उसके विद्यार्थी को अधीत विषय का अधिकांश ज्ञान विस्मृत नहीं हुआ था[१००]।

आचार्य का गौरव—मत्स्य पुराण के अनुसार आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति है। ऐसा आख्यात है कि गुरु आहवनीय अग्नि है, जिसकी उपासना करने से मनुष्य तेजस्वी बनता है[१०१]। ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि गुरु एवं गुरु-पत्नी का ध्यान माता-पिता की दृष्टि से करना चाहिए[१०२]। एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि गुरु साक्षात् शिव हैं, जो ज्ञान के वितरणार्थ पृथ्वी का विचरण करते हैं[१०३]। अन्यत्र वर्णन मिलता है कि गुरु दुर्लभ होता है। वह संसार में नक्षत्र के समान अन्धकार को प्रकाशित करता है। गुरु शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए विहित है कि गुकार का अर्थ अन्धकार होता है। रुकार निरोध करने की क्रिया को कहते हैं। अन्धकार का निरोध करने के कारण उसे गुरु कहा जाता है[१०४]। इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन स्मृतियों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति

---

९८. अवाप्तज्ञानतंत्रस्य न तस्याद्वैतवासना।
स ऋभुस्तर्कयामास निदाघस्य नरेश्वर। विष्णु पु०, २।१५।५;
द्रष्टव्य, वही, श्लोक २-३४

९९. द्रष्टव्य, अल्टेकर, वही, पृ० ९३

१००. जातक, संख्या, १८५

१०१. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः ...गुरुराहवनीयश्च...दीप्यमानः स्ववपुषा...।
मत्स्य पु०, २११।२१-२६-२७

१०२. श्रीगुरुं गुरुपत्नीं च पितरौ चिन्तयेद्धिया। ब्रह्माण्ड पु०, ४।४३।८७

१०३. मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवः स्वयम्। वही, ४।४३।९८

१०४. गुकारस्यान्धकारोऽर्थो रुकारस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते। वही, ४।४३।३७

में आचार्य को ब्रह्मा की मूर्ति कहा गया है[१०५]। उसी प्रसंग में इसके अग्रिम श्लोक में गुरु को आहवनीय अग्नि माना गया है[१०६]।

आचार्य शब्द की परिभाषा तथा भेद—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आचार्य की परिभाषा देते हुए आख्यात है कि जो वृद्ध निर्लोभ, आत्मवान् और निरहंकार हों तथा जिनमें विनय और ऋजुता हो, वे आचार्य हैं[१०७]। ब्रह्माण्ड पुराण में गुरु के तीन प्रकार— महागुरु, आचार्य और देशिक आचार्य—बताए गए हैं। ऐसा निरूपित है कि जो ब्रह्म-उपदेश से लेकर वेदान्त-दर्शन की शिक्षा प्रदान करता है, वह महागुरु है। ऐसा व्यक्ति, जो ब्रह्मोपदेश और वेदशास्त्र का उपदेश दे, वह आचार्य है तथा जो इनमें से किसी एक की शिक्षा दे, वह देशिक आचार्य है[१०८]। आचार्य के इन तीनों भेदों का वर्णन स्मृतियों में नहीं मिलता, पर आचार्य और उपाध्याय दो शब्दों का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। आचार्य उस व्यक्ति को कहा गया है, जो उपनिषद् और यज्ञसम्बन्धी सूत्रों के साथ शिष्य को वेद का उपदेश दे। ऐसा निरूपित है कि वेद का एकदेशिक शिक्षा देने वाला अथवा वेदांगों की शिक्षा देने वाला व्यक्ति उपाध्याय कहलाता है[१०९]।

शिष्य के प्रति आचार्य-कर्त्तव्य : स्नेह—विष्णु पुराण के अनुसार सज्जन को शिष्य और पुत्र में कोई भेद नहीं रखना चाहिए[११०]। इस स्नेह की

---

१०५. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः। मनुस्मृति, २।२२७

१०६. गुरुराहवनीयस्तु... । वही, २।२३१

१०७. वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः।
सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते। वायु पु०, ५९।२९
ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।३१

१०८. ब्रह्मोपदेशमेकत्र वेदशास्त्राण्यथैकतः।
आचार्यः स तु विज्ञेयस्तदेकैकास्तु देशिकाः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।८।५

१०९. यस्तूपनीय व्रतादेशं कृत्वा वेदमध्यापयेत्तमाचार्यं विद्यात्।
यस्त्वेनं मूल्येनाध्यापयेत्तमुपाध्यायामेकदेशं वा। विष्णु स्मृति, २।१।१
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।
एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते। मनुस्मृति, २।१४०-१४१

११०. विशेषोऽस्ति न सतां पुत्रशिष्ययोः। विष्णु पु०, ६।८।११

चिरन्तनता पर वायु पुराण प्रकाश डालता है। इसके अनुसार जन्मान्तर के शिष्यों को भी पिण्डदान देना चाहिए[१११]।

उत्तरदायित्व—विष्णु पुराण के अनुसार गुरु-गृह से प्रत्यावर्तित होने पर प्रह्लाद को दोषयुक्त पाकर उसका पिता सारा दोष उसके गुरु के मत्थे मढ़ रहा था[११२]। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शिष्य के प्रति आचार्य का व्यवहार स्नेहपूर्ण था। उसके प्रशिक्षण और अनुशासन का सारा उत्तरदायित्व आचार्य पर निर्भर था[११३]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में निरूपित है कि आचार्य को शिष्य के साथ पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिए[११४]। विष्णु स्मृति के अनुसार शिष्य की मृत्यु होने पर एक रात्रि अशौच का काल रहता है[११५]। पंचतन्त्र में आख्यात है कि शिष्य के दोष का उत्तरदायित्व आचार्य पर रहता है[११६]।

गुरु का वृत्ति-साधन—विष्णु पुराण के अनुसार शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त शिष्य को गुरुदक्षिणा देकर घर लौटना चाहिए[११७]। कृष्ण और बलराम के विषय में आख्यात है कि उन्होंने शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त अपने गुरु से दक्षिणा स्वीकार करने की याचना की थी[११८]। जिस समय केशिध्वज, खाण्डिक्य से ज्ञान-लाभ कर घर लौट रहे थे, उनका मन दक्षिणा न देने के कारण स्थिर न था। अतएव अपनी भूल के स्मरणोपरान्त वे पुनः खाण्डिक्य के पास दक्षिणा-प्रदानार्थ गए[११९]।

दान—मत्स्य पुराण में भीमद्वादशी नामक व्रत के विषय में वर्णित है कि इस अवसर पर उपाध्याय को अंगूठी, कटक, सुवर्णसूत्र, सुवस्त्रादि से सम्मानित

---

१११. मित्राणि शिष्याः...जन्मान्तरे ये मम तेभ्यः...पिण्डम्। वायु पु०, ११०।५५
११२. एतन्निशम्य दैत्येन्द्रः...तद्गुरुं प्राह। असारं ग्राहितो बालो... । विष्णु पु०, १।१७।१६-१७
११३. अल्टेकर, वही, पृ० ५६
११४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १।२।८
११५. शिष्येष्वतीतेष्वेकरात्रेण। विष्णु स्मृति, २२।२४
११६. अतीत्य बन्धूनवलंध्य शिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्यदोषः। पंचतंत्र, १।२१
११७. गृहीतविद्यो गुरवे दत्वा च गुरुदक्षिणाम्। विष्णु पु०, ३।१०।१३
११८. ऊचुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा। वही, ५।२१।२४
११९. खाण्डिक्याय न दत्तेति मया वै गुरुदक्षिणा। वही, ६।६।३६; ३८।४५-४७

करना चाहिए[१२०]। अतएव यह कहा जा सकता है कि गुरु की आय का कोई निश्चित साधन नहीं था। उसकी उदर-वृत्ति दान और दक्षिणा के द्वारा ही प्रायः निर्वाहित होती थी। कभी-कभी पुरोहित और शिक्षक का कार्य एक ही व्यक्ति करता था। उदाहरणार्थ, विष्णु पुराण में राजपुरोहित को प्रह्लाद का शिक्षक बताया गया है[१२१]। निश्चय ही राजपुरोहित को उदर-वृत्ति के लिए अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती होगी[१२२]। गुरु के विषय में दक्षिणा सम्बन्धी उल्लेखों का समर्थन अन्य साक्ष्यों के द्वारा भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में विहित है कि विद्यार्थी को घर लौटते समय गुरु को अपनी शक्ति के अनुसार खेत, सोना, गाय, अश्व तथा छत्र आदि दक्षिणा में देना चाहिए[१२३]।

अध्ययन के विषय : वेद—वेदों की महत्ता को प्रकाश में लाते हुए वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि वेद ही मनुष्यों के संवरण हैं तथा वेद का परित्याग करने वाले नग्न हैं[१२४]। विष्णु पुराण के अनुसार ऋक्, यजुः और साम के परित्यागी नग्न और पातकी हैं[१२५]। ब्रह्माण्ड पुराण में वेद-राशि को सभी विद्याओं की अपेक्षा उत्कृष्ट बताया गया है[१२६]। वायु पुराण में गया तीर्थ के विषय में वर्णित है कि इस क्षेत्र में सभी वस्तुओं का परित्याग किया जा सकता है, किन्तु वेद का नहीं[१२७]।

गुरु-आश्रम में वेदाध्ययन—विष्णु पुराण में निरूपित है कि कृष्ण और

---

१२०. पूजयेदंगुलीभिश्च कटकैर्हेमसूत्रकैः वासोभिः...उपाध्यायस्य च द्विगुणम्। मत्स्य पु०, ६६।४५-४७

१२१. विष्णु पु०, १।१७।४८-५०; पुरोहिता ऊचुः—तथातथैनं बालं ते शासितारो वयं नृप। ५०

१२२. अल्टेकर, वही, पृ० ८

१२३. क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रं...गुरवे प्रीतिमाहरेत्। मनुस्मृति, २।२४६

१२४. सर्वेषामेव भूतानां त्रयी संवरणं स्मृतम्।
परित्यजति यो मोहात्ते वै नग्नादयो जनाः। वायु पु०, ७८।२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१४।३५

१२५. ऋग्यजुस्सामज्ञेयं त्रयीवर्णावृतिर्द्विज।
एतामुज्झति यो मोहात्स नग्नः पातकी द्विज। विष्णु पु०, ३।१७।५

१२६. सर्वेभ्योऽपि शब्देभ्यो वेदराशिर्महामुने। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३८।३

१२७. संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्। वायु पु०, १०५।२८

बलराम अपने गुरु द्वारा सांगोपांग वेद-शिक्षा से लाभान्वित हुये थे[१२८]। वर्णनान्तर में कुशों की उपमा उन ब्रह्मचारियों से दी गई है, जो सामवेद का पाठ करते हैं[१२९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में निरूपित है कि ऋषिगण सामसंहिता का सस्वर पाठ करते हैं[१३०]।

वेदज्ञ की सामाजिक प्रतिष्ठा—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वेद का अध्ययन करने वाले को पंक्तिपावन कहा गया है[१३१]। विष्णु पुराण में षडंगों के साथ वेद का ज्ञाता ब्राह्मण पूज्य घोषित है[१३२]।

वेद की धार्मिक उपयोगिता—मत्स्य पुराण में विहित है कि उद्यानादि के निर्माण के अवसर पर ऋक्, यजुः और सामवेद के मन्त्रों द्वारा गाय को स्नान कराना चाहिए[१३३]। विष्णु पुराण के अनुसार राम के राज्याभिषेक के अवसर पर कुल-पुरोहित ऋक्, यजुः और साम के द्वारा स्तुति कर रहे थे[१३४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आख्यात है कि वरुण के यज्ञ के अवसर पर ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद मूर्तिमान् होकर प्रकट थे[१३५]।

विभिन्न वेदों का विशिष्ट अध्ययन—मत्स्य पुराण के एक वर्णन से विदित होता है कि वेदों में प्रत्येक का अलग-अलग अध्ययन कर विशिष्टता भी प्राप्त की जाती थी। तटाक-निर्माण की विधि के प्रसंग में प्रस्तुत पुराण का कथन है कि इस अवसर के निमित्त निर्मित मण्डप के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में क्रमशः ऋग्वेद, यजुः, साम और अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण को बैठाना उचित

---

१२८. सांगांश्च चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राणि चैव हि। विष्णु पु०, ५।२१।२३

१२९. कुशा काशा विराजन्ते वटवः सामगा इव। वही, २।१३।२७

१३०. आरण्यकं सहोमंच एतद्गायन्ति सामगाः। वायु पु०, ६१।६३; ब्रह्माण्ड पु०, २।३४।७१-७२

१३१. षंडगी......... पंक्तिपावनाः। वायु पु०, ७९।५६-५८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१५।२८

१३२. विष्णु पु०, ३।१५।१

१३३. ऋग्यजुःसाममंत्रैश्च...स्नपनं कुर्यात्। मत्स्य पु०, ५९।१२

१३४. ऋग्यजुस्सामाथर्वभिस्संस्तूयमानो। विष्णु पु०, ४।४।९९

१३५. मूर्त्तिमन्ति च सामानि यजूंषि च सहस्रशः। वायु पु०, ६५।२४
ऋग्वेदश्चाभवत्तत्र...... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।१।२३

है[१३६]। इन उद्धरणों से निश्चय ही वेदाध्ययन की पौराणिक महत्ता और प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। वेदाध्ययन की महत्ता अन्य साक्ष्यों से भी समर्थित होती है। उदाहरणार्थ, भासकृत प्रतिमा नाटक में ब्राह्मण-वेश में स्थित रावण, राम पर अपनी विद्वता का प्रभाव जमाने के लिए, स्वयं को सांगोपांग वेद का ज्ञाता घोषित करता है[१३७]।

पुराणज्ञ, पुराणार्थ-विशारद—विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य चारों पुराणों में पुराणज्ञ, पुराणार्थ-विशारद आदि शब्द उपलब्ध हैं। इन शब्दों का उल्लेख पुराण के पठन-पाठन की महत्ता पर प्रकाश डालता है[१३८]।

पुराण-श्रवण एवं लेखन—विशोक द्वादशी आदि व्रतों के निरूपण में मत्स्य पुराण वर्णित करता है कि इन तिथियों को पुराण का श्रवण करते हुए व्यतीत करना चाहिए[१३९]। इसी प्रकार ब्रह्म पुराण के विषय में विवृत है कि वैशाख की पूर्णिमा को इसे लिखने से व्यक्ति ब्रह्मलोक में पूजित होता है[१४०]।

पुराणांश का श्रवण—मत्स्य पुराण में मदनद्वादशी नामक व्रत के विषय में विवेचित है कि ऐसे अवसर पर केशव और काम की कथा का श्रवण करने से व्रत सफल होता है[१४१]।

पुराणोक्त कथा का स्वतःपाठ—मत्स्य पुराण के अनुसार सन्ध्योपासना के अनन्तर स्कन्द की कथा पढ़ने से मनुष्य चिरायु और लक्ष्मीवान् होता है[१४२]।

---

१३६. दक्षिणेन यजुर्विदो। सामगो पश्चिमे तद्वदुत्तरेणात्वथर्वणौ। मत्स्य पु०, ५८।२६

१३७. रावणः—भोः सांगोपांगं वेदमधीये। प्रतिमा नाटक, अंक ५

१३८. अयं स कथ्यते प्राज्ञैः पुराणार्थविशारदैः। विष्णु पु०, ५।२०।४६
दत्तात्रेयं तनुं विष्णोः पुराणज्ञाः प्रचक्षते। वायु पु०, ७०।७७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।८३
अनुवंशे पुराणज्ञाः गायन्ति। मत्स्य पु०, ४४।५७

१३९. भुक्तवा श्रुत्वा पुराणानि तद्दिनं अतिवाहयेत्। मत्स्य पु०, ८१।२३
ततः पुराणश्रवणं कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता। वही, ७५।७

१४०. लिखित्वा तच्च यो दद्यात्... वैशाखपूर्णिमायां च ब्रह्मलोके महीयते। वही, ५३।१३

१४१. तदाभावे कथां कुर्यात्कामकेशयोर्नरः। वही, ७।१४

१४२. संध्यामुपास्य यः पूर्वां स्कन्दस्य चरितं पठेत्। वही, १६०।३२; ३०-३१

वायु पुराण में वर्णित है कि महादेव की पुरी में विविध प्रकार की शुभ कथाएँ निरन्तर चलती रहती हैं[१४३]।

गाथा—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में देवावृध की कथा-प्रसंग में पुराणज्ञों द्वारा सुनाई गई गाथा को उद्धृत किया गया है[१४४]। मत्स्य पुराण में विहित है कि श्राद्ध के अवसर पर पितरों की गाथा सुनाने से श्राद्ध सफल होता है[१४५]।

इतिहास—मत्स्य पुराण में विवेचित है कि रोहिणीचन्द्रशयन नामक व्रत के अवसर पर 'इतिहास' का श्रवण करना चाहिए[१४६]। वायु पुराण में लिंगोद्भव की कथा को 'पुरातन इतिहास' से समर्थित किया गया है[१४७]। यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में पुराण और इतिहास की अलग-अलग सत्ता थी। यही कारण है कि वायु पुराण में इतिहास और पुराण पृथक्-पृथक् वर्णित किए गये हैं[१४८]। पर मत्स्य पुराण में पुराणांश के रूप में इतिहास का वर्णन मिलता है[१४९]। इन सभी स्थलों से पुराणों के पठन-पाठन का पता चलता है। अर्थशास्त्र में भी पुराण पठनीय विषयों के अन्तर्गत किया गया है[१५०]।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र के अध्ययन के विषय में सुस्पष्ट स्थल तो नहीं मिलते पर इनकी महत्ता विष्णु पुराण और मत्स्य पुराण के उद्धरणों से प्रतिपादित की जा सकती है। विष्णु पुराण में धर्मशास्त्रों का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित किया गया है[१५१]। मत्स्य पुराण में विहित है कि श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को धर्मशास्त्र प्रदान करने से पितर सन्तुष्ट रहते हैं[१५२]। धर्मशास्त्रों की महत्ता का मूल्यांकन

---

१४३. कथाश्च विविधाः शुभाः। वायु पु०, १०१।३०५

१४४. अत्र गाथा महाराज्ञा पुरा गीता...। वायु पु०, ९३।६४
तत्र वंशे पुराणज्ञा गाथां गायन्ति वै द्विजाः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।१४

१४५. इत्येतां पितृगाथां तु...... । मत्स्य पु०, २०४।१९

१४६. भुक्तवेतिहासं शृणुयान्मुहूर्तम्। वही, ५७।१५

१४७. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। वायु पु०, ५५।२

१४८. अष्टादश पुराणानि सेतिहासानि। वही, १०४।२

१४९. पुराणेष्वितिहासोऽयं...... । मत्स्य पु०, ५८।४

१५०. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणम् । अर्थशास्त्र (गणपति शास्त्री-संपादित), पृष्ठ ३५

१५१. धर्मशास्त्राण्यधोक्षज। विष्णु पु०, ५।१।३७

१५२. धर्मशास्त्राणि यो दद्याद्विधिना विदुषामपि। मत्स्य पु०, २०४।१७

स्मृतिगत उद्धरणों से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में निरूपित है कि प्रस्तुत धर्मशास्त्र का अध्ययन करने से ब्राह्मण कर्मदोष से मुक्त हो जाता है[१५३]।

आयुर्वेद—विष्णु पुराण में आयुर्वेद के प्रवर्तन का श्रेय धन्वन्तरि को प्राप्त है। ऐसा निरूपित है कि काशिराज के गोत्र में अवतीर्ण होकर आयुर्वेद को आठ भागों में विभाजनार्थ विष्णु से उन्हें वरदान उपलब्ध था[१५४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी धन्वन्तरि को आयुर्वेद का उद्धारक बताया गया है[१५५]। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि नृप शान्तनु विद्वान् तथा निपुण चिकित्सक थे[१५६]। अन्यत्र वर्णन मिलता है कि राजा को दुर्ग में चिकित्सकों की नियुक्ति करनी चाहिए[१५७]। प्रसंगवश ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में उन अश्विनीकुमारों का उल्लेख आया है, जो सिद्धहस्त चिकित्सक थे[१५८]। इसमें सन्देह नहीं कि आयुर्वेद-विषयक प्रस्तुत पौराणिक उद्धरण में वैदिक परम्परा-निर्वाह का सन्निधान है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में कुशल चिकित्सक अश्विनीकुमारों का वर्णन मिलता है[१५९]। सिकन्दर के सहयात्री यूनानियों ने भारतीय चिकित्सकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है[१६०]। चिकित्सा-विषयक ज्ञान अन्य साक्ष्यों से भी समर्थित होता है। उदाहरणार्थ, कौटिल्य ने सेना में चिकित्सकों की नियुक्ति का आदेश दिया है[१६१]।

धनुर्वेद—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि दुर्योधन

---

१५३. इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः...कर्मदोषैर्न लिप्यते। मनुस्मृति, १।१०४

१५४. काशिराजगोत्रेऽवतीर्य त्वमष्टधा सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि। विष्णु पु०, ४।८।१०

१५५. अथ च त्वं पुनश्चैव आयुर्वेदं विधास्यसि। वायु पु०, ९२।१६
अथ वा त्वं पुनश्चैव ह्यायुर्वेदं। ब्रह्माण्ड पु०, ३।६७।१८

१५६. शांतनुस्त्वभवद्राजा विद्वान्स वै महाभिषक्। मत्स्य पु०, ५०।४२

१५७. गोवैद्यानश्ववैद्यांश्च गजवैद्यांस्तथैव च। वही, २१७।२५

१५८. ब्रह्मा चैवाश्विनीपुत्रो वैद्यविद्याविशारदौ। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२०।५२
तस्य कर्माश्विनौ दृष्ट्वा भिषजौ। मत्स्य पु०, १५०।२०१

१५९. अल्टेकर, वही, पृ० १८५

१६०. अल्टेकर, वही, पृ० १८५

१६१. अर्थशास्त्र, (शाम शास्त्री—सम्पादित), पृ० ४४५

ने मिथिला में जाकर बलभद्र से गदा-शिक्षा को प्राप्त किया था[१६२]। प्रसंगान्तर में विष्णु पुराण वर्णित करता है कि यादव-कुमारों को चाप-योग का ज्ञान घर पर नियुक्त आचार्यों द्वारा प्राप्त हुआ था[१६३]। प्रस्तुत पुराण के एक सन्दर्भानुकूल वर्णन द्वारा ऐसे शिक्षक की सामाजिक प्रतिष्ठा पर भी प्रकाश पड़ता है। शतधनु नामक राजा के विषय में वर्णित है कि उन्होंने एक ब्राह्मण का विशेष सत्कार इसलिए किया कि वह उनके चापाचार्य का मित्र था[१६४]। इसके अतिरिक्त आलोचित चारों पुराणों ने अनेक धनुर्वेद-ज्ञाताओं का सन्दर्भ दिया है, जिनमें सत्यधृति[१६५], परशुराम[१६६] तथा प्राचेतसों[१६७] के उदाहरण विशिष्ट हैं।

राजकुमारों के शिक्षा-विषय—उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त अन्य उद्धरणों से भी राजकुमारों के शस्त्र-ज्ञान पर प्रकाश डाला जा सकता है। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण में धनुर्वेद की शिक्षा आवश्यक विहित है[१६८]। विष्णु पुराण के अनुसार सान्दीपनि मुनि ने कृष्ण और बलराम को सभी शस्त्रों की शिक्षा दी थी[१६९]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवृत है कि और्व मुनि ने जातकर्मादि संस्कार सम्पन्नानन्तर सगर को अस्त्र-शिक्षा प्रदान किया था[१७०]। अन्य साक्ष्यों से भी राजकुमारों की शस्त्र-शिक्षा पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, कादम्बरी में राजकुमार चन्द्रापीड के आयुधविद्या में नैपुण्य का निरूपण मिलता है[१७१]।

---

१६२. यावच्च जनकराजगृहे बलभद्रोऽवतस्थे तावद्धार्त्तराष्ट्रो दुर्योधनस्तत्सकाशाद्गदाशिक्षामशिक्षयत्। विष्णु पु०, ४।१३।१०६
अथ दुर्योधनो राजा गत्वाऽथ मिथिलां प्रभुः।
गदाशिक्षां ततो दिव्यां बलभद्रादवाप्तवान्। वायु पु०, ९६।८३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।८४

१६३. कुमाराणां गृहाचार्याश्चापयोगेषु ये रताः। विष्णु पु०, ४।१५।४५

१६४. चापाचार्यस्य तस्यासौ सखा राज्ञो महात्मनः। वही, ३।१८।५७

१६५. विष्णु पु०, ४।१९।६४

१६६. मत्स्य पु०, ५०।९

१६७. वायु पु०, ९०।८८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६५।१२-१३

१६८. धनुर्वेदं च शिक्षयेत्। मत्स्य पु०, २२०।२

१६९. सर्वशास्त्राणि चैव हि। विष्णु पु०, ५।२१।१२

१७०. द्रष्टव्य, संस्कार-विषयक अध्याय, पृष्ठांक २२१-२२२

१७१. गतः सर्वास्वायुधविद्यासु परां प्रतिष्ठाम्। कादम्बरी, पूर्वभाग; पृ० १६०

अन्य विषय—विष्णु पुराण के अनुसार सान्दीपनि मुनि ने कृष्ण और बलराम को सभी शास्त्रों की शिक्षा दी थी। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के उपर्युक्त उदाहरण में और्व मुनि द्वारा सगर को वेद और शास्त्र अध्यापित होने का सन्दर्भ उपलब्ध है[१७२]। इसी प्रसंग में नीतिशास्त्र की चर्चा भी की जा सकती है। विष्णु पुराण के अनुसार प्रह्लाद को राजोचित शुक्रनीति की शिक्षा दी गई थी। ऐसा निरूपित है कि मित्र, शत्रु, मध्यस्थ, मन्त्री, अमात्य, गुप्तचर, पुरवासी एवं शंकित लोगों के साथ व्यवहार तथा दुर्ग और आटविकों को तोड़ने एवं परास्त करने की विधियों को विशेष रूप से बताया गया था[१७३]। मत्स्य पुराण में राजकुमारों को निम्नांकित विषयों के अध्यापनार्थ निर्देश मिलता है—धर्म, अर्थ, काम, धनुर्वेद, रथ और हाथी का प्रयोग तथा शिल्प। ऐसा निरूपित है कि यदि उपदेश का प्रभाव उस पर नहीं दिखाई पड़े तो उसे गुप्त स्थान में रखना चाहिए, जहाँ सुख का समुचित प्रबन्ध रहे। राजकुमारों की शिक्षा में विनयशीलता को महत्त्व देते हुए विवृत है कि अविनीत राजकुमारों से कुल का नाश हो जाता है[१७४]। राजोचित शिक्षा-विषयक उपर्युक्त विवरण अन्य साक्ष्यों से समर्थित किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक में राजा का परिचय वेद तथा हस्ति-युद्ध से दिखाया गया है[१७५]। कादम्बरी में राजकुमार चन्द्रापीड द्वारा सभी शास्त्र तथा कलाकलाप के अध्ययन का सन्दर्भ उपलब्ध है[१७६]। कौटिल्य ने निर्देशित किया है कि राजकुमार को विनीत बनाने के लिए सुरक्षित स्थान अथवा दुर्ग में रखना चाहिए[१७७]।

स्त्री-शिक्षा—इसके दो रूप थे—उच्च शिक्षा तथा व्यावहारिक शिक्षा। उच्च शिक्षा में धर्म और दर्शन का परिचिन्तन रखा जा सकता है। ऐसी शिक्षा के ग्रहणार्थ कन्याएँ ब्रह्मचर्यव्रत धारण करती थीं। व्यावहारिक शिक्षा में संगीत, कला, चित्रकला तथा गृह-विज्ञान की चर्चा की जा सकती है। उन्हें युद्ध-कला में भी

---

१७२. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, २५६

१७३. विष्णु पु०, १।२६।२६-३२

१७४. मत्स्य पु०, २२०।१-६

१७५. मृच्छकटिक, १।४; द्रष्टव्य, लेखक का निबंध, 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन'; हिन्दुस्तानी; १९६५; पृ०, २७५

१७६. शिक्षिताः सकलाः कलाः। कादम्बरी, पूर्वभाग, पृ० १५६

१७७. अर्थशास्त्र, (शाम शास्त्री—सम्पादित), १।२०,२१

कभी-कभी कुशल बनाया जाता था। एतद् बोधक पौराणिक उद्धरणों की समीक्षा अध्यायान्तर में की जायगी[१७८]।

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि शिक्षा-विषयक जो पौराणिक उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उनमें विद्यार्थी-जीवन का स्वरूपांकन, आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध, विद्यार्थी-जीवन की महत्ता तथा आचार्य की स्थिति के गौरव पर अधिक बल दिया गया है। यह भी व्यक्त होता है कि पुराणों के वर्णन स्मृतियों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भी उनकी सन्तोषजनक समता है। कहीं-कहीं उन पर वैदिक प्रभाव भी परिलक्षित होता है। कतिपय उद्धरण ऐसे भी हैं जिनमें पौराणिक विशिष्टता दिखाई देती है और जो प्राय: अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते। उदाहरणार्थ, वायु पुराण में वर्णित शिक्षा की समाप्ति के बाद विद्यार्थी द्वारा देशाटन अथवा ब्रह्माण्ड पुराण में उल्लिखित गुरु की परिभाषा तथा आचार्य के भेद। पूर्व पृष्ठ पर दिखाया जा चुका है कि ऐसे वर्णन, यद्यपि स्मृतियों में मिलते हैं, पर इस सम्बन्ध में पुराण का वर्णन अधिक विस्तृत तथा अपनी अलग विशिष्टता रखता है। अन्य उद्धरणों में कोई विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती, पर उनके आधार पर शिक्षा के स्वरूप का अनुमान लगाने में सहायता अवश्य मिलती है।

---

१७८. द्रष्टव्य, स्त्री-दशा विषयक अध्याय

स्त्री-दशा

नारी के प्रति सामान्य पौराणिक प्रवृत्ति—इसमें सन्देह नहीं कि आलोचित पौराणिक वाङ्मय के उद्धरण एवं उदाहरण नारी को सृष्टि तथा सामाजिक सन्तुलन का कारणभूत, आवश्यक अंग प्रतिपादित करते हैं। जिन सामान्य पौराणिक स्थलों से प्रस्तुत प्रकरण का स्पष्टीकरण होता है, उनका सन्दर्भ वक्ष्यमाण प्रकार का है। मत्स्य पुराण में विहित व्यवस्थानुसार सृष्टि का सञ्चालन स्त्री-विरहित स्थिति में सम्भव नहीं है[१]। विष्णु पुराण के स्थलों में आख्यात मारिषा नामक कन्या का सम्बन्ध विश्वस्रष्टा प्रचेताओं से दिखाकर उसे वंश-वर्द्धन में कारण-भूत अभिहित किया गया है[२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के प्रसंग में स्त्रीरूप-धारिणी वसुन्धरा वैन्य को निर्देशित करती है कि जन-जीवन के अस्तित्व में उसकी कारणभूत प्रतिष्ठा है[३]। यहाँ उल्लेखनीय है कि वस्तुतः एतद् बोधक भावना का अभ्युदय वैदिक काल में ही स्फुरित हो चुका था। अथर्ववेद के एक मन्त्र में वीर पुत्र पाने की प्रार्थना की गई है[४]। पुराणों के अतिरिक्त अन्य उत्तरकालीन साक्ष्यों से भी नारी के विषय में एतत्सम धारणा का ही स्पष्टीकरण होता है। उदाहरणार्थ, अभिज्ञान-शकुन्तलम् में पति के घर विदा होने वाली शकुन्तला को 'वीर-प्रसवा' होने का आशीर्वाद दिया गया है[५]। आलोचित पुराणों में उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त अनेकत्र उल्लेख इस प्रसंग के अनुकूल प्राप्त होते हैं। इनका विश्लेषण संस्कार-विषयक अध्याय में किया जा चुका है।

नारी की प्रतिष्ठा : जननी-रूप में—विष्णु पुराण में समस्त संसार के रक्षक को धारण करने वाली देवकी को देवी की उपाधि दी गई है, जिसमें जगत्

---

१. स्त्रिया विरहिता सृष्टिर्जन्तूनां नोपपद्यते। मत्स्य पु०, १५४।१५६

२. मारिषा नाम नाम्नैषा... भार्या वोऽस्तु वशंवर्द्धिनी। विष्णु पु०, १।१५।८

३. मदृते च विनश्येयुः प्रजाः पार्थिवसत्तम। वायु पु०, ६२।१५६; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१८२

४. आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते... । अथर्ववेद ३।२३।२

५. वीरप्रसविनी भव...... । अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ४

के भावी मंगल की आशाएँ सन्निहित थीं[६] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में कश्यप की पत्नियाँ सौभाग्यशालिनी उद्घोषित हैं, जिनमें सम्पूर्ण लोक का मातृत्व प्रतिष्ठित था[७] । मत्स्य पुराण में उमा को जगत्-जननी कहा गया है, जिनमें कार्त्तिकेय के रूप में संसार का सौभाग्य समाहित था[८] ।

माता तथा मातृवचन-गौरव—विष्णु पुराण में आख्यात है कि कृष्ण-द्वैपायन को उनकी माता ने विचित्रवीर्य की पत्नी और भुजिष्या के संयोग से सन्तानार्थ आदेश दिया । शास्त्र की दृष्टि के यह कार्य प्रशस्य नहीं था । पर माता की आज्ञा अनतिक्रमणीय है, यह ध्यान में रखते हुए उन्हें इस कार्य को करना पड़ा[९] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की पंक्तियों में मातृ-रक्षा धर्म-प्रेरित कर्त्तव्य निर्णीत किया गया है[१०] । मत्स्य पुराण के अनुसार गर्भधारण तथा परिपोषण करने से माता का स्थान श्रेष्ठ है । पतित होने पर भी उसका गौरव ह्रास को नहीं प्राप्त होता है । अतएव उसका परित्याग किसी भी दशा में उचित नहीं है[११] ।

स्त्री-अवध्यता—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन आता है कि जब कंस देवकी के वधार्थ उद्यत हुआ, उस समय वसुदेव ने स्त्री-अवध्यता पर उसका ध्यान आकर्षित किया था[१२] । पृथ्वी का वध करने के लिए उद्यत वैन्य

---

६. त्वं सर्वलोकरक्षार्थमवतीर्णा महीतले ।
प्रसीद देवि जगतश्शं शुभे कुरु ।
प्रीत्या तं धारयेशानं धृतं येनाखिलं जगत् । विष्णु पु०, ५।२।२०-११

७. यास्तु शेषास्तदा कन्याः प्रतिजग्राह कश्यपः ।
चतुर्दश महाभागाः सर्वास्ता लोकमातरः । वायु पु०, ६६।५४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।२।५५

८. त्वमस्य जगतो माता जगत्सौभाग्यदेवता । मत्स्य पु०, १३।१८

९. सत्यवतीनियोगाच्च मत्पुत्रः कृष्णद्वैपायनो मातुर्वचनमनतिक्रमणीयमिति कृत्वा विचित्रवीर्यक्षेत्रे धृतराष्ट्रपाण्डुतत्प्रहितभुजिष्यां विदुरं चोत्पादयामास । विष्णु पु०, ४।२०।३८

१०. मातरं रक्षतं चैव धर्मश्चैवानुशिष्यताम् । वायु पु०, ६६।१०७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।६७

११. पतिता गुरवस्त्याज्या न तु माता कथञ्चन ।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी । मत्स्य पु०, २२७।१५०

१२. न स्त्रियं क्षत्रियो जातु हन्तुमर्हति कश्चन । वायु पु०, ६६।२२५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।२३१

के विषय में यह आख्यात है कि गाय के रूप में पृथ्वी ने उन्हें रोकते हुए कहा कि स्त्री का वध करना अधर्म है[१३]। मत्स्य पुराण के एक प्रसंग में अग्नि-ज्वाल से त्रस्त त्रिपुरवासिनी स्त्रियाँ स्त्री-वध को पाप, निर्दयता एवं निर्लज्जता की कोटि में रखती हैं। वर्णन-क्रम में शत्रुपक्ष की स्त्रियों को भी अवध्य उद्घोषित किया गया है[१४]। चारों पुराणों में यह स्पष्टतः विहित मिलता है कि स्त्री-वध की अधिकता उस समय रहती है, जब कि सामाजिक व्यवस्था के ह्रास होने पर कलियुग का समारम्भ होता है[१५]।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि स्त्री की अवध्यता का प्रतिपादन वैदिक-काल ही में हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री साक्षात् लक्ष्मी है, जिसकी हत्या करना उचित नहीं है[१६]। यह परम्परा उत्तरकाल में भी सजीव थी। उदाहरणार्थ, विष्णु स्मृति एवं मनुस्मृति में स्त्री-हन्ता को राजदण्ड का भागी माना गया है[१७]। यही कारण है कि आलोचित पुराणों में जहाँ कहीं भी स्त्री-वध का उल्लेख आया है, इसके प्रति अश्रद्धा एवं गर्हणा व्यक्त की गई है। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड पुराण में आख्यात है कि परशुराम ने अपनी जननी का वध किया था। पर, इस कथा में केवल पितृभक्ति की पराकाष्ठा की व्यंजना सन्निहित है[१८]। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उस कुकृत्य का घोर विरोध हुआ था। जिस समय परशुराम तपस्या कर रहे थे, उन्हें भर्त्सना पूर्ण शब्दों में ऋषियों ने धिक्कारा था तथा उनके

---

१३. अवध्याश्च स्त्रियः प्राहुस्तिर्यग्योनिशतेष्वपि। वायु पु०, ६२।१५६; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१८५

१४. पाप निर्दय निर्लज्जकस्ते कोपः स्त्रियः प्रति।
न दाक्षिण्यं न ते लज्जा न सत्यं शौर्यवर्जित।
किं त्वया न श्रुतं लोके ह्यवध्याः शत्रुयोषितः। मत्स्य पु०, १-८।४६

१५. स्त्रीबालगोवधकर्त्तारः...... भविष्यन्ति। विष्णु पु०, ४।२४।७१
स्त्रीबधं गोवधं कृत्वा हत्वा चैव परस्परम्। वायु पु०, ५८।६७
स्त्रीबालगोवधं कृत्वा हत्वान्ये च परस्परम्। ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।६८
स्त्रीबालगोवधं कृत्वा हत्वा चैव परस्परम्। मत्स्य पु०, १४४।४३

१६. स्त्री वैषा यच्छ्रीर्न वै स्त्रियं घ्नन्ति। श० ब्रा०, ११।४।३-२

१७. गरदाग्निदप्रसह्यतस्करान्स्त्रीबालपुरुषघातिनश्च। विष्णु स्मृति, ५।११
स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां...... । मनुस्मृति, ९।२३०

१८. अल्टेकर, वही, पृ०, १२०

पातक कर्म को गुरु और ब्राह्मण की हत्या की कोटि में रखा था[१९]। एक अन्य उदाहरण भृगु-पत्नी का है, जिसका वध देवासुर-संग्राम में विष्णु ने किया था। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में निरूपित है कि इस पातक कर्म के फलस्वरूप उन्हें सात बार दैवी स्तर से च्युत होकर मानवीय स्तर पर आना पड़ा था[२०]।

कन्या के प्रति उदार विचार—विष्णु पुराण में मारिषा नामक कन्या को रत्न की कोटि में रखा गया है। ऐसा आख्यात है कि उसका संवर्द्धन राजा सोम ने स्वयं अपनी किरणों से किया था[२१]। ब्रह्मा की पुत्री शतरूपा के विषय में विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य चारों पुराणों में वर्णित है कि ब्रह्मा के शरीर का अर्द्धांश उसमें प्रतिष्ठत था[२२]।

कन्या : पितृवत्सला—मत्स्य पुराण में निर्देशित है कि शीलसम्पन्न कन्या दस पुत्रों के समान है[२३]। मद्रराज अश्वपति के विषय में आख्यात है कि सावित्री नामक कन्या, उनकी भक्ति से प्रसन्न देवी के वरदानोपरान्त उन्हें मिली थी[२४]। कन्या के प्रति पिता के स्नेह की पराकाष्ठा का वर्णन देवयानी के विषय में उपलब्ध है। देवयानी को वृषपर्वा की कन्या ने अपमानित किया था। देवयानी आचार्य शुक्र की दयिता कन्या थी। अतएव उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उनका क्रोध उस समय शान्त हुआ जब कि देवयानी के प्रसन्नार्थ वृषपर्वा ने अपनी कन्या को उसकी

---

१९. गुरुस्त्रीब्रह्महत्योत्थपातकक्षपणाय च।
तपश्चरसि नानेन तपसा तत्प्रणश्यति।
कृत्वा मातृवधं घोरं सर्वलोकविगर्हितम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२३।६६,६९

२०. यस्मात्ते जानता धर्मानवध्या स्त्री निषूदिता।
तस्मात्त्वं सप्तकृत्वो वै मानुषेषु प्रपत्स्यसि। वायु पु०, ९७।१४१

२१. रत्नभूता च कन्येयं वार्क्षेयी वरवर्णिनी।
भविष्यं जानता पूर्वं मया गोभिर्विवर्द्धिता। विष्णु पु०, १।१५।७

२२. ततो ब्रह्मात्मसंभूतं . शतरूपां च तां नारीं..। विष्णु पु०, १।७।१७
अर्धेन नारी सा शतरूपा व्यजायत। वायु पु०, १०।८
अर्धेन नारी सा तस्य शतरूपा व्यजायत। ब्रह्माण्ड पु०, २।९।३३
या सा देहार्धसम्भूता... शतरूपा... । मत्स्य पु०, ४।२४

२३. दशपुत्रसमा कन्या या न स्याच्छीलवर्जिता। मत्स्य पु०, १५४।१५७

२४. राजन्भक्तोऽसि मे नित्यं दास्यामि त्वां सुतां सदा।
तां दत्तां मत्प्रसादेन पुत्रीं प्राप्स्यसि शोभनाम्। वही, २०८।८

दासी बनाया[२५]। नृप मान्धाता के विषय में विष्णु पुराण वर्णित करता है कि शाप-भय से उन्होंने अपनी कन्याओं का विवाह वृद्ध सौभरि से किया था। उनका स्नेह कन्याओं के विवाहोपरान्त भी न मिट सका। उनका सुख-दुःख जानने के लिए वे सदा सोत्कण्ठ रहते थे। इस उत्कण्ठा का अवसान उस समय हुआ जब कि उन्होंने सौभरि के योगबल से एकत्र उपभोगों से परितुष्ट अपनी कन्यायों के सुख-बहुल राजोचित जीवन का साक्षात्कार किया[२६]। गृहस्थ-विषयक सदाचार के सन्दर्भ में प्रस्तुत पुराण का निर्देश है कि स्वयं भोजन करने के पूर्व गृही द्वारा स्वगृह-वासिनी विवाहित कन्याओं को संस्कृत अन्न का आहार कराया जाना अपेक्षित है[२७]। उक्त पौराणिक विधान एवं उदाहरणों का समर्थन पुराणेतर ग्रन्थों के स्थलों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कन्या के स्नेह से आर्द्र पितृ-हृदय की मार्मिक पीड़ा का स्वरूपांकन शकुन्तला की विदाई के अवसर पर किया गया है[२८]। इसी ग्रन्थ से यह भी विदित होता है कि पुत्री के भावी अमंगल के निवारणार्थ पिता सदा सयत्न रहता था[२९]। प्रस्तुत प्रसंग में विष्णु पुराण का एक स्थल अलोचित किया जा सकता है, जिससे कन्याओं के विचार-स्वातंत्र्य का पता चलता है। ऐसा निरूपित है कि पति-वरणार्थ नृप मान्धाता ने अपनी कन्याओं को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी, जिसमें किसी प्रकार का विघ्न न पहुँचाने के लिए वे वचन-बद्ध थे[३०]।

पैतृक सम्पत्ति और पुत्री का अधिकार—अलोचित पुराणों में विष्णु पुराण ने एक स्थल पर कन्या के विषय में पैतृक धन पर प्रकाश डाला है। स्थमंतक मणि के विषय में बताया गया है कि यह मणि सत्रजित् को सूर्य से मिली थी[३१]।

---

२५. मत्स्य पु०, २६।१-१८

२६. विष्णु पु०, ४।२।१०१-१११

२७. ततः स्ववासिनीदुःखि... भोजयेत्संस्कृतान्नेन प्रथमं चरमं गृही। वही, ३।११।६६

२८. स्नेहादरण्यौकसः ... पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु कन्याविश्लेषदुःखैर्नवैः। शाकुन्तलम्, ४।८

२९. दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। वही, अंक १

२९. तत्कन्यायाश्छन्दे नाहं परिपन्थानं करिष्यामि ...। विष्णु पु०' ४।२।९१

३०. विष्णु पु०, ४।१३।१४

३१. वही, ४।१३।१३१-१४०

सत्रजित् की मृत्यु के उपरान्त वह मणि कलह का कारण सिद्ध हुई[३२]। किन्तु जब मणि के अधिकारी का निर्णय किया गया तो उस पर सत्रजित् की पुत्री सत्यभामा का अधिकार दिखाया गया। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि पुराण में कहीं भी सत्यभामा के किसी भ्राता का उल्लेख नहीं है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में पुत्री का पैतृक धन पर इस प्रकार का अधिकार कम स्थलों पर स्वीकृत है[३३]। याज्ञवल्क्य का कथन है कि पुत्रहीन मनुष्य के मरने पर उसके धन के अधिकारी पत्नी, कन्या, पिता, माता आदि होते हैं। ऐसे धन पर आनुक्रमिक प्राथमिकता आज्ञप्त की गई है अर्थात् पत्नी के बाद उस पर कन्या का अधिकार होता है[३४]। वस्तुतः ऐसी परम्परा वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में उषा की उपमा उस नारी से दी गई है, जो भ्राता के अभाव में पिता के धन को प्राप्त करती है[३५]। ऐसे उद्धरण भी प्राप्त होते हैं, जिनसे कन्या की दयनीय दशा व्यक्त होती है। मत्स्य पुराण के अनुसार कन्या की अवस्था शोचनीय होती है। वह अपने पिता के दुःख को बढ़ाती है। निर्धन पिता को दुःख देना तो उसके लिए स्वाभाविक बात है। धनवान् पिता भी कन्या के कारण चिन्ता-मुक्त नहीं रहते। वर्णन-क्रम में यह भी विवृत है कि शास्त्रों में पुत्र का ही जन्म प्रशस्य विहित है, पुत्र ही पिता को नरक से बचाता है[३६]। प्रस्तुत प्रसंग में विष्णु पुराण के भी दो उद्धरणों को प्रस्तावित किया जा सकता है, जिनसे विदित होता है कि कन्या को सामान्य धन के समान समय-समय पर सम्माननीय अभ्यागतों को समर्पित किया जाता था। जाम्बवान् के

---

३२. ममैवायं पितृधनमित्यतीव च सत्यभामापि स्पृहयांचकार। ...पितृधनं चैतत्सत्यभामाया नान्यस्यैतद्। विष्णु पु०, ४।१३।१५१-१५४

३३. अल्टेकर, वही, पृ०, २३७-२३६ (संशोधित-संस्करण)

३४. पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्था।
......एषामभावे पूर्वस्य धनभागमुत्तरोत्तरः।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः। याज्ञवल्क्य स्मृति, २।१३६-१४०

३५. ऋग्वेद १।१२४।७

३६. कन्या हि कृपणा शोच्या पितुर्दुःखविवर्द्धिनी।
याऽपि स्यात्पूर्णसर्वार्द्ध्या पतिपुत्रधनादिभिः।
किं पुनर्दुर्भगा हीना... । मत्स्य पु०, १५४।१५८-१५६
अतः कर्त्ता तु शास्त्रेषु सुतलाभः प्रशंसितः। वही, १५४।१५५

विषय में वर्णित है कि उसने अपनी कन्या को अर्घ्य के रूप में श्रीकृष्ण को समर्पित किया था। इसी प्रकार गान्दिनी को उसके पिता ने श्वफल्क को दिया था[३७]। इसी सम्बन्ध में उन उद्धरणों का उल्लेख भी किया जा सकता है, जिनसे पिता के धन पर कन्या का अनधिकार व्यक्त होता है। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में स्पष्टतः वर्णित है कि इक्ष्वाकु के अन्य सभी पुत्रों को राज्य का उत्तराधिकार मिला, पर कन्या होने के कारण सुद्युम्न (ब्रह्माण्ड पुराण में प्रद्युम्न शब्द मिलता है) को इस अधिकार से वंचित किया गया था[३८]। पुराणों के अतिरिक्त ऐसी धारणा अन्यत्र भी व्यक्त हुई है। जैसा कि पूर्वगामी अनुच्छेद में दिखया जा चुका है, पुत्राभाव में ही पिता के धन पर पुत्री का स्वत्व सम्भव था। सम्माननीय व्यक्ति को उपहारार्थ कन्या का प्रदान किया जाना तो जैसे प्रचलन-सा था। प्रयाग-प्रशस्ति से विदित होता है कि विजित नरेश अपनी कन्याओं को समुद्रगुप्त को उपायन के रूप में समर्पणार्थ उत्सुक रहा करते थे[३९]।

स्त्री-शिक्षा—अलोचित पुराणों में वर्णित स्त्री-शिक्षा का वर्गीकरण दो वर्गों में किया जा सकता है—(१) आध्यात्मिक और (२) व्यावहारिक। आध्यात्म-विद्या से परिचित कन्याओं का उल्लेख अनेकत्र किया गया है। इनमें कतिपय का विवरण निम्नांकित हैं।

बृहस्पति-भगिनी—ब्रह्माण्ड पुराण में इसे ब्रह्मवादिनी कहा गया है। इसने योग में सिद्धि प्राप्त की थी तथा आसक्ति-रहित भाव से समस्त पृथ्वी का पर्यटन किया था। यही वर्णन वायु पुराण में भी उपलब्ध है[४०]। बृहस्पति की

३७. जाम्बवती नाम कन्यां...... अर्घ्यभूतां ग्राहयामास। विष्णु पु०, ४।१३।५५
गांदिनी कन्यां...... अर्घ्यभूतां प्रादात्। वही, ४।१३।१२५

३८. सुद्युम्नस्तु... स्त्रीपूर्वकाद्राज्यलाभं न लेभे। विष्णु पु०, ४।१।१५
कन्याभावात्तु प्रद्युम्नो नैनं भागमवाप्नुयात्। वायु पु०, ८५।२१; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६०।२१

३९. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ०, २५८

४०. बृहस्पतेस्तु भगिनी भुवना ब्रह्मवादिती।
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमश (स) क्ता चरति स्मह। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२।२८
बृहस्पतेस्तु भगिनी भुवना ब्रह्मवादिनी
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमसक्ता विचरत्युत। वायु पु०, ६६।२७
(पाठान्तर के अनुसार)

भगिनी की भाँति दक्ष की कन्याओं को भी दोनों पुराणों में ब्रह्मावादिनी शब्द से अभिहित किया गया है[४१]।

अपर्णा, एकपर्णा और एकपाटला—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इन तीनों कन्याओं के विषय में वर्णित है कि ये ब्रह्मवादिनी एवं ब्रह्मचारिणी थीं। ऐसा निरूपित है कि जब तक सृष्टि-स्थिति रहेगी, इनकी तपस्या का प्रसंग भी प्रतिष्ठित रहेगा[४२]।

मेना और धारिणी—विष्णु पुराण में वर्णित है कि ये दोनों कन्याएँ ब्रह्मवादिनी, योगिनी तथा उत्तम ज्ञान से सम्पन्न थी[४३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी इन दोनों कन्याओं को ब्रह्मवादिनी और योगिनी की संज्ञा दी गई है[४४]।

संनति—मत्स्य पुराण के अनुसार पिता के कार्य में नियुक्त रहने के कारण यह कन्या ब्रह्मवादिनी हुई थी[४५]।

शतरूपा—मत्स्य पुराण में इसे ब्रह्मवादिनी नाम प्रदत्त है[४६]।

जिन बालिकाओं के विषय में तपश्चर्या का उल्लेख मिलता है, उनका विवरण वक्ष्यमाण है।

उमा—उमा की तपस्या का वर्णन मत्स्य पुराण में मिलता है। ऐसा आख्यात है कि पिता द्वारा रोके जाने पर भी वह इस कार्य से विरत नहीं हुई। उसने तपस्या के उस स्थान का चयन किया, जो देवों के लिए भी दुर्लभ था। वल्कल उसका वस्त्र था तथा कुश उसकी मेखला। उसकी तपस्या उस समय पराकाष्ठा पर पहुँची, जब कि उसने शीर्ण द्रुम-दल के आहार से अपनी प्राण-यात्रा का निर्वाह किया[४७]। उमा की तपस्या का उल्लेख प्रसंगतः वायु पुराण में भी हुआ है[४८]।

पीवरी—मत्स्य पुराण के अनुसार पीवरी पितरों की योग-साधना से सम्पन्न

---

४१. वायु पु०, ६५।११८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१।१२४

४२. वायु पु०, ७२।१३-१५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१०।१५-१६

४३. विष्णु पु०, ३।१०।१६

४४. वायु पु०, ३०।२८-२६; ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।३०

४५. पितृकार्ये नियुक्तत्वादभवद् ब्रह्मवादिनी। मत्स्य पु०, २०।२७

४६. या सा देहार्द्धसम्भूता गायत्री ब्रह्मवादिनी।
शतरूपा शतेन्द्रिया। मत्स्य पु०, ४।२४

४७. मत्स्य पु०, १५४।२६०।२६४-३०१-३०८-३०६

४८. तपस्तसवती चैव यत्र देवी वराङ्गना। वायु पु०, ४१।३१

मानसी कन्या थी। ऐसा विवृत है कि सुयोग्य पति पाने के लिए उसने दारुण तपस्या की थी[४९]।

धर्मव्रता--वायु पुराण के अनुसार इस कन्या ने पिता के आदेश से अनुरूप वर पाने के लिए दुष्कर तपस्या का आचरण किया था[५०]।

उपर्युक्त पौराणिक उद्धरणों से कन्याओं के अध्यात्म-विद्या से परिचय एवं योग और तपस्या के परिचायक साधना का पता चलता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके विकासार्थ अवसर उन कन्याओं को नहीं मिलता होगा, जो अल्पायु में ही परिणीत होती होंगी। तथापि यह अनुमान नितान्त संगत है कि सभ्य और सुसंस्कृत परिवार की बालिकाएँ विशेषतः ऋषिकन्या और आचार्यकन्या अधिक समय तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती थीं। बाल्यकाल और प्रदान-काल के अन्तर्वर्ती अवधि में ब्रह्मचर्यव्रत अर्थात् ब्रह्म-विद्या के विकास के अनुपालन द्वारा वे अपने जीवन की पूर्वपीठिका को सुयोग्य बनाती थीं[५१]। अथर्ववेद से विदित होता है कि ब्रह्मचर्य के अभ्यास से कन्या युवा पति पाने में सफल होती थी[५२]। इसका प्रभाव कालान्तर में भी था। कुमार सम्भव से विदित होता है कि पार्वती ने अभीष्ट पति पाने के लिए कठिन तपस्या का आचरण किया था[५३]। तपस्या के अतिरिक्त बालिकाएँ वेदाध्ययन भी करती थी। यह कार्य उनके घर पर ही सम्पन्न होता था। ऐसी कन्या को ब्रह्मवादिनी की संज्ञा प्रदत्त थी[५४]।

व्यावहारिक शिक्षा : नृत्य-संगीत—मत्स्य पुराण में विशोकद्वादशी नामक व्रत के विषय में निर्देशित है कि इस अवसर पर नारी को नृत्य और गीत में तत्पर

---

४९. एतेषां पीवरी कन्या मानसी दिवि विश्रुता।
योगिनी योगमाता च तपश्चक्रे सुदारुणम्। मत्स्य पु०, १५।५-६

५०. तपः कुरु वरार्थं त्वं तथेत्युक्त्वा वनं ययौ।
कन्या सा च तपस्तेपे सर्वेषां दुष्करं च यत्। वायु पु०, १०७।५-६

५१. अल्टेकर, वही, पृ० ११

५२. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अ० वे०, ११।५।१८

५३. तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनम्। कुमार सम्भव, ५।६४

५४. तत्र ब्रह्मवादिनी नामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या। वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश में उद्धृत...हारीत, पृ० ४०२; द्रष्टव्य, अल्टेकर, वही, पृ० १४।२००

रहना चाहिए[५५]। त्रिपुरस्त्रियों के विषय में यह पुराण वर्णित करता है कि वे हाव-भाव द्वारा वहाँ के निवासियों को अह्लादित करती थीं[५६]। कामधेनु के प्रभाव से निर्मित जमदग्नि की पुरी के विषय में ब्रह्माण्ड पुराण में स्त्रियों की कला का अत्यन्त कमनीय चित्र अंकित किया गया है। ऐसा कहा गया कि वहाँ की प्रमदाएँ अपने हाव-भाव से प्रेमियों के धैर्यबन्ध को स्खलित करती थीं। उनका संगीत स्वर-तन्त्री के निनाद को भी हतप्रभ करता था। उनके वचन गन्धर्वों की वाणी की याद दिलाते थे तथा उनके हाथ वीणा के प्रयोग में अत्यन्त कुशल थे[५७]। विष्णु और मत्स्य पुराणों में अप्सराओं की नृत्यकला को सूर्य-मण्डल की शोभा-विस्तार का कारण माना गया है[५८]।

चित्रकला—स्त्रियों की चित्रकला-विषयक पटुता का परिचय विष्णु पुराण के एक उदाहरण से व्यक्त होता है। इसके वर्णनानुसार बाणासुर के मंत्री कुष्माण्ड-कन्या की सखी चित्रलेखा ने अभिज्ञानार्थ चित्रपट पर प्रमुख देव, दानव, गन्धर्व और मनुष्यों का चित्र बनाया था। इस चित्रावली में अनिरुद्ध का चित्र भी निर्मित था, जिसके माध्यम से बाणासुर-कन्या का प्रणय परिणय में परिवर्तित हुआ[५९]।

युद्ध-कला—स्त्रियों के युद्ध-कला विषयक ज्ञान-गरिमा का प्रमाण भी विष्णु पुराण की पंक्तियों में प्राप्त होता है। ऐसा आख्यात है कि श्रीकृष्ण ने स्वजन-सुरक्षार्थ द्वारका में जिस दुर्ग की रचना सम्पन्न किया था, उसमें पुरुष-सैनिक तो युद्ध कर ही सकते थे, इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ भी इसमें योद्धा के रूप में नियुक्त थीं[६०]।

---

५५. नारी वा कुरुते या तु विशोकद्वादशीव्रतम्।
नृत्यगीतपरा नित्यं सापि तत्फलमाप्नुयात्। मत्स्य पु०, ८२।२६

५६. प्रियाभिः प्रियकामाभिर्हावभावप्रसूतिभिः।
नारीभिः सततं रेमुर्मुदिताश्चैव दानवाः। वही, १३१।९

५७. भावेषु पार्थिवनिजप्रियधैर्यबन्धसर्वापहारचतुरेषु कृतान्तराभिः।
तन्त्रीस्वनोपमितमंजुलसौम्यगेयगन्धर्वतारमधुरारवभाषणीभिः।
वीणाप्रवीणतरपाणितलांगुलीभिः...। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।७-८

५८. नृत्यन्त्यप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः। विष्णु पु०, २।१०।२०
गन्धर्वैश्चाप्सरश्चैव गीतनृत्यैरुपासते। मत्स्य पु०, १२६।२६

५९. ततः पटे सुरान्दैत्यान्गन्धर्वांश्च प्रधानतः।
मनुष्यांश्च विलिख्यास्यै चित्रलेखा व्यदर्शयत्। विष्णु पु०, ५।३२।२२

६०. तस्माद्दुर्गं करिष्यामि यदूनामरिदुर्जयम्।
स्त्रियोऽपि यत्र युध्येयुः किं पुनर्वृष्णिपुङ्गवाः। वही, ५।२३।११

इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन अन्य साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। हर्षचरित में राज्यश्री को नृत्य, गीतादि कलाओं में निपुण बताया गया है[६१]। रत्नावली में वर्णित कौशांबी की पुरललनाओं का नृत्य इतना मनोज्ञ एवं आकर्षक था कि पुरुष भी नर्तनार्थ लोलुप हो उठते थे[६२]। वात्सायन ने संगीत[६३], नृत्य और चित्र-कलाओं[६४] का ज्ञान नारी के लिए वांछनीय मान है। रत्नावली में वर्णित सागरिका चित्रफलक पर अपने प्रिय को चित्रित कर मन्मथ-विकार को सान्त्वना देती है[६५]। मेगस्थनीज़ ने अपने यात्रा-विवरण में स्त्री-अंगरक्षकों का उल्लेख किया है[६६]। कौटिल्य ने भी स्त्री-अंगरक्षकों की नियुक्ति-योजना को वाञ्छनीय माना है[६७]।

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों से स्त्री-शिक्षा का पता चलता है, तथापि ऐसे उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जहाँ स्त्री-शिक्षा के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है। मत्स्य पुराण में विहित है कि ब्रह्मा ने शास्त्र-अध्ययन का अधिकार स्त्रियों के लिए आज्ञप्त नहीं किया है। अतएव उनके वचन में स्वाभाविक दीनता रहती है[६८]। नागराज की पत्नियाँ विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण से कहती हैं कि स्त्री होने के कारण वे सर्वव्यापक परमेश्वर का रूप वर्णन करने में असमर्थ थीं[६९]। अन्यत्र आदेशित है कि स्त्री को

---

६१. अथ राज्यश्रीरपि नृत्यगीतादिषु विदग्धासु, सुखीषु सकलासु कलासु उपचीयमानपरिचया। हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास ७ (श्रीशंकर-कविरचित टीका सहित), पृ० १४०

६२. विदूषक—भो वयस्य, अहमप्येतेषां वधूपरिजनानां मध्ये नृत्यन् मदन-महोत्सवं मानयिष्यामि। रत्नावली, प्रथम अंक

६३. कामसूत्र, १।३।१६

६४. वही, १।३।१

६५. तद्यथातथाऽऽलिख्यैनं प्रेक्षिष्ये। रत्नावली, द्वितीय अंक

६६. हेमचन्द्र रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एंशेण्ट इण्डिया, पृ० २७६

६७. वही, पृ० २७७

६८. स्त्रीजातिस्तु प्रकृत्यैव कृपणा दैन्यभाषिणी।
शास्त्रालोचनसामर्थ्यमुज्झितं तासु वेधसा। मत्स्य पु०, १५४।१५६

६९. स्वरूपवर्णनं तस्य कथं योषित्करिष्यति। विष्णु पु०, ५।७।४६

विश्वदेव की पूजा बिना मन्त्रोच्चारण करना चाहिए[७०]। मनुस्मृति का भी मत है कि पत्नी को बिना मन्त्र के बलि-आहरण करना चाहिए[७१]।

भार्या का स्थान : गृहधर्मिणी—विष्णु पुराण में पत्नी को सधर्मचारिणी की संज्ञा प्रदत्त है, जिसके साथ गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करने से महान् फल की प्राप्ति होती है[७२]। ब्रह्माण्ड पुराण में मातंग की पत्नी को सधर्मिणी की उपाधि दी गई है[७३]। मत्स्य पुराण में एक स्थान पर दारा का सम्बन्ध ऋषियों द्वारा प्रतिपादित श्रुतिसम्मत धर्म माना गया है[७४]।

याज्ञिक अनुष्ठान एवं भार्या-सहयोग—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पृथ्वी का उद्धार करने वाले वराह की क्रिया को यज्ञ का रूपक माना गया है। वर्णन-क्रम में निरूपित है कि उस समय उनकी पत्नी छाया (ब्रह्माण्ड पुराण में माया) भी उसके साथ विद्यमान् थीं[७५]। नैमिषारण्य के विषय में वर्णित है कि इस विशिष्ट क्षेत्र में सम्पादित यज्ञ में स्वयं तप यजमान बने थे और इला (ब्रह्माण्ड पुराण में इडा) ने पत्नी के रूप में साथ दिया था[७६]। वायु पुराण में विवेचित है कि पुष्कर क्षेत्र में सम्पन्न कश्यप के अश्वमेध में दिति पत्नी के रूप में उनके समीप बैठी थीं[७७]। ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि नृप सगर ने सपत्नीक यज्ञीय स्नान सम्पन्न किया था[७८]। मत्स्य पुराण में यज्ञीय मण्डप में सपत्नीक प्रवेश करना मंगलदायक माना गया है[७९]।

---

७०. वैश्वदेवनिमित्तं वै पत्न्यमंत्रं बलिं हरेत्। विष्णु पु०, ३।११।१०३

७१. पत्न्यमंत्रं बलिं हरेत्। मनुस्मृति, ३।१२१

७२. सधर्मचारिणीं प्राप्य गार्हस्थ्यं सहितस्तया...महाफलम्। विष्णु पु०, ३।१०।२६

७३. तत्स्वप्नस्य प्रभावेण मातंगस्य सधर्मिणी। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३१।१०३

७४. दाराग्निहोत्रसम्बन्ध...श्रौतं धर्मं सप्तर्षयोऽब्रुवन्। मत्स्य पु०, १४२।४१

७५. छायापत्नीसहायो वै मणिश्रृंग इवोच्छ्रितः।
भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः स प्राविशत्प्रभुः। वायु पु०, ६।२२-२३
मायापत्नीसहायो वै गिरिश्रृंगमिवोच्छ्रयः। ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१६

७६. तपो गृहपतिर्यत्र...इलाया यत्र पत्नीत्वं...। वायु पु०, २।६
तपो गृहपतेर्यत्र...इडाया यत्र पत्नीत्वं...। ब्रह्माण्ड पु०, १।१।६

७७. अन्तर्वत्नी दितिश्चैव पत्नीत्वं समुपागता। वायु पु०, ६७।५७

७८. चकरावभृथस्नानं मुदितः सह बन्धुभिः।
एवं स्नात्वा सपत्नीकः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।५५।१२

७९. यजमानः सपत्नीकः...प्रविशेद्यागमण्डपम्। मत्स्य पु०, ५८।२१

यज्ञेतर धार्मिक अनुष्ठान एवं पत्नी—ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश सपत्नीक देवी की उपासना करते हैं[८०]। मत्स्य पुराण में आख्यात है कि जब बज्रांग नामक असुर निराहार जल में कठोर तपस्या कर रहा था, उस समय प्रीतिवश उसकी महाव्रता पत्नी भी उसी जलाशय के किनारे मौनव्रत में स्थित थी[८१]। वायु पुराण के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर अग्नि का आवाहन सपत्नीक करना चाहिए[८२]।

राजत्व और ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा में पत्नी का सहवास—ब्रह्माण्ड पुराण में श्रुति को प्रमाण मानते हुए निरूपित है कि ऐसे महापुरुष का राज्याभिषेक करना चाहिए, जो सपत्नीक हो[८३]। मत्स्य पुराण में दान के सभी अवसरों पर दानाधिकारी सपत्नीक ब्राह्मण का होना वांछनीय विहित है[८४]।

धार्मिक क्रियाओं के पत्नी-सहित सम्पादन की परम्परा वैदिक काल में ही प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ऋग्वेद के एक सूक्त में पत्नीयुक्त होकर अग्नि की आराधना करने का वर्णन उपलब्ध है[८५]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पति-पत्नी का संयोग सत्कर्म-पूर्ति का कारण विहित है, जिसके कारण वे यज्ञ की धुरी में युक्त होते हैं[८६]। यह परम्परा कालान्तर में भी गतिशील थी। मनुस्मृति के अनुसार स्त्री का यज्ञ, पति के साथ सफल होता है[८७]। पत्नी शब्द की पाणिनीय व्युत्पत्ति के अनुसार स्त्री को तभी पत्नी कहा जाता है, जब वह पति के साथ यज्ञ-संयुक्त होती है[८८]।

---

८०. एनामेवार्चयन्त्यन्ये सर्वे श्रीदेवतां नृप।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्याः सस्त्रीकाः सर्वदा सदा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।४०।६३-६७

८१. जलांतरं प्रविष्टस्य तस्य पत्नी महाव्रता।
तस्यैव तीरे सरसस्तत्प्रीत्या मौनमास्थिता। मत्स्य पु०, १४६।६१-६२

८२. पत्नीमादाय...... जुहूयाद्धव्यवाहनम्। वायु पु०, ७५।७०

८३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २२२

८४. मत्स्य पु०, १८।१३; ५४।२४; ६६।१३; ५७।२२

८५. ऋग्वेद, १।७२।५

८६. सपत्नीपत्या...यज्ञस्य युक्तो धुर्यविभूताम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३।७।५

८७. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो। मनुस्मृति, ५।१५५

८८. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। अष्टाध्यायी, ४।१।३३

गृहिणी : पत्नी—विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि जब ऋभु निदाघ के घर उसकी परीक्षार्थ आए थे, उस समय उसने उन्हें स्वादिष्ट अन्न से सन्तुष्ट करने के लिए अपनी गृहस्वामिनी से परामर्श लिया था[८९]। अन्यत्र वर्णित है कि कुटुम्बिनी यशोदा एक ओर कृष्ण के चंचल कार्यकलाप को रोकती थीं तथा दूसरी ओर गार्हस्थ्योचित कार्यों को भी चलाती थीं[९०]। कीट-दम्पति की कथा-प्रसंग में विवृत है कि कीट की पत्नी उसी समय भोजन करती थी, जब वह अपना भोजन समाप्त करता था। उसकी स्नान-क्रिया उसी समय सम्पन्न होती थी, जब कीट नहा लेता था[९१]।

इस प्रकार आदर्श गृहिणी के रूप में स्त्री का कर्त्तव्य गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाना था, जिसका प्रतिष्ठापन वैदिक युग ही में हो चुका था। अथर्ववेद में स्त्री गृह-सम्राज्ञी उद्घोषित है[९२]। कालान्तर के साक्ष्यों में गृहिणी-मर्यादा का स्पष्टीकरण अनेक स्थलों पर किया गया है। प्रतिमा नाटक में शोकसंविग्न होकर राम स्वदुःख-अपनोदनार्थ मैथिली को कुटुम्बिनी शब्द से अलंकृत करते हैं[९३]। दशकुमारचरित के श्रेष्ठी-पुत्र शक्तिकुमार ने अपने समस्त कौटुम्बिक भार को अपनी गृहिणी के अधीन किया था[९४]। संगीत के अभ्यास से परिश्रान्त मृच्छकटिक का सूत्रधार क्षुधा को दूर करने के अभिप्राय से अपनी कुटुम्बिनी से परामर्श लेता है[९५]। एरण के अभिलेख में गार्हस्थ्योचित ऐश्वर्य के मध्य संक्रमण करने

---

८९. हे हे शालिनि मद्गेहे यत्किंचिदतिशोभनम्।
भक्ष्योपसाधनं मृष्टं तेनस्यान्नं प्रसाधय। विष्णु पु०, २।१५।१४

९०. यदि शक्नोषि गच्छ त्वमतिचंचलचेष्टित।
इत्युक्त्वाथ निजं कर्म सा चकार कुटुम्बिनी। वही, ५।६।१५

९१. भोक्ष्यसे मयि भुक्ते त्वं स्नासि स्नाते मयि तथा। मत्स्य पु०, २०।३२

९२. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं साम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च। अथर्ववेद, १४।१।४३;
द्रष्टव्य, अल्टेकर, वही, पृ० १११

९३. शोकविनोदार्थमवस्थाकुटुम्बिनीं मैथिलीं...। प्रतिमा नाटक, अंक ५

९४. सर्वमेव कुटुम्बं तदायत्तं कृत्वा...। दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास

९५. चिरसंगीतोपासनेन...क्षुधा...खटखटायते...भवतु कुटुम्बिनीं शब्दाप्य...।
द्रष्टव्य, लेखक का निबंध 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन,' वही, पृ० २७१

वाली दत्ता (दत्तदेवी) को कुलवधू और व्रतिनी जैसे विशेषणार्थक शब्दों से विभूषित किया गया है[९६]।

पति-परायणता—विष्णु पुराण में स्त्री का परम् कर्त्तव्य पति-सेवा निर्णीत है[९७]। मत्स्य पुराण के अनुसार पत्नी का भाग्य पति है। उसका जीवन और धन पति में प्रतिष्ठित है। अनेक पुण्यों के उपरान्त वह पति प्राप्त करने में सफल होती है[९८]। प्रजापति अत्रि के वंश-प्रसंग में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में उनकी पत्नियों के पातिव्रत-धर्म के प्रति ध्यान आकर्षित किया गया है[९९]। मान्धाता नृप की पत्नी बिन्दुमती के विषय में वर्णन आता है कि रूपवती और पति-परायणा होने के कारण वह संसार में अद्वितीय थी[१००]। सावित्री के आख्यान-क्रम में मत्स्य पुराण निरूपित करता है कि यमराज द्वारा अनेक प्रलोभनों के दिखाए जाने पर भी उस सती ने अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को लेना अस्वीकार किया। उसके लिए तो पति ही देवता था, जिसमें वह रमी हुई थी। पति ही उसके प्राण और धन का स्वामी था। उसका साधु-मार्ग पति का अनुगमन करना था[१०१]। सावित्री के दृढ पति-भाव को स्पष्ट करते हुए वर्णित है कि पतिव्रता स्त्रियों के

---

९६. का० ई० इं०, भाग ३, पृ० २०

९७. भर्त्तृशुश्रूषणं यथा स्त्रीणां परो मतः। विष्णु पु०, १३।२४

९८. स्त्रीणां हि परमं जन्म...।
...सुखायोक्तं सत्पतिप्राप्तिसंज्ञितम्।
न प्राप्यते बिना पुण्यैः पतिर्नार्या कदाचन।
धनं जीवितपर्याप्तं पत्यौ नार्याः प्रतिष्ठितम्।
दैवतं परमं नार्याः पतिरुक्तः सदैव हि। मत्स्य पु०, १५४।१६६

९९. तस्य पत्नयश्च सुन्दर्यो दशैवासन्प्रतिव्रताः। वायु पु०, ७०।६७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।७४

१००. साध्वी बिन्दुमती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि।
पतिव्रता च...... । वायु पु०, ८८।७१-७२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।७१

१०१. पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्।
अनुगम्यः स्त्रिया साध्व्या पतिः प्राणधनेश्वरः। मत्स्य पु०, २१०।१६

प्रतिकूल चलने में यमराज भी समर्थ नहीं हैं[१०२]। पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा करते हुए बताया गया है कि साध्वी स्त्रियों को देवताओं के समान पूजनीय समझना चाहिए। उन्हीं की कृपा से जगत् की स्थिति सम्भव है। उनका वचन मिथ्या नहीं जाता[१०३]। ब्रह्माण्ड पुराण में द्विजवर्मा की पत्नी की पति-परायणता पर प्रकाश डालते हुए वर्णित है कि अपने पति की कुशलता के लिए वह जप करती थी[१०४]।

इस प्रकार पत्नीत्व की मर्यादा पति-परिचर्या में केन्द्रित थी। इसका सूत्रपात वैदिक काल ही में हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सुकन्या नामक कन्या अपने वृद्ध पति च्यवन ऋषि की आजीवन अनुवर्तिनी होने के लिए वचनबद्ध हुई थी[१०५]। इसका स्पष्टीकरण उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी हुआ है। उदाहरणार्थ, रामायण में पति को नारी का एकमात्र गति बताया गया है[१०६]। समानार्थक निर्देश का प्रतिपादन महाभारत में भी हुआ है[१०७]। शाकुन्तल के अनुसार पति के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी पत्नी को पति के प्रतिकूल नहीं चलना चाहिए[१०८]। रत्नावली में वत्सराज की पत्नी, पति की पूजा भगवान् प्रद्युम्न के साथ करती हुई प्रदर्शित की गई है[१०९]। भानुगुप्त के एरण के अभिलेख में पति के प्रति भक्ति रखने वाली गोपराज की पत्नी का उल्लेख हुआ है[११०]।

---

१०२. वैलोम्यं धर्मराजोऽपि नाऽऽचरत्यथ योषिताम्।
पतिव्रतानां धर्मज्ञ पूज्यास्तस्यापि ताः सदा। मत्स्य पु०, २०८।३

१०३. तस्मात्साध्व्यः स्त्रियः पूज्याः सततं देववन्नरैः।
तासां राजन् प्रसादेन धार्यते वै जगत्त्रयम्।
तासां वाक्यं भवतीह मिथ्या न जातु लोकेषु चराचरेषु। वही, २१५।२१-२२

१०४. भर्त्तुः प्रियार्थे संकल्प्य जजाप परमं जपम्। ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।५२

१०५. सा होवाच यस्मै यां पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति। श० ब्रा०, ४।१।५-६

१०६. इह प्रेत्य हि नारीणां पतिरेको गतिस्सदा। अयोध्याकाण्ड, २७।६

१०७. नारीणां... पतिर्गतिः। अनुशासनपर्व, १४६।५५

१०८. भर्त्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
शाकुन्तलम्, अंक ४।२०

१०९. भट्टिनीः— अर्चितो भगवान् प्रद्युम्नः।
तत्कुरु भर्त्तुरुचितं पूजासत्कारम्। रत्नावली, अंक १

११०. भक्तानुरक्ता...भार्या...। का० इं० इं०, भाग ३, पृ० २०

पत्नी : पतिवत्सला—धर्ममूर्ति नामक राजा के प्रसंग में मत्स्य पुराण वर्णित करता है कि वे अपनी पत्नी को प्राणों से बढ़कर समझते थे[१११]। वायु पुराण के अनुसार शंकर के लिए उनकी पत्नी प्राणों से भी प्रिय थीं[११२]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि पाण्डु अपनी पत्नी पुण्डरीका को प्राणों से भी प्रिय समझते थे[११३]। इन पौराणिक स्थलों का समर्थन अन्य ग्रन्थों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण में जाया को सखा माना गया है[११४]। रघुवंश में वह पति की सखी तथा सचिव आदि शब्दों से अभिहित है[११५]।

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों में पत्नी की उन्नत दशा का स्वरूपांकन किया गया है, तथापि ऐसे उद्धरणों का अभाव नहीं है, जिनसे उनके जीवन की संकीर्ण झाँकी भी व्यक्त होती है। मत्स्य पुराण के अनुसार दास के समान भार्या भी निर्धन है। वह, जो कुछ प्राप्त करती है, उस पर उसका स्वत्व नहीं रहता[११६]। विष्णु पुराण में स्त्री का वर्णन शूद्र के साथ करते हुए विवृत है कि द्विज की सेवा करने वाले शूद्र के समान वह भी पति की सेवा करने से अनायास ही धर्मार्जन करती है[११७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में शूद्र के समान स्त्री को भी श्राद्धावशिष्ट अन्न देना वर्जित किया गया है[११८]। वायु पुराण में वर्णित है कि शिवस्तोत्र के प्रभाव से शूद्र और स्त्री भी रुद्र-लोक प्राप्त करने में सफल होते हैं[११९]। ब्रह्माण्ड

---

११२. भानुमती नाम भार्या...प्राणेभ्योऽपि गरीयसी। मत्स्य पु०, ९२।२०

११२. एवमुक्त्वा तु भगवान्पत्नीं प्राणैरपि प्रियाम्। वायु पु०, ३०।१२२

११३. ज्यायसी च सुता तेषां पुण्डरीका सुमध्यमा।
जननी सा द्युतिमतः प्राणस्य महिषी प्रिया। ब्रह्माण्ड पु०, २।११।४०

११४. सखा जाया। ऐ० ब्रा० ८।३।१३; द्रष्टव्य, अल्टेकर, वही, पृ० ११४

११५. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। रघुवंश, ८।६७

११६. त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्। मत्स्य पु०, ३१।३२

११७. शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्द्विजसत्तमाः।
तथा स्त्रीभिरनायासात्पतिशुश्रूषयैव हि। विष्णु पु०, ६।२।३५

११८. स्त्रीशूद्रायानुपेताय श्राद्धोच्छिष्टं न दापयेत्। वायु पु०, ७९।८४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१५।५६

११९. स्त्रियश्च शूद्राश्च रुद्रलोकमवाप्नुयुः। वायु पु०, ३०।३२०

पुराण में केवल शूद्र और स्त्री (ब्राह्मणी के अतिरिक्त) को मांस-भक्षण का आदेश निरूपित हुआ है[१२०]।

इन व्यवस्थात्मक उद्धरणों के अतिरिक्त ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिनसे स्त्री-जीवन की दुर्दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। विष्णु पुराण में तपस्या को नष्ट करने वाली स्त्री को कण्डु ऋषि मोह-मंजूषा की संज्ञा देते हैं[१२१]। तपस्वी सौभरि मुनि स्त्री-संग को उन दोषों का कारण मानते हैं, जो मुक्ति-पथ के बाधक होते हैं[१२२]। तपस्यार्थ उद्यत नृप ययाति स्त्री को सुवर्णादि उपभोगों के अन्तर्गत रखते हुए कहते हैं कि इससे केवल तृष्णा बढ़ती है, जिसका परित्याग करना अपेक्षित है[१२३]।

इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि पूर्वगामी अनुच्छेद में जिन उद्धरणों का निरूपण किया गया है, उन्हें सामान्य स्त्री-दशा के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता। एक तो ऐसे उद्धरणों की संख्या कम है, दूसरे ये प्रायः विशेष परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार के विवरण अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं[१२४]। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक स्थल पर स्त्रियों को सालवृक का हृदय कहा गया है, जिनकी मित्रता अनुचित मानी गई है[१२५]। मैत्रायणीय संहिता में एक स्थान पर स्त्री मिथ्या का मूर्त्तिमान् रूप वर्णित है[१२६]। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी स्त्री और शूद्र को एक ही कोटि में रखते हुए यह निरूपित है कि द्विज को तीन बार आचमन करना चाहिए, पर स्त्री और शूद्र को एक ही बार[१२७]। स्त्रियों के विषय में अनुदार विचार यत्र-यत्र अन्य साहित्यिक स्थलों में भी मिलते हैं।

---

१२०. स्त्रियश्च शूद्राश्च मांसमादद्युर्ब्राह्मणं बिना। ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।६८

१२१. ...धिक्तां महामोहमंजूषां सजुगुप्सिताम्। विष्णु पु०, १।१५।४३

१२२. निस्संगता मुक्तिपदं यतीनां संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः। वही, २।४।११२

१२३. यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्। वही, ४।१०।२४

१२४. द्रष्टव्य, अल्टेकर, वही, पृ० ३८३-३८४

१२५. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालवृकाणां हृदयान्येता। ऋग्वेद, १०।९५।१५

१२६. अनृतं स्त्री वैषा करोति...। तै० सं०, १।१०।११

१२७. ...स्त्री शूद्रं तु सकृत्सकृत्। मनुस्मृति, ५।१३९; याज्ञवल्क्य स्मृति, १।२१

उदाहरणार्थ, स्वप्नवासवदत्तं में उदयन स्त्री-स्वभाव को कातर बताते हैं[१२८]। मृच्छकटिक का शार्विलक कहता है कि स्त्री और श्री के विश्वासी अपण्डित हैं[१२९]।

विधवा—विधवा-विषयक सन्दर्भ आलोचित चारों पुराणों में उपलब्ध हैं। ऐसे सन्दर्भ कहीं तो पौराणिक व्यवस्था के रूप में मिलते हैं और कहीं पौराणिक आख्यान के रूप में। विष्णु पुराण में मारिषा की कथा वर्णित है, जो बाल्यकाल में ही विधवा हो गई थी। पुराण की पंक्ति में मारिषा के लिए मन्दभागिनी शब्द विशेषणार्थ प्रयुक्त है, जिसका जन्म विफल था[१३०]। अन्यत्र वासुदेव के शौर्य-वर्णन में जगत् को परिकंपित करना तथा शत्रु-स्त्रियों को विधवा बनाना एक ही कोटि में रखा गया है[१३१]। रेणुका की कथा निरूपित करते हुए, ब्रह्माण्ड पुराण वर्णित करता है कि वैधव्य; दुःख का वह प्रकार है, जो असह्य है[१३२]। अन्यत्र इस पुराण में कामदेव से विहीन रति के जीवन को अभव्य कहा गया है[१३३]। समस्थलीय विवरण मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है[१३४]।

विधवा का रहन-सहन—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि विधवा अपने आभूषणों का परित्याग करती है। पुराणकार ने विधवा के म्लान वस्त्र एवं केशों का

---

१२८. स्त्रीस्वभावस्तु कातरः। स्वप्नवासवदत्तं, ४।८

१२९. अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति। मृच्छकटिक, ४।१२; द्रष्टव्य, लेखक का निबंध 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन,' वही, पृ० २७२

१३०. भगवन्बालवैधव्याद् वृथाजन्माहमीदृशी।
मन्दभाग्या समुद्भूता विफला च जगत्पते। विष्णु पु०, १।१५।६३

१३१. पादप्रहारपरिकंपितजगत्त्रयेण ...... रिपुवनितावैधव्यकारिणा। वही, ४।१३।८५

१३२. रुदतीं बत वैधव्यशंकाहतचेतनाम्।
असह्यदुःखं वैधव्यं सहमाना कथं पुनः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३०।२५,३७

१३३. ह्यं रतिर्भर्त्तृवियोगखिन्ना वैधव्यमत्यतमभव्यमाप। वही, ४।३०।३७

१३४. जगामोपवनं रम्यं रतिस्तु हिमभूभृतः।
रुरोद चापि बहुशो दीना रम्ये स्थले तु सा। मत्स्य पु०, १५४।२७३

भी उल्लेख किया है[१३५]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि वैधव्य के कारण रति ने आभूषणों को उतार दिया था तथा उसके केश बिखरे हुए थे[१३६]।

विधवा की दयनीय दशा—मत्स्य पुराण में विधवा नारियों को दीन और अनाथों की श्रेणी में रखते हुए विहित है कि इनकी रक्षा करना राजा का परम् कर्त्तव्य है[१३७]।

विधवा-सम्पाद्य धार्मिक क्रियाएँ—मत्स्य पुराण में विधवा के व्रत का उल्लेख हुआ है, जिसका पालन करने से उसे मुक्ति मिलती है[१३८]। इसी प्रकार अविमुक्त क्षेत्र में निवास करने वालों में विधवा की भी गणना हुई है[१३९]।

विधवा-विवाह का अप्रचलन—मत्स्य पुराण में विवेचित है कि सावित्री के भावी पति की मृत्यु-सूचना उसके पिता मद्रराज को मिल चुकी थी। अतएव कन्या का विवाह एक ही बार होता है, इस नियम ने उन्हें चिन्ताकुल कर दिया था[१४०]। विष्णु पुराण के अनुसार मारिषा नामक कन्या का जन्म बाल-वैधव्य के कारण व्यर्थ हो गया था। अतएव वह भावी जन्म में ही श्लाघनीय पति के लाभार्थ उत्सुक रहती थी[१४१]।

पौराणिक स्थलों की समीक्षा : साक्ष्यान्तर के आलोक में—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक स्थल पर मरुत की गति से प्रकंपित पृथ्वी की तुलना पति-वियुक्ता नारी से की गई है[१४२]। महाभारत में अनेक पुत्रों से युक्त होने पर भी

---

१३५. नारी याऽभर्तृकाऽकस्मात्तनुस्ते त्यक्तभूषणा।
न राजते तथा शक्र म्लानवस्त्रशिरोरुहा। मत्स्य पु०, १५४।१६

१३६. सा पर्यश्रुमुखी कीर्णकुन्तला धूलिधूसरा।
......वैधव्यत्यक्तभूषणा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३०।४४

१३७. कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्। मत्स्य पु०, २१५।६१

१३८. नारी वा विधवा...क्रमान्मुक्तिप्रदं देव किंचिद्व्रतमिहोच्यताम्। वही, ५४।५

१३९. विप्रो वा क्षत्रियो वाऽपि ब्राह्मणी विधवाऽपि वा। वही, १८५।१६

१४०. संवत्सरेण क्षीणायुर्भविष्यति नृपात्मजः।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते चिन्तयित्वा नराधिपः। वही, २०८।१३

१४१. भगवन्बालवैधव्याद् वृथाजन्माहमीदृशी।
भवन्तु पतयः श्लाघ्या मम जन्मनि जन्मनि। विष्णु पु०, १।१५।५४

१४२. प्रेषामज्मेषुः विथुरेवरेजते। ऋग्वेद, १।८७।३
तत्र दृष्टान्तः। यथा भर्त्रा वियुक्ता जाया राजोपद्रवादिषु सत्सु निरालम्बासती कंपते तद्वत्। सायण-भाष्य

विधवा का जीवन शोचनीय माना गया है[१४३]। भास-कृत प्रतिमा नाटक में कैकेयी के जीवन को धिक्कारा गया है, जिसने राज्य के लोभ में अपना वैधव्य बुलाया था[१४४]। स्वप्नवासवदत्तं से विदित होता है कि विवाह के अवसर पर, जिस समय उदयन मगधराज के अन्तःपुर में प्रवेश कर रहे थे, वहाँ से विधवाओं को हटा दिया गया था[१४५]। मन्दसोर के अभिलेख में वर्णन आता है कि बन्धुवर्मा के पराक्रम के फलस्वरूप अरिसुन्दरियाँ वैधव्य का दारुण दुःख झेल रही थीं[१४६]। पेहोव के अभिलेख में विधवा नारियों के बिखरे बालों का उल्लेख मिलता है[१४७]। मनुस्मृति के अनुसार पति के मरने पर स्त्री को चाहिए कि वह परपुरुष का नाम भी न ले[१४८]। याज्ञवल्क्य स्मृति में विवृत है कि पति जीवित हो अथवा अजीवित, स्त्री का कर्त्तव्य है कि वह दूसरे पुरुष का उपगमन न करे[१४९]। पौराणिक वर्णन इसी व्यवस्था से साम्य रखते हैं। इसके विपरीत इनका वर्णन उन स्मृतियों की व्यवस्था से विरोध रखता है, जिनमें पति की नष्ट, मृत, प्रव्रजित, नपुंसक तथा पतितावस्थाओं में स्त्री का पुनर्विवाह अज्ञात किया गया है[१५०]।

सती-प्रथा : प्रचलन-बोधक स्थल—विष्णु पुराण में निरूपित है कि श्रीकृष्ण की मृत्यु के उपरान्त रुक्मिणी आदि रानियों ने उनके मृत देह का आलिंगन

---

१४३. सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते। शान्तिपर्व, १४८।२

१४४. विजया-अहो अत्याहितं।
राजलुब्धया...आत्मनो वैधव्यमादिष्टम्। प्रतिमा नाटक, अंक ४

१४५. चेटी— त्वरतां त्वरतामार्या।
एष जामाता अविधवाभिरन्तश्चतुःशालं प्रवेश्यते। स्वप्नवासवदत्तं, अंक ३

१४६. वैधव्यतीव्रव्यसनक्षतानां...अरिसुन्दरीणाम्। का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ८१

१४७. सिसिचुरश्रजलैर्यदरिस्त्रिया सरलितप्रचुरालकजालकाः। एपि० इं०, भाग १, पृ० २४६

१४८. न तु नामापि गृहीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु। मनुस्मृति, ५।१५७

१४९. मृते जीविते वा पत्योर्या नान्यमुपगच्छति। याज्ञवल्क्य स्मृति, १।७५

१५०. नारद स्मृति, १२।९७; पराशर स्मृति, ४।२८

करते हुए अग्नि में प्रवेश किया था[१५१]। इसी प्रकार रेवती ने बलराम के शरीर का आश्लेष कर, उनके अंगस्पर्श के कारण शीतलीकृत अग्नि की शरण ली थी[१५२]। काशिराज की कन्या के प्रसंग में विष्णु पुराण में अन्यत्र वर्णन आता है कि अपने पति को पुनर्जन्म में भी प्राप्त्यर्थ उसने चिता पर उसका साथ दिया था[१५३]। प्रसंगांतर में आख्यात है कि वसिष्ठ के शाप-वश नृप सौदास ने मांस-भक्षण में प्रवृत्त होकर एक ब्राह्मण को खा डाला। ब्राह्मण की स्त्री ने अपने पति के अनुगमनार्थ चितारोहण किया[१५४]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार रेणुका ने अपने पति को मृत पाकर भावी अपमान से रक्षार्थ सती होने का निश्चय किया था[१५५]।

निषेध-निदर्शक स्थल—मत्स्य पुराण के अनुसार कामदेव के भस्म होने पर रति मृत्यु की शरण लेना चाहती थी, पर शंकर के आदेश से उसे इस निश्चय को त्यागना पड़ा[१५६]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवृत है कि राजा बाहु की मृत्यूपरान्त उसकी महिषी ने सती होने का निश्चय किया, पर उस समय वह गर्भवती थी। ऐसी स्थिति में और्व मुनि के आदेशानुसार उसे स्वनिश्चय को बदलना पड़ा[१५७]।

---

१५१. अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणीप्रमुखास्तु याः।
उपगुह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम्। विष्णु पु०, ५।३८।२

१५२. रेवती चापि रामस्य देहमाशिलष्य सत्तमा।
विवेश ज्वलितं वह्निं तत्संगाह्लादशीतलम्। वही, ५।३८।३

१५३. ततश्चितास्थं तं भूयो भर्त्तारं शुभेक्षणा।
अन्वारुरोह विधिवद्यथापूर्वं मुदान्विता। वही, ३।१८।९२

१५४. शप्त्वा चैवं साग्निं प्रविवेश। वही, ४।४।६६

१५५. भर्तृशोकपरीतांगी रेणुकापि दृढव्रता।
पुत्रान्सर्वान्समाहूय त्विदं वचनमब्रवीत्।
असह्यदुःखं वैधव्यं सहमाना कथं पुनः।
भर्त्रा विरहिता तेन प्रवर्त्तिष्ये विनिंदिता।
तस्मादनुगमिष्यामि भर्त्तारं दयितं मम। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३०।
३५-३८

१५६. मरणव्यवसायात्तु निवृत्ता हराज्ञया। मत्स्य पु०, १५४।२७४

१५७. नैवमतिसाहसाध्यवसायिनी भवती भवत्वित्युक्ता सा तस्मादनुमरण-निर्बन्धाद्विरराम। विष्णु पु०, ४।३।३३
और्वस्तां भार्गवो दृष्ट्वा कारुण्याद्विन्यवर्तयत्। वायु पु०, ८८।१३२;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।६३।१३१

आंशिक रूप में सती-प्रथा के उदाहरण वैदिक काल से ही मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद से सूचना मिलती है कि मृत व्यक्ति की पत्नी को आग लगाने के पूर्व चिता पर बैठाकर उतार दिया जाता था[१५८]। रामायण और महाभारत में इसके उदाहरण नितान्त इने-गिने मिलते हैं,[१५९] पर लौकिक संस्कृत साहित्य में अनेक। भासकृत दूतघटोत्कच और उरुभंग में उत्तरा, दुश्शाला; कुमार सम्भव में रति का उपक्रम; मृच्छकटिक में धूता की तैयारी तथा हर्ष चरित में यशोवती के उदाहरण इसके ज्वलन्त परिचायक हैं। एरण के अभिलेख में गोपराज की पत्नी का गुणगान किया गया है, जिसने मृत पति का अग्नि-राशि में अनुगमन किया था[१६०]। चंगुनारायण के स्तम्भलेख के अनुसार नृप-पत्नी राज्यवती, पुत्र-वात्सल्य की उपेक्षा कर दिवंगत पति के साथ सती हुई थीं[१६१]। पर, कहीं-कहीं सती-प्रथा के प्रति उपेक्षा की दृष्टि से भी देखा गया है। उदाहरणार्थ, बाण ने कादम्बरी में इसे अविद्वानों का लक्षण माना है[१६२]।

पर्दा-प्रथा : अप्रचलन के स्थल—मत्स्य पुराण के अनुसार जिस समय नृप निमि अपनी स्त्रियों के साथ द्यूत-क्रीडा कर रहे थे, वहाँ वसिष्ठ ऋषि भी वर्तमान थे[१६३]। जब नृप ब्रह्मदत्त मन्त्रियों के साथ बाहर निकल रहे थे, उस समय उनकी पत्नी भी उनके साथ थीं[१६४]। बाणासुर की पत्नी नारद मुनि से खुले रूप में धर्म-विषयक चर्चा कर रही थी[१६५]। आचार्य शुक्र की कन्या युवती होते हुए भी उनके शिष्य कच की सेवा करती थी। कच भी उसे नृत्य, संगीत और वाद्य से

---

१५८. अल्टेकर, वही, पृ० १३८

१५९. वही, पृ० १४०

१६०. भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम्। का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ९३

१६१. वही, ३, भूमिका, पृ० ९५

१६२. यदेतदनुमरणं नाम तदतिनिष्फलम्।
अविद्वज्जनाचरित एष मार्गः। कादम्बरी पूर्वभाग, द्रष्टव्य, अल्टेकर, वही, पृ० १४६

१६३. निमिर्नाम सह स्त्रीभिः पुरा द्यूतमदीव्यत।
तत्रान्तरेऽभ्याजगाम वसिष्ठो ब्रह्मसम्भवः। मत्स्य पु०, ६१।३२

१६४. निर्गच्छन्मंत्रिसहितः सभार्यो...। वही, २१।२७

१६५. अनौपम्योवाच—भगवन्मानुषे लोके...। वही, १८७।२६

प्रसन्न करता था[१६६]। अन्यत्र वर्णित है कि जब कृष्ण पौराणिकी कथाओं का श्रवण करते थे, उस समय वहाँ अनेक कुरुवंशीय तथा वृष्णिवंशीय राजाओं के साथ कृष्ण की स्त्रियाँ बैठी हुई थीं[१६७]। विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि कंस ने जिस स्थान पर मल्लयुद्ध का आयोजन किया था, वहाँ अन्तःपुर एवं नागरिकों की स्त्रियाँ तथा वरांगनाएँ भी विद्यमान थीं[१६८]। इन उद्धरणों का समर्थन पूर्व प्रसंग में विवेचित योगिनी और तापसी कन्याओं के उदाहरणों से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जिस समय पार्वती तपस्या कर रही थी, उनसे ऋषिगण अनेक प्रश्न पूछ रहे थे[१६९]।

प्रचलन-समर्थक स्थल—मत्स्य पुराण में आख्यात है कि ययाति नृप की स्त्रियों का दर्शन (मनुष्यों की तो बात ही नहीं) चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, यम तथा वरुण भी नहीं कर सकते थे[१७०]। हिमवान् की पत्नी जब नारद के सामने आई, उस समय उसने मुँह पर घूँघट डालकर अपनी प्रणामांजलि अर्पित की थी[१७१]। शरवण नामक उपवन में जहाँ शिव और पार्वती विहार कर रहे थे, वहाँ दस योजन लम्बा घेरा बना लिया गया था, जहाँ परकीय पुरुष का प्रवेश निषिद्ध था[१७२]।

उपर्युक्त पौराणिक स्थलों से पर्दा-प्रथा के निषेध तथा प्रचलन दोनों की सूचना मिलती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक काल में पर्दा-प्रथा नहीं थी[१७३]।

---

१६६. गायन्नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत्। मत्स्य पु०, २५।२७

१६७. तस्यां कदाचिदासीनः सभायाममितद्युतिः।
भार्याभिर्वृष्णिभिश्चैव भूभृद्भिर्भूरिदक्षिणैः।
कुरुभिर्देवगन्धर्वैरभितः कैटभार्दनः।
प्रवृत्तासु पुराणेषु धर्मसम्बन्धिनीषु च। वही, ६९।१०-११

१६८. अन्तःपुराणां मंचाश्च तथान्ये परिकल्पिताः।
अन्ये च वारमुख्यानामन्ये नगरयोषिताम्। विष्णु पु०, ५।२०।२७

१६९. मत्स्य पु०, १५४।१५३-३३५

१७०. सोमश्चेन्द्रश्च वायुश्च यमश्च वरुणश्च वा।
तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति। वही, ३१।१२

१७१. ववन्दे गूढवदना पाणिपद्मकृतांजलिः। वही, १५४।१३४

१७२. पुंनाम सत्त्वं यत्किंचिदागमिष्यति ते वने।
स्त्रीत्वमेष्यति तत्सर्वं दशयोजनमण्डले। मत्स्य पु०, ११।४६

१७३. अल्टेकर, वही, पृ० १९७

ऋग्वेद के छन्दों से विदित होता है कि विवाह के अवसर पर वधू को सभी अभ्यागतों को दिखाया जाता था[१७४]। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि जनसमुदाय में स्त्रियों की उपस्थिति वर्जित नहीं थी[१७५]। इस प्रथा के प्राचीनतम उल्लेख रामायण और महाभारत से मिलने लगते हैं। रामायण में दुःख के साथ वर्णित है कि जिस सीता को गगनचारी प्राणी भी नहीं देख सकते थे, विवास के समय राजमार्ग से जाते हुए उन्हें मनुष्य देख रहे थे[१७६]। महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के वन-गमन के अवसर पर वे शोकार्त नारियाँ राजमार्ग से जा रही थीं, जो पहले सूर्य और चन्द्रमा के लिए भी अदर्शनीय थीं[१७७]। भास-कृत स्वप्नवासवदत्तं में वासवदत्ता परपुरुष के दर्शन का परिहार करती हुई दिखाई गई है[१७८]। रघुवंश-निरूपित प्रलय-परिवेश में जिस समय पृथ्वी रसातल से बाहर निकाली गई, उसे ढकने वाले जल की उपमा मुख-आवरण से दी गई है[१७९]।

इन्हीं साक्ष्यों से पर्दा-प्रथा के प्रचलित होने का भी पता चलता है। रामायणकालीन नारी व्यसन, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ तथा विवाह के समय बिना किसी रुकावट के बाहर निकलती थी[१८०]। भासकृत प्रतिमा नाटक में वर्णित है कि स्त्रियाँ वन में, यज्ञ, विवाह और विपत्ति में बिना बाधा के बाहर निकल सकती

---

१७४. सुमंगलीरियं बधूरिमां समेत पश्यत। ऋग्वेद, १०।८५।३३

१७५. जुष्टानरेषु समनेषु वल्गुः। अथर्ववेद, २।३६।१

१७६. या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य पश्यन्ति राजमार्गं गता जनाः। रामायण, ३।३३।८

१७७. या नापश्यच्चन्द्रमा नैव सूर्यो रामाः काश्चित्ताः स तस्मिन्नरेन्द्रे।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः।
महाभारत, १५।१६।१३

१७८. पद्मावती—अम्मो परपुरुषदर्शनं परिहरत्यार्या। स्वप्नवासवदत्तम्, अंक १

१७९. रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमंभः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्त्तवक्त्रावरणं बभूव। रघुवंश, १३।८

१८०. व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु नो युधे नो स्वयंवरे।
न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियः। रामायण, ६।११६।८

हैं[१८१]। मन्दसोर के अभिलेख से विदित होता है कि नगर के उद्यान में पुर-स्त्रियाँ स्वच्छन्दता के साथ विहार करती थीं[१८२]।

साक्ष्यान्तरों की तुलना में पौराणिक प्रकरणों की समीक्षा से प्रतीत होता है कि स्त्रियों के प्रति आलोचित पुराणों के विचार अधिकांशतः उदार हैं। कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित पद प्रदान किया गया है। वस्तुतः पौराणिक भावना के मूल में प्रवृत्ति और निवृत्ति द्विविध भावनाएँ क्रियाशील हैं। जहाँ-कहीं प्रवृत्तिमूलक भावना प्रधान है और गृहस्थ-आश्रम को महत्त्वपूर्ण बताया गया है, वहाँ स्त्रियों के प्रति भी प्रशस्त विचार प्रकट किए गए हैं। पर, ऐसे स्थल जहाँ निवृत्ति-मार्ग की मुख्यता है तथा सांसारिक जीवन के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है, वहाँ स्त्रियों के प्रति भी अनुदार विचार व्यक्त हुये हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ विरोधात्मक उद्धरण मिलते हैं, वहाँ पात्र और परिस्थिति की विशिष्टता को ही कारण माना जा सकता है। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण के एक ही प्रसंग में कन्या के प्रति उदार एवं अनुदार विचार उपलब्ध हैं। हिमवान् नारद से कहते हैं कि शीलसम्पन्न कन्या दस पुत्रों के समान है। पर, जिस समय उमा के विवाह का प्रश्न उनके सामने आता है, वे कन्या के जीवन को धिक्कारते हैं[१८३]। यह प्रवृत्ति पुराणों के अतिरिक्त अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक का शर्विलक अपनी प्रेयसी के लिए बड़े से बड़ा दुस्साहस करने के लिए उद्यत है। पर, जिस समय भ्रमवश वह, उसे चारुदत्त के प्रति आकृष्ट देखता है, वह समस्त स्त्री-जाति को अविश्वसनीय बताता है[१८४]।

---

१८१. निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च। प्रतिमा नाटक, अंक १

१८२. अजस्रगाभिश्च पुरांगनाभिर्वनानि यत्र समलंकृतानि। का० इं० इं०, भाग ३, पृ० ८१

१८३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २६५

१८४. द्रष्टव्य, लेखक का निबंध 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन,' वही, पृ० २७२

वस्त्र-अलंकार

वस्त्र-विषयक पौराणिक प्रवृत्ति : सामान्य समीक्षा—आवरण, अलंकरण एवं अनुष्ठान; इन त्रिविध आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में पौराणिक स्थल वस्त्रालंकार का विवरण देते हैं। गार्हस्थ्योचित सदाचार को विवृत करते हुये विष्णु पुराण का आदेश है कि गृहस्थ ऐसे दो वस्त्र धारण करे, जो फटे न हों[1]। वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णनानुसार वस्त्र में देवता का सन्निधान एवं देव-स्तुति की प्रतिष्ठा है। धार्मिक कार्यों का सम्पादन वस्त्र के अभाव में सम्भव नहीं है[2]। मत्स्य पुराण की व्यवस्थानुसार भी विभिन्न धार्मिक अवसरों पर वस्त्रावृत रहना आवश्यक है[3]। ये पौराणिक उद्धरण मनुष्यार्थ वस्त्र की आवश्यकता एवं उपादेयता को सुस्पष्ट कर देते हैं। इनके द्वारा वैदिक भावना का निर्वाह एवं समकालीन व्यवस्थापकों की व्यवस्था-समता का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। इस सन्दर्भ में शतपथ-ब्राह्मण ने वस्त्र को मनुष्य के वाह्य आवरण का कारण माना है[4] तथा विष्णु स्मृति ने अवस्था के अनुरूप वस्त्र-धारण अपेक्षित घोषित किया है[5]।

वस्त्रोचित साधन तथा प्रकार—वायु पुराण में ऊनी वस्त्र तथा कम्बल के दानार्थ आदेश विहित है[6]। इसी प्रसंग में ब्रह्माण्ड पुराण में कम्बल को उर्णा शब्द से विशिष्ट किया गया है[7]। अतएव कम्बल का ऊन से बुना जाना स्पष्ट है। ऊर्णा के प्रयोग की प्रवृत्ति ऋग्वेद के काल से ही दिखाई देती है। ऋग्वेद में सिन्धु

---

१. सदानुपहते वस्त्रे...... । विष्णु पु०, ३।१२।२

२. वासो हि सर्वदेवत्यं सर्वदेवैस्त्वभिष्टुतम्।
वस्त्राभावे क्रिया नास्ति यज्ञा वेदास्तपांसि च। वायु पु०, ८०।३९-४०
ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।३७-३८

३. वासोभिः शयनीयैश्च...... । मत्स्य पु०, ५९।१३

४. रूपम्वाऽएतत्पुरुषस्य यद्वासः...... । श० ब्रा०, १३।४।१।१५

५. वयोऽनुरूपं वेषं कुर्यात् । विष्णु स्मृति, ७१।५

६. ऊर्णाकौशेयवस्त्राणि तथा प्रवरकम्बलौ। वायु पु०, ८०।३४

७. पर्णाकौशेयपटटोर्णे तथा प्रावारकम्बलौ। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।३२

प्रदेश को ऊर्णावती नाम दिया गया है[८] । कम्बल का प्रथम प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है[९] । अष्टाध्यायी से ऋणार्थ कम्बल के प्रचलन की सूचना मिलती है[१०] ।

चर्म-वस्त्र—विष्णु पुराण में विवृत है कि यज्ञानुष्ठान के अवसर पर केशिध्वज ने मृगचर्म धारण किया था[११] । वर्णन-क्रम में आख्यात है कि जब केशिध्वज मृगचर्म धारण कर अपने शत्रु खाण्डिक्य के सामने गए, उस समय उसने समझा कि सम्भवतः उन्होंने स्वरक्षार्थ इसे कवच के स्थान पर पहन लिया था[१२] । वायु पुराण में समुद्रशायी विष्णु का वस्त्र कृष्ण-मृगचर्म बताया गया है[१३] । इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में शिव के चर्म-वस्त्र का उल्लेख हुआ है[१४] । मत्स्य पुराणोक्त शिव के वीरक नामक गण का वस्त्र मृगचर्म द्वारा निर्मित था[१५] । प्रसंगान्तर में प्रस्तुत पुराण ने कलियुगीन मनुष्यों के मृगचर्म-प्रचुर वस्त्र का उल्लेख किया है[१६] । इसमें संदेह नहीं कि चर्म-वस्त्र में पवित्रता का सन्निवेश माना जाता था,[१७] अतएव वानप्रस्थी के लिये यह अनुकूल परिधान घोषित है । आश्रम-विषयक अध्याय में दिखाया जा चुका है कि चर्म वानप्रस्थी का परिधान था[१८] । एतद्बोधक व्यवस्था गौतम धर्मसूत्र में स्पष्ट रूप में विहित मिलती है[१९] ।

वृक्ष-सुलभ वस्त्र—वायु पुराण में शृंगवान् गिरि के निवासियों के प्रसंग

---

८. स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा...ऊर्णावती... । ऋग्वेद, ८।७५।८
९. संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् । अथर्ववेद, १४।२।६७
१०. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २७२
११. इयाज सोऽपि सुबहून्यज्ञाञ्ज्ञानव्यपाश्रयः ।
इत्युक्त्वा रथमारुह्य कृष्णाजिनधरो नृपः ।
वनं जगाम यत्रास्ते स खाण्डिक्यो महामतिः । विष्णु पु०, ६।६।१३-२०
१२. कृष्णाजिनं त्वं कवचमावध्यास्मान्हनिष्यसि । वही, ६।६।२२
१३. कृष्णाजिनोत्तरासंगन्ददृशेऽन्तर्जले हरिम् । वायु पु०, २५।३२
१४. दिव्यं वर्षसहस्रन्तु अवहत् कृष्णवाससम् । वही, २१।४६
१५. मार्गत्वगुत्तरासंग...... । मत्स्य पु०, १५४।१४२
१६. चीरकृष्णाजिनधरा...... । वही, १४४।७२
१७. अथ कृष्णाजिनमादत्ते ।
यज्ञस्य सर्वत्वाय...... । श० ब्रा०, १।१।१
१८. द्रष्टव्य, आश्रम विषयक अध्याय, पृष्ठांक २०३
१९. जटिलश्चीराजिनवासाः । गौतम धर्मसूत्र, ३।३४

में वर्णित है कि वे वृक्षों से उत्पादित वस्त्रों का प्रयोग करते हैं[२०]। विष्णु पुराण में कलियुगीन मनुष्यों के बल्कल-बहुल वस्त्र का उल्लेख मिलता है[२१]। मत्स्य पुराण में शिव का वीरक नामक गण मुञ्ज-निर्मित मेखला धारण किये हुये प्रदर्शित है[२२]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में काश और कुश वानप्रस्थियों के लिये विहित वस्त्र-प्रयोज्य उपकरण हैं[२३]। अजिन के समान चीर अर्थात् बल्कल भी वानप्रस्थ-अनुकूल परिधान है, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है[२४]।

रेशमी वस्त्र : क्षौम-पट्ट-कौशेय—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विहित आदर्शानुसार क्षौम, पट्ट एवं कौशेय उस कोटि-विशेष के वस्त्र हैं, जो दानार्थ उपयोगी उपकरण हैं[२५]। क्षुमा का समीकरण सन[२६] अथवा अतसी[२७] से किया जाता है। इसका प्रथम सन्दर्भ वैदिक ग्रन्थ मैत्रायणी संहिता में मिलता है[२८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के क्षौम-विषयक उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि क्षौम मांगल्य-बोधक वस्त्र था। अश्वलायन-श्रौतसूत्र[२९] में इसकी मांगलिकता पर प्रकाश डालते हुए इसे सोमयाग में दक्षिणार्थ प्रदेय माना गया है। शाकुन्तल के अनुसार जिस समय शकुन्तला पति-गृह जा रही थी, वनस्पतियों ने उसे मांगलिक क्षौम वस्त्र प्रदान किया था[३०]। क्षौम के समान कौशेय भी रेशमी वस्त्र था। कौशेय का प्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। कौशेय वस्त्र वाजपेय यज्ञ के अवसर पर यजमान की पत्नी धारण करती थी। टीकाकार हरिस्वामी ने कौशेय का अर्थ

---

२०. तत्र वृक्षा... वस्त्राणि च प्रसूयन्ते। वायु पु०, ४५।१२

२१. वल्कलपर्णचीरप्रावरणा...... । विष्णु पु०, ४।२४।६६

२२. मुञ्जमेखली । मत्स्य पु०, १५४।५४२

२३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २०३

२४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २०३

२५. ऊर्णाकौशेयवस्त्राणि... पट्टं... कौशेयं क्षौमकार्पासम्। वायु पु०, ८०।३४-३७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६;३२-३५

२६. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ३३१

२७. क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारः। गौतम धर्मसूत्र, ७।६; मस्करि-भाष्य

२८. मैत्रायणी संहिता, ३।६।७

२९. आश्वलायन श्रौतसूत्र, २।३।४।१७

३०. क्षौमं केनचित्पाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतम्। अभिज्ञानशकुन्तलम्, ४।५

(रेशमी) कीट-कोश से परिकल्पित वस्त्र माना है[३१]। अमरकोश में क्षौम के समान कौशेय भी रेशमी वस्त्र का ही प्रकार-विशेष उद्घोषित है[३२]। इस शब्द का प्रयोग प्राचीन जैन ग्रन्थ आचरांग सूत्र में मिलता है[३३]। प्रस्तुत ग्रन्थ में कौशेय का तात्पर्य रेशमी वस्त्र से ही प्रतीत होता है[३४]। मन्दसोर की प्रशस्ति में लाट-प्रदेश के तन्तुवाय अपने पट्ट वस्त्र पर विशेष गर्व करते हैं तथा इसे आकर्षण का कारण विज्ञापित करते हैं[३५]।

अंशुक—मत्स्य पुराण में पार्वती द्वारा प्रयुक्त परिधान को चीनांशुक की संज्ञा प्रदत्त है[३६]। चीनांशुक शब्द से चीनी रेशमी वस्त्र का तात्पर्य व्यक्त होता है। बृहत्कल्प-सूत्र भाष्य में अंशुक कोमल रेशमी वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है[३७]। चीनी रेशमी वस्त्र के प्रयोग-प्रचलन की सूचना अन्य ग्रन्थों से भी मिलती है। उदाहरणार्थ, शाकुन्तल में दुष्यन्त के चंचल मन का उपमान वात-संदोलित चीनांशुक वर्णित किया गया है[३८]।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि आलोचित पुराणों में ऊनी, चर्म, वृक्ष-सुलभ और रेशमी वस्त्रों का स्थान प्रधान है। समविषयक प्रसंग में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित कार्पास का भी उल्लेख किया जा सकता है[३९]। कार्पास का अर्थ है कपास का बना हुआ अर्थात् सूती वस्त्र। कार्पास का उल्लेख आश्वलायन-श्रौतसूत्र में आया है। कपास के वस्त्र को सोम-यज्ञ में दक्षिणार्थ उपयुक्त माना गया है[४०]। अतएव, ऐसा वस्त्र पवित्र था। उपर्युक्त दोनों पुराणों से भी इसकी

---

३१. पत्नीमुदानेष्यन्कौशं वासः परिधापयति। श० ब्रा०, ५।२।१।८
क्रिमिकोशविकारभूतं वासः कौशम्। हरिस्वामी

३२. अमरकोश, २।६।१११

३३. आचरांग सूत्र, २।५।१।४

३४. मोतीचन्द, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, पृ० २७

३५. यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते। सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २९३

३६. शुभ्रचीनांशुकांबराम्। मत्स्य पु०, १५४।२७६

३७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, ४।३६६१; द्रष्टव्य, मोतीचन्द, वही, पृ० १४८

३८. धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं... नीयमानस्य। अभिज्ञानशकुन्तलम्, १।३१

३९. कौशेयं क्षौमकार्पासं......। वायु पु०, ८०।३७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।३५

४०. आश्वलायन श्रौतसूत्र, २।३।४।१७

पवित्रता सूचित होती है, क्योंकि ऐसा वस्त्र दानार्थ सर्वथा उचित एवं उपयोगी परिगणित हुआ है।

वर्ण-भेद : शुक्ल-वस्त्र—वायु पुराण में योगी द्वारा शुक्ल-वस्त्र धारण करने का आदेश विहित है, क्योंकि इससे मनोविकार दूर होता है[४१]। मत्स्य पुराण में उद्यान-निर्माण करते समय यजमान द्वारा शुक्ल-वस्त्र धारण करना अपेक्षित घोषित है[४२]। इस प्रकार शुक्ल-वस्त्र पवित्र माना जाता था। मनुस्मृति में भी वर्णित है कि गृहस्थ को शुक्ल-वस्त्र धारण कर शुद्धतापूर्ण स्वाध्याय करना चाहिए[४३]। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल-वस्त्र में अनुराग एवं विराग दोनों का ही समारोपण माना जाता था, क्योंकि कादम्बरी में सायंकालीन हंसों से युक्त कमलिनी की तुलना उस प्रोषितपतिका से हुई है, जो श्वेत दुपट्टा धारण कर पति-सम्मेलनार्थ व्रत धारण करती है[४४]।

पीत-वस्त्र—विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ाने वाले उपादानों में पीत-वस्त्र का प्रसंग मिलता है[४५]। वायु पुराण में इकतीसवें कल्प को पीतवास नाम प्रदत्त है। इस कल्प के अधिनायक ब्रह्म-तनयों के वस्त्र को पीतवर्णी बताया गया है[४६]। मत्स्य पुराण में शुक्ल पक्ष के एक व्रत-विशेष के विषय में विहित है कि इस अवसर पर ब्राह्मणार्थ दो पीले वस्त्रों का दान करना चाहिए[४७]। इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न प्रकार के रंगों में पीले रंग का भी स्थान था। महावग्ग में कपड़ों के नीले, पीले, लाल आदि रंगों द्वारा रँगे जाने का उल्लेख मिलता है[४८]। भास-कृत मध्यम व्यायोग में घटोत्कच के पीतवर्णी कौशेय परिधान का प्रसंग प्राप्त

---

४१. प्रावृत्य मनसा शुक्लं पटं वा... । वायु पु०, १२।१३

४२. स्नातः शुक्लाम्बरस्तद्वयजमानो...... । मत्स्य पु०, ५९।१३

४३. शुक्लाम्बरः शुचिः स्वाध्याये चैव युक्तः । मनुस्मृति, ४।३५

४४. अचिरप्रोषिते सवितरि हंससितदुकूलपरिधाना... कमलिनी दिनपतिसमागमव्रतमिवाचरत् । कादम्बरी, पूर्वभाग, पृ० ९८

४५. बिभ्राणं वाससी पीते...... । विष्णु पु०, ५।१७।२१

४६. प्रादुर्भूतो महातेजाः कुमारः पीतवस्त्रवान् । वायु पु०, २३।२

४७. पुंसः पीताम्बरे दद्यात् । मत्स्य पु०, ६२।२८

४८. महावग्ग ८।२९।१

होता है[४९]। रत्नावली के अनुसार नागरिकों की पीतवर्ण-प्रचुर वेश-भूषा के कारण कौशाम्बी नगरी पीतप्राय प्रतीत हो रही थी[५०]।

नील-वस्त्र—विष्णु पुराण में बलराम द्वारा नील-वस्त्र के प्रयोग का प्रसंग उपलब्ध है[५१]। ऐसा वर्णित है कि नील-वस्त्र पहन कर बलराम ने विविध प्रकार से रमण किया था[५२]। इस वस्त्र को उन्होंने अपने विवाह के अवसर पर लक्ष्मी से प्राप्त किया था[५३]। इसी प्रकार मदोन्मत्त शेषनाग का वस्त्र नीला बताया गया है[५४]। इस वर्णन से लगता है कि नीले वस्त्र का प्रयोग रसिक लोग करते थे। भासकृत बालचरित में मेघाच्छन्न रात्रि की उपमा नील-वस्त्रावृता गोपी से प्रदत्त है[५५]।

रक्त-वस्त्र—वायु पुराण के अनुसार रक्तकल्प में ब्रह्मा द्वारा पुत्र-कामना से ध्यान करने पर उत्पन्न हुए पुत्र का वस्त्र लाल रंग का था[५६]। विष्णु पुराण में दैत्यों को विमोहित करने वाले मायामोह के वस्त्र का रंग लाल बताया गया है[५७]। इससे प्रतीत होता है कि रक्त-वस्त्र चमक-दमक का कारण माना जाता था। मृच्छकटिक में वर्णित है कि जिस समय वसन्तसेना चारूदत्त के घर जा रही थी, उसने लाल रेशमी वस्त्र धारण किया था[५८]।

कृष्ण-वस्त्र—वायु पुराण में ऐसा स्वप्न अमंगल-सूचक माना गया है, जिसमें कृष्ण-वस्त्रा स्त्री दिखाई दे[५९]। सितकल्प में कृष्ण-वस्त्र के कारण ब्रह्मा को घोर दुःख हुआ था[६०]। अन्य साक्ष्यों से भी पता चलता है कि कृष्ण-वस्त्र अशुभ

---

४९. पीतकौशेयवासाः। मध्यमव्यायोग (गणपति शास्त्री-सम्पादित), पृ० ३
५०. कौशाम्बी... एकपीता विभाति। रत्नवाली, १।१०
५१. दधानमसिते वस्त्रे। विष्णु पु०, ५।१८।३८
५२. नीलाम्बरधरः...... । वही, ५।२५।१७
५३. समुद्राभे तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मीरयच्छत। वही, ५।२५।१६
५४. इत्थं विभूषितो रेमे तत्र रामस्तथा व्रजे। वही, ५।२५।१८
५५. दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना रात्रिर्वतते निमीलिताकाशा नीलनिवसना यथा गोपी। बालचरित, १।१९
५६. स तं दृष्ट्वा महादेवं कुमारं रक्तवाससम्। वायु पु०, २२।२३
५७. पुनश्च रक्तांबरधृङ्मायामोहो...... । विष्णु पु०, ३।१८।१५
५८. रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती। मृच्छकटिक, १।२०
५९. कृष्णाम्बरधरा... स्वप्ने सोऽपि न जीवति। वायु पु०, १९।१३
६०. चिन्तयामास दुःखितः।
कृष्णाम्बरः...... । वायु पु०, २३।२१-२४

का द्योतक था। कादम्बरी में संध्या के नष्ट होने पर तिमिराच्छन्न विभावरी की उपमा उस स्त्री से दी गई है, जो अपनी सहेली के विनाश के दुःख से कृष्ण-मृगचर्म धारण करती है[६१]।

उपर्युक्त वर्णनों द्वारा वस्त्र की रँगाई पर भी प्रकाश पड़ता है। इस विषय के कतिपय अन्य स्थलों की चर्चा भी समीचीन है। विष्णु पुराण में कंस के धोबी के लिए विशेषणबोधक शब्द रंगकारक प्रयुक्त है। ऐसा निरूपित है कि उसके पास सुन्दर और मनोज्ञ वस्त्र थे, जिनमें बलराम और कृष्ण को मनोनुकूल नील और पीत वस्त्र मिले थे[६२]। अन्यत्र वर्णन आता है कि कृष्ण और बलराम के वस्त्रों को क्रमशः सुवर्ण और अंजन के चूर्ण से रँगा गया था[६३]। शुक्लपक्ष के एक व्रत के विषय में मत्स्य पुराण में वर्णित है कि ऐसे अवसर पर वस्त्रों को कौसुंभ रंग से रँगना चाहिए[६४]। वस्त्रों के रँगे जाने की सूचना अन्य ग्रन्थों से भी मिलती है। उदाहरणार्थ, महावग्ग से ज्ञात होता है कि वस्त्रों को धोकर उसे रँगा जाता था[६५]। शिशुपालवध में बलराम की वाणी की उपमा अनेक सूतों वाली तथा रंगों से चित्रित साड़ी से दी गई है[६६]।

वस्त्र की संख्या—विष्णु पुराण में विवेचित है कि भोजन के समय गृहस्थ को एक वस्त्र पहनना चाहिए[६७]। होम, देवता की अर्चना तथा आचमन आदि के अवसर पर उसे दो वस्त्र धारण करने का आदेश दिया गया है[६८]। बलराम को लक्ष्मी से वस्त्रद्वय प्राप्त हुये थे[६९]। इसी प्रकार कृष्ण द्वारा

---

६१. क्षयमुपगतायां संध्यायां तद्विनाशदुःखिता कृष्णाजिनमिव विभावरी तिमिरोद्गमभिनवमवहत्। कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० ९९

६२. भ्रममाणो ततो दृष्ट्वा रजकं रंगकारकम्...... पीतनीलाम्बरौ ततः। विष्णु पु०, ५।१९।१४-१७

६३. सुवर्णाञ्जनचूर्णाभ्यां तौ तदा रूषिताम्बरौ। विष्णु पु०, ५।६।५

६४. दद्यात्स्त्रियै कौसुंभवाससी...... । मत्स्य पु०, ६२।२८

६५. महावग्ग, ५।१।१०

६६. ... अनल्पगुणकल्पिताम्... चित्रां वाचं पटीमिव। शिशुपाल वध, २।७४

६७. एकवस्त्रधरो...... भुञ्जीत । विष्णु पु०, ३।११।७७

६८. होमदेवार्चनाद्यासु... नैकवस्त्रः प्रवर्तेत। वही, ३।१२।२०

६९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक २९३

भी दो वस्त्र धारण किए जाने का उल्लेख मिलता है[७०]। मत्स्य पुराण में सारस्वत नामक व्रत के अवसर पर ब्राह्मण को वस्त्रद्वय देने का निर्देश है[७१]। इन उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वस्त्र की संख्या प्रायः दो ही रहती थी। सैन्धव सभ्यता के काल में भी वस्त्र की संख्या दो थी[७२]। पर, वैदिक ग्रन्थों से विदित होता है कि तीन की संख्या में वस्त्र का उपयोग होता था[७३]। नीवि (लँगोटी) वासस और अधिवास (चादर या दुपट्टा)। स्मृतियों में इन दो वस्त्र को धारण करने का आदेश दिया गया है[७४]।

उत्तरीय एवं उत्तरासंग—परिधानार्थ प्रयोजनीय वस्त्रों में सर्वप्रथम उत्तरीय का उल्लेख किया जा सकता है। मत्स्य पुराण में हिमवान् के उन्नत प्रान्तर को आवृत करने वाले मेघों की उपमा उत्तरीय से दी गई है[७५]। उत्तरीय का उल्लेख करते हुए विष्णु पुराण में वानप्रस्थी द्वारा प्रयोज्य वनसुलभ चर्म, काश और कुशों को इसका साधन माना गया है[७६]। वायु पुराण में कृष्णाजिन, विष्णु का उत्तरासंग-बोधक परिधान वर्णित है[७७]। उत्तरीय और उत्तरासंग दोनों शब्दों का प्रयोग चादर के लिए होता था[७८]। अन्य साक्ष्यों से भी उत्तरीय वस्त्र के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, कुमारसम्भव में तपश्चर्या-रत पार्वती द्वारा प्रयुक्त उत्तरासंग, त्वक् अर्थात् बल्कल द्वारा निर्मित बताया गया है[७९]। शिशुपालवध में एक नायिका उत्तरीय द्वारा वक्षःस्थल आवृत किए हुए वर्णित की गई है[८०]। उत्तरीय के

---

७०. विभ्राणं वाससी पीते । विष्णु पु०, ५।१७।२२
७१. वस्त्रयुग्मं च दद्यात् । मत्स्य पु०, ६६।१४
७२. मेके, इंडस वैली सिविलाइज़ेशन, पृ० १०३
७३. यत्ते वासः परिधानं या नीविं कृणुते स्वयम् । अथर्ववेद, ८।२।१६
अधीवासं परि मातू रिहन्नह । ऋग्वेद, १।१४०।६
७४. धौतवाससी बिभृयात् । विष्णु स्मृति, ६४।१४
७५. मेघोत्तरीयकं शैलं ददृशे स नराधिपः । मत्स्य पु०,११।४
७६. द्रष्टव्य, आश्रमविषयक अध्याय, पृष्ठांक २०३
७७. कृष्णाजिनोत्तरासंगन्ददृशेऽन्तर्जले हरिम् । वायु पु०, २५।३२
७८. अमरकोश, २।६।११७-११८
७९. त्वगुत्तरासंगवतीम् । कुमार सम्भव, ५।१६
८०. उत्तरीयविनयात्त्रपमाणा रुन्धती...कुचमण्डलम् । शिशुपालवध, १०।४२

विषय में मथुरा से प्राप्त वृष्णि-वीर की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है, जो उत्तरीय पहने हुए प्रदर्शित की गई है[८१]।

कंचुक और चोलक—ब्रह्माण्ड पुराण में मदमस्त महाकाल के कंचुक परिधान का प्रसंग उपलब्ध है[८२]। मत्स्य पुराण में लक्ष्मी कंचुकयुक्त वर्णित हैं[८३]। इसी प्रकार सूर्य को चोलक धारण किए हुए उल्लिखित किया गया है[८४]। ऐसा प्रतीत होता है कि कंचुक का उपयोग सारे शरीर को ढकने के लिए किया जाता था। कादम्बरी के वर्णनानुसार चण्डाल-कन्या ने जिस कंचुक को धारण किया था, उससे उसका शरीर ढका हुआ था[८५]। चोलक का उल्लेख नैषधीयचरितम् में भी आया है[८६]। कंचुक का चित्रण नागार्जुनीकोंड और अमरावती की कला में मिलता है[८७]। अजन्ता की कला में भी चोलक का चित्रण हुआ है, जिसके भित्ति-चित्र में एक स्त्री की आकृति इसे पहने हुए प्रदर्शित की गई है[८८]।

अधोवस्त्र : शाटी—मत्स्य पुराण में हिमालय के निम्न प्रान्तर में उपलब्ध देवदारु-वनों की उपमा अधोवस्त्र से दी गई है[८९]। विष्णु पुराण में धोती के लिए शाटी[९०] शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो सम्भवतः साड़ी शब्द का संस्कृत रूप है। इसी अर्थ में शाटी का उल्लेख वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी उपलब्ध है[९१]। प्रथम शताब्दी ई० पू० की बोधगया में उपलब्ध मिथुन मूर्ति में पुरुष-आकृति आजानु

---

८१. द्रष्टव्य, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, फलक १, चित्र ३

८२. श्यामकंचुकधारी मदारुणविलोचनः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३२।३

८३. कंचुकाबद्धगात्री च। मत्स्य पु०, २६२।४२

८४. चोलकच्छन्नवपुषम्। वही, २६१।४

८५. कञ्चुकेनावच्छन्नशरीराम्। कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० २२

८६. नैषधीयचरितम्, २२।४२

८७. मेमायर्स ऑफ़ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, नं० ७३ पृ०, ६६

८८. याज़दानी, अजन्ता, भाग १, फलक १७, पृ० २१

८९. देवदारुवनैर्नीलः कृताधोवसनं शुभम्। मत्स्य पु०, ११७।४

९०. स्नातो नांगानि सम्मार्जेत्स्नानशाट्या न पाणिना। विष्णु० पु०, ३।१२।२४

९१. एकशाटीपरिहितः। वसिष्ठ धर्मसूत्र, १।६

धोती पहने हुए अंकित की गई है[९२]। अजन्ता की कला में एक स्थल पर राजकुमारी की परिचारिकाओं को जानु-प्रदेश तक धोती पहने हुए प्रदर्शित किया गया है[९३]।

कौपीन—विष्णु पुराण में इसका उल्लेख हुआ है। इसे आच्छादन-प्राय तथा अपुण्यों का वस्त्र बताया गया है[९४]। गौतम-धर्मसूत्र के टीकाकार ने सूत्र में प्रयुक्त कौपीन की टीका करते हुए इसे आवरणमात्र की संज्ञा दी है[९५]। अमरावती की कला में एक साधु कौपीन पहने हुए प्रदर्शित है[९६]।

उष्णीष—मत्स्य पुराण में हिमालय के शिरोभाग को आवृत करने वाले मेघों की उपमा उष्णीष से दी गई है[९७]। प्रसंगान्तर में प्रस्तुत पुराण ने शिव के उष्णीष का उल्लेख किया है[९८]। वायु पुराण ने इसे शिवदूत द्वारा प्रयुक्त उल्लिखित किया है[९९]। उष्णीष पहनने का प्रचलन वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि यज्ञ के अवसर पर यजमान उष्णीष धारण करते थे[१००]। विष्णु स्मृति की व्यवस्थानुसार गृहस्थ को स्नान करने के उपरान्त उष्णीषयुक्त होना चाहिए[१०१]। नागार्जुनीकोंड की कला में एक स्थल पर मिथुन मूर्ति में पुरुषाकृति उष्णीष पहने हुए शृंङ्गार-सज्जित अवस्था में अंकित है[१०२]।

उपानह और पादुका—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार भोजन करते समय उपानह का पहनना गर्हित है[१०३]। पादुका का वर्णन मत्स्य पुराण में

९२. मेमायर्स ऑफ़ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, नं० ७३, फलक ७, चित्र २०
९३. वही, फलक ११, चित्र ३६
९४. कौपीनाच्छादनप्राया। विष्णु पु०, ५।३०।२०
९५. कौपीनाच्छादनार्थं वासो विभृयात्। गौतम धर्मसूत्र, ३।१८ कौपीनमिति नग्नतोच्यते। तदावरणमात्रं वासः। मस्करि-भाष्य
९६. शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूज़ियम, फलक ७२, चित्र १
९७. श्वेतमेघकृतोष्णीषम्। मत्स्य पु०, ११७।५
९८. उष्णीषिणे सुवक्त्राय। वही, ४७।१३०
९९. उष्णीषिणं चन्द्रधरम्। वायु पु०, ३०।१३२
१००. अथोष्णीषं संहृत्य......। श० ब्रा०, ५।३।२३
१०१. स्नातः सोष्णीषो धौतवाससी विभृयात्। विष्णु स्मृति, ६४।१४
१०२. मेमायर्स ऑफ़ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, वही, फलक ६, चित्र १८
१०३. सोपानत्कश्च यो भुंङ्क्ते। वायु पु०, ८३।४३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१९।४९

आता है। इसे दानार्थ उपयुक्त उपकरण माना गया है[१०४]। उपानह का उल्लेख गौतम धर्मसूत्र में भी आया है, जिसके व्यवस्थानुसार पर-प्रयुक्त उपानह का प्रयोग गर्हित है[१०५]। पादुका का वर्णन मालविकाग्निमित्र में मिलता है। मालविका को पवित्र मानते हुए रानी उसके साथ अपने दुर्व्यवहार की उपमा उस व्यक्ति से देती हैं, जो चन्दन को चन्दन न समझ कर उससे पादुका का काम लेता है[१०६]। जूते की उपयोगिता पुरातत्त्व साक्ष्यों से भी समर्थित होती है। उदाहरणार्थ, अजन्ता के भित्ति-चित्रों में एक स्थल पर राजा की आकृति जूतों को पहने हुए चित्रित है[१०७]।

केश-विन्यास—पौराणिक उद्धरणों में केश-विन्यास-विषयक विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। एतदर्थ, जो उपादान अपेक्षित थे और जो शैली-सज्जा प्रचलित एवं प्रतिष्ठित थी; उनकी समीक्षा वक्ष्यमाण पंक्तियों में प्रस्तुत है:—

तेल का प्रयोग—विष्णु पुराण में गृहस्थार्थ बालों को तेल द्वारा स्निग्ध कर सुन्दर वेश-परिकल्पन अपेक्षित बताया गया है[१०८]।

प्रसाधन—उक्त पुराण के अनुसार बालों को बैठकर सज्जित करना चाहिए[१०९]। वायु पुराण में बालों का प्रसाधन-विहीन होना कलियुगीन अधार्मिकता का द्योतक माना गया है[११०]। ब्रह्माण्ड पुराण ने ऐसे लोगों को धूर्त्त की उपाधि से अभिहित किया गया है[१११]।

मुण्डन तथा अर्द्ध-मुण्डन—वायु पुराण में उन कुमारों का सन्दर्भ प्राप्त होता है, जो महादेव के अट्टहास से उद्‌भूत हुए थे तथा मुंडित एवं अर्द्ध-मुण्डित थे[११२]। विष्णु पुराण के अनुसार ऐसे व्यक्ति का केश-मुण्डन व्यर्थ है, जो शुचिरहित मार्ग का अनुसरण करता है[११३]।

---

१०४. तथोपस्करपादुकैः । मत्स्य पु०, ५९।१४
१०५. न स्रगुपानहौ । गौतम धर्मसूत्र, ९।५
१०६. चन्दनं खलु मया पादुकापदेशेन दूषितम । मालविकाग्निमित्र, ५
१०७. याजदानी, अजन्ता, भाग १, फलक ३९, पृ० ५०
१०८. प्रस्निग्धामलकेशश्च । विष्णु पु०, ३।१२।३
१०९. न च निर्धूनयेत्केशान्नाचामेच्चैव चोत्थितः । वही, ३।१२।२४
११०. प्रनष्टचेतनाः पुंसो मुक्तकेशास्तु चूलिकाः । वायु पु०, ५८।५८
१११. प्रनष्टचेतनाः धूर्ताः मुक्तकेशास्तु चूलिकाः । ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।५८
११२. ततोऽस्य पार्श्वतो दिव्याः सर्वरूपाः कुमारकाः ।
जटी मुण्डी...अर्द्धमुण्डश्च जज्ञिरे । वायु पु०, २३।५३
११३. पुंसां जटाधारणमौण्ड्यतां वृथैव । विष्णु पु०, ३।१८।१०४

जटा—विष्णु पुराण के अनुसार यदि मनुष्य शुचि-सम्मित मार्ग का अनुसरण नहीं करता तो ऐसी स्थिति में उसका जटा-धारण करना व्यर्थ है[११४]। अन्यत्र आख्यात है कि आकंठ जलमग्न तपस्यार्थी अष्टावक्र मुनि की जटा बढ़कर भार स्वरूप हो गई थी[११५]। सप्तर्षियों के प्रसंग में वर्णित है कि जिस समय वे गंगा के जल में प्राणायाम करते हैं, उनकी जटा जल के तरंगों से तितर-बितर हो जाती है[११६]। वायु पुराण में महेश्वर के उपासनार्थी योगी कुमारों को जटी अर्थात् जटाधारी की संज्ञा प्रदत्त है[११७]।

श्मश्रु—विष्णु पुराण ने श्मश्रु का सन्दर्भ गृहस्थानुकूल सदाचार के विवरण में दिया है। प्रस्तुत प्रसंग में पुराण ने श्मश्रु-भक्षण शिष्टाचार के प्रतिकूल आचरण घोषित किया है[११८]।

नारी-समाज एवं केश-प्रसाधन—विष्णु पुराण ने कलियुगीन नारी के सौन्दर्य का कारण मात्र केश-प्रसाधन माना है[११९]। ब्रह्माण्ड पुराण में देवी अपने बालों को वेणी के रूप में बाँधे हुए वर्णित हुई हैं[१२०]। मत्स्य पुराण में देवांगनाओं का धम्मिल्ल अर्थात् जूड़ा के रूप में बाँधा हुआ बाल खोलना तारकासुर के पराक्रम की विशेषता बताई गई है[१२१]।

मुक्तकेश : अशुभ-द्योतक—मत्स्य पुराण के अनुसार कश्यप ने गर्भ-रक्षार्थ दिति को मुक्तकेश रहना मना किया था[१२२]। ब्रह्माण्ड पुराण में काम के शोक से व्यथित रति के विकीर्ण केशों का विवरण मिलता है[१२३]।

उपर्युक्त पौराणिक उद्धरणों का समर्थन अन्य साक्ष्यों से भी किया जा सकता

---

११४. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी ११३
११५. आकण्ठमग्नं सलिले जटाभारवाहं मुनिम्। विष्णु पु०, ५।३८।७४
११६. ततः सप्तर्षयो यस्याः प्राणायामपरायणाः।
तिष्ठिन्ति वीचिमालाभिरुह्यमानजटा जले। वही, २।८।११२
११७. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी ११२
११८. न श्मश्रु भक्षयेत्। विष्णु पु०, ३।१२।११
११९. स्त्रीणां रूपमदश्चैव केशैरेव भविष्यति। वही, ६।१।१६
१२०. वेणीकृतकचन्यस्तविलसच्चन्द्रपल्लवा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२८।२१
१२१. देवसीमन्तिनीनां तु धम्मिलस्य विमोचकः। मत्स्य पु०, १४७।१८
१२२. न मुक्तकेशा तिष्ठेत। वही, ८।४२
१२३. सा पर्यश्रुमुखी कीर्णकुन्तला। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३०।४४

है। कुमार सम्भव में वर्णित है कि पार्वती पितृ-गृह में अपना मुख प्रसाधित केशों से आकर्षक बनाती थीं[१२४]। शाकुन्तल से ज्ञात होता है कि इंगुदी के तेल से तपस्वी अपना सिर चिकना रखते थे[१२५]। मृच्छकटिक में वर्णित है कि यदि चित शुद्ध नहीं है, तो मुण्डित रहना भी व्यर्थ है[१२६]। रघुवंश में जटा और श्मश्रुधारी वृद्ध मन्त्रियों की तुलना न्यग्रोध वृक्ष से की गई है[१२७]। बालभरत में स्त्री की वेणी (चोटी) की उपमा कामदेव के दण्ड से प्रदत्त है[१२८]। भर्तृहरि ने रति-थकित कामिनी का धम्मिल्ल खुला हुआ बताया है[१२९]। रामायण से विदित होता है कि सीता ने श्रीराम के वियोग में केश-संस्कार नहीं किया था[१३०]। केश-विन्यास का प्रचलन पुरातत्त्व-साक्ष्यों से भी समर्थित होता है। उदाहरणार्थ, नागार्जुनीकोंड की एक स्त्री मूर्ति अपनी शिथिल वेणी को बाँधते हुए प्रदर्शित की गई है[१३१]।

अलंकार : सौन्दर्य-संवर्द्धन का साधन—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार नारी की सौन्दर्य-वृद्धि नाना आभूषण से होती है[१३२]। अन्यत्र दोनों पुराणों में वर्णित है कि प्रणयी दीर्घतमा के पास अपनी धाय को भेजने के पूर्व सुदेष्णा नामक बलि की पत्नी ने उसे आभूषणों से सुसज्जित किया था[१३३]। मत्स्य पुराण के प्रसंगानुसार भी बलि ने सुदेष्णा को दीर्घतमा के पास आभूषणों से विभूषित करके भेजा था[१३४]।

---

१२४. यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैः । कुमार सम्भव, ५।९

१२५. मा कस्यापि तपस्विनः इंगुदीतैलचिक्वणशीर्षस्य । अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक २

१२६. शिरोमुण्डितं...चित्तं न मुण्डितम् किमर्थं मुण्डितम् । मृच्छकटिक, ८।३

१२७. श्मश्रुप्रवृद्धि... प्लाक्षान्प्ररोहजटिलानिवमंत्रिवृद्धान् । रघुवंश, १३।७

१२८. पततीव पृष्ठे वेणिदण्डो मन्मथचर्मयष्टिकायमानः । बालभारत, १।५५

१२९. स्रस्तधम्मिल्लकानाम् । शृङ्गारशतक, २६

१३०. धृतामेकां बहून् मासान् वेणीम् । रामायण, ६।३३।३१

१३१. मेमायर्स ऑफ़ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे, नं० ७३, पृ० ३१

१३२. नानाभरणसंयोगाद्यथा नार्या विभूषणम् । वायु पु०, ८७।२४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६२।२४

१३३. स्वांच धात्रेयकीं तस्मै भूषयित्वा व्यसर्जयत् । वायु पु०, ९९।९६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७४।७१

१३४. पुनश्चैनामलंकृत्य ऋषये प्रत्यपादयत् । मत्स्य पु०, ४८।६८

अलंकार-विहीनता : अमंगल-द्योतक—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार कामदेव से वियुक्त होने पर रति ने अपने आभूषणों को उतार दिया था[१३५]। विष्णु पुराण में सुवर्ण, मणि, रत्नादि अलंकारार्थ प्रयोजनीय उपकरणों के अभाव में, मात्र केश-प्रसाधन कलियुगीन हीन अवस्था का लक्षण घोषित है[१३६]। अन्यत्र इस पुराण में आभूषणों की अक्षीणता के हेतु लक्ष्मी से प्रार्थना की गई है[१३७]।

अलंकार-निर्माता—मत्स्य पुराण के विश्वकर्मा को शिल्पी कहा गया है, जिसने देवताओं का आभूषण निर्मित किया था[१३८]। ब्रह्माण्ड पुराण में असुर-विनाशार्थ उद्यत देवी के आभूषणों का स्रोत विश्वकर्मा को बताया गया है[१३९]। अन्यत्र इस पुराण में आख्यात है कि जिस समय लक्ष्मी समुद्र के बाहर निकलीं, विश्वकर्मा ने उन्हें दिव्य आभूषण समर्पित किये थे[१४०]। समविषयक विवरण विष्णु पुराण में भी उपलब्ध है[१४१]।

शरीरांग के अनुसार अलंकार-भेद—ऐसा विदित होता है कि अलंकार के निर्माण एवं प्रयोग में शरीरांग की अनुकूलता पर ध्यान दिया जाता था। एतद्बोधक विवरण वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में प्राप्त होता है। इन दोनों पुराणों में निरूपित है कि जिस प्रकार गीतों के अलंकार में विपर्यास गर्हित है, वैसे ही चरणों में कुण्डल तथा कण्ठ में रसना धारण करना अर्थात् अलंकारों का अनुपयुक्त अंगों में प्रयोग अनुचित है[१४२]।

शिराभूषण : कुसुम—मत्स्य पुराण में पार्वती स्वर्णिम सरोवर के कमलों द्वारा सिर को विभूषित किए हुए वर्णित हुई हैं[१४३]। अत्रि-आश्रम में प्रिय द्वारा पुष्प-प्रयोग से सिर-सज्जा प्रस्तुत किये जाने पर आश्रम-वासिनी नारी

---

१३५. वैधव्यत्यक्तभूषणा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३०।४४

१३६. सुवर्णमणिरत्नादौ वस्त्रे चोपक्षयं गते।
कलौ स्त्रियो भविष्यन्ति तदा केशैरलंकृताः। विष्णु पु०, ६।१।१७

१३७. मा पुत्रान्मा सुहृद्वर्गं मा पशून्मा विभूषणम्। वही, १।६।१२८

१३८. विश्वकर्मा... शिल्पी... भूषणादिषु। मत्स्य पु०, ५।२७।२८

१३९. विश्वकर्मप्रदत्तानि भूषणानि च बिभ्रती। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२६।८४

१४०. भूषणानि च दिव्यानि विश्वकर्मा समर्पयत्। वही, ४।१०।८१

१४१. ददौ विभूषणान्यंगे विश्वकर्मा चकार ह। विष्णु पु०, १।६।१०४

१४२. न पादे कुण्डले दृष्टे न कण्ठे रसना तथा। वायु पु०, ८७।२५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६२।२५

१४३. तदब्जकृतशेखरा । मत्स्य पु०, १५८।३६

सुशोभित हो रही थीं[१४४]। वायु पुराण में शिवदूत वीरभद्र को मूर्द्धा को नाना प्रकार के कुसुमों से सुसज्जित वर्णित किया गया है[१४५]।

कुसुम-मंजरी—विष्णु पुराण के अनुसार स्वर्गीय पारिजात पुष्प की मंजरी से अपने केश-पक्ष को सुसज्जित करना सत्यभामा की बलवती इच्छा थी[१४६]।

पल्लव—ब्रह्माण्ड पुराण में देवी के केश-कलाप का पल्लवों द्वारा सजाए जाने का उल्लेख हुआ है[१४७]।

मुकुट—मत्स्य पुराण में हिमवान् के शिरोभाग में दृश्यमान चन्द्रमा और सूर्य की तुलना मुकुट से की गई है[१४८] तथा दैत्यराज मय के अनुचरों के मुकुटों के विशेषण-बोधनार्थ उत्कट शब्द व्यवहृत है[१४९]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी राक्षसों को मुकुट पहने हुए वर्णित किया गया है[१५०]। विष्णु पुराण की पंक्तियों में श्रीकृष्ण का मुकुट-मंडित प्रसंग उपलब्ध है[१५१]।

आपीड—विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण और बलराम मोर की पूँछों का आपीड धारण किए हुए वर्णित हैं[१५२]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी कृष्ण को मोर की पूँछों का आपीड पहने हुए प्रदर्शित किया गया है[१५३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के उपर्युक्त वर्णन में जिन राक्षसों को मुकुट-भूषित प्रदर्शित किया गया है, उन्होंने आपीड भी पहना था[१५४]।

किरीट—कदाचित् किरीट और आपीड एक ही अलंकार के दो नाम थे। यही

---

१४४. कान्तग्रथितैः पुष्पैरराज कृतशेखरा। वही, १२०।७

१४५. नानाकुसुममूर्द्धानम् । वायु पु०, ३०।१३३

१४६. विभ्रती पारिजातस्य केशपक्षेण मञ्जरीम्। विष्णु पु०, ५।३०।३७

१४७. वेणीकृतकचन्यस्तविलसच्चन्द्रपल्लवा । ब्रह्माण्ड पु०, ४।२८।२१

१४८. चन्द्रार्कमुकुटं क्वचित्। मत्स्य पु०, ११७।५

१४९. मुकुटैरपि चोत्कटैः। वही, १३६।२६

१५०. मुकुटोष्णीषधारिणः । वायु, ७०।६२, ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।६८

१५१. मुकुटाटोपमस्तकम् । विष्णु पु०, ५।६।१८

१५२. बर्हिपत्रकृतापीडौ । वही, ५।६।३२

१५३. बर्हापीडम् । ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२।२०

१५४. सकुंडलांगदापीडा । वायु पु०, ७०।६२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।६

कारण है कि कृष्ण के अलंकार-भूत मोर की पूँछ के लिए, विष्णु पुराण में आपीड नाम दिया गया है पर वायु पुराण में एतदर्थ किरीट शब्द प्रयुक्त किया गया है[१५५]। ब्रह्माण्ड पुराण में देवी के मुकुट को किरीट-युक्त बताया गया है[१५६]।

कर्णालंकार : दैवी सम्बन्ध—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वराह रूपधारी हरि की श्रुति का अलंकार वेदांग बताया गया है[१५७]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में वासुकि और तक्षक नामक सर्पों को शंकर का कर्णाभूषण वर्णित किया गया है[१५८]।

कुण्डलाकार : मकरसम—विष्णु पुराण के अनुसार जिस समय अक्रूर ने अपने ध्यान में कृष्ण को देखा, वे मकराकार कुण्डल धारण किए हुए थे[१५९]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी कृष्ण को मकर की आकृति वाले कुण्डलों को धारण किये हुए वर्णित किया गया है[१६०]।

कुण्डल के प्रयोक्ता : स्त्री एवं पुरुष—वायु पुराण में वर्णित है कि उत्तरकुरु के निवासी युवक कुण्डल धारण किए हुए सुशोभित होते हैं[१६१]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में राक्षसों को कुण्डल धारण किए हुए प्रदर्शित किया गया है[१६२]। मत्स्य पुराण के अनुसार जिस समय नारद बाणासुर के यहाँ पहुँचे, वह कुण्डल पहने हुए विराजमान था[१६३]। विष्णु पुराण में कृष्ण की अनुकृति करने वाले वाराणसी के राजा द्वारा कुण्डल धारण करने का उल्लेख हुआ है[१६४]। इसी प्रकार स्त्रियों द्वारा भी कुण्डल-प्रयोग के वर्णन उपलब्ध हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार जिस समय नृप ययाति देवयानी से बात कर रहे थे, वह कुण्डल पहने हुए थी[१६५]। ब्रह्माण्ड

---

१५५. शिखिपिच्छकिरीटेन । वायु पु०, १०४।४५; द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३०२; पाद टिप्पणी १५२

१५६. किरीटमुकुटोल्लासि । ब्रह्माण्ड पु०, ४।४०।२२

१५७. वेदांगश्रुतिभूषणः । वायु पु०, ६।१७; ब्रह्माण्ड पु०, १।५।१८

१५८. कर्णोत्तसं चकारेशो वासुकिं तक्षकं स्वयम् । मत्स्य पु०, १५४।४४४

१५९. स्फुरन्मकरकुण्डलम् । विष्णु पु०, ५।१८।४१

१६०. मकरसदृशे कुण्डले सन्दधानः । ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२।२०

१६१. कुण्डलभूषिताः । वायु पु०, ४५।४५

१६२. सकुण्डलांगदापीडा । वायु पु०, ७०।६२; ब्रह्माण्ड पु०, ३।८।६८

१६३. मणिकुण्डल...विराजितम् । मत्स्य पु०, १८७।२१

१६४. किरीटकुण्डलधरं... । विष्णु पुराण, ५।३४।१८

१६५. का त्वं चारुमुखी श्यामा सुश्लिष्टमणिकुण्डला । मत्स्य पु०, २७।१७

पुराण में देवी को कुण्डल द्वारा मण्डित प्रदर्शित किया है[१६६]। विष्णु पुराण में विवेचित है कि अदिति के कुण्डल नरकासुर द्वारा अपहृत किये गये थे[१६७]।

कण्ठाभूषण : मणि—विष्णु पुराण में हरि के कौस्तुभ नामक मणि का सन्दर्भ मिलता है[१६८]। ब्रह्माण्ड पुराण में कौस्तुभ का अधिष्ठान श्रीकृष्ण का वक्ष-प्रदेश वर्णित है[१६९]। विष्णु, ब्रह्माण्ड और वायु पुराणों में स्यमन्तक नामक मणि का प्रयोजनीय शरीरांग कण्ठ वर्णित है[१७०]।

हार—एतद्विषयक, जो पौराणिक वर्णन मिलते हैं; उनसे यही प्रतीत होता है कि इसके प्रयोग का प्रचलन स्त्री एवं पुरुष, दोनों ही वर्गों में था। वायु पुराण की पंक्तियों में हिरण्यमाली शब्द शिव के विशेषण-बोधनार्थ प्रयुक्त है[१७१]। मत्स्य पुराणोक्त दृष्टान्त के अनुसार नारद-बाणासुर-मिलन के अवसर पर असुरराज हार धारण कर सुशोभित हो रहा था[१७२]। ब्रह्माण्ड पुराण ने श्रीकृष्ण द्वारा हार-धारण का प्रसंग दिया है[१७३]। स्त्री-वर्ग में हार-प्रयोग का दृष्टान्त भी ब्रह्माण्ड पुराण की पंक्तियों में उपलब्ध होता है। इसके आख्यानुसार ऋचीक-आश्रम की निवासिनी स्त्रियाँ हार पहनकर सुशोभित हो रही थीं[१७४]।

पुष्पमाला—विष्णु पुराणोक्त विवरणानुसार श्रीकृष्ण एवं बलराम गोचारण के अवसर पर वनमाला धारण कर सुशोभित होते थे[१७५]।

---

१६६. दिव्यांगरासंभिन्नमणिकुण्डलाम । ब्रह्माण्ड पु०, ४।४४।२१

१६७. अमृतस्राविणी दिव्ये मन्मातुः कृष्ण कुण्डले । विष्णु पु०, ५।२९।११

१६८. विभर्त्ति कौस्तुभमणिरूपं भगवान्हरिः । वही, १।२२।६८

१६९. कौस्तुभोद्भासिवक्षाः । ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२।२०

१७०. सत्राजिदप्यमलमणिरत्नसनाथकण्ठतया । विष्णु पु०, ४।१३।१९
एतच्छ्रुत्वा स भगवान्मणिरत्नं स्यमन्तकम् ।
स्वकण्ठादवमुच्याथ बबन्ध नृपतेस्तथा । वायु पु०, ९६।२५;
ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।२६

१७१. हिरण्यमालिने । वायु पु०, ५९।४९

१७२. हारदोरसुवर्णैश्च चन्द्रकान्तविभूषितम् । मत्स्य पु०, १८७।२१

१७३. केयूरहारमणिकंकण । ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।६

१७४. रत्नकेयूरहारो । वही, ३।४२।२०

१७५. वनमालाविभूषितो । विष्णु पु०, ५।९।४

एक रंग की माला—वायु पुराण में ब्रह्मा के पुत्रों की मालाओं के रंग क्रमशः रक्त, पीत और श्वेत बताए गए हैं[१७६]।

अनेक रंगों की माला—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भूतों की माला के विभिन्न वर्ण वर्णित हैं[१७७]।

हस्ताभूषण : वलय—विष्णु पुराण के अनुसार रास के अवसर पर गोपियों के चंचल वलय झंकृत हो उठते थे[१७८]। श्रीकृष्ण के प्रवास के समय गोपियों के बाहु-वलय विरह-शोक के कारण शिथिल हो गये थे[१७९]। वायु पुराण के वर्णन से विदित होता है कि वलय का प्रयोग पुरुष भी करते थे। प्रस्तुत पुराण की पंक्तियों में उत्तरकुरु-वासी युवकों द्वारा वलय-धारण का विशेष प्रसंग प्राप्त होता है[१८०]।

कंकण—पौराणिक स्थलों की समीक्षा से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अलंकार के प्रयोग का प्रचलन केवल स्त्री-वर्ग में था। ब्रह्माण्ड पुराण के प्रसंगानुसार ऋचीक-आश्रम की निवासी स्त्रियाँ कंकण पहन कर सुशोभित हो रही थीं[१८१]। प्रस्तुत पुराण में ही वर्णित है कि भण्डासुर वधार्थ उद्यत देवी का पाणि मणिकंकण के कारण शोभायमान हो रहा था[१८२]। ललितोपाख्यान में निरूपित देवी के विषय में इस पुराण में आख्यात है कि उनके द्वारा प्रयुक्त कंकण, श्रेणी के रूप में विद्यमान थे[१८३]।

कटक—व्यक्त होता है कि कटक का प्रयोग स्त्री एवं पुरुष, दोनों ही वर्गों में प्रचलित था। विष्णु पुराण के विवरण में कटक, विष्णु का प्रिय अलंकार वर्णित है[१८४]। ब्रह्माण्ड पुराण में इसे देवी के मण्डन का कारण बताया गया है[१८५]।

---

१७६. वायु पु०, २३।१५, २४-५७

१७७. चित्रमाल्यानुलेपनान्। वायु पु०, ६९।५५३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।३७

१७८. ततः प्रववृते रासश्चलद्वलयनिस्वनः। विष्णु पु०, ५।१३।५१

१७९. श्लथद्वलयबाहुकः । वही, ५।१८।१३

१८०. वलयांगदकेयूरहार...। वायु पु०, ४५।४५

१८१. केयूरहारमणिकंकण......। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।६

१८२. पाणिना पद्मरम्येण मणिकंकणचारुणा। वही, ४।२८।२२

१८३. केयूरकंकणश्रेणीमण्डितान्सोर्मिकांगुलीन् वहन्ती...। वही, ४।३७।७५

१८४. केयूरहारकटकादिशोभित......। विष्णु पु०, ४।१५।१३

१८५. हारकेयूरकटकच्छन्नवीरविभूषणम् । ब्रह्माण्ड पु०, ४।४४।२१

मत्स्य पुराणोक्त विवरण में मयानुचरों के धातु-निर्मित कटक के प्रयोग का उल्लेख उपलब्ध होता है[१८६]।

केयूर—कटक की भाँति केयूर का प्रयोग भी स्त्री एवं पुरुष दोनों वर्गों में प्रचलित था। ब्रह्माण्ड पुराण की पंक्तियों में अत्रि-पुरी की ललनाओं का प्रिय अलंकार केयूर वर्णित है[१८७]। मत्स्य पुराण में त्रिपुर-वासिनी स्त्रियों के केयूर-भूषा का प्रसंग आया है[१८८]। ब्रह्माण्ड पुराण के प्रसंगान्तर में श्रीकृष्ण के शोभनीय रत्न-जटित केयूर का उल्लेख आया है[१८९]। वायु पुराण में उत्तरकुरु-वासी युवकों के द्वारा केयूर-धारण का सन्दर्भ प्राप्त होता है[१९०]। मत्स्य पुराण में नारद एवं बाणासुर के मिलन प्रसंग में असुरराज को केयूरधारी वर्णित किया गया है[१९१]।

अंगद—वायु पुराण में उत्तरकुरु के युवकों के अंगद द्वारा अलंकृत होने का वृत्तांत आया है[१९२]।

अंगूठी—विष्णु पुराण में विष्णु के व्यक्त रूप में उनके अंगूठी पहनने का उल्लेख हुआ है[१९३]। वायु पुराण में शिव के वरद रूप में उन्हें अंगूठी से युक्त वर्णित किया गया है[१९४]।

कटि-भूषण किंकिणी—मत्स्य पुराण के अनुसार पार्वती ने पुत्र-कल्प वीरक की मेखला को किंकिणी-युक्त किया था[१९५]।

मुक्ता-माला—मत्स्य पुराण में विवेचित है हिरण्यकशिपु के अनुचर दैत्य अपनी कमर में मुक्ता-दाम पहने हुए थे[१९६]।

---

१८६. लोहराजतसौवर्णैः कटकैर्मणिराजितैः । मत्स्य पु०, १३६।२६

१८७. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १७४

१८८. हारकेयूरभूषिता । मत्स्य पु०, १८८।३८

१८९. रत्नकेयूरहारो...... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।४२।२०

१९०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १८०

१९१. मणिकुण्डलकेयूरमुकुटेन विराजितम् । मत्स्य पु०, १८७।२१

१९२. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १८०

१९३. मुद्रिकारत्नभूषितम् । विष्णु पु०, ६।७।८५

१९४. मुद्रामणिधराय च । वायु पु०, २४।२४६

१९५. भूषयामास दिव्यैः स्वयं भूषणैः किंकिणीमेखलानूपुरैः । मत्स्य पु०, १५४।५५६

१९६. मुक्तावलीदामसनाथकक्षा... । वही, १६२।३४

कांची—ब्रह्माण्ड पुराण के विवरण में अत्रि-पुरी की नारियों के कांची-आभूषण का उल्लेख उपलब्ध है[१९७]।

नूपुर—ब्रह्माण्ड पुराण के उक्त प्रसंग में अत्रि-पुरी की स्त्रियाँ नुपूर धारण किए हुए वर्णित की गई हैं[१९८]। मत्स्य पुराण से ज्ञात होता है कि पार्वती ने वीरक को नूपुर से अलंकृत किया था[१९९]।

उपर्युक्त पौराणिक अलंकारों के समर्थन में विविध साहित्यिक तथा पुरातत्त्व-साक्ष्य उद्धृत किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, बालभारत की नायिका विवाह के अवसर पर शिर में पुष्पमाला बाँधे हुए वर्णित की गई है[२००]। शिशुपालवध में वर्णित काव्य-नायक के चंचल मुकुट से रश्मि-पुञ्ज प्रकाशित हो रहा था[२०१]। मालती-माधव में कालिदास ने जवा कुसुम से निर्मित आपीड का वर्णन किया है[२०२]। कादम्बरी में सामन्तों द्वारा किरीट पहनने का वर्णन मिलता है[२०३]। अमरावती की कला में एक स्थान पर रानी के केशकलाप में पुष्प-ग्रथन चित्रित किया गया है[२०४]। अजन्ता के भित्ति-चित्रों में राजाओं तथा राजपुरुषों को मुकुटालंकृत प्रदर्शित किया गया है[२०५]। रामायण में निशाचरों के कुण्डल-भूषित मुखमण्डल का उल्लेख मिलता है[२०६]। मृच्छकटिक के अनुसार जिस समय शकार के भय से वसन्तसेना भाग रही थी, उसके कुण्डल चंचल हो उठते थे[२०७]। अमरावती से प्राप्त सातवाहनकालीन यक्षी-मूर्ति के कर्णालंकार-बोधनार्थ कुण्डल का प्रचलन प्राप्त होता

१९७. कांचीकलापपरिशिंजितनूपुराभिः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।६

१९८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १९७

१९९. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १९५

२००. स्रक्शेखरं मूर्धनि... । बालभारत, १।२७

२०१. लोलमुकुटरश्मि... शिरः । शिशुपालवध, १५।३

२०२. जवापीडधारिणा... । मालतीमाधव, अंक ७

२०३. समस्तसामन्तकिरीट... । कादम्बरी, पूर्व भाग, श्लोक ३

२०४. मेमायर्स ऑफ़ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, वही, पृ० ३५, चित्र ५

२०५. मोतीचन्द, भा० वे० भू०, पृ० १८४

२०६. (वहन्ति यं) कुण्डलशोभिताननना...निशाचराः। रामायण, ५।८।७

२०७. प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डला। मृच्छकटिक, १।२४

है[२०८]। कण्ठाभूषण के उल्लेख वैदिक ग्रन्थों से ही मिलने लगते हैं। ऋग्वेद से विदित होता है कि ग्रीवा में मणि पहनने का प्रचलन था[२०९]। इसी प्रकार अश्विनीकुमारों द्वारा प्रयुक्त कमल-माल का सन्दर्भ भी इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है[२१०]। नागार्जुनीकोंड की कला में एक स्थल पर स्त्री-आकृति कण्ठ में हार पहने हुए प्रदर्शित है[२११]। अजन्ता की एक मिथुन-मूर्ति में पुरुष और स्त्री दोनों ही गले में हार पहने हुए अंकित किए गए हैं[२१२]।

कण्ठ के आभूषणों की भाँति हाथ के अलंकारों के साक्ष्य भी उद्धृत किए जा सकते हैं। शिशुपालवध की एक रमणी वलय पहने हुए वर्णित की गई है[२१३]। इसी ग्रन्थ में वर्णित श्रीकृष्ण के वलय में प्रयुक्त मणि की किरणों से उनके नख चमक रहे थे[२१४]। उत्तररामचरित में कंकण-युक्त सीता के करों की उपमा महोत्सव से प्रदत्त है[२१५]। रत्नावली में विदूषक बड़े गर्व के साथ कटक पहनता है[२१६]। प्रियदर्शिका से विदित होता है कि केयूर स्त्रियों का प्रिय अलंकार था[२१७]। शिशुपालवध के अनुसार श्रीकृष्ण दोनों भुजाओं में अंगद पहन कर अति सुशोभित हो रहे थे[२१८]। शाकुन्तल में दुष्यन्त द्वारा आंगुलीयक पहने जाने का उल्लेख मिलता

---

२०८. मेमायर्स ऑफ़ दि आक्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, नं० ७३, पृ० ५१, चित्र ७

२०९. हिरण्यकर्णमणिग्रीवम्..। ऋग्वेद, १।१२२।१४; द्रष्टव्य, वेदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १२०

२१०. गर्भं ते अश्विनौ देवा वा धत्तां पुष्करस्रजा। ऋग्वेद, १०।१८४।२

२११. पी० आर० रामचन्द्रराव, आर्ट ऑफ़ नागार्जुनीकोंड, फलक ५३, पृ० १४०

२१२. मेमायर्स ऑफ़ दि आक्यालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, वही, फलक ८, चित्र २४

२१३. वलयस्वनितेन तद्विवव्रे। शिशुपालवध, ७।४५

२१४. निसर्गरक्तैर्वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैर्नखाग्रैः। वही, ३।७

२१५. अयमागृहीतकमनीयकंकणस्तव मूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः। उत्तर-राम चरित, १।१८

२१६. इमं शुद्धसौवर्णकटकमण्डितहस्तमात्मनो ब्राह्मण्यै गत्वा दर्शयिष्यामि। रत्नावली, अंक १

२१७. केयूरिभिर्बाहुभिः... । प्रियदर्शिका, ३।४

२१८ तमंगदे... । शिशुपालवध, ३।६

है[२१९]। बालभारत में किंकिणीयुक्त मेखला का सन्दर्भ मिलता है[२२०]। पार्वती-परिणय में मणि-निर्मित काञ्ची पहने जाने की चर्चा मिलती है[२२१]। पैरों के आभूषण नूपुर के प्रसंग में मृच्छकटिक का वह स्थल उद्धरणीय है, जहाँ प्रिय-दर्शनार्थ वसन्तसेना नूपुर धारण कर जाती है[२२२]। इन उदाहरणों का समर्थन पुरातत्त्व-साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, साँची की कला में चित्रित पुरुषाकृति को हाथ में कड़ा जैसा अलंकार पहने हुए प्रदर्शित किया गया है[२२३]। नागार्जुनीकोंड की कला में एक स्थल पर स्त्री-पुरुष-आकृति की भुजाओं में अलंकार का चित्रण किया गया है[२२४]। अजन्ता की कला में भावात्मक मुद्रा में रमणी अपनी अंगुली में अँगूठी पहने हुए प्रदर्शित की गई है[२२५]। नागार्जुनीकोंड की एक मिथुन-मूर्त्ति में स्त्री और पुरुष आकृतियाँ कटि-प्रान्त में मेखला धारण किए हुए अंकित हैं[२२६]। अन्यत्र स्त्री-आकृति के पैर में नूपूर का अलंकरण किया गया है[२२७]।

अनुलेप—पौराणिक स्थलों में अनुलेप-विषयक वक्ष्यमाण उपकरणों का उल्लेख मिलता है।

लाक्षा-रस—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में प्रलय-पयोदों की तुलना लाक्षा के रक्त वर्ण से हुई है[२२८]। एक अन्य वर्णन में लाक्षा का विक्रय करना अपराध

---

२१९. आंगुलीयं दातुमिच्छति। अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १

२२०. क्वणन्मणिकिंकिणीमुखरमेखलामालिका । बालभारत, २।३

२२१. बद्धा मणिमयकाञ्ची तस्याः। पार्वती-परिणय, ५।१५

२२२. पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता। मृच्छकटिक, ५।३५

२२३. मार्शल ऐण्ड फ़ूशे, मानुमेण्ट्स ऑफ़ साँची, भाग २, फलक ५२

२२४. मे० ऑ० स० ई०, नं० ७३, फलक ६, चित्र १७

२२५. याज़दानी, अजन्ता, भाग १, फलक १७

२२६. मे० ऑ० स० ई०, वही, फलक ६, चित्र १८

२२७. पी० आर० रामचन्द्र राव, आर्ट ऑफ़ नागार्जुनीकोंड, फलक ४०, पृ० ११४

२२८. लाक्षारक्तनिभास्तथा। वायु पु०, १००।१६५
लाक्षारसनिभास्तथा । ब्रह्माण्ड पु०, ४।१।१६२

घोषित है[२२९]। विष्णु पुराण की पंक्तियों में केतु के अश्वों का वर्ण लाक्षा-रस के समान वर्णित है[२३०]।

चन्दन—विष्णु पुराण में शेष के अंगों में नागबधुओं द्वारा हरिचन्दन लगाए जाने का उल्लेख मिलता है[२३१]। मत्स्य पुराण में हिमवान् का रंग चन्दन द्वारा अनुलिप्त प्रदर्शित है[२३२]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में चन्दन हिमवान् का अनुलेप बताया गया है[२३३]। इसी वर्णन में अगुरु, कर्पूर, कस्तूरी और कुंकुम का उल्लेख भी आया है[२३४]।

अगुरु—मत्स्य पुराण की पंक्तियों में अगुरु का प्रसंग प्राप्त होता है। ऐसा वर्णित है कि दैत्यराज तारक ने अपने अंगों में कृष्णागुरु लगा रखा था[२३५]।

उशीर—विष्णु पुराण में विवेचित है कि कलियुग में केवल उशीर ही अनुलेपन-पदार्थ उपलब्ध होगा[२३६]।

पर्वतीय धातु—विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण और बलराम को विविध गिरि-धातुओं से विलिप्त अंगों वाला वर्णित किया गया है[२३७]।

अनुलेप-पात्र—विष्णु पुराण में कंस की धात्री के विषय में वर्णित है कि उसके पास एक अनुलेप का पात्र था। इसमें कंस के लिए अनुलेप रखा हुआ था[२३८]।

अनुलेप के प्रयोक्ता—पौराणिक स्थलों की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुलेप का प्रयोग-प्रचलन स्त्री-पुरुष दोनों ही वर्ग में था। विष्णु पुराण के अनुसार कंस की धात्री से मिले हुए अनुलेपन से श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने

---

२२९. क्षीरं सुरां च मांसं च लाक्षां गन्धं रसं तिलान्। वायु पु०, १०१।१६१; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१६४

२३०. लाक्षारसनिभारुणाः। विष्णु पु०, २।१२।२३

२३१. यस्य नागबधूहस्तैर्लेपितं हरिचन्दनम्। वही, २।५।२

२३२. चन्दनेनानुलिप्तांगं......। मत्स्य पु०, ११७।६

२३३. नानावर्णोत्तरासंगावृत्तांग इव...।
चन्दनागुरुकर्पूरकस्तूरीकुंकुमादिभिः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२२।५२

२३४. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २३३

२३५. कालागुरुविलिप्तांगं...। मत्स्य पु०, १४८।२८

२३६. भविष्यति कलौ प्राप्ते ह्यौशीरं चानुलेपनम्। विष्णु पु०, ६।१।५४

२३७. विलिप्तौ क्वचिदासातां विविधैर्गिरिधातुभिः। वही, ५।६।४६

२३८. राजमार्गे ततः कृष्णस्सानुलेपनभाजनाम्।
कंसेन विनियोजिताम्... अनुलेपनकर्मणि। वही, ५।२०।१४

शरीर पर पत्र-रचना बनाया था[२३९]। वायु पुराण में शिवदूत वीरभद्र द्वारा विविध गंध-अनुलेपन के प्रयोग का वर्णन मिलता है[२४०]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में अनुलेप का भूतों द्वारा प्रयुक्त किए जाने का वर्णन उपलब्ध है[२४१]। त्रिपुर के दैत्यों के बारे में मत्स्य पुराण में वर्णित है कि अंगराग से अलंकृत होकर वे अपनी प्रियाओं के साथ केलि कर रहे थे[२४२]। अंगराग का प्रचलन स्त्री-वर्ग में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठत था। मत्स्य पुराण के अनुसार ऐरावती नदी का जल देवांगनाओं के कुचचन्दन से सुगन्धमय हो रहा था[२४३]। त्रिपुर-स्त्रियों के प्रसंग में निरूपित है कि गोशीर्ष और हरिचन्दन से उनके पयोधर अमृत के घड़ों के समान सुशोभित हो रहे थे[२४४]। हिमालय के विवरण में निरूपित है कि वहाँ की भूमि अप्सराओं द्वारा प्रयुक्त आलक्तक से मुद्रित दिखाई देती थी[२४५]।

अंजन—विष्णु पुराण की पंक्तियों में प्रलय-पयोदों की उपमा जाती (पुष्प) के अंजन से प्रदत्त है[२४६]। अंजन-प्रयोगार्थ शलाका उपयोग में लाते थे तथा इसका विशेष प्रचलन स्त्रियों में था। मत्स्य पुराण में उद्यान-निर्माण-विधि के प्रसंग में वृक्षों के शलाका से अंजन-लेपन का वर्णन मिलता है[२४७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में कार्त्तिकेय को महिषासुर की स्त्रियों के अंजन का तस्कर बताया गया है[२४८]।

उपर्युक्त स्थलों से अनुलेपन के प्रचलन की सूचना मिलती है। जिन विभिन्न अनुलेपनों का प्रसंग इन स्थलों में चर्चित है, उनका समर्थन अन्य साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा भी किया जा सकता है। शाकुन्तल में वर्णित शकुन्तला जब पति-गृह जा रही थी, स्नेहार्द्र वनस्पतियों ने उसे लाक्षारस का उपहार दिया था[२४९]।

---

२३९. भक्तिच्छेदानुलिप्तांगौ... । विष्णु पु०, ५।२०।८
२४०. नानागंधानुलेपनम् । वायु पु०, ३०।१३३
२४१. चित्रमाल्यानुलेपनान् । वायु पु०, ६९।२४७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।३७
२४२. मृष्टस्रगनुलेपनाः । मत्स्य पु०, १३१।८
२४३. देवस्त्रीकुचचन्दनैः । वही, ११६।१६
२४४. गोशीर्षयुक्तैर्हरिचन्दनैश्च...पूर्णामृतस्येव सुवर्णकुम्भाः । वही, १३९।३०
२४५. सालक्तकैरप्सरसां मुद्रितं चरणैः क्वचित् । वही, ११७।६
२४६. जात्यञ्जननिभाः परे । विष्णु पु०, ६।३।३४
२४७. अञ्जनं चापि दातव्यं तद्वद्धेमशलाकया । मत्स्य पु०, ५९।६
२४८. महिषासुरनारीणां नयनाञ्जनतस्करम् । वायु पु०, ५४।१९; ब्रह्माण्ड पु०, २।२५।१६
२४९. लाक्षारसः केनचित् । अभिज्ञानशकुन्तलम्, ४।५

ऋतुसंहार में प्रमदा-पयोधर को चन्दन-चर्चित बताया गया है[२५०]। शिशुपालवध के अनुसार जिस समय यादव-रमणियाँ जल-विहार कर रही थीं, उनके पयोधरों में प्रयुक्त हरिचन्दन धुल जाते थे[२५१]। हर्षचरित के अनुसार प्राग्ज्योतिष् के अधीश्वर ने हर्ष के पास जिन उपहारों को भेजा था, उनमें गर्मी में शीतलता देने वाला गोशीर्ष नामक चन्दन भी सम्मिलित था[२५२]। चन्दन के अनुलेप पर अगुरु का विलेप लगाया जाता था। रघुवंश में गंगा और यमुना के संगम की तुलना, चन्दन-विन्यस्त अगुरु की पत्र-रचना से की गई है[२५३]। शिशुपालवध में काले बादलों के बीच में वर्तमान गौरांग नारद की उपमा कर्पूर के चूर्ण से दी गई है[२५४]। कुमार सम्भव से व्यक्त होता है कि पार्वती के चंदन-चर्चित स्तनों के संस्पर्श से कन्दुक का वर्ण अरुण हो जाता था[२५५]। शिशुपालवध के अनुसार पति के दुर्व्यवहार के कारण एक रमणी के नयनों से अञ्जन-मिश्रित आँसू निकल रहे थे[२५६]।

उक्त पौराणिक उद्धरणों के द्वारा वस्त्रालंकार के वैविध्य पर प्रकाश पड़ता है। स्थल-स्थल पर वैदिक प्रमाणों के अनुमोदन द्वारा इनकी प्राचीनता भी व्यक्त होती है। कतिपय उपकरण ऐसे भी हैं, जिनका समर्थन कालान्तर के साक्ष्यों द्वारा ही होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि वस्त्रालंकार से सम्बन्धित उद्धरण पुराणों में प्रायः विकीर्ण रूप में मिलते हैं। पुराणों का उद्देश्य इनका साक्षात् विवरण देना नहीं है। तथापि इनकी सहायता से तत्सम्बन्धी रूप-रेखा तैयार करने में सविशेष सहायता मिलती है। प्रसंग के अनुकूल पुरातत्त्वपरक साक्ष्य भी इनका समर्थन करते हैं। इससे निश्चय ही पुराणों में वर्णित वस्त्रालंकार के वास्तविक प्रचलन का स्पष्टीकरण व्यक्त होता है।

---

२५०. पयोधराश्चन्दनपंकचर्चिताम्। ऋतुसंहार, १।६

२५१. निर्धूते सति हरिचन्दने जलौघैः...। शिशुपालवध, ८।५१

२५२. हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास (गुरुपरितापमुषश्च गोशीर्षचन्दनस्य)। पृष्ठ २१६

२५३. अन्यत्र कालगुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव। रघुवंश, १३।५५

२५४. संमूढकर्पूरपरागपांडुरम्। शिशुपालवध, १।४

२५५. स्तनांगरागारुणिताच्च कन्दुकात्। कुमार सम्भव, ५।११

२५६. प्रापाक्ष्णोर्गलदपशब्दमञ्जनांभः। शिशुपालवध, ८।४३

मनोरंजन के साधन

आलोचित पुराणों के उद्धरण, उदाहरण एवं विधान-विशिष्ट स्थल मानव मनोविनोद के साधनभूत अनेक उपकरणों का सन्दर्भ देते हैं। एतद्विषयक विवरण प्रासंगिक एवं सोद्देश्य, दोनों ही रूपों में प्राप्त होते हैं। जिन उपकरणों का उल्लेख इनमें विशेष रूप से हुआ है, उनकी परिचर्चा वक्ष्यमाण अनुच्छेदों में विवृत है—

द्यूत—मत्स्य और विष्णु पुराणों में इसका वर्णन मिलता है। मत्स्य पुराण में वर्णित है कि द्यूत में कुशलता दिखाकर राजा को प्रसन्न करना चाहिए[1]। विवेचन-क्रम में यह भी आदेशित है कि राजा को द्यूत से परिहार करना चाहिए, क्योंकि यह राज-विनाश का कारण सिद्ध होता है[2]। अन्यत्र यह पुराण राजा निमि द्वारा अनेक स्त्रियों के साथ द्यूत-क्रीडा का उल्लेख करता है[3]। इसी प्रकार इस पुराण ने पार्वती द्वारा क्रीडागार में द्यूत-क्रीडा का सन्दर्भ दिया है[4]। विष्णु पुराण से विदित होता है कि कतिपय राजे जुआ खेलने में बहुत अभ्यस्त होते थे। उदाहरणार्थ, ऋतुपर्ण नामक राजा को अक्षहृदयज्ञ का विशेषण प्रदत्त है[5]। इस पुराण से जुए के विषय में कुछ विशिष्ट बातों का भी पता चलता है। जुए की बाजी होती थी। बाजी में मुद्राओं का दाँव लगाया जाता था। ऐसा विवेचित है कि रुक्मी और बलभद्र ने अनेक निष्कों का दाँव लगाया था। जुए के अभ्यस्त खिलाड़ियों को हराना गर्व समझा जाता था। बलभद्र के विषय में आख्यात है कि वे अनेक अक्षकोविदों को हराकर अवलेपान्ध हो गए थे। द्यूत के उपकरणों में केवल पासों का

---

१. द्यूतादिषु तथैवान्यत्कौशलं तु प्रदर्शयेत्।
प्रदर्श्य कौशलं चास्य राजानं तु विशेषयेत्। मत्स्य पु०, २१६।८

२. मृगयापानभक्षांश्च वर्जयेत् पृथिवीपतिः। वही, २२०।८

३. निमिर्नाम सह स्त्रीभिः पुरा द्यूतमदीव्यत। वही, ६१।३२

४. तत्राक्षक्रीडया देवी विहर्तुमुपचक्रमे। वही, १५४।५२०

५. तत्पुत्रश्च ऋतुपर्णः योऽसौ नलसहायोऽक्षहृदयज्ञोऽभूत्। विष्णु पु०, ४।४।३७

उल्लेख उपलब्ध है, जिन्हें अष्टापद कहते थे। सम्भवतः अष्टापद सुदृढ और बड़े होते थे। ऐसा वर्णित है कि बलभद्र ने रुक्मी का वध अष्टापदों से किया था[६]।

यह स्मरणीय है कि जुए का उल्लेख वैदिक साहित्य से ही मिलने लगता है। ऋग्वेद में द्यूत का सम्बन्ध गण से हुआ है[७]। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर यज्ञकर्त्ता जुआ खेलता था[८]। जहाँ तक उपर्युक्त पौराणिक स्थलों का सम्बन्ध है, इनके वर्णन स्मृति, अर्थशास्त्र तथा साहित्यिक ग्रन्थों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णु स्मृति और मनुस्मृति में जुए का खेलना राजा का चारित्रिक अवगुण माना गया है[९]। कौटिल्य ने भी नल और युधिष्ठिर का दृष्टान्त देते हुए जुए को राजाओं के लिए हेय बताया है[१०]। मृच्छकटिक का दर्दुरक नामक पात्र द्यूत द्वारा सर्वस्व नष्ट मानता है[११]।

मृगया—मत्स्य पुराण में द्यूत के समान मृगया को भी राजार्थ निषिद्ध किया गया है[१२]। पर, मृगया-प्रेमी राजाओं का वर्णन मत्स्य, विष्णु, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में उपलब्ध है। मत्स्य और विष्णु पुराणों में वर्णित है कि नृप प्रसेन स्यमन्तक नामक मणि से अलंकृत होकर मृगया-विहारार्थ वन में प्रस्थित हुये थे[१३]। सुदास के पुत्र मित्रसह के विषय में विष्णु पुराण में प्रसंग आता है कि मृगयावश अटवी में विहार करते हुए उन्होंने व्याघ्रयुगल में एक को अपने बाण

---

६. विष्णु पु०, ५।२८।१२-२२; जघानाष्टापदेनैव रुक्मिणं स महाबलः। वही, ५।२८।२३

७. यो वः सेनानीर्महतो गणस्य। ऋग्वेद, १०।३४।१२
हे अक्षाः वो युष्माकं महतो गणस्य संघस्य योऽक्षः सेनानीर्नेता। सायण

८. राजसूयेन यजते...यो वैतदेवं...यदक्षावापश्च। श० ब्रा०, ५।३।१-१५

९. मृगयाक्ष...परिहरेत्। विष्णु स्मृति, ३।५०
पानभक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्। मनुस्मृति, ७।५०

१०. अर्थशास्त्र, शाम शास्त्री-सम्पादित, पृ० ३९९

११. सर्वं नष्टं द्यूतेनैव। मृच्छकटिक, २।८

१२. कदाचिन्मृगयां यातः प्रसेनस्तेन भूपतिः। मत्स्य पु०, ४५।६

१३. प्रसेनस्तेन कण्ठसक्तेन स्यमन्तकेनाश्वमारुह्याटव्यां मृगयामगच्छत्। विष्णु पु०, ४।१३।३०

ारा विद्ध किया था[१४]। कहीं-कहीं मृगया-प्रेम के दुष्परिणाम पर भी प्रकाश डाला ाया है। विष्णु पुराण के अनुसार जब पाण्डु नृप वन में मृगया-विहार कर रहे थे, उस समय ऋषि के शापवश उनका पुंसत्व ही नष्ट हो गया[१५]। वायु और ब्रह्माण्ड ुराणों के अनुसार पुरुषों के लिए निषिद्ध उपवन में मृगया-विहार करने के कारण ुद्यम्न नामक राजकुमार, राजकुमारी के रूप में परिणत हो गया[१६]।

इन पौराणिक उद्धरणों का समर्थन स्मृति, अर्थशास्त्र, साहित्यिक एवं ुरातत्त्व-साक्ष्यों से किया जा सकता है। द्यूत के समान मृगया को भी विष्णु स्मृति एवं मनुस्मृति में पतन का कारण माना गया है[१७]। कौटिल्य ने तो मृगया को द्यूत से भी निकृष्ट उद्घोषित किया है[१८]। पर, अन्य ग्रन्थों में राजाओं के मृगया-प्रेम के दृष्टान्त उपलब्ध हैं। रामायण में मृगयार्थ प्रस्थान करने वाले हयारूढ राघव का उल्लेख हुआ है[१९]। रघुवंश में विवेचित है कि दशरथ के मन को मृगया ने चतुर कामिनी की भाँति हर लिया था[२०]। शाकुन्तल में दुष्यन्त को मृगयाविहारी विशेषण-बोधक शब्द से अभिहित किया गया है[२१]। गुप्त-कालीन मुद्राओं पर बाघ का आखेट

---

१४. सुदासात्सौदासो मित्रसहनामा ।
स चाटव्यां मृगयार्थी..एकं तयोर्बाणेन जघान। विष्णु पु०,४।४।४०-४२

१५. पाण्डोररण्यरण्ये मृगयायामृषिशापोपहतप्रजाजननसामर्थ्यस्य... । वही, ४।२०।४०

१६. उमावनं प्रविष्टस्तु स राजा मृगयां गतः।
पिशाचैः सह भूतैस्तु रुद्रैः स्त्रीभावमास्थितः। वायु पु०, ८५।२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६०।२७

१७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३१४

१८. अर्थशास्त्र, शाम शास्त्री-सम्पादित, पृ० ३९९

१९. यदाहि हयमारूढो मृगयां याति राघवः। द्रष्टव्य, स्पोर्ट्स ऐण्ड गेम्स ऐज़ रेफ़र्ड टु इन संस्कृत लिटरेचर, सरस्वती भवन स्टडीज़, भाग १०, पृ० ७८

२०. परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी। रघुवंश, ९।६९

२१. प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः। अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १

करने वाले गुप्तनरेशों का चित्र उत्कीर्ण मिलता है[२२]। द्यूत के समान मृगया की प्राचीनता भी वैदिक कालीन मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ, वाजसनेय संहिता तथा अथर्ववेद में मृगयाशील व्यक्ति के लिए मृगयु शब्द का प्रयोग मिलता है[२३]।

झूला—वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराणों में झूले का वर्णन उपलब्ध है। शिव द्वारा अधिष्ठित कैलाश पर्वत के विषय में वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि इस स्थान पर स्त्रियों का दल, दोला पर आनन्द ले रहा था। दोलाओं के गतिशील होने पर ध्वजाओं में बँधे हुए घंटे बज उठते थे[२४]। विष्णु पुराण में झूला का वर्णन श्रीकृष्ण की कथा-प्रसंग में मिलता है। ऐसा विवेचित है कि मनुष्य के रूप में अवतरित होने से वे वन में मानवोचित क्रीडाओं से आनन्द ले रहे थे। इसी प्रसंग में उनके द्वारा झूला झूले जाने का वर्णन मिलता है[२५]। इन पौराणिक साक्ष्यों को साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा भी समर्थित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रघुवंश में प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा दोला-विहार का उल्लेख उपलब्ध है[२६]। वात्स्ययान ने भी गृहोद्यान में दोला निर्मित करने की व्यवस्था किया है[२७]।

मल्लयुद्ध—विष्णु पुराण में दो स्थलों पर इसका उल्लेख हुआ है। ऐसा निरूपित है कि कृष्ण और बलराम नियुद्ध अर्थात् मल्लयुद्ध द्वारा क्रीडा कर रहे थे[२८]। इसका दूसरा उल्लेख कंस-वध के प्रसंग में आया है, जिसका विवरण एक

---

२२. अलटेकर; दि गुप्त गोल्ड क्वायंस इन दि बयाना होर्ड, एपेण्डिक्स २; पृ० ३२६

२३. मृगयुभ्यश्च वो नमः। वाजसनेय संहिता, १६।२७
मृगः स मृगयुस्त्वं...। अथर्ववेद, १०।१।२६

२४. दोलालंबितसम्पाते वनितासंघसेविते।
ध्वजैर्लंबितदोलानां घण्टानां निनदाकुले। वायु पु०, ५४।३५; ब्रह्माण्ड पु०, १।२५।३१

२५. मनुष्यधर्माभिरतौ मानयन्तौ मनुष्यताम्।
तज्जातिगुणयुक्ताभि क्रीडाभिश्चरेतुर्वनम्।
ततस्त्वान्दोलिकाभिश्च... । विष्णु पु०, ५।६।७-८

२६. ताः स्वमंकमधिरोप्य दोलया प्रेंखयन्परिजनापविद्धया। रघुवंश, १६।४४

२७. कामसूत्र, सूत्र ४०

२८. नियुद्धैश्च महाबलौ व्यायामं चक्रतुः...। विष्णु पु०, ५।६।८

अग्रिम अनुच्छेद में दिया जायगा[२९]। विष्णु पुराण के इस वर्णन का समर्थन महाभारतोक्त विवरण द्वारा पूर्णरूपेण होता है, जिसमें भीम, जरासंध आदि के नियुद्ध का उल्लेख हुआ है[३०]।

जलक्रीडा—प्रस्तुत क्रीडा का सन्दर्भ विष्णु और मत्स्य पुराणों में प्राप्त होता है। विष्णु पुराण की पंक्तियों में सहस्रार्जुन-कार्तवीर्य द्वारा अतिशय मद्यपान के उपरान्त नर्मदा में जलक्रीडा का अतीव सुन्दर चित्र चित्रित किया गया है[३१]। मत्स्य पुराण में हिमालय की सुरम्य स्थली में स्थित एक सरोवर के विषय में कहा गया है कि इसमें देवांगनाएँ विविध रूप से मनोरंजन कर रही थीं। कोई सुन्दरी अपने पति के ऊपर जल-प्रक्षेपण कर रही थी। कोई पति से जल द्वारा ताडित होने पर प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी। प्रियतम के जल-ताडन से खिन्न होकर कोई स्त्री, जब उसके ऊपर जल फेंक रही थी, उस समय परिश्रम के कारण उसके वक्ष-स्थल में कम्पन उत्पन्न हो रहा था। प्रियतम के जलताडन तथा केशों के आकर्षण से कोई सुन्दरी बन्धन के छूटने से मुख-मण्डल पर परिवृत केशराशि द्वारा इस प्रकार सुशोभित हो रही थी कि मानों मधुपों ने कमल को आकीर्ण किया हो। कोई स्त्री शीत के बहाने अपने प्रियतम से चिपक कर आलिगंन-सुख का अनुभव कर रही थी। कोई सुन्दरी जलार्द्र वस्त्रों से चिपके हुए अंगों द्वारा प्रिय को कामातुर कर रही थी। कोई स्त्री जल में कण्ठसूत्रों को पकड़ कर पति द्वारा आकर्षित की जा रही थी। कण्ठसूत्र के टूटने तथा जलमध्य गिरने पर किसी का पति हास्य का विषय बन रहा था। कोइ अंगना सूर्य की ओर पीठ कर अपने केशों से जल निचोड़ रही थी। उसे चट्टान पर बैठा हुआ प्रेमी कामातुर दृष्टि से देख रहा था। ऐसा वर्णित है कि जल-क्रीडा समाप्त होने के उपरान्त वह सरोवर रति-थकित कान्ता के समान छवियुक्त हो रहा था[३२]। इसमें सन्देह नहीं कि जलक्रीडा का मनोविनोद के साधनों में विशिष्ट स्थान था। वात्स्यायन का कथन है कि ग्रीष्म में ग्राह आदि भयंकर जीवों से रहित

---

२९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३२१

३०. सरस्वती भवन स्टडीज़, वही, पृ० ७६

३१. नर्मदाजलावगाहनक्रीडातिपानमदाकुलेन... । विष्णु पु०, ४।११।१९

३२. मत्स्य पु०, १२०।१२-२०; रतिक्रीडितकान्तेवरराज तत्सरोदकम्। वही, १२०।२१

जलाशय में जलक्रीड़ा के लिए जाना चाहिए[३३]। मेघदूत में मन्दाकिनी नदी के शीतल जल को कन्याओं की क्रीडा का साधन माना गया है[३४]।

गोष्ठी और संसद—गोष्ठी एवं संसद में आसन एवं परस्पर मिलने द्वारा भी मनोविनोद सम्पन्न किया जाता था। विष्णु पुराण के अनुसार एक बार यादवों की गोष्ठी में गार्ग्य के साले ने उन्हें नपुंसक कहकर सभी यादवों को हँसाया था[३५]। ब्रह्माण्ड पुराण का कथन है कि संसद में कृष्णचरित का संकीर्तन कल्याणकारी होता है[३६]। अन्यत्र जामदग्न्य को संसद में तथ्यवक्ता वर्णित किया गया है[३७]। मत्स्य पुराण से विदित होता है कि गोष्ठी, प्रकृति के सुरम्य वातावरण में सम्पन्न करते थे। ऐसा आख्यात है कि कृष्ण की स्त्रियाँ वसन्त ऋतु के अवसर पर सुन्दर सरोवर के किनारे गोष्ठी-सुख में लीन थीं[३८]।

उपर्युक्त पौराणिक वर्णन के आधार पर गोष्ठी और संसद के विषय में निम्नांकित निष्कर्ष निकाला जा सकता है। गोष्ठी और संसद परिहास और मनोविनोद का सम्मेलन था। इसका स्वरूप धार्मिक भी होता था। स्त्रियाँ भी गोष्ठी में भाग लेती थीं। इसका उद्देश्य नायक के विषय में शृंगारयुक्त कल्पना तथा स्मृतिगत विचारों का प्रकटीकरण रहा होगा। स्पष्ट है, ऐसे सम्मेलन में तथ्यवक्ता का विशेष सम्मान होता होगा। वात्स्यायन ने कहा है कि गोष्ठी में संस्कृत और देश-भाषा के बीच का अनुसरण कर बातचीत करने वाला व्यक्ति सम्मान का भाजन होता है[३९]। अफसढ के अभिलेख में आदित्यसेन को गोष्ठियों में परिहासशील तथा चतुरवक्ता बताया गया है[४०]।

---

३३. एतेन रचितोदग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीडागमनं विख्यातम्। कामसूत्र, सूत्र, ४६

३४. मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः...संक्रीडन्ते यत्र कन्याः। उत्तरमेघ, ६

३५. गार्ग्यं गोष्ठयां द्विजं श्यालष्षण्ढ इत्युक्तवान् द्विज।
यदूनां सन्निधौ सर्वे जहसुर्यादवास्तदा। विष्णु पु०, ५।२३।१

३६. नमन्ति भक्त्याऽथ समर्चयन्ति वै परस्परं संसदि वर्णयन्ति। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३७।२२

३७. संसदि तथ्यवक्ता। वही, ३।४०।३५

३८. निर्भरापानगोष्ठीषु प्रसक्ताभिरलंकृतः। मत्स्य पु०, ७०।४

३९. कामसूत्र, सूत्र ५०

४०. गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशीलः...। का० ई० ई०, भाग ३; पृ० २०४

अभिनय एवं नाटक—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि शंकर वाम पार्श्व में कपाल एवं नागों को धारण कर, एक हाथ से वर देते हुए और दूसरे में रुद्राक्ष ग्रहण किए हुए अभिनय की मुद्रा में स्थित रहते हैं[४१]। एक स्थल पर प्रस्तुत पुराण में नाट्यशास्त्र के बोधनार्थ नाट्यवेद शब्द का उल्लेख मिलता है। इसी सम्बन्ध में नाट्यवेद में निपुण वररुचि का वर्णन किया गया है[४२]। अन्यत्र रणकौशल में निपुणता दिखाने वाले मयानुचर दैत्यों की उपमा नटों से प्रदत्त है[४३]। देवासुर-युद्ध के प्रसंग में विवेचित है कि देवताओं ने असुरों को पराजित करने वाले पुरूरवा नृप का स्वागत अभिनय के प्रदर्शन द्वारा किया था। इस अवसर पर भरत मुनि द्वारा विरचित 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटक का अभिनय किया गया था। ऐसा निरूपित है कि अभिनय के समय लक्ष्मी का रूप उर्वशी ने धारण किया था। अभिनय करते समय उर्वशी पुरूरवा पर मोहित हो गई थी। अतएव भरत मुनि द्वारा बताए गए नियमों का उसे स्मरण न रहा। इस पर मुनि ने उसे स्वर्गच्युत होने का शाप दिया था[४४]। विष्णु पुराण में वर्णित है कि नाटक को जीविका-साधन बनाने वाला व्यक्ति नरक प्राप्त करता है[४५]। वायु पुराण के अनुसार

---

४१. कपालं वामपार्श्वे तु नागं खट्वांगमेव च।
एकश्च वरदो हस्तस्तथाऽक्षवलयो परः...नृत्याभिनयसंस्थितः। मत्स्य पु०, २५९।९-१०

४२. दोग्धा वररुचिर्नाम नाट्यवेदस्य पारगः। वही, १०।२५

४३. नृत्यमाना इव नटा...... । वही, १३६।३१,
अभिनय करने वाले को नट कहते थे। द्रष्टव्य, दशरूपक, ३।२

४४. लक्ष्मीस्वयंवरं नाम भरतेन प्रवर्तितम्।
मेनकामुर्वशीं रम्भां नृत्यतेति तदाऽदिशत्।
ननर्त सलयं तत्र लक्ष्मीरूपेण चोर्वशी।
सा पुरूरवसं दृष्ट्वा नृत्यन्ती कामपीडिता।
विस्मृताऽभिनयं सर्वं यत्पुरा भरतोदितम्।
शशाप भरतः क्रोधाद्वियोगादस्य भूतले। मत्स्य पु०, २४।२८-३१

४५. रंगोपजीवी... यात‍ि वैतरणीं नरः। विष्णु पु०, २।६।२२
रंग नाट्यशाला को कहते थे। दशरूपक, ३।२। अवलोक-टीका

देवताओं के चरित का अनुकरणकर्ता व्यक्ति यज्ञ और श्राद्ध में निमंत्रित करने योग्य नहीं है[४६]। ब्रह्माण्ड पुराण में विवृत है कि ललिता देवी का मनोविनोद नाटकों द्वारा होता है[४७]। ब्रह्माण्ड पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि गीतालंकार के उपयुक्त वर्णों और संस्थानों की अपेक्षा रखने से नाटक में सफलता मिलती है[४८]।

इन पौराणिक उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटक का मनोविनोद के साधनों में महत्त्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि मत्स्य पुराण ने इसका सम्बन्ध शिव से स्थापित किया है। यह भी स्पष्ट है कि नाटक-विषयक विशेष नियमों का अनुसरण सावधानी के साथ किया जाता था। उत्तररामचरित में भी सूत्रधार, अयोध्या का दृश्य और काल प्रस्तुत करना अपनी विशेषता बताता है[४९]। रत्नावली के नट, नाट्य-कला में अपनी दक्षता पर गर्व करते हैं[५०]। ब्रह्माण्ड पुराण के उपर्युक्त उद्धरण में गीतों की उपयुक्तता पर ध्यान आकर्षित किया गया है। नाटक में सचमुच ही गीतों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। शाकुन्तल का सूत्रधार भी नटी के समयानुकूल गीत पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करता है[५१]। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक का उद्देश्य मनोविनोद था। शाकुन्तल का सूत्रधार अपने नाट्यकला की सफलता का आधार सामाजिकों का श्रुतिप्रसाद मानता है[५२]। विष्णु और वायु पुराणों के उद्धरणों से लगता है कि अभिनय करने वालों को धार्मिक कृत्यों के बाहर समझा जाता था। मनुस्मृति में भी ऐसे लोगों को श्राद्धवर्जित घोषित किया गया है[५३]।

---

४६. गायनान्देववृत्तांश्च हव्यकव्येषु वर्जयेत्। वायु पु०, ७९।६९

४७. काव्यैश्चैव मधुरैः कर्णहारिभिः।
विनोदयन्त्यःश्रीदेवीं वर्तन्ते कुम्भसम्भव। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३७।८

४८. अलंकारास्तु वक्तव्याः स्वैः स्वैर्वर्णैः प्रहेतवः।
संस्थानायोगैश्च तथा सदा नाट्यावेद्यवेक्षया। वही, ३।६२।२

४९. एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानीन्तनश्च संवृतः। उत्तर-रामचरित, अंक १

५०. नाट्ये च दक्षा वयम्। रत्नावली, १।५

५१. सूत्रधारः-तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। अभिज्ञान-शकुन्तलम्, १।५

५२. किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः। वही, अंक १

५३. कुशीलबोऽवकीर्णो...... । मनुस्मृति, ३।१५५

उत्सव—विष्णु और मत्स्य पुराणों में एतद्विषयक वर्णन उपलब्ध हैं। विष्णु पुराण में वर्णित है कि श्रीकृष्ण मथुरा के निवसियों के लिए महोत्सव के समान आनन्दप्रद थे[५४]। असुरों को पराजित करने के उपरान्त देवताओं ने सुमेरु पर्वत पर महोत्सव आयोजित किया था। इस महोत्सव में सुरांगनाएँ भी सम्मिलित हुई थीं[५५]। कृष्ण-कथा के प्रसंग में समाजोत्सव का वर्णन मिलता है। इस अवसर पर कंस द्वारा नियुक्त मल्लों के साथ कृष्ण और बलराम का युद्ध हुआ था। इसे अवलोकनार्थ नगर के विभिन्न वर्गों की स्त्रियाँ आई थीं। इनके बैठने के लिए अलग-अलग आसनों का प्रबन्ध हुआ था[५६]। मत्स्य पुराण में तारकासुर के वधोपरान्त देवताओं द्वारा उत्सव मनाए जाने का उल्लेख मिलता है। इस अवसर पर देवगण स्तुतियों द्वारा अपनी प्रसन्नता दिखा रहे थे। उनकी स्त्रियाँ क्रीडा कर रही थीं[५७]। मत्स्य पुराण में देवोत्सव तथा वृक्षोत्सव का उल्लेख भी उपलब्ध है। पुराणकार ने देवोत्सव-दर्शन के विषय में राजा को सावधान किया है[५८]। वृक्षोत्सव के प्रसंग में यह आदेशित है कि यह उत्सव वृक्षारोपण के समय सम्पन्न करना चाहिए[५९]।

इन स्थलों से महोत्सव, समाजोत्सव, देवोत्सव और वृक्षोत्सव—उत्सव के चार प्रकारों की सूचना मिलती है। महोत्सव का आयोजन मानसिक प्रसन्नता का कारण था। यही कारण है कि विष्णु पुराण ने महोत्सव और श्रीकृष्ण के दर्शन को समकक्ष वर्णित किया है। उत्तररामचरित में निरूपित है कि श्रीराम को उनकी वल्लभा का कर मूर्तिमान् महोत्सव के समान आह्लाद प्रदान कर रहा था[६०]। महोत्सव को प्रसन्नता के अवसर पर आयोजित किया जाता था। रत्नावली नामक नाटिका में वसन्त के

---

५४. मथुरानगरीपौरनयनानां महोत्सवः । विष्णु पु०, ५।१८।२६

५५. जितेष्वसुरसंघेषु मेरुपृष्ठे महोत्सवः ।
बभूव तत्र गच्छन्त्यो ददृशुस्तं सुरस्त्रियः । वही, ५।३८।७२

[५६.] बलप्राणविनिष्पाद्यं समाजोत्सवसन्निधौ । वही, ५।२०।६८;
विशेष विवरणार्थ द्रष्टव्य, वही, ५।२०।१९-८१

५७. तस्मिन्विनिहते दैत्ये त्रिदशानां महोत्सवे ।
स्तुवन्तः षण्मुखं देवाः क्रीडन्तश्चांगनायुताः । मत्स्य पु०, १६०।२७-२८

५८. नैव देवोत्सवे वसेत् । वही, २१५।७४

५९. अनेन विधिना यस्तु कुर्यात् वृक्षोत्सवं बुधः । वही, ५९।१७ तथा वही, ५९।३-१६

६०. तव मूर्तिमान् इव महोत्सवः करः । उत्तररामचरित, १।१८

अवसर पर मनाए जाने वाले उत्सव को महोत्सव नाम दिया गया है[६१]। मुद्रा-राक्षस से विदित होता है कि पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता था[६२]। देवोत्सव में अधिक जनसंमर्द होना स्वभाविक ही था। यही कारण है कि मत्स्य पुराण में ऐसे सम्मेलन में जाना राजार्थ वर्जित विहित है। कौटिल्य ने भी राजा की सुरक्षा पर ध्यान रखते हुए कहा है कि ऐसे स्थानों पर राजा को तभी जाना चाहिए, जब कि सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था हो[६३]। समाजोत्सव में नियुद्ध आदि की व्यवस्था की जाती थी। इसके प्रचलन का मूल्यांकन अशोक के अभिलेखों से किया जा सकता है। अशोक ने इसके धर्मरहित स्वरूप के कारण इसे रोकने का प्रयत्न किया था[६४]। खारवेल के अभिलेख से भी समाजोत्सव की लोकप्रियता की सूचना मिलती है[६५]।

संगीत : दैवी सम्बन्ध—वायु पुराण में शिव को गीत और वाद्य में रत तथा नर्तनशील माना गया है[६६]। ब्रह्माण्ड पुराण में गान और वाद्य द्वारा देवी को प्रसन्न किए जाने का वर्णन मिलता है[६७]। इन उद्धरणों से संगीत की महत्ता पूर्णरूपेण प्रतिपादित हो जाती है।

धार्मिक अवसरों पर संगीत—मत्स्य पुराण में मदनद्वादशी नामक व्रत के विषय में विवेचित है कि इस अवसर पर गीत और वाद्य का प्रबन्ध करना चाहिए[६८]। गुडधेनु नामक व्रत के विषय में निरूपित है कि इस व्रत में निरन्तर गीत और वाद्य में रत रहने से विशेष फल मिलता है[६९]। शुक्लतीर्थ के प्रसंग में विवृत है कि इस क्षेत्र में नृत्य-गीतादि मांगलिक विधानों को सम्पन्न करना चाहिए[७०]।

---

६१. पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय । रत्नावली, १।८
६२. कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः । मुद्राराक्षस, अंक ३
६३. अर्थशास्त्र, शाम शास्त्री-सम्पादित, पृ० ५०
६४. न च समाजो कतव्यो। बहुकं कि दोसं समाजम्हि पसति देवानांपियो पियदसी राजा। सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० १६
६५. उत्सवसमाज कारापनाहि च...... । सरकार, वही, पृ० २०७
६६. नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रकारिणे । वायु पु०, ३०।१९७
६७. महाराज्ञीगुणान्गायन्तो वल्लकीस्वनैः । ब्रह्माण्ड पु०, ४।३३।१६
६८. गीतं वाद्यं च कारयेत् । मत्स्य पु०, ८।१४
६९. तस्मादग्रे हरेर्नित्यमनन्तं गीतवादनम् । वही, ८२।३०
७०. जागरं कारयेत्तत्र नृत्यगीतादिमंगलैः । वही, १९२।२९

वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि नैमिषारण्य में होने वाले यज्ञ में गन्धर्व साम-गान कर रहे थे तथा अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं[७१]।

मांगलिक अवसर एवं संगीत—विष्णु पुराण के अनुसार श्रीराम का राज्याभिषेक वाद्य, गीत और नृत्य द्वारा सम्पन्न हुआ था[७२]। मत्स्य पुराण के प्रसंगानुसार शिव की बारात में मुरज, तुम्बर आदि बाजों के साथ मूर्च्छनायुक्त गीत गाया जा रहा था[७३]। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के वर्णनानुसार वासुदेव के जन्म के अवसर पर आनक, दुन्दुभि आदि बाजे बजाए जा रहे थे[७४]।

रास-मण्डल—विष्णु पुराण में निरूपित है कि निर्मल आकाश, शारदीय चन्द्रिका और दिशाओं को सुरभित करने वाली विकसित कुमुदिनी को मुखर मुधुकर से मनोहर देखकर श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ अभिरमण करने की इच्छा की। उस समय वे प्रमदाओं को मनोहर प्रतीत होने वाले मधुर, स्फुट एवं मृदुल पद धीरे-धीरे गाने लगे। उनकी सुखद गीतध्वनि को सुनकर अपने आवासों को छोड़कर गोपियाँ धीरे-धीरे वहीं चली आईं। वहाँ आकर कोई गोपी तो उनके स्वर में स्वर मिलाकर गाने लगी। कोई केवल उनका नामोच्चारण कर प्रसन्नता प्राप्त कर रही थी। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण ने रास-मण्डल की रचना की। रासक्रीडा में शारदीय गीत गाए जा रहे थे। गोपियों के चंचल कंकण की झनकार तथा उनके नृत्य के कारण रास का स्वरूप बड़ा मनोहर हो गया था[७५]। मत्स्य पुराण में शिव-विवाह

---

७१. जगुः सामानि गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः। वायु पु०, २।२८; ब्रह्माण्ड पु०, १।२।३१

७२. नृत्यगीतवाद्याद्यखिल...... । विष्णु पु०, ४।४।९९

७३. न जातयोध्वनिमुरजासमीरिता न मूर्छिताः किमिति च मूर्छनात्मकाः। श्रुतिप्रियक्रमगतिभेदसाधनं ततादिकं किमिति न तुंबरेरितम्। मत्स्य पु०, १५४।४६३

७४. वसुदेवस्य जातमात्रस्यैव... आनकदुन्दुभयो वादिताः। विष्णु पु०, ४।१४।२८
जज्ञे तस्य प्रसूतस्य दुन्दुभिः... आनकानां सह्लादः। वायु पु०, ९६।१४५; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७१।१४६-१४७

७५. ततः प्रववृते रासश्चलद्वलयनिस्वनः। विष्णुपु०, ५।१३।५१; विशेष विवरणार्थ द्रष्टव्य, ५।१३।१४-१६, ४८-५०

के विवरण में निरूपित है कि इस अवसर पर उनके गण वीरभद्र ने अन्य गणों को रास-रचना का अदेश दिया था। रास में शिव के यशोगान की आशा की गई थी[७६]।

संगीत के अवसर पर मदिरापान—विष्णु पुराण के अनुसार गीत और वाद्य में कुशल गोप और गोपी के साथ बलराम मदिरापान करते थे[७७]। मत्स्य पुराण में त्रिपुर के दैत्यों के विषय में निरूपित है कि मदिरा-भूमि में वे सुखपूर्वक गान करते थे। वर्णन-क्रम में यह विवृत है कि उस समय स्त्रियों के प्रलाप को छोड़कर वे तन्त्री के प्रलापों में अनुरक्त थे[७८]।

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि संगीत मनोविनोद का प्रिय साधन था। इस विषय में कतिपय अन्य स्थल भी उल्लेखनीय हैं। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में नृप ककुद्मी के विषय में वर्णित है कि वे अपनी कन्या के साथ संगीत-श्रवणार्थ ब्रह्मा की सभा में गए थे। संगीत सुनने में वे इतने लवलीन हो गए कि उनकी अनुपस्थिति में उनका राज्य भी निकल गया[७९]। इसी प्रकार शिव के विषय में दोनों पुराणों में विवेचित है कि उनकी कन्दरा में वीणा आदि के निरन्तर घोष द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय को बहुत सुख मिलता है[८०]। ब्रह्मलोक की विद्याधरियों के विषय में

---

७६. अमी पृथग्विरचितरासरम्यकं...। मत्स्य पु०, १५४।४६२ तथा १५४।४६३-४६४, रास में मण्डल बनाकर नाचा जाता था। नृत्य के अतिरिक्त गान और वाद्य का भी इसमें संयोग रहता था। ऐसे अवसर पर एक दूसरे का कर-ग्रहण किया जाता था। द्रष्टव्य, पण्डित अनन्त शास्त्री फड़के, संस्कृत साहित्ये वर्णिताः क्रीडाः, सरस्वती भवन स्टडीज़, पृ० ७५

७७. पपौ च गोपगोभिस्समुपेतो मुदान्वितः।
प्रगीयमानो ललितं गीतवाद्यविशारदैः। विष्णु पु०, ५।२५।७

७८. तन्त्रीप्रलापास्त्रिपुरेषु रक्ताः स्त्रीणां प्रलापेषु पुनर्विरक्ताः।
आपानभूमीषु सुखप्रमेयं गेयं प्रवृत्तं त्वथ साधयन्ति। मत्स्य पु०, १३९।३१।३२

७९. कन्यया सह श्रुत्वा च गान्धर्वं ब्रह्मणोऽन्तिके...। वायु पु०, ८६।२६, २७-३०; ब्रह्माण्ड पु०, २।६१।२२

८०. वीणावादित्रनिर्घोषैः श्रोत्रेन्द्रियमनोरमैः। वायु पु०, ५४।३४; ब्रह्माण्ड पु०, २।२५।३०

ब्रह्माण्ड पुराण में विवृत है कि उनका नृत्य अतीव प्रसन्नता के साथ अवलोकन किया जाता है[८१]।

संगीत की लोकप्रियता के उल्लेख अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। कामसूत्र में संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य विहित है[८२]। संगीत के गीत, वाद्य तथा नृत्य तीन भेद बताये गए हैं। शाकुन्तल की नटी शारदीय गीत द्वारा सामाजिकों का मनोविनोद करती है[८३]। संगीत में वाद्य का भी सम्मिश्रण रहता था। मेघदूत में अलकापुरी के प्रासादों को संगीतार्थ बजाए जाने वाले मुरज आदि वाद्यों के स्निग्ध और गम्भीर घोषों से मुखरित माना गया है। ऐसे अवसरों पर मदिरापान मस्ती के लिए किया जाता था[८४]। रत्नावली नामक नाटिका में वसन्तोत्सव के अवसर पर मदिरापान से मस्त कामिनियों के नर्तन का उल्लेख उपलब्ध है[८५]।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आलोचित पुराणों में अनेक प्रकार के मनोविनोद के साधन का उल्लेख हुआ है, जिनसे उनकी समाजिक मान्यता का पता चलता है। इनमें कतिपय मनोविनोद ऐसे हैं, जिनका प्रचलन वैदिक-काल में भी था एवं कतिपय के विषय में उपेक्षा प्रकट करते हुए उन्हें निषिद्ध भी किया गया है। अन्य व्यवस्थापकों ने भी उन्हें आज्ञप्त नहीं किया है। पर, पौराणिक उदाहरणों का अन्य साक्ष्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये निषेधात्मक वचन व्यवहार में अधिक सत्य नहीं थे। इसके अतिरिक्त मनोविनोद के जिन साधनों का आयोजन धार्मिक अवसरों पर किया जाता था, उनका स्वरूप आनुषंगिक होने पर भी मनोरंजन की दृष्टि से उनका स्थान महत्त्वपूर्ण ही था।

---

८१. विद्याधरीणां नृत्यं पश्यन्तं सस्मितं मुदा। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३१।२३

८२. कामसूत्र, पृ० ६२

८३. सूत्रधारः— किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः तदिममेव तावत्-ग्रीष्मसमयधिकृत्य गीयताम्। अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १

८४. संगीताय प्रहतमुरजाः स्तिग्धगम्भीरघोषम्। उत्तर मेघ, १

८५. मधुमत्तकामिनी... नृत्य...... । रत्नावली, अंक १

अन्न-पान

पौराणिक उद्धरण एवं उदाहरणों में अन्न का परिचिन्तन मनुष्यमात्र के अपरित्याज्य आवश्यकता एवं शरीर-निर्वाह के अनन्य साधन के रूप में किया गया है। जिन विभिन्न पौराणिक स्थलों में अन्न की यह बद्धमूल महत्ता सन्निहित है तथा जिनके द्वारा मानव-जीवन एवं अन्न का निर्वाह्य तथा निर्वाहक सम्बन्ध सुनिर्णीत हो जाता है, उनका सांगोपांग निरूपण प्रस्ताविक पंक्तियों में विवेच्य है।

अन्न की महत्ता—वायु पुराण में प्राण और अपान, दोनों का तादात्म्य आत्मा से स्थापित किया गया है। एक में अन्तरात्मा तथा दूसरे में बहिरात्मा का सन्निधान उद्घोषित है। ऐसा विवेचित है कि प्राण और अपान दोनों की प्रतिष्ठा अन्न के कारण है। अन्नाभाव मृत्यु का कारण है। अन्न ब्रह्म है, जो प्रजासृष्टि का मूल है[१]। विष्णु पुराण में अन्न को बल का कारणभूत वर्णित किया गया है, जो शरीर में स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चारों तत्त्वों में वृद्धि लाता है। यह; प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान की पुष्टि कर अव्याहत सुख प्रदान करता है। अन्न का समीकरण विष्णु से किया गया है[२]। एतद्बोधक परंपरा का प्रतिष्ठापन वैदिक काल में हो चुका था। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में अन्न को आत्मा कहा गया है[३]।

---

१. द्वावात्मानावुभावेतौ प्राणापानावुदाहृतौ ।
तयोः प्राणोऽन्तरात्मास्य वाह्योऽपानोऽत उच्यते ।
अन्नं प्राणस्तथापानं मृत्युर्जीवितम् एव च ।
अन्नं ब्रह्म च विज्ञेयं प्रजानां प्रसवस्तथा । वायु पु०, १५।११-१३

२. अन्नं बलाय मे भूमेरपामग्न्यनिलस्य च ।
प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोस्तथा ।
अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममाप्यव्याहतं सुखम् ।
विष्णुरत्ता तथैवान्नम्...... । विष्णु पु०, ३।११।६१-६२-६५

३. तस्मादन्नमात्मना परिहितमात्मैव भवति । श० ब्रा०, १२।४।१।२

अन्न-विषयक उपर्युक्त महत्ता को प्रतिपादित करते हुए पौराणिक स्थल विविध अनाजों का विवरण भी देते हैं। इनमें निम्नांकित विशेषतया उल्लेखनीय हैं—व्रीहि (धान) यव (जव), गोधूम (गेहूँ), अणु (छोटा धान), तिल, प्रियंगु (कांगनी) उदार (ज्वार), कोरदूष (कोदो), वीनक (मटर), माष (उड़द), मुद्ग (मूँग), मसूर, निष्पाव (बड़ी मसूर), कुलत्थ (कुलथी), आढक्य (अरहर), चणक (चना) और शण (सन)। इन आनाजों का विवरण देते हुये विष्णु पुराण में निरूपित है कि इनकी उत्पत्ति ग्राम में होती है। ग्राम्य और वन्य दोनों प्रकार के अनाजों की संख्या चौदह है। इनका उपयोग केवल यज्ञों में होता है। इनके निम्नांकित प्रकार बताए गए हैं—व्रीहि (धान), यव (जव), माष (उड़द), गोधूम (गेहूँ), अणु (छोटा धान), तिल, प्रियंगु (कांगनी), कुलत्थ (कुलथी), श्यामक (सावाँ), नीवार, जर्तिल (वनतिल), गवेधु, वेणुयव तथा मर्कटक (मक्का)[४]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि वैन्य के द्वारा पृथिवीतल के समतल बनाए जाने पर ग्राम्य तथा वन्य दो प्रकार के अनाजों की उत्पत्ति हुई। ग्रामीण अनाजों के वक्ष्यमाण भेद बताए गए हैं—व्रीहि, यव, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु, उदार, कारुप, वीनक, माष, मुद्ग, मसूर, निष्पाव, कुलत्थ, आढ्यक (ब्रह्माण्ड में हरिक), चणक तथा साण। यज्ञोपयोगी ग्राम्य और वन्य अनाजों के निम्नलिखित भेद उपलब्ध हैं—व्रीहि, यव, माष, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु, कुलत्थिक, श्यामक, नीवार, जर्तिल, गवेधु, कुरुविन्द, वेणुयव तथा मर्कटक (ब्रह्माण्ड पुराण में मातीर्काटक)[५]। मत्स्य पुराण में केवल गोधूम, चणक और निष्पाव का उल्लेख मिलता है[६]।

उपर्युक्त पौराणिक स्थलों से अनाजों के वैविध्य पर प्रकाश पड़ता है। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में अनाजों की जो तालिका प्राप्त है, उनमें पर्याप्त समता भी दिखाई देती है। मत्स्य पुराण में अनाजों की सूची नहीं मिलती। गोधूम, चणक और निष्पाव के उल्लेख प्रसंगतः ही प्राप्त होते हैं। इन अनाजों में यव शब्द अधिक प्राचीन है। इसके उल्लेख ऋग्वेद से ही मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ, एक छन्द में पूषा से सोम के बार-बार प्राप्ति की उपमा बैलों द्वारा खेत में यव बोए जाने की क्रिया से दी गई है[७]। अथर्ववेद में यव का उल्लेख व्रीहि, माष और

---

४. विष्णु पु०, १।६।२१-२६

५. वायु पु०, ८।१४३-१४६; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१४२-१४६

६. मत्स्य पु०, ७४।६-६०।२७

७. उतो स मह्यमिन्दुभिः...... गोभिर्यवं न चर्कृषत्। ऋग्वेद, १।२३।१५

तिल के साथ हुआ है[८]। शतपथ ब्राह्मण में यव की चर्चा व्रीहि और श्यामक के साथ हुई है[९]। वाजसनेय संहिता में यव का वर्णन व्रीहि, माष, तिल, मुद्ग, प्रियंगु, अणु, श्यामक, नीवार और गोधूम के साथ मिलता है[१०]।

अनाज-निर्मित भोज्य पदार्थ : यवागू और यावक—यवागू और यावक का उल्लेख वायु पुराण में मिलता है तथा यावक का वर्णन विष्णु पुराण में। वायु पुराण में निवृत है कि योगी को यवागू तथा यावक का भोजन करना चाहिए। इससे उनकी सिद्धि-वृद्धि में योग मिलता है[११]। विष्णु पुराण के अनुसार जिस समय गृहस्थ निदाघ के घर उसके आचार्य ऋभु पहुँचे, उसने उन्हें यावक खिलाने की इच्छा प्रकट की थी। पर, ऋभु ने यावक को कुत्सित भोजन बताकर इसे ग्रहण करने के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट की थी[१२]।

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यावक सादा भोजन माना जाता था। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि यावक जौ से बनाया जाता था। इस सन्दर्भ में निरूपित है कि यावक बनाने के लिए तौल से जितना जव लिया जाय, बना हुआ यावक उसका दुगना उतरना चाहिए[१३]। यवागू का वर्णन जातकों में अनेकत्र आता है[१४]। पाणिनि के 'गोयवाग्वोश्च' सूत्र से विदित होता है कि यह जव से बनता था[१५]। महाभाष्य से ज्ञात होता है यवागू आधुनिक लप्सी की भाँति कोई द्रव भोजन था[१६]।

सक्तु—एतद्विषयक उल्लेख विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य, चारों पुराणों में हुआ है। विष्णु पुराण में इसका वर्णन ऋभु और निदाघ की कथा में मिलता है, जहाँ इसे निःस्वाद भोजन बताया गया है[१७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इसे

---

८. व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। अथर्ववेद, ६।१४०।२
९. व्रीहिर्वा यवो वा श्यामको वा। श० ब्रा०, १०।४।६।२
१०. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च... मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च। वाजसनेय संहिता, १८।१२
११. भैक्षं यवागूं तक्रं वा पयो यावकमेव। वायु पु०, १६।१३
१२. सक्तुयावकवाट्यानामपूपानां च मे गृहे। विष्णु पु०, २।१५।१२
१३. अर्थशास्त्र, २।१५
१४. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १२१
१५. अष्टाध्यायी, ४।२।१३६
१६. महाभाष्य, ७।३।६९
१७. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी, १२

श्राद्ध-सम्बन्धी भोज्य पदार्थों के अन्तर्गत निरूपित किया गया है । ऐसा विवेचित है कि सक्तु से पितरों को एक वर्ष तक तृप्ति मिलती है[१८] । मत्स्य पुराण में इसकी उपयोगिता अद्भुत शान्ति के विषय में स्पष्ट की गई है तथा ऐसा आदेशित है कि जब भविष्यकालीन अनिष्ट की सूचना मिले, उस समय सक्तु से वायु की पूजा सम्पन्न करनी चाहिए[१९] ।

यद्यपि विष्णु पुराण में सक्तु को निःस्वाद अथवा कुत्सित माना गया है, तथापि इसके प्रचलन का समर्थन अन्य साक्ष्यों से किया जा सकता है । पाणिनि ने उदकसक्तु अर्थात् पानी में घोले जाने वाले सक्तु का उल्लेख किया है[२०] । महाभाष्य में छाने हुए सक्तु को शुद्ध वाणी का उपमान माना गया है[२१] । नैषधकार ने कुण्डिननगर के उस सोंधे सक्तु का उल्लेख किया है, जिसकी गन्ध पथिकों को बरबस आकर्षित करती थी[२२] । सक्तु के विषय में वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण के उपर्युक्त उद्धरण इसकी पवित्रता को निर्विवाद कर देते हैं, जिससे इसका प्रयोग स्पष्ट हो जाता है ।

अपूप—इसका उल्लेख विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य; चारों पुराणों में मिलता है । विष्णु पुराण में वर्णित निदाघ, अतिथि के रूप में आए हुए ऋभु को अपूप खिलाने की इच्छा प्रकट करता है[२३] । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार अपूप से पितरों को एक वर्ष तक तृप्ति मिलती है[२४] । मत्स्य पुराण में रसकल्याणिनी नामक व्रत के विषय में विवृत है कि इस अवसर पर ब्राह्मणार्थ अपूप-दान शुभावह होता है[२५] । अपूप की उपयोगिता प्राचीन है । इसका उल्लेख ऋग्वेद में भी

---

१८. सक्तुलाजास्तथापूपाःकुलमाषव्यंजनैस्तथा । वायु पु०, ८०।४८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।४६

१९. वायोस्तु पूजां द्विजसक्तुभिश्च कृत्वा । मत्स्य पु०, २३६।५

२०. मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च । अष्टाध्यायी, ६।३।६०

२१. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । महाभाष्य, आह्निक १

२२. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात्......पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः । नैषधीयचरितम्, २।८५

२३. सक्तुयावकवाट्यानामपूपानां च मे गृहे । विष्णु पु०, २।१५।१२

२४. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १८

२५. पिष्टापूपांश्च । मत्स्य पु०, ६३।१६

उपलब्ध है[२६]। कालान्तर में भी यह लोकप्रिय भक्ष्य था। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के महानस में अपूपों को बनते देखकर विदूषक के मुँह में पानी भर आता है[२७]।

पूरिका—मत्स्य पुराण में इसका वर्णन (जो सम्भवतः आधुनिक पूड़ी का ही संस्कृत रूप है) मिलता है। एक स्थल पर इसे शुक्र की शान्ति के उपकरणों में गिनाया गया है[२८]। अन्यत्र पूरिका को रसकल्याणिनी नामक व्रत के समय ब्राह्मणार्थ दान की सामग्रियों के अन्तर्गत परिगणित किया है[२९]।

बाटी और बटक—बाटी का वर्णन विष्णु पुराण तथा वटक का सन्दर्भ मत्स्य पुराण में मिलता है। विष्णु पुराण में आतिथेय ऋभु बाटी द्वारा निदाघ का सत्कार करने की इच्छा प्रकट करते हैं[३०]। मत्स्य पुराण में बटक शुक्र-शान्ति के लिए अपेक्षित उपकरणों में परिगणित है[३१]।

मिष्ठान्न—विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि मिष्ठान्न प्रिय आहार था तथा इसका प्रयोग शिष्टाचार के अनुकूल सामूहिक रूप में होता था। इस पुराण की पंक्तियों में अकेले मिष्ठान्नाहार करना निषिद्ध किया गया है[३२]। ऐसा प्रतीत होता है कि मिष्ठान्न के निर्माण में गुड़ और शक्कर को उपयोग में लाते थे तथा इसका प्रयोग भी बहुतायत से होता था[३३]। मत्स्य पुराण में कीट की भार्या को गुड़ और शक्कर का प्रेमी बताया गया है। विष्णु पुराण में निदाघ को उपदेश देते हुए ऋभु, गुड़ को पार्थिव परमाणु मानते हैं[३४]। मिष्ठान्न की ऐसी लोकप्रियता के होते हुए भी प्रस्तुत पुराण में आदेशित है[३५] कि समदर्शी मनुष्य को स्वादु और अस्वादु का

---

२६. अपूपमद्धि सगणोमरुद्भिः। ऋग्वेद, ३।५२।७

२७. पच्यन्तेऽपूपाः। मृच्छकटिक, अंक ४

२८. वटकैः पूरिकाभिश्च...... । मत्स्य पु०, ७३।६

२९. लड्डूकांश्छ्वेतवर्णांश्च संयावमथ पूरिकाः। वही, ६३।१९

३०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २३

३१. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २८

३२. वेगीपूयवहे चैको याति मिष्टान्नभुङ्नरः। विष्णु पु०, २।६।१८

३३. गुडशर्करवत्सला। मत्स्य पु०, २०।३१

३४. गुडं फलादीनि तथा पार्थिवाः परमाणवः। विष्णु पु०, २।१५।३०

३५. तदेत् भवता ज्ञात्वा मृष्टामृष्टविचारि यत्।
तन्मनस्समतालम्बि कार्यं साम्यं हि मुक्तये। विष्णु पु०, २।१५।३१

अधिक विचार नहीं करना चाहिये। मिष्ठान्न के जिन प्रकारों का उल्लेख मिलता है, उनका विवरण निम्नांकित है—

गुडौदन—गुड़ में मिलाया ओदन गुडौदन कहलाता था। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार गुडौदन द्वारा भूत-बलि की क्रिया को सम्पन्न करना चाहिये[३६]।

मोदक तथा लड्डुक—मत्स्य पुराण में इनके उल्लेख मिलते हैं। पति को उलाहना देती हुई कीट-पत्नी मोदक के प्रति अपनी स्पृहा प्रकट करती है[३७]। लड्डुक का वर्णन रसकल्याणिनी नामक व्रत के प्रसंग में हुआ है। वर्णन-क्रम में यह निरूपित है कि श्वेत रंग का लड्डू ब्राह्मण को दान करना चाहिए[३८]। इसमें सन्देह नहीं कि मोदक स्पृहा का कारण था। मृच्छकटिक का विदूषक गणिका वसन्तसेना के महानस में मोदक को बाँधते देख सस्पृह हो जाता है[३९]। स्वप्नवासवदत्तं में उदयन का नर्म-सचिव वसन्तक मोदक खाते हुए अपने को धन्य मानता है[४०]।

संयाव—विष्णु एवं मत्स्य पुराणों में इसका उल्लेख उपलब्ध है। विष्णु पुराण में इसे सुस्वादु बताया गया है[४१]। मत्स्य पुराण में इसे रसकल्याणिनी नामक व्रत में दानार्थ परिगणित किया गया है[४२]। मनुस्मृति में भी संयाव देवोचित अन्न वर्णित हुआ है[४३]। टीकाकार कुल्लूक के अनुसार संयाव घी, दूध, गुड़ और गेहूँ के आँटे से बनाया जाता था[४४]।

फणितवान्—संयाव की भाँति विष्णु पुराण ने फणितवान् को सुस्वादु

---

३६. धूपैर्हारिद्रकृशरैस्तैलभद्रगुडौदनैः। वायु पु०, ६९।२८१; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४०९

३७. त्वया मोदकचूर्णं तु मां विहाय विनेष्यता। मत्स्य पु०, २०।३४

३८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी २९

३९. वध्यन्ते मोदकाः। मृच्छकटिक, अंक ४

४०. प्रकृतिमधुरसुकुमाराणि मोदकखाद्यानि खाद्यन्ते। स्वप्नवासवदत्तं, अंक ४

४१. संयावपायसादीनिद्रप्सफाणितवन्ति च। विष्णु पु०, २।१५।१३

४२. संयावमथ पूरिकाः। मत्स्य पु०, ६३।१९

४३. वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमानसानि देवान्नानि हवींषि च। मनुस्मृति, ५।७

४४. संयावो घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धः। कुल्लूक

माना है[४५]। फणित का अर्थ है उबाले हुए गुड़ का रस तथा फणितवान् का अर्थ है उबाले रस से बना हुआ भोज्य पदार्थ[४६]।

उपर्युक्त आहार-अनुकूल अन्नों के अतिरिक्त एतदर्थ निर्मित भोज्यान्नों में कुल्माष और लाजा का भी उल्लेख किया जा सकता है। कुल्माष का प्रसंग आलोचित विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आता है। विष्णु पुराण के अनुसार कुल्माष योगी भरत का आहार था[४७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवृत है कि कुल्माष से पितरगण एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं[४८]। अतएव कुल्माष पवित्र और सरल भोज्य था। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है कि किसी ग्राम में कृषि के नष्ट हो जाने से वहाँ के निवासी कुल्माष खाकर जीवन बिता रहे थे[४९]। कुम्भास-पिण्ड-जातक में एक मज़दूर को इतना दरिद्र बताया गया है कि वह बिना सीरा और चिकनाई के कुल्माष का पिण्ड खाता था[५०]।

लाजा का उल्लेख वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मिलता है। यह आधुनिक धान के लावे का संस्कृत रूप है। दोनों पुराणों ने इसे पितरों को तृप्त करने वाले भोज्यान्न के अन्तर्गत किया है[५१]। लावा सादा आहार था। इसकी उपयोगिता धार्मिक अवसरों पर थी। आज भी नागपंचमी के अवसर पर नाग को लावा चढ़ाने का प्रचलन है। अन्य ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, सुबंधु-कृत वासवदत्ता में वर्षा-सुलभ ओलों की उपमा कामदेव को चढ़ाये जाने वाले लाजाओं से दी गई है[५२]।

शाक—विष्णु पुराण में इसका सन्दर्भ आया है। जड भरत के प्रसंग में निरूपित है कि वे शाक खाकर जीवन-यापन करते थे[५३]। अन्यत्र वर्णित है कि गृहस्थ को अन्न और शाक से अतिथि की पूजा करनी चाहिये[५४]।

---

४५. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ४१

४६. द्रष्टव्य, वासुदेवशरण अग्रवाल, वही, पृ० १२५

४७. भुंक्ते कुल्माष... । विष्णु पु०, २।१३।४५

४८. कुल्माषव्यंजनैस्तथा । वायु पु०, ८०।४८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।४६

४९. छान्दोग्य उपनिषद्, १।१०।२

५०. कुम्भासपिण्डजातक, सं० ४१५

५१. सक्तुलाजास्तथा पूपाः... । वायु पु०, ८०।४८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।४८

५२. प्रस्थानलाजांजलय इव करका व्यराजन्त । वासवदत्ता, पृ० १२६

५३. शाकं वन्यं फलं कणान् । विष्णु पु०, २।१३।४५

५४. अन्नशाकाम्बुदानेन । वही, ३।११।१०८

विष्णु पुराण के इन उद्धरणों से दो सूचना मिलती है। एक तो यह कि शाक सादा आहार था। दूसरा यह कि भोजन के साथ शाक सम्मिश्रित करना अधिक अपेक्षित माना जाता था। भर्त्तृहरि ने भी कहा है कि मनस्वी पुरुष विपन्नावस्था में शाकाहार से सन्तोष करते हैं[५५]। दशकुमारचरित में शक्तिकुमार नामक श्रेष्ठि-पुत्र के सत्कारार्थ उसकी भावी गृहिणी उसे घी और दही के साथ शाक खिलाने की योजना बनाती है[५६]।

दूध—विष्णु पुराण में एक स्थल पर कहा गया है कि गृहस्थ को तर्पणोपरान्त अतिथि की प्रतीक्षा उस समय तक करनी चाहिए, जब तक गाय दुही जाती है[५७]। अन्यत्र एक खुर वाले, ऊँटनी, मृगी, तथा भैंस का दूध श्राद्ध आदि कार्यों में वर्जित माना गया है[५८]। वायु पुराण में दूध योगी के भोज्य-पदार्थों में परिगणित है[५९]। भोज्य-पदार्थों में दूध को महत्त्वशील मानने की परम्परा वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण में दूध को भोज्यानुकूल मानते हुए कहा गया है कि इस रूप में प्रजापति ने इसे सर्वप्रथम सृष्ट किया[६०]। दूध की श्राद्धीय उपयोगिता मनुस्मृति में भी व्यक्त हुई है[६१]।

दही—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इसका वर्णन उपलब्ध है। विष्णु पुराण में वर्णित है कि जातकर्म के अवसर पर पितरों को दही से मिले हुए पिण्ड का दान करना चाहिए[६२]। वायु पुराण के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर दही मिले हुए सक्तु का भोजन करना चाहिए[६३]। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि श्राद्ध के समय दही के उपयोग से भोजन में पवित्रता आती है[६४]। इन स्थलों

---

५५. क्वच्छिाकाहारी । नीतिशतक, ८३
५६. शाकं घृतं दधि तैलम् । दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास
५७. ततो गोदोहमात्रं वै कालं तिष्ठेत् गृहांगणे। विष्णु पु०, ३।११।५६
५८. क्षीरमेकशफानां यदौष्ट्रमाविकमेव च मार्गं च माहिषं चैव वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि। वही, ३।१६।११
५९. पयो यावकमेव च। वायु पु०, १६।१३
६०. तद्वैपय स्वान्नम्।
एतद्धयग्रे प्रजापतिरन्नमजनयत... । श० ब्रा०, २।५।१।६
६१. पयोदधिघृतं मधु...... । मनुस्मृति, ३।२२६
६२. दध्ना मिश्रान्पिण्डान्...... । विष्णु पु०, ३।१०।६
६३. दध्ना सक्तूंश्च भोजयेत्। वायु पु०, ८०।४८
६४. दध्ना संस्कृत्य भोजयेत्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।१८।४७

से विदित होता है कि दही का प्रयोग अधिक धार्मिक माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में दही को इन्द्र का प्रिय बताया गया है। इससे दही की धार्मिकता व्यक्त होती है[६५]। मनुस्मृति में भी दही की श्राद्धीय उपयोगिता स्पष्ट की गई है[६६]।

घी—विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि उर्वशी ने केलव घी खाने की प्रतिज्ञा की थी[६७]। मत्स्य पुराण में शिव की प्रतिमा के सामने घी रखने का विधान मिलता है[६८]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर भोजन को घी से चिकना बना लेना चाहिए[६९]। इन उद्धरणों से घी की धार्मिक आवश्यकता अभिव्यंजित होती है। केवल घी के आहार से यही निष्कर्ष निकलता है कि घी का प्रयोग पदार्थों को तरल करने के लिए अथवा जैसा कि वायु और ब्रह्माण्ड का वर्णन है, उन्हें स्निग्ध करने के लिए किया जाता था। घी की दैवी आवश्यकता शतपथ ब्राह्मण में तथा श्राद्धीय उपादेयता मनुस्मृति में वर्णित की गई है[७०]।

भोजन-सम्बन्धी नियम—विष्णु पुराण में भोजनार्थ पाँच लक्ष्यों का प्रतिपादन किया गया है, १—पाप-अपनोदन २—आरोग्यवर्द्धन ३—बल और बुद्धि का विकास ४—अरिष्ट की शान्ति तथा ५—शत्रु का क्षय। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वक्ष्यमाण नियमों का प्रतिपादन किया गया है। ऐसा आदेशित है कि स्नानोपरान्त ऋषि और पितरों का तर्पण कर तथा हाथ में उत्तम रत्न धारण कर भोजन करना चाहिए। इस अवसर पर केवल एक वस्त्र धारण करने का आदेश विहित है। वस्त्र शुद्ध रहना आवश्यक था। रत्न और वस्त्र के अतिरिक्त पुष्पमाल्य का धारण करना भी अपेक्षित माना जाता था। ब्राह्मण, गुरुजन तथा आश्रितों के भोजनोपरान्त गृहस्थ का स्वयं भोजन किया जाना उचित माना जाता था। शुद्धता की दृष्टि से भोजन के पूर्व हाथ और पैर धोना पड़ता था। भोजन के समय प्रसन्न रहना वांछनीय था। इस अवसर पर दिशा का भी ध्यान रखना अनिवार्य था। इस प्रसंग में ऐसा निर्देश है कि पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर भोजन करना चाहिए। भोज्य-पदार्थों पर मन्त्र से पवित्र

---

६५. ऐन्द्रं वै दधि। श० ब्रा०, ७।४।१-४२

६६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ६१

६७. घृतमात्रं च ममाहर। विष्णु पु०, ४।६।४६

६८. शिवमभ्यर्च्य विधिवत्...स्थापयेद्घृत...। मत्स्य पु०, ६०।२७

६९. सर्पिःस्निग्धानि...। वायु पु०, ८०।४८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१६।४७

७०. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ६१; घृतं वै देवानां...। श० ब्रा०, ३।१।३।८

किया हुआ जल-सेचन भी अपेक्षित माना जाता था। कुत्सित व्यक्ति का लाया हुआ अथवा असंस्कृत-भोजन गर्हणा का विषय था। भोजन का पात्र प्रशस्त और शुद्ध रहता था। आसनार्थ उपकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। भोजन खुले हुए स्थान में करते थे। बासी भोजन का ग्रहण किया जाना वर्जित था। किन्तु फल, मूल, शुष्क शाखा तथा हरी चटनी इस सामान्य नियम के अपवाद थे। भोजन का अग्रभाग अग्नि में आहूत किया जाता था। जिस वस्तु का सार भाग निकाला रहता था, उसे नहीं खाते थे। मधु, जल, दही, घी और सत्तू के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को पूरा नहीं खाया जाता था[७१]। विष्णु स्मृति में भी वर्णित है कि दही, सत्तू, घी, फल, दूध और मधु के अतिरिक्त परोसे हुए सम्पूर्ण भोजन को नहीं खाना चाहिए[७२]।

मधुर, लवण, आम्ल, कटु, तिक्त आदि रसों से युक्त भोजन श्रेष्ठ माना जाता था[७३]। इस प्रसंग में मत्स्य पुराण ने लवण को रसराज की संज्ञा प्रदान किया है[७४]। विष्णु पुराण से यह भी ज्ञात होता है कि प्रत्येक रस को ग्रहण करने के पूर्व उसके क्रम पर ध्यान दिया जाता था। ऐसा आदेशित है कि पहले मधुर रस को खाना चाहिए, तदुपरान्त क्रमशः लवण, आम्ल, कटु, तिक्त आदि रसों को। पहले द्रव पदार्थ को खाते थे, बीच में कड़े को और तदुपरान्त द्रव का ही भोजन किया जाता था। भोजन के समय अन्न की निन्दा करना अपेक्षित नहीं था। भोजन के उपरान्त पूर्व और उत्तर की ओर मुँह कर भली प्रकार आचमन करना अपेक्षित माना जाता था[७५]।

---

७१. नाशेषं पुरुषोऽश्नीयादन्यत्र जगतीपते। विष्णु पु०, ३।११।७५-९१
मध्वम्बुदधिसर्पिभ्यस्सक्तुभ्यश्च विवेकवान्। ३।११।८४

७२. न निःशेषकृत्स्यात् अन्यत्र दधिमधुसर्पिःपयःसक्तुपलमोदकेभ्या। विष्णु स्मृति, ६८।४४-४५

७३. षड्रसं भुंजते विप्र प्रजाः सर्वाः सदैव हि। विष्णु पु०, २।४।६३

७४. रसराजं च लवणम्। मत्स्य पु०, ६०।२८

७५. अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम्।
लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः। विष्णु पु०, ३।११।८५
प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये कठिनभोजनः।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुंचति। वही, ३।११।८६
वाग्यतोन्नमकुत्सयन्...... ।
यथावत्पुनराचमेत्पाणी प्रक्षाल्य मूलतः। वही, ३।११।८७-८८

इन स्थलों से स्पष्ट है कि भोजनार्थ विभिन्न नियमों का पालन किया जाता था। इन नियमों का मूल, आहार की शुद्धता थी। छान्दोग्य उपनिषद् में भी वर्णित है कि आहार के शुद्ध रहने से सत्त्व की शुद्धि होती है, जिससे स्मरण शक्ति का विकास होता है[७६]। विष्णु स्मृति के अनुसार भोजन की पूजा करने के उपरान्त उसे ग्रहण करना चाहिए[७७]। आहार की शुद्धता का उल्लेख मनुस्मृति में भी किया गया है। आहार का दोष मृत्यु का कारण माना गया है[७८]।

मांस-भक्षण के प्रति पौराणिक प्रवृत्ति—विष्णु पुराण में निरूपित है कि मांस के उपहार से प्रसन्न होकर दुर्गा अशेष कामनाओं को पूरा करती हैं[७९]। नृप सौदास के विषय में वर्णित है कि यज्ञ के समाप्त होने पर उन्होंने कुलपुरोहित वसिष्ठ के लिए मांसाहार तैयार कराया था[८०]। ब्रह्माण्ड पुराण में विहित है कि आपत्तिकालीन दशा में ब्राह्मण यज्ञीय मांस खा सकता है। ऐसा करने से उसे दोष नहीं लगता[८१]। ब्रह्माण्ड और वायु पुराणों में बलि-सम्बन्धी उपकरणों में मांस की भी परिगणना हुई है[८२]। इसी प्रकार शिव के मानस-पुत्रों को मांस-भक्षी उद्घोषित किया गया है[८३]। अन्यत्र ब्रह्माण्ड पुराण ने देवता, पितर एवं अतिथि के रूप में आए हुए गुरु के लिए तथा इस प्रकार के अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के आने पर मेध्य पशुओं का हनन आज्ञप्त किया है[८४]। श्राद्ध के अवसर पर भी मांसोपहार की सूचना मिलती है। मत्स्य पुराण के अनुसार गया तीर्थ में मांस समर्पित करने से पितर सन्तुष्ट रहते हैं[८५]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पितरों के तर्पणार्थ वक्ष्यमाण जीवों के मांस का उल्लेख मिलता है— मछली, हरिण, खरगोश, पक्षी, शूकर, बकरा,

---

७६. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२६।२

७७. अभिपूज्यान्नम् । विष्णु स्मृति, ६८।४२

७८. अन्नदोषाच्च मृत्युः । मनुस्मृति, ५।४

७९. सुरामांसोपहारैः......प्रसन्ना । विष्णु पु०, ५।१।८५

८०. वही, ४।४।४६

८१. आपत्सु ब्राह्मणो मांसं मेध्यमश्नन्न दोषभाक् । ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।५८

८२. मधुमांसौदनैर्दध्ना... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४०६; वायु पु०, ६६।२८७

८३. पिशितादांश्च... । वायु पु०, १०।४७; ब्रह्माण्ड पु०, २।६।७३

८४. देवतार्थे च पित्रर्थे तथैवाभ्यागते गुरौ ।
महदागमने चैव हन्यान्मेध्यान्पशून्द्विजः । ब्रह्माण्ड पु०, ४।६।५७

८५. मत्स्य पु०, २०४।८

पृषत् नामक मृग, रुरु मृग तथा गवय[८६]। विष्णु पुराण के अनुसार इक्ष्वाकु ने अष्टका श्राद्ध में पुत्र विकुक्षि को श्राद्ध के योग्य मांस लाने का आदेश दिया था[८७]। एक अन्य वर्णन में श्राद्धार्थ निम्नांकित जीवों के मांस की व्यवस्था की गई है—मछली, खरगोश, नकुल, शूकर, बकरा, लैणेय (मृग), रौरव (मृग), गवय, भेड़, वार्धीणस पक्षी तथा गैंडा[८८]।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि मांसाहार अथवा तदर्थ पशु-पक्षियों का वध देवतोपहार, यज्ञ और श्राद्ध आदि विशिष्ट अवसरों पर आज्ञप्त था[८९]। विष्णु स्मृति तथा मनुस्मृति[९०] में भी वर्णित है कि पशुहिंसा केवल धार्मिक अवसरों ही पर की जा सकती है। मनुस्मृति में श्राद्धार्थ वध्य पशुओं में मत्स्य, हरिण, छाग, पृषत् मृग, एणेय मृग, रुरु मृग, शूकर, भैंसा, खरगोश, कछुआ, वार्ध्रीणस, महाशल्फ और महाशल्क आदि के उल्लेख मिलते हैं[९१]। मनुस्मृति की तालिका तथा उक्त पौराणिक सूची में अधिकांश समता दिखाई देती है। यह समता कतिपयांशों में लौकिक संस्कृत साहित्य के स्थलों में भी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक में रावण श्राद्धार्थ रामचन्द्र को महाशफर, वार्ध्रीणस, गौ अथवा गैंडे का मांस प्रस्तावित करता है[९२]।

मांस-भक्षण के निषेधात्मक स्थल—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विहित है कि जो मनुष्य जीवों का वध करता है अथवा मांस-भक्षण करता है, वह नरक में जाता है[९३]। मत्स्य पुराण में कालसप्तमी तथा अहिंसार्थ विहित व्रतों के सम्बन्ध

---

८६. वायु पु०, ८३।४-८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१९।४-६

८७. विष्णु पु०, ४।२।१५

८८. वही, ३।१६।१-३

८९. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेति कथंचन। विष्णु स्मृति, ५१।६४

९०. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः। मनुस्मृति, ५।४१

९१. वही, ३।२६८-२७१

९२. मत्स्येषु महाशफरः पक्षिषु वार्ध्रीणसः पशुषु गौ खड्गो वा। प्रतिमा नाटक, पृ० ३४९

९३. सुरापो मांसभक्षश्च तथा पशुघातकः। वायु पु०, १०१।१६५; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१६७

में मांसवर्जित भोजन करने का आदेश दिया गया है[९४]। अन्यत्र लहसुन, प्याज, शूकर, ग्रामीण कुक्कुट तथा पञ्चनखी पशुओं का भक्षक ब्राह्मण दण्ड्य घोषित है[९५]। विष्णु पुराण में अशौच अवधि में मांसरहित भोजन करने का आदेश विहित है[९६]। गोमांस तथा गोवध के निषेध का उदाहरण चारों पुराणों में मिलता है। ऐसा आख्यात है कि गोवध करने से नृपपुत्र पृषध्र शूद्रता को प्राप्त हुआ[९७]। गाय की अवध्यता पर प्रकाश डालते हुए मत्स्य पुराण में वर्णित है कि प्रयाग में गाय के कल्याण को चित्त में रखते हुए स्नान-क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये[९८]। मांस-भक्षण के निषेध-निदर्शक इन स्थलों का भाव यह है कि पशुवध अथवा मांस-भक्षण विशेष अवसरों पर ही किया जाता था। विष्णु स्मृति में विवेचित है कि शशक, शल्यक, गोधा, खड्ग और कूर्म को छोड़कर अन्य पंचनखी पशुओं के मांस को खाने पर ब्राह्मण को प्रायश्चित्तार्थ सात रात्रि तक उपवास करना चाहिए[९९]। मनु ने भी पशु की अकारण हत्या करने वाले मनुष्य की निन्दा की है[१००]। गोमांस के निषेध की परम्परा तो वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद में सोलह स्थलों पर गाय को अवध्य माना गया है[१०१]। यहाँ तक कि यज्ञों के प्रवल होने पर भी गाय की महत्ता बहुत अंशों में बनी रही। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में गाय सभी के

---

९४. यथाशक्त्याथ भुञ्जीथ मांसतैलविवर्जितम्। मत्स्य पु०, ७८।६
वर्जयित्वा पुमान्मांसम्...... । वही, १०१।३५

९५. लशुनं पलांडुं च सूकरं ग्रामकुक्कुटम्।
तथा पंचनखं सर्वं भक्ष्यादन्यत्तु भक्षयेत्।
विवासयेत्ब्राह्मणम् ...... । वही, २२७।९०

९६. भोक्तव्यममांसं मनुजर्षभ। विष्णु पु०, ३।१३।११

९७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १५८

९८. गोब्राह्मणहिते रतः। मत्स्य पु०, १०४।१६

९९. शशकशल्यकगोधाखड्गकूर्मवर्जं पंचनखमांसाशने सप्तरात्रमुपवसेत्।
विष्णु स्मृति, ५१।६

१००. यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि। मनुस्मृति, ५।३८

१०१. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १४६

भरण का विषय घोषित है[१०२]। यह परम्परा कालान्तर में पूर्णतः विकसित थी। अनेक गुप्त-अभिलेखों में गोहत्या और ब्राह्मण-हत्या समकोटि में रखे गए हैं[१०३]।

मदिरापान : निषेध-निदर्शक स्थल—विष्णु पुराण में विहित है कि मदिरापान करने वाले तथा ऐसे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति नरक में जाते हैं[१०४]। कतिपय उद्धरणों में मदिरा बनाने वाले व्यक्ति को भी निन्द्य बताया गया है। उदाहरणार्थ, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में निरूपित है कि मदिरा बनाने वाला व्यक्ति पूयवह नामक नरक में जाता है[१०५]। विष्णु पुराण में सोमविक्रयी के जीवन का भी एतत्सम विपाक घोषित है[१०६]। इन उद्धरणों से मदिरापान के निषेध की सूचना मिलती है। वस्तुतः ऐसी परम्परा का प्रतिष्ठापन वैदिक काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद में एक स्थल पर सुरापान को पाप का कारण बताया गया है[१०७]। शतपथ ब्राह्मण में सुरा की उपमा असत्य, दुःख और अन्धकार से दी गई है[१०८]। मनुस्मृति में भी सुरापान करने वाले को महापापी की संज्ञा दी गई है[१०९]।

ब्राह्मण एवं सुरापान—ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि ब्राह्मण को मोह, स्नेह अथवा इच्छा से मदिरापान नहीं करना चाहिये[११०]। एक अन्य स्थल पर वर्णन आता है कि आसवपान केवल क्षत्रिय आदि तीन वर्ण कर सकते हैं। ब्राह्मण की

---

१०२. गौर्वा इदं सर्वं विभर्त्ति। श० ब्रा०, ३।१।२।१४

१०३. उदाहरणार्थ, यो (ऽतिक्रमे) द्दायमिमं निबद्धम् गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातकः सः। सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० ३१२

१०४. सुरापो ब्रह्महा......प्रयान्ति नरके यश्च तैः संसर्गमुपैति वै। विष्णु पु०, २।६।६

१०५. क्षीरं सुरां च... ।
एवमादीनिविक्रीणन्घोरे पूयवहे पतेत्। वायु पु०, १०१।१६५; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१६४

१०६. रुधिरान्ते पतन्त्येते सोमं विक्रीणते च ये। विष्णु पु०, २।६।२२

१०७. न स स्वो दक्षो वरुणध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचितिः। ऋग्वेद, ७।८६।६

१०८. अनृतं पाप्मा तमः सुरा। श० ब्रा०, ५।१।५।२८

१०९. ब्रह्महा च सुरापश्च...महापातकिनो नराः। मनुस्मृति, ६।२३५

११०. द्विजो मोहान्न तु पिबेत्स्नेहाद्वा कामतोऽपि वा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।७८

भाँति ब्राह्मणी के लिए भी इसे वर्जित किया गया है[१११] । मत्स्य पुराण के अनुसार मोहवश सुरापान करने वाला ब्राह्मण अधार्मिक है । उसे ब्रह्महत्या का दोष लगता है । लोक तथा परलोक में उसे गर्हित स्थान मिलता है[११२] । इन उद्धरणों से व्यक्त होता है कि ब्राह्मणार्थ मदिरापान आज्ञप्त नहीं था । इस सामान्य नियम के अन्तर्गत क्षत्रियादि तीन वर्ण नहीं आते थे । विष्णु-स्मृति में भी मदिरापान करने वाले ब्राह्मण को नारकीय बताया गया है[११३] । इसी प्रकार महाभारत ने भी ब्राह्मणार्थ मदिरापान वर्जित किया है । इस सम्बन्ध में महाभारत का उद्धरण बिना किसी अन्तर के मत्स्य पुराण के तद्विषयक स्थल से साम्य रखता है[११४] ।

मदिरापान की धार्मिक उपादेयता—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार सोम के समान मदिरा की भी धार्मिक उपयोगिता है । मदिरा को यज्ञ में मन्त्र द्वारा पवित्र कर पीना चाहिए । ऐसा करने से सिद्धि, ऋद्धि, बल, स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति होती है[११५] । ऐसा कहा गया है कि शक्ति की अर्चना करके ही मद्यपान करना चाहिए । भोग की इच्छा से मद्यपान करने वाले अधम व्यक्ति के लिए शिलाग्निपतन के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित्त नहीं है[११६] । मदिरा के विषय में अन्य आलोचित पुराणों से भी यही सम्भावित अर्थ निकलता है । विष्णु पुराण में कामनाओं के पूरण में समर्थ दुर्गा के उपहारों में सुरा का भी वर्णन मिलता है[११७] । वायु और ब्रह्माण्ड

---

१११. क्षत्रियादित्रिवर्णानामासवं पेयमुच्यते ।
स्त्रीणामपि तृतीयादि पेयं स्याद्ब्राह्मणीं बिना । ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।६५

११२. यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मंदबुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिंल्लोके गर्हितः स्यात्परे च । मत्स्य पु०, २५।६२

११३. पंचगव्यं पिबेच्छूद्रो ब्राह्मणः सुरां पिबेत् ।
उभौ तौ नरकं यातो महारौरवसंज्ञितम् । विष्णु स्मृति, ५४।७

११४. आदिपर्व, ७६।६७; द्रष्टव्य, काणे, वही, पृ० ७९६

११५. मंत्रेण पूतं त्वां यागे पास्यन्त्यिखिलदेवताः ।
यागेषु मन्त्रपूतेन पीतेन भवता जनाः ।
सिद्धिमृद्धि बलं स्वर्गमपवर्गं च बिभ्रतु । ब्रह्माण्ड पु०, ४।२८। ८८-८९

११६. भोगेच्छया तु यो मद्यं पिबेत्स मानुषाधमः ।
प्रायश्चित्तं न चैवास्य शिलाग्निपतनादृते । वही, ४।७।७७

११७. सुरामांसोपहारैश्च... । विष्णु पु०, ५।२।८५

पुराणों में भूतों के लिए बलि-विषयक उपकरणों में मधु का भी उल्लेख किया गया है[११८]। इसी प्रकार शिव के मानस-पुत्रों को सोमपान करने वाला बताया गया है[११९]। धार्मिक अवसरों पर मदिरापान करने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि वाजपेय यज्ञ के अवसर पर सुरा-पात्र उपहारार्थ प्रयुक्त किया जाता था[१२०]। कात्यायन श्रौतसूत्र में सौत्रामणि नामक यज्ञ के निरूपण में ऐसे पुरोहित का निर्देश आदिष्ट किया गया है, जो अत्यधिक सोमपान करता है[१२१]।

मदिरापान और स्त्री—ब्रह्माण्ड पुराण के विधानानुसार स्त्री अपने पति के सामने ही मदिरा-पान कर सकती थी। इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली स्त्री को लोलुप, उन्मादिनी और त्याज्य बताया गया है[१२२]। मत्स्य पुराण में अत्रि के मनोज्ञ आश्रम-वर्णन में निरूपित है कि इस आश्रम में कोई स्त्री अपने प्रिय को मद्यपान करा रही थी, कोई अपने पति के हाथों द्वारा ग्रहण कर रही थी[१२३]। अन्य साक्ष्यों के साथ ब्रह्माण्ड पुराण के इस वर्णन का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर यह वर्जित और आज्ञप्त रहा है। उदाहरणार्थ, शांखायन गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि विवाह के अवसर पर स्त्रियों को सुरा समर्पित किया जाता था[१२४]। पर, विष्णु स्मृति में मदिरापान करने वाली स्त्री निन्द्य बताई गई है[१२५]। रत्नावली में वर्णित कौशाम्बी की पुरललनाओं का मुख मद्य पीने

---

११८. तिलचूर्णसुरासवैः । वायु पु०, ६९।२८७; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।४०९

११९. सोमपांस्तथा...... । वायु पु०, १०।४७; ब्रह्माण्ड पु०, २।९।६३

१२०. सप्तदश सुराग्रहान्प्रजापतेः । श० ब्रा०, ५।१।२-१०

१२१. कात्यायन श्रौतसूत्र, १९।१।४

१२२. अभर्तृसन्निधौ नारी मद्यं पिबति लोलुपा ।
उन्मादिनीति साख्याता तां त्यजेदन्त्यजामिव । ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।६७

१२३. पाययामास रमणं स्वयं काचिद्वरांगना ।
काचित्पपौ वरारोहा कांतपाणिसमर्पितम् । मत्स्य पु०, १२१।२७

१२४. शांखायन गृह्यसूत्र, १।११।४

१२५. मद्यपस्त्रीनिषेवणम् । विष्णु स्मृति, ३७।३३

के कारण ताम्र-वर्ण का हो गया था[१२६]। मन्दसोर-प्रशस्ति में सूर्य की उपमा मधुपान के कारण ताम्र वर्ण वाले युवती के कपोलों से दी गई है।[१२७]।

मदिरापान : प्रचलन-समर्थक उदाहरण—विष्णु पुराण के अनुसार मदिरापान में प्रवृत्त हिरण्यकशिपु की सेवा सभी सिद्ध, गन्धर्व तथा पन्नगों द्वारा सम्पन्न होती थी[१२८]। इसी प्रकार प्रभास नामक क्षेत्र में कुकुर, अन्धक और वृष्णि आदि यदुवंशियों द्वारा मद्यपान किए जाने का वर्णन मिलता है[१२९]। एक अन्य वर्णन में मदमत्त करने वाले महापान को अहंकार का उपमान माना गया है[१३०]। द्विविद-वध के प्रसंग में विवृत है कि बलराम, रैवत-उद्यान में रमण करते समय मदिरापान कर रहे थे। उस समय रेवती तथा अन्य स्त्रियाँ संगीत-स्वर का उच्चारण कर रही थीं। बलराम उनके मध्य में मन्दराचल पर अधिष्ठित कुबेर के समान शोभायमान थे[१३१]। अत्रि के मनोहर आश्रम के विषय में वर्णित है कि यहाँ कोई स्त्री अपने पति को स्वयं मद्यपान करा रही थी। कोई अपने प्रिय के हाथ से मद्य पीकर प्रसन्न हो रही थी[१३२]। मत्स्य पुराण के अनुसार शुक्र की दयिता दुहिता देवयानी अपनी सहेलियों के साथ वनप्रदेश में माधव मधु का पान कर रही थी[१३३]।

---

१२६. मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि... । रत्नावली, १।१८

१२७. क्षीबांगनाजनकपोलतलाभिताम्रः । सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २९०

१२८. पानासक्तं महात्मानं हिरण्यकशिपुं तदा ।
उपासांचक्रिरे सर्वे सिद्धगन्धर्वपन्नगाः । विष्णु पु०, १।१७।७

१२९. प्रभासं समनुप्राप्ताः कुकुरान्धकवृष्णयः ।
चक्रुस्तत्र महापानं वासुदेवेन चोदिताः । वही, ५।३७।३९

१३०. अहंमानमहापानमदमत्ता... । वही, ६।७।७

१३१. एकदा रैवतोद्याने पपौ पानं हलायुधः ।
रेवती च महाभागा तथैवान्या वरस्त्रियः ।
उद्गीयमानो विलसल्ललनामौलिमध्यगः ।
रेमे यदुकुलश्रेष्ठः कुबेर इव मन्दरे । विष्णु पु०, ५।३६।११-१२

१३२. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी १२३

१३३. ताभिः सखीभिः सर्वाभिर्मुदिताः भृशम् ।
क्रीडयन्त्योऽभिरताः सर्वा पिबन्त्यो मधुमाधवम् । मत्स्य पु०, ३०।३

वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में एक स्थल पर कश्यप ऋषि के नाम की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए वर्णित है कि कश्य अर्थात् मदिरा के पीने वाले कश्यप हैं[१३४]।

मदिरा-भेद—सामान्यतः आलोचित पुराणों में सुरा, सोम तथा आसव शब्दों का प्रयोग किया गया है[१३५]। पर, ब्रह्माण्ड पुराण ने इसके निम्मांकित भेदों पर भी प्रकाश डाला है— गौडी, पैष्टी, माध्वी, कादम्बरी, हैताली, लांगलेया, तालजाता तथा सुरा[१३६]।

मदिरा-पात्र—इसी सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित चषक तथा विष्णु पुराण में उल्लिखित करक की चर्चा की जा सकती है। ब्रह्माण्ड पुराण में ललिता देवी की अनुचरियों के प्रसंग में निरूपित है कि वे मणि-निर्मित चषकों में मदिरा पीती हैं[१३७]। विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि द्विविद नामक वानर ने बलराम के उन करकों को तोड़कर फेंक दिया, जिनमें मदिरा भरी थी[१३८]। अतएव चषक और करक मदिरा के पात्र माने जा सकते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि शास्त्रीय दृष्टि से निषिद्ध होने पर भी मदिरापान अप्रचलित नहीं था। लौकिक संस्कृत साहित्य के भिन्न-भिन्न स्थलों में इसके उदाहरण मिलते हैं। भासकृत स्वप्नवासवदत्तं नामक नाटक में बलराम की मदिरा-प्रियता स्पष्ट की गई है[१३९]। राजशेखर के बालभारत में बलराम को मदिरा का प्रेमी बताया गया है[१४०]। इसी प्रकार माघ के शिशुपालवध में वर्णन आता है कि

---

१३४. कश्यं मद्यं स्मृतं विप्रैः कश्यपानात्तु कश्यपः। वायु पु०, ६५।११६; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१।१२१

१३५. सुरामांसोपहारैः... । विष्णु पु०, ५।१।८५
तिलचूर्णसुरासवैः... । वायु० पु०, ६९।२८७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४०९
सोमपांस्तथा... । वायु पु०, १०।४९

१३६. गौडी पैष्टी च माध्वी च वरा कादंबरी तथा।
हैताली लांगलेया च तालजातास्तथा सुरा। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२८।७१

१३७. पिबन्तीनां मधु भृशं मणिचषकोदरैः। वही, ४।३५।२०

१३८. पानपूर्णांश्च करकान्... । विष्णु पु०, ५।३६।१४

१३९. उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य...भुजौ... । स्वप्नवासवदत्तं, १।१

१४०. बालभारत, १।५२

नगर-मापन : गृह-सन्निवेश

सन्निवेश का समारम्भ—विष्णु,[1] वायु[2] एवं ब्रह्माण्ड[3] पुराणों के आख्यान-प्रचुर स्थलों में जन-सन्निवेश का समारम्भ कब और किन परिस्थितियों में हुआ, इसे पूर्णतया स्पष्ट किया गया है। इन तीनों पुराणों की आख्या के अनुसार जन-सन्निवेश की आवश्यकता अनुभूत हुई उस युग-विशेष में, जिसे त्रेता की संज्ञा दी जाती है। उक्त तीनों ही ग्रन्थ यह उल्लिखित करते हैं कि त्रेता-युग में अज्ञानादि का प्राबल्य रहता है, जिसके परिणाम में जन-समुदाय का दुःख-सन्दोह संवर्द्धित होता है। वर्णन-क्रम में यह विवृत कर दिया गया है कि इसी परिस्थिति में ही मनुष्य ने पुरादि के सन्निवेश में गृह-निर्माण-क्रिया को सम्पन्न किया था।

सन्निवेश-समारम्भ का लक्ष्य : विक्षोभान्त—विष्णु,[4] वायु,[5] ब्रह्माण्ड[6] एवं मत्स्य[7] पुराण के स्थल इस बात पर भी बल देते हैं कि पुरादि का सूत्रपात नृप वैन्य के शासन-काल में हुआ था। नृप वैन्य पुराण-प्रदिष्ट पार्थिव हैं, जिनका शासन-

---

१. ततः सा सहजा सिद्धिस्तासां नातीव जायते।
रसोल्लासादयश्चान्याः सिद्धयोऽष्टौ भवन्ति याः।
तासु क्षीणास्वशेषासु वर्द्धमाने च पातके।
द्वन्द्वाभिभवदुःखार्तास्ता भवन्ति ततः प्रजाः।
गृहाणि च यथान्यायं तेषु चक्रुः पुरादिषु। विष्णु पु०,१।६।१६-१९

२. वायु पु०, ८।५२-९४

३. ब्रह्माण्ड पु०, २।७।४६-८८

४. तत उत्सारयामास शैलान् शतसहस्रशः।
धनुष्कोट्या तदा वैन्यस्तेन शैला विवर्द्धिताः।
न हि पूर्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
प्रविभागः पुराणां वा ग्रामाणां वा पुराभवत्। विष्णु पु०, १।१३।८२-८३

५. वायु पु०, ६२।१६८-१७१

६. ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१९७-१९८

७. मत्स्य पु०, १०।३१-३५

काल जन-जीवन के सन्तुलन का युग विहित है। इसे सामाजिक व्यवस्था का कारण माना गया है, जब कि पृथ्वी-तल का समीकरण किया गया तथा विक्षोभ को दूर कर व्यवस्था लाने की चेष्टा की गई।

सन्निवेश का स्थिरीकरण—मत्स्य पुराण में वास्तु का सम्बन्ध देवताओं से स्थापित किया गया है। ऐसा विवृत है कि सभी देवताओं का निवास होने के कारण इसे वास्तु कहते हैं। वास्तु की उत्पत्ति शंकर के ललाटस्थ बूँदों से मानी गई है, जिसे उन्होंने तीनों लोकों को ग्रसित करने का वरदान दिया था। पर, देवताओं के अभिनिवेश एवं प्रयास के परिणाम में वास्तु को स्थिर होना पड़ा[८]।

उक्त आख्यानपरक पौराणिक साक्ष्य का संकेत सम्भवतः इतिहास-सिद्ध उस युग-विशेष की ओर है, जब मनुष्य का प्रारम्भिक आवास अनिश्चित एवं अस्थिर था। आहार के अन्वेषण में पाषाण-कालीन मानव एतदनुकूल स्थानों में भटकता फिरता था। बहुधा वह गुफा अथवा चट्टानों के अन्तराल में अस्थायी रूप में रहता था। सन्निवेश का स्थिरीकरण पाषाणकाल के अन्तिम चरणों में प्रारम्भ हुआ, जब कि मनुष्य का आवास निश्चित स्थानों पर स्थिर होने लगा और उसने सामूहिक जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया[९]।

वास्तु-विद्या तथा भवन-निर्माण—मत्स्य पुराण की पंक्तियों में वास्तु-विद्या में विशारद व्यक्ति को स्थपति की संज्ञा दी गई है। पुराणकार ने स्थपित के हस्तलाघव, परिश्रम तथा दूरदर्शिता जैसे गुणों पर बल दिया है[१०]। प्रसंगान्तर में उसे विश्वकर्मा के नाम से अभिहित करते हुए यह वर्णित है कि प्रासाद आदि के निर्माण में उसे पूर्णरूप से दक्षता प्राप्त थी[११]। विष्णु पुराण में विवेचित है कि

---

८. निवासात्सर्वदेवानां वास्तुरित्यभिधीयते। मत्स्य पु०, २५२।१४; २५२।५, १६

९. ग्रेहम क्लार्क, फ्राम सेवेजरी टु सिविलाइज़ेशन, पृ० ५१, ८२, ८६, ९१

१०. वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः।
दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपति परिकीर्त्तितः। मत्स्य पु०, २१५-४०
विवरण के लिये द्रष्टव्य, डॉ० उदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० २३३

११. विश्वकर्मा प्रभासस्य पुत्रः शिल्पी प्रजापतिः।
प्रसादभवनोद्यानप्रतिमाभूषणादिषु तडागारामकूपेषु स्मृतः सोऽमरवर्द्धकिः।
वही, ५।२७-२८

मान्धाता नृप की कन्याओं का प्रासाद विश्वकर्मा द्वारा निर्मित हुआ था[१२]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार विश्वकर्मा वास्तु-विद्या में पूर्णरूपेण पारंगत था[१३]। ब्रह्माण्ड पुराण का कथन है कि श्रीपुर नामक नगर विश्वकर्मा तथा मय नामक शिल्पशास्त्र-कोविदों के संरक्षण में सम्पन्न हुआ था[१४]। मानसार नामक शिल्पशास्त्र में भी वर्णित है कि स्थपति को स्थापन-कला में योग्य होना चाहिए[१५]। महाभारत के अनुसार द्वारकापुरी का निर्माण विश्वकर्मा ने किया[१६]। मानसार ने विश्वकर्मा तथा मय शिल्पिद्वय का साथ-साथ उल्लेख किया है[१७]।

नगर-मापन-विधि : स्वाभाविक दुर्ग—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पर्वत, जल और मरुभूमि द्वारा सुरक्षित भूक्षेत्र को स्वाभाविक दुर्ग की संज्ञा प्रदत्त है[१८]। वायु पुराण में अन्यत्र विवेचित है कि विद्युद्वान पर्वत पर स्थित पुर, पर्वतों के मध्य स्थित थे[१९]। मत्स्य पुराण में पर्वत से संरचित दुर्ग को महादुर्ग की संज्ञा दी गई है[२०]। एक अन्य वर्णन में विभिन्न प्रकार के दुर्गों में पर्वत द्वारा सम्पन्न दुर्ग सर्वश्रेष्ठ घोषित है[२१]। इसी प्रसंग में मरुभूमि तथा जलदुर्ग का भी उल्लेख हुआ है[२२]।

कृत्रिम दुर्ग : परिखा—कृत्रिम दुर्ग में परिखा का उल्लेख करते हुए वायु पुराण में विवृत है कि इसे जल-सम्पन्न रखना चाहिए[२३]। इसी प्रसंग में ब्रह्माण्ड

---

१२. विष्णु पु०, ४।२।६७

१३. विश्वकर्मा सुतस्तस्य जातः शिल्पिप्रजापतिः।
कर्त्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वास्तुकृत्। वायु पु०, ८४।१६-१७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।५८।१७-१८

१४. भो विश्वकर्मञ्छिल्पज्ञ भो भो मय महोदय।
भवन्तो सर्वशास्त्रज्ञौ घटनामार्गकोविदौ। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३१।८

१५. स्थपतिः स्थापनायार्हः...... ...... । मानसार, २।१३

१६. द्वारकां...... सुकृतां विश्वकर्मणा । सभापर्व, ५७।३

१७. उपयेमे विश्वकर्मा इन्द्रस्य तनयां तदा मयः सुरेन्द्रतनयामुपयेमे क्रमात्ततः। मानसार, २।७

१८. विष्णु पु०, १।६।८; वायु पु०, ८।१०६; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१०५

१९. वायु पु०, ४८।७

२०. मत्स्य पु०, २०३।२

२१. वही, २१७।७

२२. वही, २१७।६-७

२३. स्रोतसीसंहतद्वारं निखातं पुनरेव च। वायु पु०, ८।११०

पुराण का कथन है कि नगर के चारों ओर खाई का रहना अपेक्षित है[२४]। मत्स्य पुराण के अनुसार त्रिपुर के चारों ओर सैकड़ों की संख्या में गहरी परिखाओं का निर्माण किया गया था[२५]।

वप्र—वायु पुराण में वर्णित है कि नगरादि को चारों ओर वप्र से परिवेष्टित रखना चाहिए[२६]। विष्णु पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण द्वारा निर्मित द्वारकापुरी विशाल वप्र द्वारा परिवेष्टित थी[२७]। मत्स्य पुराण में भी वप्र दुर्ग का अंग परिगणित है[२८]।

प्राकार—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में प्राकार का उल्लेख कृत्रिम दुर्ग में करते हुए विवेचित है कि नगर को ऊँचे प्राकारों से घेरना चाहिए[२९]। शिव की पुरी के विषय में उल्लिखित है कि इसके चारों ओर ऊँचे प्राकार निर्मित हैं[३०]। वायु पुराण में विद्याधरों के नगर को ऊँचे प्राकारों से युक्त बताया गया है[३१]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी श्रीपुर को प्राकारों से संयुक्त वर्णित किया गया है[३२]। मत्स्य पुराण के अनुसार त्रिपुर के प्राकार इतने ऊँचे थे कि देखने में पर्वत के सदृश लगते थे[३३]।

अट्टालक—मत्स्य पुराण के अनुसार दुर्ग-विधान करते समय उसे अट्टालकों से युक्त करना चाहिए[३४]। इसी प्रकार त्रिपुर के दुर्ग में अभेद्यता लाने वाले अंगों में

---

२४. सर्वतः खातकावृतम्। ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१०३

२५. परिखाशतगंभीराः... । मत्स्य पु०, १३०।२६

२६. सौधोच्चवप्रप्राकारम्... । वायु पु०, ८।१०४

२७. महोद्यानां महावप्राम् । विष्णु पु०, ५।२३।१४

२८. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ३४

२९. सौधोच्चवप्रप्राकारम् । वायु पु०, ८।१०४
सौधोत्सेधरन्ध्रप्राकारम् । ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१०३

३०. द्वारैश्चतुर्भिः... । वायु पु०, १०१।२३४; ब्रह्माण्ड पु०, ४।३।२३६

३१. प्रांशुप्राकारतोरणा... । वायु पु०, ३८।१३

३२. प्राकारः प्रथमः प्रोक्तः...। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३१।३४

३३. प्रकारास्त्रिपुरे तस्मिन्गिरिप्राकारसन्निभाः । मत्स्य पु०, १३१।२२

३४. वप्राट्टालकसंयुतम् । मत्स्य पु०, २१७।८

अट्टालक को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदत्त है[३५]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने जिस सुरम्य नगरी का निर्माण किया, वह अट्टालकों से संयुक्त थी[३६]।

नगर-द्वार—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार नगर को द्वार-युक्त बनाना चाहिए[३७]। सामान्यतः इनकी संख्या चार बताई गई है। उदाहरणार्थ, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में शिव के नगर-प्राकार चार द्वारों से युक्त वर्णित हैं[३८]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार जामदग्नि ने शिवलोक के जिस नगर का दर्शन किया था, उसमें चार द्वार बने हुए थे[३९]। कहीं-कहीं द्वार की संख्या की अनेकता पर भी प्रकाश पड़ता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार द्वारका नगरी अनेक द्वारों से युक्त थी[४०]।

गोपुर—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने जिस पुरी का निर्माण किया था, उसे गोपुर से युक्त किया गया था[४१]। अन्यत्र, गोपुर को द्वार-गर्भित बताया गया है। कुछ अतिशयोक्ति के साथ वर्णित है कि गोपुर की लम्बाई पचीस योजन होनी चाहिए। इनमें एक-एक योजन की दूरी पर कपाटों से युक्त द्वारों के निर्माण का आदेश विहित है[४२]। मत्स्य पुराण के अनुसार त्रिपुर का निर्माण करते समय गोपुर भी बनाए गए थे[४३]। विवाहोपरान्त शिव ने गोपुर में होते हुए नगर में प्रवेश किया था। ऐसा विवेचित है कि इस अवसर पर गोपुर चमकती हुई मणि, सुवर्ण और स्फटिक से निर्मित होने के कारण देदीप्यमान हो रहा था[४४]।

---

३५. अट्टालकैर्यन्त्रशतघ्निभिश्च । मत्स्य पु०, १२९।३५

३६. साट्टप्राकारतोरणाम् । ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।९

३७. तदेकं स्वस्तिकद्वारम् । वायु पु०, ८।१०४
रुचकः प्रतिकद्वारम् । ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१०३

३८. द्वारैश्चतुर्भिः सौवर्णैः । वायु पु०, १०१।२३४; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।२३७

३९. चतुर्द्वारसमायुक्तम् । ब्रह्माण्ड पु०, २।३२।९

४०. कृतां द्वारवतीम् नाम बहुद्वारां मनोरमाम् । वायु पु०, ८६।२७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६१।२३

४१. द्वारगोपुरभूषितम् । ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।११

४२. गोपुरस्य तु संस्थानं कथये कुंभसंभव । वही, ४।३१।३९, ४०-४५

४३. इह चाट्टालकद्वारम् इह चाट्टालगोपुरम् । मत्स्य पु०, १३०।२

४४. ज्वलन्मणिस्फटिकहाटकोत्कटं स्फुटद्युति स्फटिकगोपुरं । वही, १५४।४९८

वृक्षारोपण—श्रीपुर नामक नगर की योजना समझाते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि नगर के लिए उद्यान आवश्यक है। उद्यानस्थ वृक्षों की संख्या पुराण में सहस्राधिक बताई गई है। फल, फूल, पल्लव और सौरभ-युक्त वृक्षों का आरोपण आदेशित है[४५]। जमदग्नि की पुरी के चतुर्दिक पुन्नाग, चम्पक, मदार, कदम्बादि वृक्षों का वन था[४६]। विष्णु पुराण के अनुसार द्वारका के रक्षार्थ श्रीकृष्ण ने जो दुर्ग बनाया था, वह बहुत बड़े उद्यान से युक्त था[४७]। जिस समय बलराम हस्तिनापुर गए, वे नगर के बाहर उपवन में रुके थे[४८]। ध्रुव अपने पिता के घर से निकलने के बाद जिस उपवन में रुके थे, वह नगर के बाहर था[४९]। मत्स्य पुराण के अनुसार वाराणसी नगरी अनेक प्रकार के वृक्षों के लगे होने के कारण विशाल प्रतीत हो रही थी[५०]।

उपर्युक्त पौराणिक स्थलों का समर्थन अन्य साहित्यिक तथा पुरातत्त्व-साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि पर्वत, मरु-भूमि आदि नगर-रक्षा के स्वाभाविक उपादान थे[५१]। महाभारत के अनुसार गिरिव्रज नामक नगर पाँच पर्वत-मालाओं से घिरा था[५२]। कादम्बरी में उज्जयिनी को परिवेष्टित करनेवाली परिखा की उपमा सागर से प्रदत्त है[५३]। अर्थशास्त्र से यह भी विदित होता है कि प्राकार-निर्माण के पूर्व वप्र बनाया जाता था। वप्र के ऊपर प्राकार निर्मित किया जाता था[५४]। प्राकार काफी ऊँचा होता था। कादम्बरी ने उज्जयिनी

---

४५. नानावृक्षमहोद्यानं वर्तन्ते कुम्भसम्भव।
परं सहस्रास्तरवः सदापुष्पाः सदाफलाः।
सदापल्लवशोभाढ्याः सदा सौरभसंकुलाः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।३१।५४-५५

४६. पर्यन्तरोपितमनोरमनागकेतकीपुन्नागचम्पकवनैश्च...। वही, ३।२७।१७

४७. महोद्यानां महावप्रां...... । विष्णु पु०, ५।२३।१४

४८. वाह्योपवनमध्येऽभून्न विवेश च तत्पुरम्। वही, ५।३५।८

४९. पुराच्च निर्गम्य ततस्तद्बाह्योपवनं ययौ। वही, १।११।३०

५०. विविधतरुविशालं...... । मत्स्य पु०, १८०।४४

५१. अर्थशास्त्र, (शाम शास्त्री-अनूदित), पृ० ५४

५२. एते पंच महाशृंगाः रक्षन्तीव... गिरिव्रजम्। सभापर्व, २१।३

५३. जलनिधिनेव रसातलगभीरेण परिखावलयेन परिवृता। कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० १०२

५४. वप्रस्योपरि प्राकारम्। अर्थशास्त्र, (शाम शास्त्री-अनूदित), पृ० ५२

के प्राकारों को कैलाश पर्वत के समान ऊँचा वर्णित किया है[५५]। अट्टालक का निर्माण प्राकारों के ऊपर होता था[५६]। हरिवंश की सूचना से अट्टालकों की अनेकता पर प्रकाश पड़ता है[५७]। अर्थशास्त्र में चार नगर-द्वारों का उल्लेख हुआ है[५८]। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र के प्राकार में चौंसठ द्वार बने थे[५९]। पुरद्वार को ही गोपुर भी कहते थे[६०]। गोपुर नगर का प्रधान प्रवेश-द्वार था। शिशुपाल वध के अनुसार श्रीकृष्ण की सेना ने इन्द्रप्रस्थ के गोपुर से प्रवेश किया था[६१]। शाकुन्तल में भी गोपुर द्वार का उल्लेख हुआ है[६२]। नगर के चतुर्दिक वृक्षारोपण की सूचना रामायण से मिलती है। अयोध्या के विषय वर्णित है कि यह नगरी चतुर्दिक आम्रवन से युक्त थी[६३]।

नगर-रक्षा-विषयक उपर्युक्त सूचनाएँ पुरातत्त्व-साक्ष्यों से भी स्पष्ट होती हैं। कौशाम्बी के उत्खनन-शोधों से विदित होता है कि यह नगर परिखा से युक्त था। नगर के पूर्व, पश्चिम और उत्तर की ओर वप्रों के वर्तमान होने के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। इसके अतिरिक्त पाँच रक्षा-प्राचीरें भी प्रकाश में आई हैं, जिनकी सुदृढ़ता यदि रक्षा-सम्बन्धी उद्देश्य का परिचय देती है तो उसकी निर्माण-शैली पर सैन्धव परम्परा का प्रभाव भी व्यक्त होता है। स्थान-स्थान पर परिवेष्टन के खुले होने से नगर का द्वारस्थ होना भी द्योतित हो जाता है[६४]। भीटा के उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि

५५. कैलासगिरिणेव... प्राकारमण्डलेन परिवृता। कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० १०२

५६. प्राकारेऽट्टालकास्तस्मिन्। समरांगण सूत्रधार, भाग १, श्लोक ३१

५७. हरिवंश, हरिवंश-पर्व, ५४।५७

५८. ब्राह्मैन्द्रयाम्यसेनापत्यानि द्वाराणि। अर्थशास्त्र, (शाम शास्त्री-संपादित), पृ० ५६

५९. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ ऐंड एरियन, पृ० ७७

६०. पुरद्वारं तु गोपुरम्। अमरकोश, पृ० ७७

६१. पुरगोपुरं प्रति स्वसैन्यसागरः। शिशुपाल वध, १३।२७

६२. श्यालः-सूचक, इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयितव्यम्। अभिज्ञान-शकुन्तलम, अंक ६

६३. उद्यानाम्रवणोपेताम्। रामायण, बालकाण्ड, ५।१२

६४. द्रष्टव्य, प्रो० गोवर्द्धन राय शर्मा-कृत, एक्सकेवेशंस ऐट कौशांबी, पृष्ठांक ३१-३८

यहाँ मिट्टी का विशाल वप्र वर्तमान था[६५]। वप्र और प्राकार के निर्माण की सूचना तक्षशिला और शिशुपालगढ़ की खुदाइयों से भी मिली है[६६]।

राजमार्ग—मत्स्य पुराण के अनुसार त्रिपुर के निर्माण में प्राकार, गोपुर तथा अट्टालक के उपरान्त राजमार्ग-निर्माण की योजना बनाई गई थी[६७]।

राजमार्ग का आकार—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार राजमार्ग की चौड़ाई दस धनुष अर्थात् साठ फीट होनी चाहिए[६८]। विष्णु पुराण के एक वर्णन से व्यक्त होता है कि मथुरा का राजमार्ग इतना चौड़ा था कि जब श्रीकृष्ण और बलराम उससे जा रहे थे, उस समय अनेक नर-नारियों को उन्हें देखने का अवसर मिला था[६९]।

राजमार्ग का सौन्दर्य-वर्द्धन—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि राजमार्गों पर दीपक जलाये जाते थे, जिनमें पर्याप्त मात्रा में तेल रहता था, जिसके कारण उनकी कांति चम्पा-पुष्प की भाँति प्रतीत होती थी[७०]। ब्रह्माण्ड पुराण में जमदग्नि-पुरी के विषय में विवेचित है कि इसके पौरांगनाओं ने राजमार्ग पर जल और चन्दन छिड़क रखा था[७१]।

राजमार्ग की स्वच्छता—सौन्दर्य-संवर्द्धन के साथ-साथ राजमार्गों की स्वच्छता पर भी ध्यान दिया जाता था। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवेचित है

---

६५. आ० स० रि०, १९११-१२, पृ० ३०

६६. मार्शल, तक्षशिला, भाग १, पृ० १३३; एंशेण्ट इण्डिया, नं० ४, पृ० ४२-४४ तथा नं० ५, पृ० ७४

६७. राजमार्ग इतश्चापि विपुलो भवतामिति। मत्स्य पु०, १३०।३

६८. धनूंषि दश विस्तीर्णः श्रीमान् राजपथः स्मृतः। वायु पु०, ८।११४; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।११३

६९. प्रविष्टौ रामकृष्णौ च राजमार्गमुपागतौ।
स्त्रीभिर्नरैश्च सानन्दं लोचनैरभिवीक्षितौ। विष्णु पु०, ५।१९।१२-१३

७०. राजमार्गेषु...दीपाश्चम्पकपुष्पाभा नाल्पस्नेहप्रदीपिताः। मत्स्य पु०, १३९।१९

७१. तं प्रस्थितं राजपथात्समंतात्पौरांगनाश्चन्दनवारिसिक्तैः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।२५

कि जिस राजमार्ग की सफाई नहीं होती, वहाँ पिचाश रहते हैं[७२]। मत्स्य पुराण में राजमार्गों को गन्दा करने वाला व्यक्ति अपराधी घोषित है[७३]।

इसमें सन्देह नहीं है कि नगर-निर्माण में राजमार्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान था। शुक्रनीति में विवृत है कि राजा को पुर-परिमाण के अनुसार ही राजमार्गों का निर्माण करना चाहिये[७४]। मृच्छकटिक से विदित होता है कि राजमार्ग पर दीये जलाये जाते थे[७५]। राजमार्ग चौड़े होते थे। कादम्बरी में उज्जयिनी की सड़कों के लिए 'आयामि' शब्द विशेषणार्थ प्रयुक्त हुआ है[७६]। सिन्धु-घाटी,[७७] तक्षशिला[७८] एवं कौशाम्बी[७९] के उत्खनित अवशेषों में राजमार्गों के सुनिर्धारित राज-निर्माण की योजना के स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त हुये हैं।

महारथ्या, रथ्या एवं उपरथ्या--श्रीपुर के विषय में मत्स्य पुराण में वर्णित है कि राजमार्ग के उपरान्त उपरथ्या और रथ्या के निर्माण की योजना बनाई गयी थी[८०]। महारथ्या के प्रशस्त आकार एवं दीर्घता पर वायु पुराण का एक स्थल प्रकाश डालता है। प्रस्तुत पुराण में यह आख्यात है कि विद्याधरीय नगरों की महारथ्या इतनी चौड़ी थी कि इस पर अनेक नर-नारी घूमा करते थे[८१]।

महारथ्यादि की शुचिता—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में विवेचित है कि

---

७२. असंस्पृष्टोपलिप्तानि संस्कारैर्वर्जितानि।
राजमार्गोपरथ्याश्च निष्कूटाश्चत्वराणि च। वायु पु०, ६६।२८३; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४०४

७३. समुत्सृजेद्राजमार्गे च। मत्स्य पु०, २२७।१७५

७४. पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् कारयेन्नृपः। शुक्रनीतिसार, १।२६८

७५. ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः। मृच्छकटिक, १।५७

७६. आयामिभिः...महाविपणिपथैरुपशोभिता। कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० १०२

७७. ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइज़ेशन, पृ० ३६

७८. मार्शल, तक्षिला, भाग १, पृ० ११४

७९. द्रष्टव्य, एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी, पृष्ठांक ४०

८०. राजमार्ग इतश्चापि विपुलो भवतामिति।
रथ्योपरथ्याः सत्रिका इह चत्वर एव च। मत्स्य पु०, १३०।३

८१. तस्योपरि महारथ्या प्रांशुप्राकारतोरणा।
नरनारीगणाकीर्णा स्फीता विभवविस्तरैः। वायु पु०, ३८।१३

जो उपरथ्या स्वच्छ नहीं रहती, वहाँ पिशाच रहते हैं[८२]। सम्भवतः स्वच्छता के कारण ही रथ्या की मिट्टी मत्स्य पुराण में शुद्ध मानी गई है[८३]।

अलंकरण—मत्स्य पुराण में विवृत है कि विजयार्थ आशावान् होकर त्रिपुर-निवासियों ने अपने नगर की रथ्याओं को दीपों से अलंकृत किया था[८४]। महारथ्या, उपरथ्या तथा रथ्या के निर्माण पर अन्य साहित्यिक साक्ष्य भी प्रकाश डालते हैं। हरिवंश के अनुसार द्वारका में आठ महारथ्याएँ थी[८५]। मालतीमाधव में नगरोद्यान के समीपस्थ रथ्या का वर्णन मिलता है[८६]। मृच्छकटिक में भी नगर की रथ्याओं का उल्लेख उपलब्ध है[८७]।

चत्वर—राजमार्गों के परस्पर मिलन से जो स्थान निर्मित होता था, उसे चत्वर कहते थे। ब्रह्माण्ड पुराण में जमदग्नि की पुरी को अनेक चत्वरों से युक्त बताया गया है[८८]। वायु पुराण की पंक्तियों में सशब्द चत्वर के समीप प्राणायाम करना वर्जित किया गया है[८९]।

चत्वर के समीप दूकानें—चत्वर समृद्धि के बोधक माने जाते थे तथा इन्हें पवित्रता की दृष्टि से देखा जाता था। ब्रह्माण्ड पुराण में जमदग्नि की पुरी के विषय में वर्णन आता है कि वहाँ के चत्वर अनेक प्रकार की दूकानों से सुसज्जित थे[९०]। वायु पुराण में चौराहे (चतुष्पथ) को शिव का निवास माना गया है[९१]। विष्णु पुराण के अनुसार तीर्थों के समान चौराहे पर भी स्त्री-संसर्ग वर्जित है[९२]।

---

८२. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ७२

८३. गजाश्वरथ्या...गोकुलात् ।
संशुद्धां मृदमानीय... । मत्स्य पु०, ६८।२३

८४. रथ्यासु...दीपाश्चम्पकपुष्पाभा... । वही, १३६।१६

८५. अष्टमार्गमहारथ्याम् । हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय ९८

८६. उद्यानवाह्यरथ्यामुखे । मालतीमाधव, अंक ३

८७. रथ्याविभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः । मृच्छकटिक, अंक ३

८८. स राजमार्गापणसौधसद्मसोपानदेवालयचत्वरेषु..। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।११

८९. ...चतुष्पथे...सशब्दे... । वायु पु०, ११।३२-३३

९०. विविक्तरथ्यापणचित्रचत्वरैरनेकवस्तुक्रयविक्रयैश्च । ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।१४

९१. चतुष्पथरताय च । वायु पु०, ३०।२१६

९२. चैत्यचत्वरतीर्थेषु नैव गोष्ठे चतुष्पथे । विष्णु पु०, ३।११।१२०

अन्य ग्रन्थों में हरिवंश का उद्धरण यहाँ उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार द्वारका में ऐश्वर्ययुक्त चत्वर बने थे[९३]। मृच्छकटिक से स्पष्ट है कि नगर-चत्वर पर समृद्ध व्यक्तियों का निवास होता था[९४]।

नगर का आकार : अप्रशस्त एवं प्रशस्त—वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में, अप्रशस्त और प्रशस्त—दो प्रकार के नगरों के आकार का प्रसंग आया है। अप्रशस्त आकार में छिन्नकर्ण, विकर्ण, व्यंजक, कृश, वृत्त, हीन (ब्रह्माण्ड पु० में वज्र) तथा दीर्घ नगरों का उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत प्रशस्ताकार नगरों में चौकोर नगर वांछनीय विहित है[९५]। मत्स्य पुराण में निर्देशित है कि नगर को आयताकार, चौकोर अथवा वृत्ताकार निर्मित करना चाहिए[९६]। य्वान च्वांग ने भी अपने विवरण में भारतीय चौकोर नगरों का उल्लेख किया है[९७]। युक्तिकल्पतरु नामक शिल्पशास्त्र में चौकोर आकार का नगर श्रेष्ठ माना गया है[९८]। रामायण के अनुसार अयोध्या नगर आयताकार था[९९]।

गृह-विन्यास—ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने वप्र, प्राकार, अट्टालक और राजमार्ग आदि का निर्माण किया। इसके उपरान्त उसने विभिन्न प्रकार के घरों को बनाया[१००]। इसी प्रकार त्रिपुर की योजना प्राकार, गोपुर, और मार्ग आदि के उपरान्त बनाई गई थी[१०१]। वायु और

---

९३. समृद्धचत्वरवती...। हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय ५८

९४. स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। मृच्छकटिक, अंक २

९५. छिन्नकर्णं विकर्णन्तु व्यंजनं कृशसंस्थितम्।
वृत्तं हीनंच दीर्घं च नगरं न प्रशस्यते।
चतुरस्रार्जवं दिक्स्थं प्रशस्तं वै पुरं परम्। वायु पु०, ८।११४;
ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१०८

९६. आयतं चतुरस्रं वा वृत्तं वा कारयेत्पुरम्। मत्स्य पु०, २१७।१२

९७. वाटर्स, ऑन य्वान च्वांग, १।१४७

९८. चतुरस्रं चतुर्वर्गफलाय...। युक्तिकल्पतरु, पृ० २३

९९. आयता दश च द्वे योजनानि महापुरी। बालकाण्ड, ५।७

१००. तत्राथनगरीं रम्यां साट्टप्राकारतोरणाम्।
गजाश्वरथशालाढ्यां राजवीथिविराजिताम्।
सामंतानाममात्यानां सैनिकानां द्विजन्मनाम्।
वेतालदासदासीनां गृहाणि रुचिराणि च। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।१४

१०१. मत्स्य पु०, १३०।१-३

ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार कृतयुग के व्यतीत होने पर मनुष्यों ने नगर के आकार आदि के निर्णयोपरान्त अपने वास-गृहों को बनाया[१०२]।

गृह-विन्यासार्थ शुभाशुभ मुहूर्त—मत्स्य पुराण के अनुसार चैत्र मास में गृह-निर्माण प्रारम्भ करने से व्याधि, वैशाख में धेनु तथा रत्न, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ में सद्भृत्य, भाद्र में विनाश, अश्विन में भार्या-वियोग, कार्त्तिक में ऐश्वर्य, पौष में चौर-भय, माघ में गृहदाह तथा फाल्गुन में पुत्र-लाभ होता है[१०३]।

भूमि-चयन—मत्स्य पुराण में श्वेत, लाल, पीले एवं काले वर्ण की भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गृहार्थ उपयुक्त वर्णित है[१०४]। अग्रिम वर्णन में विवेचित है कि मधुर, कटु, तिक्त तथा कषाय स्वाद वाली भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए अनुकूल होती है[१०५]। प्रसंगानुसार उल्लिखित है कि भूमि-परीक्षोपरान्त एक गड्ढा खोदकर, उसे भली भाँति लिप्त कर लेना चाहिए। इसके बाद एक कच्चे पात्र में घी रखकर चार बत्तियाँ जलाई जायँ, जो चारों दिशाओं की ओर हों। यदि पूर्व की ओर की बत्ती अधिक काल तक जलती रहे, तो उसका फल ब्राह्मणार्थ शुभावह होता है। इसी प्रकार क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए

---

१०२. कृतेषु तेषु स्थानेषु पुनश्चकुर्गृहाणि वै। वायु पु०, ८।११७; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१११

१०३. चैत्रे व्याधिमवाप्नोति यो गृहं कारयेन्नरः।
वैशाखे धेनुरत्नानि ज्येष्ठे मृत्युं तथैव च।
अषाढे भृत्यरत्नानि पशुवर्गमवाप्नुयात्।
श्रावणे भृत्यलाभं तु हानिं भाद्रपदे तथा।
पत्नीनाशश्चाश्वयुजे कार्त्तिके धनधान्यकम्।
मार्गशीर्षे तथा भक्तं पौषे तस्करतोभयम्।
लाभं च बहुशो विद्यादग्निं माघे विनिर्दिशेत्।
फाल्गुने कांचनं पुत्रानिति कालबलं स्मृतम्। मत्स्य पु०, २५३।२-५

१०४. श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैवानुपूर्वशः। वही, २५३।११

१०५. विप्राणां मधुरास्वादा कटुका क्षत्रियस्य तु।
तिक्ता कषाया च तथा वैश्यशूद्रेषु शस्यते। वही, २५३।१२-१३

कल्याणकारी होता है। यदि सामूहिक रूप से बत्ती चारों ओर बराबर समय तक जले, तो उसका फल सभी के लिए शुभकर है[१०६]।

गृहोपयोगी विभिन्न उपकरण : स्तम्भ—मत्स्य पुराण के अनुसार गृह-निर्माण करते समय सभी कार्यों को छोड़ कर पहले स्तम्भ बनाना चाहिए[१०७]। इस संदर्भ में इसी पुराण ने—रुचक, वज्र द्विवज्र, प्रलीनक तथा वृत्त—पाँच प्रकार के स्तम्भों का उल्लेख भी किया है। रुचक, वज्र, द्विवज्र तथा प्रलीनक क्रमशः चार, आठ, सोलह और बत्तीस कोणों वाले होते थे। इन विभन्न स्तम्भों में केवल वृत्त-स्तम्भ के निश्चित आकार का निर्देश किया गया है। ऐसा निरूपित है कि वृत्त-स्तम्भ, स्तम्भ का वह प्रकार-विशेष था जो मध्य में वृत्ताकार होता था[१०८]। अधिक से अधिक स्तम्भों का प्रयोग भवन के आयाम-प्रकर्ष का कारण माना जाता था। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड पुराण में मनु का विशाल गृह सहस्र स्तम्भों से युक्त वर्णित है[१०९]। वायु पुराण में अग्नि के आवास के छतों का अनेक स्तम्भों द्वारा अवलंबित होने का प्रसंग प्राप्त होता है[११०]। गृह-सौन्दर्य की वृद्धि के लिये स्तम्भों को अलंकृत किया जाता था। मत्स्य पुराण में विवेचित है कि रुचक आदि स्तम्भों को पद्म, लता, वल्ली, पत्र एवं दर्पणादि से युक्त करना चाहिए[१११]। विष्णु पुराण में भी स्तम्भ को दर्पण-युक्त बताया गया है[११२]।

---

१०६. अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वनुलिप्ते च सर्वशः।
घृतमाशरावस्थं कृत्वा वर्तिचतुष्टयम्।
ज्वलेद्भूमिपरीक्षार्थं तत्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।
दीप्तौ पूर्वादि गृहीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः।
वास्तुः सामूहिको नाम दीप्यते सर्वतस्तु यः।
शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च। मत्स्य पु०, २५३।१३-१६

१०७. स्तम्भोच्छ्रयादि कर्त्तव्यमन्यत्तु परिवर्जयेत्। वही, २५३।१०

१०८. वही, २५५।१-४

१०९. सहस्रस्तम्भशालस्यान्तरमारुतयोजने । ब्रह्माण्ड पु०, ४।३५।१

११०. नैकरत्नार्थिततलमनेकस्तम्भसंयुतम् । वायु पु०, ३४।७९

१११. एते पंच महास्तम्भाः प्रशस्ताः सर्ववास्तुषु।
पद्मवल्लीलताकुम्भपत्रदर्पणरूपिताः । मत्स्य पु०, २५५।४

११२. स्तम्भस्थदर्पणस्येव... । विष्णु पु०, २।११।१९

सुदृढ़ता की दृष्टि से धातु-निर्मित स्तम्भ ही निर्माणार्थ उपयुक्त माने जाते थे। मत्स्य पुराण में बुध के गृह को रत्न-स्तम्भ से युक्त बताया गया है[११३]। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शिव की नगरी के बीच में स्थित भवन रत्न-स्तम्भ से संयुक्त था[११४]। विष्णु पुराण की पंक्तियों में सुवर्ण-निर्मित स्तम्भ वाले भवन का उल्लेख भी उपलब्ध है[११५]।

उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि गृह-निर्माण-योजना में स्तम्भ-निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। मानसार में भी सभी भवनों में स्तम्भ-निर्माण आवश्यक घोषित है[११६]। स्तम्भों के अलंकरणार्थ उन पर चित्र बनाए जाते थे। विद्धशालभञ्जिका से ज्ञात होता है कि भवन के स्तम्भों पर मानव-आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं[११७]। साँची की कला में भी चित्रित स्तम्भ उपलब्ध हुए हैं[११८]। कौशाम्बी के घोषिताराम विहार में उत्खनित प्रस्तर-स्तम्भ विभिन्न चित्रों से अलंकृत हैं[११९]। धातु-निर्मित स्तम्भों की सूचना भी साहित्यिक साक्ष्यों से मिलती है। उदाहरणार्थ, बुद्धचरित में सुवर्ण-स्तम्भ का प्रसंग मिलता है[१२०]।

गृहद्वार : दिशा-निर्धारण—मत्स्य पुराण में वर्णित है कि पूर्व दिशा में इन्द्र और जयन्त नामक देवताओं के पदों पर बना हुआ द्वार सभी के लिए प्रशस्त होता है। इसके अतिरिक्त दक्षिण दिशा में याम्य और वितथ के पदों पर, पश्चिम में पुष्पदन्त और वरुण के स्थानों पर तथा उत्तर में भल्लाट और सौम्य के पदों पर निर्मित द्वार शुभकर बताया गया है[१२१]।

द्वार-वेध—द्वार-वेध के विषय में प्रस्तुत पुराण की पंक्तियों में वक्ष्यमाण निर्देश मिलते हैं। रथ्या से द्वार के वेध होने से कुल-क्षय होता है। वृक्ष द्वारा द्वार-वेध होने से द्वेष की प्रबलता रहती है। पंक के वेध होने से शोक होता है। कूप के वेध

---

११३. रत्नस्तम्भसमायुक्तम्... । मत्स्य पु०, ११।६४

११४. रत्नस्तम्भकपाटकैः... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।३२।१०

११५. आकृष्य च महास्तम्भं जातरूपमयं... । विष्णु पु०, ५।२८।२५

११६. देवालयादिसर्वेषां स्तम्भस्थापनमुच्यते । मानसार, १५।१७६

११७. विद्धशालभंजिका, अंक १, पृष्ठ ३३

११८. मानुमेण्ट्स ऑफ़ साँची, भाग १, फलक १८-१९

११९. निर्देशक, कौशाम्बी-उत्खनन-शिविर के सौजन्य से प्राप्त सूचना

१२०. बुद्धचरित, १४।२२

१२१. मत्स्य पु०, २५५।७-९

होने से व्यथा होती है। कील के वेध से विनाश तथा स्तम्भ के वेध से स्त्री को क्लेश होता है। एक घर से दूसरे घर के वेध पड़ने से गृहपति का विनाश होता है[१२२]।

सिंहद्वार तथा रंगद्वार—सिंहद्वार का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण तथा रंगद्वार का उल्लेख विष्णु पुराण में मिलता है। शिवलोक के संबंध में ब्रह्माण्ड पुराण में विवेचित है कि उसके मध्य में बना हुआ भवन सिंहद्वार से युक्त था[१२३]। विष्णु पुराण के अनुसार कंस का प्रासाद रंगद्वार से अलंकृत था, जिसके द्वारा हाथियों को प्रवेश कराया गया था[१२४]।

कपाट एवं अर्गला—विष्णु पुराण से विदित होता है कि किवाड़ न लगे हुए द्वार को विपन्नता का सूचक माना जाता था[१२५]। ब्रह्माण्ड पुराण में जमदग्नि की पुरी के विषय में वर्णित है कि उसके भवनों में अर्गलायुक्त कपाट लगे हुए थे[१२६]। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वार, गृह का अनिवार्य अंग था। मानसार ने घर में द्वार-निर्माण-विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है[१२७]। मृच्छकटिक में चारुदत्त के भवन में वृहत् कपाट लगे होने का वर्णन उपलब्ध है[१२८]। विद्धशालभंजिका में अर्गला द्वारा द्वार के बन्द किए जाने का प्रसंग उपलब्ध होता है[१२९]।

सोपान—ब्रह्माण्ड पुराण में जमदग्नि की पुरी के प्रासादों को अनेक सोपानों से युक्त वर्णित किया गया है[१३०]। बहुमूल्य चमकते हुए सोपानों के कारण वहाँ के भवनों की शोभा बढ़ गई थी[१३१]। शिवलोक की नगरी के मध्यभाग में स्थित भवनों के विषय में वायु पुराण विवृत करता है कि उसके सोपान रत्न-जटित थे[१३२]। औत्कच नामक

---

१२२. तन्मध्ये भवनं रम्यं सिंहद्वारोपशोभितम्। ब्रह्माण्ड पु०, ३।३२।११

१२३. घातनीयौ नियुद्धायं रंगद्वारमुपागतौ। विष्णु पु० ५।२०।२३

१२५. न द्वारबन्धावधारणा...। वही, ५।१०।३३

१२६. तुलाकपाटार्गला... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।२६।५९

१२७. गृहे द्वारं विशेषतः । मानसार, ६।२५९

१२८. विदूषक—तत्किमेतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता। मृच्छकटिक, अंक ४

शर्विलक—भवतु आत्मरक्षार्थं द्वारमुद्घाटयामि। वही, अंक ३

१२९. निपतत्वर्गला...। विद्धशालभंजिका, अंक ३

१३०. स राजमार्गापणसौधपद्मसोपान... । ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।११

१३१. सोपानकुटीविटंककैः...शोभितैः... । वही, ३।२७।५९

१३२. वज्रस्फटिकसोपान... । वायु पु०, ५४।३८

नगर के भवनों की सीढ़ियों के विषय में विवेचित है कि उन्हें पार करने में सैकड़ों डग भरने पड़ते थे[१३३]।

स्वच्छता—वायु पुराण में निर्देशित है कि सोपान पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए[१३४]। अन्य साहित्यिक स्थलों में इस स्थान पर शाकुन्तल का साक्ष्य उल्लेखनीय है, जहाँ हर्म्य-तल पर पहुँचने के लिए दुष्यन्त सोपान-मार्ग के निर्देश के लिए जिज्ञासा करते हैं[१३५]।

गवाक्ष और वातायन—गृहाङ्ग-सौन्दर्य का संवर्द्धन जिन विशेष उपादानों द्वारा किया जाता था, उनमें गवाक्ष एवं वातायन का स्थान विशिष्ट था। मत्स्य पुराण में गवाक्ष का उल्लेख त्रिपुर के भवनों के शोभावर्द्धक अंगों में हुआ है[१३६]। प्रसंगान्तर में निरूपित है कि वातायनों में पुरस्त्रियाँ आसीन थीं[१३७]। ब्रह्माण्ड पुराण में गृह के अन्यान्य भागों की भाँति वातायन का भी प्रसंग आया है[१३८]। वायु पुराण में शिव की पुरी के भवनों के विषय में विवृत है कि वातायनों के कारण उनकी शोभा प्रदीप्त हो गई थी[१३९]।

खिड़कियों के लिए गवाक्ष और वातायन का प्रसंग अन्यत्र भी उपलब्ध है। अविमारक में जिन गवाक्षों का उल्लेख हुआ है, उनमें रखे हुए दीपों की ज्योति ज्योत्स्ना से साम्य रखती थी[१४०]। मृच्छकटिक में वातायनों से झाँकती हुई स्त्रियों का उल्लेख हुआ है[१४१]।

तोरण—भवन-निर्माण-योजना का एक अभिन्न अंग तोरण भी माना जाता था। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने जिस पुरी का निर्माण किया, उसके ऊँचे प्राकारों में तोरण लगे हुए थे[१४२]। वायु पुराण में

---

१३३. शाखाशतसहस्राद्यैर्नैकारोहसमाकुलम्। वायु पु०, ४०।१८
१३४. न सोपाने...मेहयेत् । वही, २७।३०
१३५. सोपानमार्गमादेशय... । अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ६
१३६. सकपाटगवाक्षाणि... । मत्स्य पु०, १४०।५५
१३७. वातायनगताश्चान्या... । वही, १४०।५८
१३८. वातायनेषु... । ब्रह्माण्ड पु०, ४।२१।१६
१३९. जलैश्च विविधाकारैः... । वायु पु०, १०१।२५१
१४०. नैषा ज्योत्स्ना प्रासादानां गवाक्षान्तरगता दीपप्रभैषा। अविमारक, पृ०, ४५
१४१. वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः। मृच्छकटिक, १०।११
१४२. साट्टप्राकारतोरणाम्। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।६

वर्णित है कि विद्युद्वान पर्वत के विचित्र प्रासाद-समूह तोरणों से युक्त थे[१४३]। महानील पर्वत के नगरों के विषय में वर्णन आता है कि उनका सौन्दर्य तोरणों के कारण बढ़ गया था[१४४]। मत्स्य पुराण में तोरण, त्रिपुर के भवनों का अनन्य अंग घोषित है[१४५]। तोरण गृहसौन्दर्य के साधन थे। स्वप्नवासवदत्तं का विदूषक भवन के प्रवेश-द्वार की चंचल तोरण-माला को सर्प समझकर भय-त्रस्त प्रदर्शित किया गया है[१४६]।

पताका और ध्वजा—मत्स्य पुराण के अनुसार मय ने जिस त्रिपुर का निर्माण किया था, उसके प्रासाद अनेक पताका और ध्वजाओं से अलंकृत थे[१४७]। ब्रह्माण्ड पुराण में अयोध्या के भवन पताका और ध्वजा से युक्त वर्णित हैं[१४८]। वायु पुराण में विवेचित है कि शिव की नगरी के प्रासाद में जो पताकाएँ लगी हुई थीं, उनमें चन्द्रमा की किरणों के समान प्रकाश आविर्भूत हो रहा था[१४९]। तोरण के समान पताका और ध्वजा से भी भवन का सौन्दर्य-संवर्द्धन किया जाता था। मन्दसोर को प्रशस्ति में उन भवनों का वर्णन मिलता है, जिनमें चंचल पताकाएँ फहरा रही थीं[१५०]। शिशुपालवध के अनुसार द्वारकापुरी की कुटियाँ, पताकाओं से युक्त होकर अलंकृत रमणी के समान प्रतीत हो रही थीं[१५१]। कर्पूरमंजरी में वर्णित भवन में सफेद ध्वजाएँ लगी हुई थीं[१५२]।

विभिन्न भवनों का उल्लेख : राज प्रासाद की स्थिति—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने जिस नगर का निर्माण किया था, उसके मध्य भाग में राजप्रासाद स्थित था[१५३]।

राजप्रासाद : आयाम—पौराणिक उल्लेखों से विदित होता है कि

---

१४३. हेमप्राकारतोरणा । वायु पु०, ४८।२७
१४४. प्रांशुप्राकारतोरणा । वही, ३६।३६
१४५. विशीर्णहर्म्याणि सतोरणानि । मत्स्य पु०, १४०।७०
१४६. मुखतोरणलोलमालाम् । स्वप्नवासवदत्तम्, १।३
१४७. बहुध्वजपताकानि... । मत्स्य पु०, १३०।१७
१४८. श्वेतव्यजनसच्छत्रपताकाध्वजमालिनीम् । ब्रह्माण्ड पु०, ३।५५।१५
१४९. चन्द्ररश्मिप्राकाशाभिः पताकाभिरलंकृतम् । वायु पु०, १०१।२५१
१५०. चलत्पताकान्यबलासनाथानि । सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २६१
१५१. रम्या इति प्राप्तवतीः पताका... । शिशुपालवध, ३।५३
१५२. कर्पूरमंजरी, २।३१
१५३. मध्यं राजगृहं द्वारगोपुरभूषितम् । ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।१२

राजप्रासाद पर्याप्त विशाल होते थे। मत्स्य पुराण के अनुसार राजा का उत्तम प्रासाद एक सौ आठ हाथ चौड़ा होना चाहिए। इसी प्रसंग में ऐसा आदेशित है कि अन्य प्रासादों की चौड़ाई उत्तम की अपेक्षा आठ हाथ कम होनी चाहिए[१५४]।

राजप्रासाद के विभिन्न अंग : आस्थान—राजप्रासाद के अंगों में मत्स्य पुराण ने आस्थान का सन्दर्भ दिया है। धर्ममूर्त्ति नामक राजा के विषय में वर्णित है कि उन्होंने आस्थान में जाकर गूढ़ विषय पर राजगुरु से मंत्रणा ली थी[१५५]।

सभा—ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण सभा का उल्लेख करते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में देवी के राजप्रासाद के विषय में इसे अनेक सभाओं से युक्त प्रदर्शित किया गया है[१५६]। मत्स्य पुराण में सभा का वर्णन हिरण्यकशिपु की कथा-प्रसंग में हुआ है, जिसमें ऐसा निरूपित है कि उसकी सभा स्तम्भों पर टिकी हुई थी[१५७]।

अन्तःपुर—मत्स्य पुराण में त्रिपुर की योजना में अन्तःपुर के निर्माण का उल्लेख हुआ है[१५८]। राजमहिषी रुक्मिणी को विष्णु पुराण ने अन्तःपुरचरा वर्णित किया है[१५९]।

आयुधागार—मत्स्य पुराण में निर्देशित है कि आयुधागार का निर्माण राजभवन के अग्निकोण में करना चाहिए[१६०]।

कोश-गृह—राजभवन के दक्षिण-भाग में कोशगृह-निर्माण का आदेश दिया गया है[१६१] तथा कोशगृह के दक्षिण-भाग में गजशाला के निर्माण का आदेश

---

१५४. अथातः संप्रवक्ष्यामि भवनं पृथिवीपतेः।
पंचप्रकारं तत्प्रोक्तमुत्तमादिविभेदतः।
अष्टोत्तरं हस्तशतं विस्तारश्चोत्तमो मतः।
चतुर्ष्वन्येषु विस्तारो हीयते चाष्टभिः करैः। मत्स्य पु०, २५४।१४-१६

१५५. कदाचिदास्थानगतः पप्रच्छ स पुरोधसम्। वही, ९२।२१

१५६. सिंहासनसभां चैव नवरत्नमयीं शुभाम्। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।१२

१५७. सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभां।
स्तंभैर्न विभृता सा वै शाश्वती चाक्षपा सदा। मत्स्य पु०, १६१।३८-४५

१५८. इदमन्तःपुरस्थानं... । वही, १३०।४

१५९. अन्तःपुरचरां देवीं रुक्मिणीं प्राह हर्षयन्। विष्णु पु०, ५।२७।२५

१६०. आग्नेये च तथा भागे आयुधागारमिष्यते। मत्स्य पु०, २१७।१६

१६१. राज्ञा कोशगृहं कार्यं दक्षिणे राजवेश्मनः। वही, २१७।१५

विहित है[१६२]। राजभवन के वाम भाग में गाय तथा घोड़ों के आवास तथा अग्नि कोण में ही भोजनालय का निर्माण प्रस्तावित किया गया है[१६३]।

उपर्युक्त पौराणिक स्थलों का समर्थन अन्य साहित्यिक साक्ष्यों से भी किया जा सकता है। कादम्बरी से विदित होता है कि मध्याह्न के पूर्व, राजा शूद्रक आस्थानमण्डप में राजवर्ग के साथ आसीन थे[१६४]। दूतवाक्य के अनुसार कौरव और पाण्डव जिस सभा में एकत्र थे, वह स्तम्भयुक्त थी[१६५]। अन्तःपुर भी राजप्रासाद का महत्त्वपूर्ण भाग था। स्वप्नवासवदत्तं में प्रासाद के उस अन्तःपुर का उल्लेख हुआ है, जिसमें जलाशय विद्यमान थे[१६६]। कादम्बरी के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि आस्थान-भवन तथा अन्तःपुर परस्पर निकट निर्मित रहते थे[१६७]। आयुधागार का वर्णन वेणीसंहार में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के अनुसार भीम को अपना आयुध लेने के लिए आयुधागार में जाना पड़ा था[१६८]।

भवनों की स्थिति : वर्गानुसार—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार विश्वकर्मा ने जिस सुरम्य नगर का निर्माण किया था, उसमें सामन्त, अमात्य, सैनिक, ब्राह्मण, वेताल तथा दास-दासी के भवन अलग-अलग बने हुए थे[१६९]। जमदग्नि की पुरी के विषय में विवेचित है कि इसमें सामन्त, निषाद, पदाति, रथी, सारथी तथा विप्रादि चारों वर्णों के भवन पृथक्-पृथक् निर्मित थे[१७०]। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में युवराज, सेनापति, मन्त्री, सामन्त, अमात्य, शिल्पी, कंचुकी, वेश्या, दूती, कर्मचारी,

---

१६२. तस्यापि दक्षिणे भागे गजस्थानं विधीयते। मत्स्य पु०, २१७।१५

१६३. आग्नेये च तथा भागे आयुधागारमिष्यते। वही, २१७।१६
महानसं गवां स्थानं तथैवात्र तुरगाणां तथैव च। वही, २१७।१९

१६४. विसर्जितराजलोकः क्षितिपतिरास्थानं मण्डपादुत्तस्थौ। कादम्बरी, पूर्व भाग, २९

१६५. दूतवाक्य, पृष्ठ ३२

१६६. अन्तःपुरदीर्घिकासु स्नायते। स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ४

१६७. कतिपयाप्तराजपुत्रपरिवृतो नरपतितरभ्यन्तरं प्राविशत्। कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० ३१

१६८. अहमप्यायुधागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामि। वेणीसंहार, अंक १

१६९. सामन्तानाममात्यानां सैनिकानां द्विजन्मनाम्।
वेतालदासदासीनां गृहाणि रुचिराणि च। ब्रह्माण्ड पु०, ४।१४।१०

१७०. नरेन्द्रसामन्तनिषादिसादिपदातिसेनापतिनायकानाम्।
विप्रादिकानां... रथिसारथीनां...। वही, ३।२७।१३

राजपरिवार के अन्य सदस्य, ज्योतिषी, गुरु, वैद्य, सेनापति तथा पुरोहित के भवनों की स्थिति और आकार में भिन्नता वर्णित है[१७१]।

क्रीडा-गृह—मत्स्य पुराण में वर्णन आता है कि तारकासुर ने हिमालय के शिखरों में अपना क्रीडा-अधिवास बनाया था[१७२]। अन्यत्र विवेचित है कि तारकासुर के अनेक क्रीडा-गृह थे, जिनकी मनोहरता गीत और वाद्य के कारण बढ़ गई थी[१७३]। एक दूसरे स्थल पर विवृत है कि स्वर्ग के क्रीडा-गृहों में देवगण मदिरापान करते हुए सुरांगनाओं के साथ विहार करते हैं[१७४]। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में अनेक प्रकार के भवनों में केलिवेश्म का उल्लेख किया गया है[१७५]। क्रीडा-गृह का वर्णन अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, विक्रमोर्वशीय में उस क्रीडावेश्म का उल्लेख हुआ है, जिसमें पिपासार्त शुक जल की इच्छा कर रहा था[१७६]।

चन्द्रशाला—ब्रह्माण्ड पुराण में विभिन्न गृहों के प्रसंग में चन्द्रशाला का भी वर्णन मिलता है[१७७]। चन्द्रशाला-निर्माण का उद्देश्य मनोविनोद था। कामसूत्र में भवन के सबसे ऊपरी कक्ष में चन्द्रिका-सेवन का आदेश दिया गया है[१७८]। हर्षचरित में रानी यशोमती चन्द्रशाला में मनोविनोद करती हुई प्रदर्शित हैं[१७९]।

अनेक मंजिलों वाले भवन—मत्स्य पुराण में सात, आठ और दस मंजिलों से युक्त प्रासादों का वर्णन मिलता है। इनमें चित्रशालाएँ सज्जित की गई थीं। अनेक ध्वजा, पताका और मालाओं से इन्हें अलंकृत किया गया था। मालाओं से युक्त होने के कारण इनका सौन्दर्य बढ़ गया था। इनके चारों ओर अशोक वृक्ष

---

१७१. मत्स्य पु०, २५४।१६-३६

१७२. अधिवासविहारविधावुचितो। मत्स्य पु०, १५४।३५

१७३. नानाक्रीडागृहयुतं गीतवाद्यमनोहरम्। वही, १४८।४०

१७४. सोत्पलामदिरामोदा दिवि क्रीडायनेषु च। वही, १४८।३४

१७५. सौधेषु चन्द्रशालासु केलिवेश्मसु सर्वतः। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२१।१३

१७६. क्रीडावेश्मनि चैव पंजरशुकः...जलं याचते। विक्रमोर्वशीय, २।२२

१७७. सौधेषु चन्द्रशालासु...। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२१।१३

१७८. कामसूत्र, सूत्र, १६

१७९. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २१६

लगे थे, जिनमें कोकिल का कलरव मुखरित होता था[१८०]। भवन के मंजिलों की अनेकता की सूचना साँची की कला से भी मिलती है। इसके पूर्वी द्वार में एक स्थल पर छः मंजिलों वाले प्रासाद का चित्रण है[१८१]।

भवनों के भेद-भेदान्तर—मत्स्य पुराण में सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त्त, वर्धमान, स्वस्तिक तथा रुचक नामक चतुःशाल का वर्णन मिलता है। सर्वतोभद्र नामक चतुःशाल में चारों ओर द्वार लगते थे। इस प्रकार का भवन राजा और देवता के लिए अधिक उपयुक्त वर्णित किया गया है। जिस चतुःशाल में पश्चिम दिशा में द्वार नहीं बनते थे, उसे नन्द्यावर्त कहा गया है। जिसमें दक्षिण दिशा में द्वार नहीं बनते थे, उसे वर्धमान नाम दिया गया है। स्वस्तिक ऐसे भवन को कहते थे, जिसमें पूर्व की ओर द्वार नहीं बनता था। रुचक उस चतुःशाल को कहते हैं, जिसमें उत्तर की ओर द्वार नहीं रहता था[१८२]। चतुःशाल का उल्लेख इस पुराण में मय के त्रिपुर के वर्णन में भी हुआ है[१८३]। सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त और स्वस्तिक चतुःशालों का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी उपलब्ध है[१८४]।

त्रिशाल—इसके धान्यक, सुक्षेत्र और विशाल, तीन भेद बताए गए हैं। जिस भवन के उत्तर में शाला-निर्माण नहीं करते थे, उसे धान्यक की संज्ञा दी जाती थी। ऐसा भवन शुभदायक घोषित है। पूर्व की दिशा में, जो भवन शालारहित होता था,

---

१८०. अशोकवनभूतानि कोकिलारुतवन्ति च।
चित्रशालाविशालानि चतुःशालोत्तमानि च।
सप्ताष्टदशभौमानि सत्कृतानि मयेन च।
बहुध्वजपताकानि स्रग्दामालङ्कृतानि च। मत्स्य पु०, २५४।१६-१७

१८१. ईस्टर्न आर्ट, भाग ३, पृ० २११

१८२. चतुःशालं प्रवक्ष्यामि स्वरूपान्नामतस्तथा।
चतुःशालं चतुर्द्वारैरलिन्दैः सर्वतोमुखम्।
नाम्ना तत्सर्वतोभद्रं शुभं देवनृपालये।
पश्चिमद्वारहीनं च नन्द्यावर्त्तं प्रचक्षते।
दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्।
पूर्वद्वारविहीनं तत्स्वस्तिकम् नाम विश्रुतम्।
रुचकं चोत्तरद्वारहीनं तत्प्रचक्षते। मत्स्य पु०, २५४।१-४

१८३. चतुःशालोत्तमानि च। वही, १३०।१६

१८४. सर्वतोभद्रवासेषु नन्द्यावर्तेषु वेश्मसु स्वस्तिकेषु च सर्वषु...। ब्रह्माण्ड पु०, ४।२१।१५

उसे सुक्षेत्र कहते थे। धान्यक के समान सुक्षेत्र भी शुभ बताया गया है। दक्षिण दिशा में शाला-विहीन भवन को विशाल कहते थे। ऐसा भवन कुल के विनाश का कारण माना गया है[१८५]।

द्विशाल—इसके भी भेद बताए गए हैं। पहले प्रकार के भवन में दक्षिण और पश्चिम में शालाएँ बनाते थे। ऐसा भवन कल्याणदायक घोषित है। पश्चिम और उत्तर की दिशाओं में जिसमें शालाएँ बनाते थे, उसे यमसूर्य कहा जाता था। ऐसा भवन अशुभ था। उत्तर और पूर्व की ओर जिसमें शालाएँ बनाई जाती थीं, उसे दण्डशाला नाम दिया है। ऐसा भवन अहितकर था। इसी प्रकार पूर्व और दक्षिण की ओर शालाओं से युक्त दण्डशाला नामक भवन को अशुभ माना गया है[१८६]। प्रस्तुत स्थल पर मानसार का साक्ष्य भी उल्लेखनीय है, जिसमें चतुःशाला त्रिशाला और द्विशाला का वर्णन किया गया है[१८७]। चतुःशाल मांगलिक था। स्वप्नवासवदत्तं के अनुसार विवाह के समय अविधवा स्त्रियों के साथ उदयन को चतुःशाल में प्रवेश कराया जा रहा था[१८८]।

भवनों की स्थिति : गोलार्द्ध एवं पंक्तिबद्ध—जमदग्नि की पुरी के विषय में ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन आता है कि इसके अन्तर्भाग में प्रासाद, गोलार्द्ध में स्थित थे[१८९]। विद्याधरीय नगर के प्रसंग में वायु पुराण वर्णित करता है कि इसके भवन माला के समान एक ही पंक्ति में निर्मित थे[१९०]। मन्दसोर की प्रशस्ति से भी दशपुर के भवनों के माला के रूप में स्थित होने की सूचना मिलती है[१९१]।

---

१८५. सौम्यशालाविहीनं यत् त्रिशालं धान्यकं च तत्।
क्षेमवृद्धिकरं नृणां बहुपुत्रफलप्रदम्।
शालया पूर्वया हीनं सुक्षेत्रमिति विश्रुतम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं शोकमोहविनाशनम्।
शालया याम्यया हीनं यद्विशालं तु शालया।
कुलक्षयकरं नृणाम्... । मत्स्य पु०, २५४।४-७

१८६. वही, २५४।७-११

१८७. मानसार, अ० १५, पृ० २४३-२४४

१८८. एष जामाता अविधवाभिरभ्यन्तरचतुःशालं प्रवेश्यते। स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ३

१८९. प्रासादसंघैः परिवीतमन्तः। ब्रह्माण्ड पु०, ३।२७।५७

१९०. महाभवनमालाभिः... । वायु पु०, ३८।१५

१९१. प्रसादमालाभिरलंकृतानि । सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २९१

गृहोद्यान—मत्स्य पुराण में गृह की पूर्व दिशा में बट-वृक्ष लगाना शुभकर बताया गया है और ऐसा कहा गया है कि गृह की दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में क्रमशः उदुंबर, पीपल और प्लक्ष वृक्ष लगाना चाहिए। घर के समीप कंटकाकीर्ण, क्षीरप्रचुर तथा फलवान् वृक्ष आरोपित करना निषिद्ध किया गया है[१९२]।

गृहोद्यान : गृह का सौन्दर्यवर्द्धक—विष्णु पुराण में सत्यभामा पारिजात वृक्ष को अपने घर का विभूषण मानती हैं[१९३]। वायु पुराण में शीतांत नामक महागिरि के समीपस्थ देवगृहों के शोभावर्द्धक साधनों में पारिजात आदि वृक्षों से युक्त उद्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है[१९४]। मत्स्य पुराण के अनुसार पर्वतराज हिमवान् के प्रासाद को सहस्रों क्रीडावनों से युक्त देखकर देवगण अपनी दृष्टि को सफल मान रहे थे[१९५]।

जलाशय—मत्स्य पुराण से विदित होता है कि त्रिपुर के उद्यान जलाशयों से युक्त थे[१९६]। मत्स्य और वायु पुराणों से ज्ञात होता है कि जलाशयों में नीचे उतरने के लिए सोपान निर्मित थे[१९७]। इन जलाशयों में विभिन्न प्रकार के कमल आरोपित हुये थे। अनेक प्रकार के पक्षियों से युक्त होने के कारण इनकी अभिरामता बढ़ गई थी[१९८]। ब्रह्माण्ड पुराण से पता लगता है कि इनमें अक्षीण जल भरा रहता था[१९९]। उद्यान और जलाशय का वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक की गणिका का उद्यान उसके घर के समीप

---

१९२. भवनस्य वटः पूर्वे दिग्भागे सार्वकामिकः।
उदुम्बरस्तथा याम्ये वारुण्यां पिप्पलः शुभः।
प्लक्षश्चोत्तरतो धन्यो विपरीतास्त्वर्थसिद्धये।
कण्टकी क्षीरवृक्षश्च आसनः सफलो द्रुमः। मत्स्य पु०, २५५।२०-२१

१९३. मद्गेहनिष्कुटार्थाय तदयं नीयतां तरुः। विष्णु पु०, ५।३०।३४

१९४. क्रीडावनं महेन्द्रस्य सर्वकामगुणैर्युतम्।
पारिजातकपुष्पाणां...। वायु पु०, ३६।१०।१३

१९५. क्रीडोद्यानसहस्राढ्यं...नेत्राणि सफलान्यद्य...। मत्स्य पु०, १५४।४८१

१९६. पुरोद्यानानि दीर्घिकाः। वही, १८८।२८

१९७. आरोहसंक्रमवतीं... । मत्स्य पु०, १३६।१२
चारुतीर्थसुसम्बाधं...। वायु पु०, ४१।७१

१९८. हंसकारंडवाकीर्णा नलिन्यः सहपंकजाः। मत्स्य पु०, १८८।२८

१९९. तत्तटाकमभूद्दिव्यमशोषितजलं महत्। ब्रह्माण्ड पु०, ४।७।२९

था[२००]। स्वप्नवासवदत्तं का विदूषक अन्तःपुर की दीर्घिकाओं में स्नान कर अपने को धन्य मानता है[२०१]।

उपर्युक्त पौराणिक उद्धरणों के द्वारा नगर-मापन तथा गृह-सन्निवेश पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उद्धरण, दो प्रकार के हैं: एक तो वे, जो साभिप्राय हैं और जो उक्त विषय से साक्षात् सम्बन्धित हैं। दूसरे प्रकार के उद्धरण प्रासंगिक हैं तथा विकीर्ण रूप से मिलते हैं। दोनों के सामूहिक अध्ययन के द्वारा तद्विषयक सन्तोषजनक स्वरूपांकन हो जाता है। ये उपकरण यदि एक ओर शिल्प-शास्त्रों से साम्य रखते हैं, तो दूसरी ओर संस्कृत के अन्य ग्रन्थों से भी इनकी घोर समता है। स्थल-स्थल पर पुरातत्त्व-साक्ष्यों से इनका समर्थन वस्तुस्थिति एवं यथार्थता को सुस्पष्ट कर देता है।

---

२००. एष वृक्षवटिकायां तिष्ठति...। मृच्छकटिक, अंक ४

२०१. अन्तःपुरदीर्घिकासु स्नायते...। स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ४

आर्थिक दशा

पुराणों में आर्थिक दशा-विषयक जो स्थल प्राप्त होते हैं, उनमें वे अधिकांश वार्त्ता शब्द का उल्लेख करते हैं तथा प्रस्तुत शब्द के तात्पर्य और बोध को भी स्पष्ट करते हैं। इन स्थलों के अनुसार वार्त्ता शब्द का तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है, जो मूलतः आर्थिक गठन का कारण है तथा व्यवहार में सामाजिक संतुलन का नियामक बनता है। इस सन्दर्भ में विष्णु पुराण ने समाज के उस संवर्द्धनशील स्तर को प्रस्तावित किया है, जब कि मनुष्य ने यह अनुभूत किया कि स्वाभाविक सुरक्षा उसके लिये अपेक्षित है तथा एतदर्थ उसने पुरादि में अपने सन्निवेश को स्थिर कर वार्त्ता-व्यवस्था को सम्पन्न किया[1]। इसी प्रसंग में वायु और ब्रह्माण्ड पुराण के स्थल त्रेतायुग का सन्दर्भ देते हैं, जब कि मनुष्य का अपकर्ष हुआ तथा इसके परिणाम-स्वरूप उसकी सहज और स्वाभाविक पूर्वकालीन सिद्धियों का भी तिरोभाव हुआ। विवेचन-क्रम में दोनों पुराण ऐसा वर्णित करते हैं कि वार्त्ता का प्रवर्त्तन इसी परिस्थिति-विशिष्ट युग में हुआ था[2]। समविषयक परिचर्चा मत्स्य पुराण के उद्धरणों में उपलब्ध होती है, जिसके अनुसार द्वापर-बोधित युग-भेद के साथ-साथ मति-भेद हुआ था तथा ऐसी परिस्थिति में मन, वचन और कर्म की कठिनता के साथ वार्त्ता व्यवस्थित हुई थी[3]।

इन पौराणिक सूचनाओं का सन्तोषजनक समर्थन ग्रन्थान्तरों के प्रसंगानुकूल स्थलों द्वारा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रामायण में वार्त्ता सुख-प्राप्ति का साधन घोषित है[4]। अमरकोशकार ने वार्त्ता को जीविका का पर्यायवाची वर्णित किया है[5]। महाभारत के अनुसार वार्त्ता विश्व-संस्थिति का मूल है[6]।

---

१. वार्तोपायं ततश्चक्रुः... । विष्णु पु०, १।६।२०

२. त्रेतायुगे चापकर्षाद्वार्तायाः संप्रवर्तनम् । वायु० पु०, १।१००; ब्रह्माण्ड पु०, १।१।६२

३. द्वापरेष्वभिवर्तन्ते मतिभेदस्तथा नृणाम् ।
मनसा कर्मणा वाचा कृच्छ्राद्वार्ता प्रसिध्यति । मत्स्य पु०, १४४।२४

४. वार्तायां सांप्रतं लोकोऽयं सुखमेधते । अयोध्याकाण्ड, १००।४७

५. आजीवो जीविका वार्त्ता... । अमरकोश, २।६।१

६. महाभारत, ३।१५०।३०

वार्त्ता शब्द का पौराणिक सामान्य अर्थ : कृषि—विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड, तीनों पुराणों में वार्त्ता का तात्पर्य कृषि से उत्पन्न ओषधियों से लिया गया है। विष्णु पुराण में वर्णित है कि जब मनुष्यों ने वार्त्ता का उपाय किया, उस समय विभिन्न प्रकार के अनाज उत्पन्न हुए[७]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के अनुसार जनसमूह की वृत्ति के स्थापनार्थ ब्रह्मा ने पृथ्वी के दोहन द्वारा बीजों को उत्पन्न कर उनके वार्त्ता की व्यवस्था सम्पन्न किया[८]।

वार्त्ता का विशेषार्थ : कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य—उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त तीनों पुराणों में ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जिनमें वार्त्ता का तात्पर्य कृषि, पशुपालन और वाणिज्य माना गया है। विष्णु पुराण में वार्त्ता को विद्या शब्द से अभिहित करते हुए विवृत है कि वार्त्ता के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य और पशुपालन आते हैं[९]। अन्यत्र इस पुराण में वर्णन आता है कि जिस समय जनसमूह ने पृथु से वृत्ति की याचना किया; उनके संरक्षण में कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य का विकास हुआ। यही वर्णन वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी मिलता है[१०]।

साक्ष्यान्तरों के साथ पौराणिक व्यंजना का समाधान—अन्य ग्रन्थों के साथ भी यदि उक्त पौराणिक उद्धरणों का अध्ययन किया जाय तो इसी व्यंजना के प्रतिपादक स्थल प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, रामायण में वार्त्ता के अन्तर्गत कृषि और पशुपालन उपलब्ध होता है[११]। इसके विपरीत कौटिल्य-अर्थशास्त्र और अमर-कोश में इसका तात्पर्य कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से लिया गया है[१२]।

कृषि के प्रति पौराणिक प्रवृत्ति—कृषि के प्रति पुराणों की दृष्टि श्रद्धापरक है। विष्णु पुराण में जोते हुए खेत में मूत्रोत्सर्ग करना अधर्म माना गया है[१३]। मत्स्य पुराण ने जोते हुए खेत से बीज उखाड़ने वाले को अपराधी घोषित किया है[१४]।

---

७. विष्णु पु०, १।६।२०-२६ (वार्त्तोपायं ततश्चक्रुः)

८. ततः स तासां वृत्त्यर्थं वार्त्तोपायश्चकार ह। वायु पु०, ८।१४०-१५३; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१४०-१५१

९. कृषिर्वाणिज्या तद्वच्च तृतीयं पशुपालनम्।
विद्या ह्येका महाभाग वार्त्ता वृत्तित्रयाश्रिया। विष्णु पु०, ५।१०।२८

१०. न सस्यानि न गोरक्षा न कृषिर्न वणिक्पथः। विष्णु पु०, १।१३।६७, ६८-८४; वायु पु०, ६२।१४८, १७०; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१७४, १९८

११. रामायण, अयोध्याकाण्ड, १००।४७

१२. अर्थशास्त्र, १।४; अमरकोश, २।९।१-२

१३. न कृष्टे शस्यमध्ये...। विष्णु पु०, ३।११।१२

१४. बीजोत्कर्षक एव च। मत्स्य पु०, २२७।१८३

कृषि-रक्षा : राजा का कर्त्तव्य—वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य, तीनों पुराणों में वैन्य के गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें क्षेत्रपाल शब्द से विशिष्ट किया गया है । इसकी स्वाभाविक व्यंजना यही है कि राजा के संरक्षण में कृषि का विकास अपेक्षित माना गया है[१५] ।

कृषि-कर्षण : उपयोगिता—पूर्व उद्धरणों से खेत की जुताई पर भी प्रकाश पड़ता है[१६] । मत्स्य पुराण ने दो प्रकार के अनाजों का सन्दर्भ दिया है। कृष्ट तथा वन में स्वतः उत्पन्न[१७] । इसी प्रसंग में वार्त्ता व्यवस्थोपरान्त उत्पन्न अनाजों को वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने 'कृष्टपच्य' विशेषण दिया है[१८] । कृष्ट का अर्थ होता है जोती हुई भूमि तथा पच्य यहाँ उत्पन्न के अर्थ में प्रयुक्त है[१९] ।

कृषि-उपयोगी उपकरण : हल—हल के लिए पुराणों में हल, लांगल और फाल शब्दों का उल्लेख उपलब्ध है । विष्णु पुराण में उस मिट्टी को शौचकर्म के लिए वर्जित माना गया है, जो हल द्वारा उत्खात की गई हो[२०] । लांगल शब्द का उल्लेख प्रस्तुत पुराण में उस स्थल पर हुआ है, जहाँ शेषनाग का वर्णन मिलता है[२१] । इन स्थलों में स्पष्टतः खेत की जुताई का सम्बन्ध सर्वत्र हल से नहीं किया गया है, यह सही है । इसका कारण इन उद्धरणों का प्रासंगिक स्वरूप माना जा सकता है । पर; फाल शब्द, जो वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मिलता है, निश्चय ही कृषि-कार्य में हल की उपयोगिता पर प्रकाश डालता है । फाल की प्रयोजनीयता व्यक्त करते हुए दोनों पुराणों ने उस अतीत का उल्लेख किया है, जब कि अनाज स्वाभाविक रूप में कृषि आदि की योजना के बिना ही प्राप्त होते थे[२२] ।

---

१५. स एव पशुपालोऽभूत् क्षेत्रपालस्तथैव च । वायु पु०, ६४।२४; ब्रह्माण्ड पु०, ३।६६।२४; मत्स्य पु०, ४३।२७

१६. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी, क्रम संख्या १३-१४

१७. कृष्टानामोषधीनां च जातानां च स्वयं वने । मत्स्य पु०, २२७।३६

१८. ततः प्रभृत्यौषधयः कृष्टपच्यास्तु जज्ञिरे । वायु पु०, ८।१५४; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१५२

१९. मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी के अनुसार

२०. हलोत्खातां च पार्थिव । विष्णु पु०, ३।११।१७

२१. लांगलासक्तहस्ताग्रो... । वही, २।५।१८

२२. अफालकृष्टाश्चानुप्राप्ता...। वायु पु०, ८।१५०; ब्रह्माण्ड पु०, २।७।१४८

सिंचाई—प्रसंगतः मत्स्य पुराण ने खेत की सिंचाई का सन्दर्भ भी दिया है। युद्ध में घायल होने के बाद पुनरुत्थित होने वाले मय के अनुचरों की उपमा पुराण ने कुम्हलाए हुए पौधों से दिया है, जो सींचने पर हरे-भरे हो उठते हैं[२३]।

इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि हल का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी मिलता है। एक स्थल पर अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करते हुए जव बोने के लिए हल द्वारा खेत के कर्षण का सन्दर्भ मिलता है। इस प्रसंग में हलार्थ वृक शब्द प्रयुक्त हुआ है। यास्क[२४] के आधार पर सायण ने वृक शब्द का अर्थ लांगल माना है[२५]। वैदिक वाङ्मय में ऐसे उद्धरण भी उपलब्ध होते हैं, जहाँ फाल और लांगल, दोनों शब्दों का उल्लेख हुआ है[२६]। अमरकोश तथा अमरकोश-व्याख्या से प्रतीत होता है कि फाल उस नोकदार लोहे को कहते थे, जो हल से संयुक्त किया जाता था[२७]। लांगल शब्द का उल्लेख वसिष्ठ ने भी किया है तथा इसे वपन-कार्य में उपयोगी माना है[२८]। मनु के एक उद्धरण से भी विदित होता है कि हल के मुखभाग में लोहा लगा रहता था, जिससे खेत की मिट्टी के नीचे रहने वाले जीव विनाश को प्राप्त होते हैं[२९]।

अनाजों के भेद-विवरण—पुराणों ने दो प्रकार के अनाजों का उल्लेख किया है। पहले प्रकार के अनाज वे थे, जो स्वतः उत्पन्न होते थे तथा जिनका उपयोग केवल यज्ञ में किया जाता था। दूसरे प्रकार के अनाजों को ग्राम्य अथवा कृष्ट तथा कृष्टपच्य कहा गया है। यही अनाज मानव प्रयास-उपलब्ध माने जाते थे। इस सन्दर्भ में निम्नांकित अनाजों का वर्णन मिलता है—व्रीहि, यव, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु, उदार, कारुष, वीनक, माष, मुद्ग, निष्पाव, कुलत्थ, आढ्यक, चणक तथा सारण। इन अनाजों का विश्लेषण प्राचीन परिज्ञान की पृष्ठभूमि के साथ-साथ अन्न-पान-विषयक अध्याय में किया जा चुका है[३०]।

---

२३ उत्तिष्ठन्ति पुनर्भीमा सस्या इव जलोक्षिताः। मत्स्य पु०, १३६।४६

२४. निरुक्त, ६।२६

२५. वृको लांगलं भवति विकर्तनात्। ऋग्वेद, ८।२२।६, सायण

२६. शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिम्। वाजसनेय संहिता, १२।६६
लांगलं पवीरवत्...वपतु। अथर्ववेद, ३।१७।३

२७. अमरकोश, २।६।१३; चिन्तामणि शास्त्री की व्याख्या

२८. लांगलं पवीरवत्...तद्वपति। वसिष्ठ धर्मसूत्र, २।३४

२९. भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्। मनुस्मृति, १०।८४

३०. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३२७-३२८

वाणिज्य : पौराणिक प्रवृत्ति—आर्थिक संघटन के नियामकभूत, कृषि के अतिरिक्त जिस विशेष उपादान का सन्दर्भ आलोचित पुराणों के स्थल देते हैं; वह है वाणिज्य। पौराणिक मत में वाणिज्य का आविर्भाव मानवीय समाज के उस संवर्द्धनशील स्तर पर हुआ, जबकि वैन्य के शासनाधिरूढ़ होने के साथ-साथ अराजकता, अव्यवस्था तथा सामाजिक विक्षोभ का अन्त हुआ था[३१]। वाणिज्य-व्यवस्था एवं सामाजिक सुव्यवस्था, दोनों ही समसामयिक थे तथा इनमें परस्पर ज्ञापकत्व एवं कारकत्व का सम्बन्ध था। पर, यह स्मरणीय है कि वाणिज्य के प्रति पौराणिक स्थल समवेत रूप में श्रद्धेय नहीं हैं। पुराणों में ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है, जहाँ वाणिज्य के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है। उदाहरणार्थ, वायु और मत्स्य पुराणों में विवेचित है कि त्रेतायुग में मनुष्यों को सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त रहती हैं, पर; द्वापर युग में लोभ और अधैर्य की प्रबलता रहती है। ऐसे ही समय मनुष्य वाणिज्य के प्रति उन्मुख रहते हैं[३२]। इस बात का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है कि त्रेतायुग की प्रशंसा में तथा द्वापर को अपेक्षाकृत सदोष सिद्ध करने के उद्देश्य से पुराणों ने इन उद्धरणों को व्यक्त किया है। जैसा कि अध्याय के पूर्वगामी पृष्ठों में दिखाने की चेष्टा की गई है, पुराणों ने ऐसे उद्धरणों को कृषि के सम्बन्ध में भी व्यक्त किया है[३३]।

वाणिज्य-वृत्ति : मात्र वैश्यार्थ आज्ञप्त—वर्ण तथा जातियाँ नामक अध्याय में उन पौराणिक उद्धरणों का विश्लेषण किया जा चुका है, जिनमें वाणिज्य वैश्यार्थ अनुकूल जीविका विहित है[३४]। पर, इन पौराणिक स्थलों में ऐसे आदेश भी निहित मिलते हैं, जिनमें वाणिज्य केवल वैश्य के लिये ही आज्ञप्त है तथा अन्य वर्णों के लिये इसे निषिद्ध किया गया है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि निकृष्ट कलियुग में, जबकि वर्ण-व्यवस्था में व्यतिक्रम का पद-विन्यास होगा, उस समय समाज के सभी व्यक्ति वाणिज्य-वृत्ति का अनुसरण करेंगे[३५]। अन्यत्र दोनों पुराणों में वर्णन आता है कि क्रय-विक्रय वैश्य की जीविका है। यदि ब्राह्मण इस वृत्ति का

---

३१. न सस्यानि न गोरक्ष्यं न कृषिर्न वणिक्पथः।
वैन्यात्प्रभृति मैत्रेय सर्वस्यैतस्य सम्भवः। विष्णु पु०, १।८३।८४;
वायु पु०, ६२।१७०; ब्रह्माण्ड पु०, २।३६।१९८

३२. लोभोऽधृतिर्वणिग्युद्धं...। वायु पु०, ५८।३; मत्स्य पु०, १४४।३

३३. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३६९-३७०

३४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १७५

३५. सर्वे वाणिजकाश्चापि भविष्यन्त्यधमे युगे। वायु पु०, ५८।५१;
ब्रह्माण्ड पु०, २।३१।५२

अनुसरण करे तो वह पाप का भागी होता है[३६]। अन्य सन्दर्भ में वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु, इन तीन पुराणों में विवृत है कि वेद का विक्रय करने से ब्राह्मण को नरक मिलता है[३७]। इसी प्रसंग में विष्णु पुराण में वेद के अतिरिक्त अन्य विक्रेय वस्तुओं का भी ब्राह्मण के द्वारा विक्रीत किया जाना अकार्य माना गया है। ऐसा कहा गया है कि लाक्षा, मांस, रस, तिल और लवण का विक्रय करने से ब्राह्मण को नरक की प्राप्ति होती है[३८]। विवेचन-क्रम में प्रस्तुत पुराण ने सोम का विक्रय करने वाले ब्राह्मण की निन्दा किया है[३९]।

आपद्धर्म एवं वाणिज्य-वृत्ति—विष्णु पुराण का कथन है कि आपत्ति-कालीन अवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य के कर्म का अनुसरण कर सकते हैं। पुनः सामर्थ्यशील होने पर उन्हें इसका त्याग कर देना चाहिए[४०]। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि धर्मसूत्र तथा स्मृति-ग्रन्थों से विष्णु पुराण की यह व्यवस्था विरोध रखती है, जिनमें आपत्तिकालीन दशा में वैश्यार्थ सुनिर्णीत कर्म अर्थात् वाणिज्य केवल क्षत्रिय के लिए आज्ञप्त किया गया है[४१]। विष्णु पुराण की यह व्यवस्था अंशतः मृच्छकटिक के उदाहरण द्वारा समर्थित की जा सकती है। इस नाटक में निरूपित नायक चारुदत्त जाति से ब्राह्मण था, जिसे कर्म-विपर्यय से सार्थवाह होने का सुयोग प्राप्त हुआ था। इस दृष्टि से नाटककार ने उसे द्विज-सार्थवाह की संज्ञा प्रदान किया है[४२]।

निष्क और सुवर्ण—यद्यपि पुराणों ने क्रय-विक्रय के प्रचलित माध्यम पर प्रकाश नहीं डाला है; तथापि ऐसे उद्धरण अवश्य प्राप्त होते हैं, जहाँ निष्क तथा

---

३६. क्रयविक्रयिणौ चैव जीवितार्थं विगर्हितौ वृत्तिरेषा तु वैश्यस्य ब्राह्मणस्य तु पातकम्। वायु पु०, ७९।७७; ब्रह्माण्ड पु०, ३।१५।५०-५१

३७. वेदो विक्रीयते येन...। वायु पु०, १०१।१५६; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१५७; विष्णु पु०, २।६।१३

३८. लाक्षामांसरसानां तिलानां लवणस्य च।
विक्रेता ब्राह्मणो याति तमेव नरकं द्विज। विष्णु पु०, २।६।२०

३९. वही, ३।१५।५

४०. द्रष्टव्य, पृष्ठांक १५८-१५९

४१. राजन्यो वैश्यकर्म...। गौतम धर्मसूत्र, ७।२६; विष्णु स्मृति, २।१५; मनुस्मृति, १०।९६

४२. मृच्छकटिक, १।६; द्रष्टव्य, लेखक का निबंध, 'मृच्छकटिक—एक सामाजिक अनुशीलन'; वही, पृ० २७१

सुवर्ण का उल्लेख हुआ है। निष्क का प्रसंग विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में प्राप्त होता है तथा सुवर्ण का वर्णन विष्णु पुराण में हुआ है। विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि द्यूत-क्रीड़ा में बलभद्र तथा रुक्मी ने अनेक निष्कों की बाजी लगाई थी[४३]। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों का कथन है कि निष्क का अपहर्त्ता व्यक्ति नरकगामी होता है[४४]। अन्यत्र वायु पुराण में निष्क का सम्बन्ध शिव से स्थापित किया गया है[४५]। प्रस्तुत पुराण में सहस्र निष्कों के दान की महत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है[४६]। इसी प्रकार शर्करासप्तमी नामक व्रत के प्रसंग में मत्स्य पुराण ने सहस्र, शत और दस निष्कों के दान का आदेश दिया है[४७]। जिस स्थल पर वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने निष्क शब्द का उल्लेख किया है, वहाँ विष्णु पुराण ने सुवर्ण शब्द प्रयुक्त किया है[४८]।

इन पौराणिक उद्धरणों द्वारा आर्थिक संघटन में उपयोगी निष्क अथवा सुवर्ण के विषय में निश्चित रूप-रेखा नहीं तैयार की जा सकती। तथापि इन पर वैदिक प्रभाव अवश्य स्पष्ट किया जा सकता है। यह दिखाया जा चुका है कि वायु पुराण में निष्क का सम्बन्ध शिव से स्थापित किया गया है। ऋग्वेद में भी निष्क को रुद्र से सम्बन्धित किया गया है[४९]। अथर्ववेद में राजा द्वारा निष्क के दान का उल्लेख हुआ है,[५०] जो वायु और मत्स्य पुराणों के उक्त उद्धरणों पर पूर्ण रूपेण प्रभाव व्यक्त करता है[५१]।

---

४३. द्रष्टव्य, मनोरंजन के साधन-विषयक अध्याय, ३१३

४४. काण्डकर्त्ता कुलालश्च निष्कहर्त्ता... । वायु पु०, १०१।१६०; ब्रह्माण्ड पु०, ४।२।१६२

४५. निष्काय विकृताय च । वायु पु०, ३०।१६०

४६. अथ निष्कसहस्राणां फलं प्राप्नोति...। वही, ८०।१६

४७. सहस्रेणाथ निष्काणां कृत्वा दद्याच्छतेन वा दशभिर्वाऽथ निष्केण... । मत्स्य पु०, ७७।११

४८. हर्ता सुवर्णस्य... । विष्णु पु०, २।६।६

४९. अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपं । अर्हन्निदं... रुद्र...... त्वदस्ति । ऋग्वेद, २।३३।१०

५०. एष इषाय मामहे शतं निष्कान्दश स्रजः । अथर्ववेद, २०।१२७।३

५१. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी ४५

वैदिक उद्धरणों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि निष्क अथवा सुवर्ण, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है; वे क्रय-विक्रय के माध्यम नहीं प्रतीत होते। इनका प्रयोग आभूषण के रूप में भले ही होता रहा हो, पर इनसे मुद्रा के प्रचलन की सूचना नहीं मिलती[५२]। इस सम्बन्ध में ये उद्धरण इतने स्पष्ट नहीं हैं कि इनसे तद्विषयक प्रश्न पर साक्षात् प्रकाश पड़े, यद्यपि एक अन्य मत के अनुसार इन्हें मुद्रा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है[५३]। विशेषतया उत्तर वैदिक वाङ्मय के जिन प्रसंगों में निष्क अथवा सुवर्ण का उल्लेख हुआ है, वे निष्क और सुवर्ण के मुद्रापरक स्वरूप की ही सूचना देते हैं[५४]। यहाँ उल्लेखनीय है कि पौराणिक उद्धरण वेदोत्तरवर्ती हैं, भले ही उन पर वैदिक प्रभाव परिलक्षित है। वेदोत्तरवर्ती काल में निश्चित रूप में निष्क और सुवर्ण मुद्रा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे; जिसका समर्थन जातक, महाभारत तथा पाणिनि के उल्लेखों द्वारा होता है[५५]। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुराणों में प्रयुक्त निष्क और सुवर्ण मुद्रा के ही द्योतक हैं। अतएव आर्थिक संघटन में इनका विशिष्ट स्थान रहा होगा।

शिल्प-विषयक पौराणिक स्थलों की समीक्षा—आर्थिक दशा के अन्तर्गत ही उन पौराणिक उद्धरणों को रखा जा सकता है, जिनमें स्पष्ट अथवा व्यक्त रूप में उद्योग-धन्धों के प्रति संकेत मिलते हैं। उद्योग-धन्धों के लिए आलोचित पुराणों ने समष्टि रूप में शिल्प शब्द का प्रयोग किया है। वायु और विष्णु पुराणों में स्पष्टतः विवेचित है कि शिल्प का सम्बन्ध दोनों हाथों से है[५६]। निश्चय ही इनका संकेत हस्तकला के प्रति है, जिसके लिए शिल्प शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रसंगान्तर में

---

५२. अल्टेकर, जर्नल ऑफ़ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ़ इण्डिया, १९५३, पृ० १३

५३. डी० आर० भण्डारकर, लेक्चर्स ऑन एंशेण्ट इण्डियन न्यूमिस्मेटिक्स, पृ० ५७

५४. अल्टेकर, वही, पृ० १७

५५. डी० आर० भण्डारकर, वही, पृ० ४५-४८; वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५०

५६. पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् मैत्रेय च पंचमी।
विसर्ग शिल्पगत्युक्ति कर्म च तेषां कथ्यते। विष्णु पु०, १।२।४९
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाग्दशमी भवेत्।
गतिविसर्गो ह्यानन्दः शिल्पं वाक्यं च कर्म च। वायु पु०, ४।५६

वायु पुराण में महादेव को सब प्रकार के शिल्पों का प्रवर्तक माना गया है[५७]। एक अन्य स्थल पर शिल्प को वांछित लक्ष्य के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रसंग में ऐसा निरूपित है कि योग के प्रभाव से शिल्प की प्राप्ति होती है[५८]।

इन उद्धरणों से पौराणिक दृष्टिकोण में शिल्प की संस्थिति व्यक्त होती है। दोनों हाथों का सहज कर्तव्य शिल्प को मानना इस बात का द्योतक है कि इसे आर्थिक संघटन के अभिन्न अंग के रूप में ग्रहण किया जाता था। शिल्प को देवता द्वारा प्रवर्तित मानना इसकी पुराण-सम्मत महत्ता का स्पष्ट परिचय देता है। शिल्प को योग अथवा साधना का फल स्वीकार करना, उसकी वाञ्छनीयता को सुव्यक्त कर देता है। ऐसी प्रवृत्ति महाभारत में भी दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रन्थ में निबद्ध विष्णु के स्तोत्र में वर्णित है कि स्तोत्र के प्रभाव से शिल्प की प्राप्ति होती है[५९]।

यद्यपि उपर्युक्त पौराणिक उद्धरणों के द्वारा शिल्प के गौरव की सूचना मिलती है; तथापि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में एक ऐसा उद्धरण भी उपलब्ध होता है, जिससे शिल्पी अथवा कारीगरों की अमर्यादित और अप्रतिष्ठित सामाजिक स्थिति का पता चलता है। ऐसा निरूपित है कि कारीगर और शिल्पी अधार्मिक हैं तथा वे पिशाचों की जीविका के साधन हैं[६०]। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि कारीगर के लिए दोनों पुराणों में कारु शब्द का प्रयोग हुआ है। वाजसनेय संहिता के एक वर्णन के आलोक में पौराणिक प्रवृत्ति पर वैदिक परम्परा का आंशिक प्रभाव मानना असंगत न होगा। संहिताकार ने कारीगर के लिये[६१] कारि शब्द का प्रयोग किया है। प्रभाव की दृष्टि से शब्द की समता के अतिरिक्त प्रसंग की भी समता दिखाई देती है। पुरुषमेध के वर्णन में विवृत है कि यदि परिहास की अभिलाषा हो तो कारि को मेध्य का पात्र बनाना चाहिए[६२]।

शिल्पी के लिए पुराणेतर वेदोत्तरवर्ती साहित्य में कारु शब्द का ही प्रयोग होता था। इसके समर्थन में मनुस्मृति का साक्ष्य उद्धृत किया जा सकता है, जहाँ

---

५७. सर्वशिल्पप्रवर्तकः। वायु पु०, ३०।२५२

५८. विद्याकाव्यं तथा शिल्पं...। वही, १२।७

५९. योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च। महाभारतांतर्गत विष्णुसहस्रनामस्तोत्र, १४०

६०. अधार्मिका जनास्ते...कारुशिल्पजनास्तथा। वायु पु०, ६९।२७९; ब्रह्माण्ड पु०, ३।७।४०७

६१. ग्रिफ़िथ की टीका के अनुसार

६२. हासाय कारिम्...... । वाजसनेय संहिता, २०।६

एतदर्थ कारुक और कारु जैसे शब्दों का संदर्भ प्राप्त होता है[६३]। मनुस्मृति के उद्धरण से यह भी व्यक्त होता है कि कारीगर अथवा अन्य शिल्पकारों को अधार्मिक अथवा समाज से वहिष्कृत समझा जाता था। ऐसा आदेशित है कि कारुक का अन्न ग्रहण करने से प्रजा का विनाश होता है, सुवर्णकार का अन्न आयु तथा चमड़े के व्यवसायी का अन्न यश को क्षीण करता है[६४]।

यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि उद्योग-धन्धों के विकास में सहायक होने के कारण आर्थिक संघटन में शिल्पियों का विशेष स्थान था, भले ही उनकी सामाजिक स्थिति शोचनीय रही हो। इसका पुष्टीकरण वायु पुराण के उस उद्धरण से किया जा सकता है, जहाँ महादेव को शिल्पियों का स्वामी तथा श्रेष्ठ शिल्पी की संज्ञा दी गई है[६५]। इसी प्रकार चारों पुराणों में शिल्पी विश्वकर्मा को प्रजापति की आख्या से अभिहित किया गया है; जिसके द्वारा विमान, आभूषण आदि का निर्माण हुआ था[६६]। इस पौराणिक प्रवृत्ति का समर्थन मनुस्मृति से भी किया जा सकता है, जहाँ कारु तथा शिल्पी को कर्मोपकरण शब्द से विशिष्ट किया गया है तथा शिल्प को जीवन का कारण माना गया है[६७]।

जहाँ तक विभिन्न उद्योग-धन्धों का प्रश्न है एतद्विषयक आलोचित पुराणों के वर्णन भी विशद अथवा विस्तृत नहीं हैं। ऐसे वर्णन प्रायः प्रासंगिक हैं तथा विकीर्ण

---

६३. कारुकान्नं प्रजां हन्ति...... ।
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुकुशीलवौ । मनुस्मृति, ४।२१६,८।६५

६४. कारुकान्नं प्रजां हन्ति...... ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मविकर्तिनः । वही, ४।२१८, २१६

६५. शिल्पीशः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः । वायु पु०, ३०।२५२

६६. विश्वकर्मा सुतस्तस्या जातः शिल्पिप्रजापतिः ।
स कर्त्ता सर्वशिल्पानां त्रिदशानां च वर्द्धकिः ।
भूषणानां च सर्वेषां कर्त्ता कारयिता च सः ।
सर्वेषां विमानानि देवतानां करोति सः ।
मनुष्यश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पानि शिल्पिनः । वायु पु०, ६६।२८-३०; ब्रह्माण्ड पु०, ३।३।२६; विष्णु पु०, १।१६।१२०

६७. कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा । मनुस्मृति, १०।१२०
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः । वही, १०।११६

रूप में प्राप्त होते हैं। प्रसंगतः जिन उद्योग-धन्धों का उल्लेख हुआ है, उनका विवरण वक्ष्यमाण पंक्तियों में विवेचित है :—

भाण्ड-निर्माण—वायु पुराण में चाक द्वारा बर्तन निर्माण-विधि पर प्रकाश डाला गया है। ऐसा वर्णित है कि मानव-शरीर उसी प्रकार निर्मित होता है, जैसे मिट्टी का पिण्ड चक्र पर संपीडित किया जाता है तथा हाथों से यथेष्ट आकार, देने पर विविध रूप धारण करता है[६८]।

तैल-निर्माण—इसका उल्लेख केवल विष्णु पुराण में हुआ है। एक प्रसंग में विवृत है कि तिल में तेल स्वाभाविक रूप से रहता है[६९]। अन्यत्र, पुराण ने तेल की निर्माण-विधि पर आंशिक प्रकाश डाला है। ऐसा वर्णित है कि नक्षत्र ध्रुव स्वयं घूमा करता है, फिर भी वायु-रूपी रश्मियाँ उसे घुमाती रहती हैं। यह क्रिया तैल-संपीडन के समान होती है, जिसके लिए स्वयं घूमता हुआ भी चक्का घुमाया जाता है[७०]। तिल तथा तेल का प्रसंग अथर्ववेद जैसे वैदिक ग्रन्थ में भी आया है[७१], यद्यपि स्पष्टतः तिल द्वारा तेल निकाले जाने के विषय में वैदिक प्रमाण नहीं मिलते हैं[७२]। परवर्ती साक्ष्यों में हितोपदेश का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसमें तिल से तेल निकाले जाने का आधार उद्योग माना गया है[७३]।

आभूषण-निर्माण—इसका प्रसंग चारों पुराणों में मिलता है तथा इसका सम्बन्ध प्रजापति विश्वकर्मा से स्थापित किया गया है[७४]। इस दैवी सम्बन्ध से पौराणिक दृष्टिकोण में अलंकार-निर्माण का स्थान व्यक्त होता है[७५]। जिन विशेष

---

६८. मृत्पिण्डस्तु यथा चक्रे चक्रवर्त्तेन पीडितः।
हस्ताभ्यां क्रियमाणस्तु विश्वत्वमुपगच्छति। वायु पु०, १४।१८

६९. दारुण्यग्निर्यथा तैलं तिले...... । विष्णु पु०, २।७।२८

७०. तैलपीडा यथा चक्रं भ्रमन्तो भ्रामयन्ति वै। वही, २।१२।२६।२७

७१. अथर्ववेद, ६।८।३

७२. वेदिक इण्डेक्स, १, पृ० ३१२

७३. अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति। हितोपदेश, प्रस्ताविका, ३०

७४. विश्वकर्मा सुतस्तस्या जातः शिल्पिप्रजापतिः।
भूषणानां च सर्वेषां कार्त्ता कारयिता च सः। वायु पु०, ६६।२८; ब्रह्माण्ड पु०, ३।३।२६; विष्णु पु०, १।१५।१२०; मत्स्य पु०, ५।२८

७५. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३०१, ३०३

अलंकारों के उल्लेख आलोचित पुराणों में प्राप्त होते हैं, उनका विश्लेषण तदनुकूल अध्याय में किया जा चुका है[७६]।

वस्त्र-निर्माण—आभूषणों के अतिरिक्त वस्त्रों के उल्लेख भी पुराणों में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। इनका निर्माण चर्म, वृक्ष-वल्कल, ऊन और रेशम से किया जाता था। पुराणों ने वस्त्र के अनेक प्रकारों का उल्लेख भी किया है। प्रसंगतः विष्णु पुराण में रजक और रंगकार का वर्णन भी मिलता है, जिनसे वस्त्र के धोने वाले तथा रँगनेवाले की संस्थिति व्यक्त होती है। अनेक स्थलों पर विभिन्न रंगों वाले वस्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। ये उद्धरण वस्त्र की रँगाई के द्योतक हैं। इनका विवेचन वस्त्र-अलंकार-विषयक अध्याय में किया जा चुका है[७७]।

मदिरा-निर्माण—उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जिनसे मदिरा-निर्माण पर प्रकाश पड़ता है। इसका समर्थन इस दृष्टि से होता है कि पुराणों में मदिरापान के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। मदिरा-निर्माण तथा उसके साधन पर ब्रह्माण्ड पुराण के उस उद्धरण द्वारा अवश्य प्रकाश पड़ता है, जहाँ गौडी, पैष्टी, माध्वी, कादम्बरी, हैंताली, लांगलेया तथा तालजाता नामक मदिरा के विभेदों का उल्लेख हुआ है[७८]। गौडी उन सभी मदिराओं का सामूहिक नाम था, जिसके निर्माण में गन्ने का रस काम में लाया जाता था[७९]। पैष्टी उस मदिरा का नाम था, जिसे अनाज से बनाते थे[८०]। इसी प्रकार मधु से बनी हुई मदिरा को माध्वी[८१] तथा कदम्ब[८२], हिताल[८३], नारियल तथा खजूर[८४] से निर्मित मदिरा को क्रमशः कादम्बरी, हैताली, लांगलेया यथा तालजाता कहते थे।

उद्योग-धन्धों के बोधक उक्त पौराणिक उद्धरणों से यही प्रतीत होता है

---

७६. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, ३०१-३०६

७७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, २८६-२६४

७८. चरकसंहिता, सूत्र, २७।१७८-१८१; द्रष्टव्य, मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी, पृ० ३७६

७९. मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी के अनुसार

८०. अमरकोश, २।१०।४१

८१. अमरकोश, २।१०।४०, चिन्तामणि, शास्त्री की टीका के अनुसार

८२. अमरकोश, २।५।१६६

८३. वही, ३।५।१६८

८४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३४३

कि यद्यपि इनमें तद्विषयक विशद अथवा विस्तृत विवेचन का अभाव है, तथापि इनसे कतिपय विशेष बातों की सूचना मिलती है। एक तो इन पर वैदिक प्रवृत्ति का प्रभाव दिखाई देता है; जिसका निर्वाह स्मृतियों ने भी किया है, जैसे कारु के प्रति इनका दृष्टिकोण। दूसरे सामाजिक दृष्टि से गर्हित होने पर भी आर्थिक अवयव के नियामक होने के कारण शिल्पी त्याज्य नहीं थे[८५]। इसके अतिरिक्त इनका वर्णन स्मृतियों के समकक्ष अवश्य है, पर यत्र-तत्र इनमें नवीनता का पुट है। उदाहरणार्थ, मदिरा के विवरण में मनुस्मृति ने केवल गौडी, पैष्टी तथा माध्वी का उल्लेख किया है। पर, ब्रह्माण्ड पुराण ने इनके साथ-साथ अन्य मदिराओं का सुस्पष्ट विवरण दिया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पौराणिक वर्णन वैदिक परम्परा से प्रभावित अथवा स्मृतियों के समकक्ष होने पर भी नवीन संयोजन का परिचय देते हैं।

---

८५. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३७८

बौद्ध धर्म-विषयक पौराणिक आख्यान की ऐतिहासिक समीक्षा

पुराणकारों ने जिस धर्म को वर्णन तथा विवेचन का विषय बनाया है; उसमें धर्म-समुच्चय, धर्म-वैशद्य तथा धर्म-प्रकर्ष का महत्त्वपूर्ण समाहार प्राप्त होता है। अतीतकालीन, अविलीन तथा अविस्मरणीय वैदिक परम्परा, प्रथा तथा मान्यता के बहुरूप पक्षों के प्रति इनकी दृष्टि श्रद्धालु थी। पर, अभिनव तथा युग-सापेक्ष प्रवत्तियों के परिशीलन एवं पर्यालोचन की दिशा में भी इन्होंने उदासीनता नहीं दिखाई। इनका मूल उद्देश्य था 'वेद-समुपवृंहण' अर्थात् वेदों का विस्तार, जिसे इन्होंने अपनी वाङ्मय-संरचना का निरन्तर प्रवहणशील तथा संप्रेरक सिद्धांत बनाया। यह उसी स्थिति में संभव था, जब कि अतीत और अर्वाचीन के संगम-स्थल तथा संगत स्वरूप के लिये आवश्यक दिशा का निर्धारण देश और काल के अनुरूप किया जाय। वेदोत्तर परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि इसमें वेद-विहित धार्मिक मान्यताओं को सर्वंशः एवं सर्वांगशः स्थान नहीं मिल सकता था। जन-मन का संतर्पण जिस वारिधारा से सहज और स्वाभाविक रूप में संभव था उसके लिए वैदिक संदोह अपूर्ण ही नहीं अपितु अपर्याप्त भी प्रतीत हो रहा था। इसी समय, जब कि वेद-विरोधी धर्मों तथा धार्मिक प्रक्रियाओं का आविर्भाव हुआ तो उनकी भाषा और भाव की सुगमता तथा युगानुकूलता के कारण वेद तथा वैदिक धर्म; उपेक्षा, गर्हणा, अवहेलना, यहाँ तक कि तिरोभाव के विषय बन रहे थे। दूसरी ओर अवैदिक धार्मिक तत्त्व भी, जो वैदिक धर्म की सुवृद्धि और समृद्धि के अवसर पर अविकसित, अव्यक्त और प्रायः क्षीण थे, अपनी ताना-बाना के विस्तारार्थ अनुकूल स्थिति में आ रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि वेद-विरोधी धर्मों में सर्वाधिक ग्रहणशीलता, गतिशीलता तथा व्यापनशीलता की प्रखर प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में थी। सरल, सुबोध और सार्वजनीन होने के अतिरिक्त यह धर्म राजकीय संरक्षण और मान्यता द्वारा भी अभिषिक्त था। वैदिक धर्म को अनावश्यक और अहितकर घोषित करने में इसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। पौराणिकों के सामने यह स्पष्ट था कि बौद्ध धर्म की गतिविधि उसी दशा में रोकी जा सकती है, जब कि गर्हित और अपेक्षित न मानकर अपने प्रतिपाद्य धर्म में इसे उचित और अनुकूल स्थान प्रदान किया जाय।

पौराणिक वाङ्मय में बुद्ध को दैवी कोटि में तो स्वीकार ही किया गया है, इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के विषय में विशिष्ट आख्यान का परिकल्पन भी किया गया है; जिसकी अपनी व्यक्तिगत विशेषता है । इस आख्यान के मूल रूप में बुद्ध का निर्देश मात्र भी नहीं है, पर इसके परिवर्द्धित स्वरूप में बुद्ध दैवी स्तर पर आसीन किये गये हैं। आख्यान के मूल रूप में इन्द्र और रजिपुत्रों के संघर्ष का उल्लेख है। पौरुष, पराक्रम तथा पुण्य-संचय में रजिपुत्र; इन्द्र की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं, अतएव इन्द्र के लिए वे भय के कारण हैं। रजिपुत्रों को निर्बल बनाने का भार देवपुरोहित बृहस्पति लेते हैं। बृहस्पति उन्हें भ्रमित करते हैं ऐसे मार्ग-निर्देशन द्वारा, जिससे वे वेद-विमुख होते हैं, परंपरा-गत धर्म को छोड़ते हैं तथा ब्राह्मणों के विरोधी बनते हैं । फलतः वे पथ-भ्रष्ट और निर्बल होते हैं तथा इन्द्र को उनके विरुद्ध सफलता प्राप्त होती है । आख्यान का यह मूल रूप मत्स्य और विष्णु पुराणो में प्राप्त होता है[१] । इसे सामान्यतया मायामोह-आख्यान की संज्ञा दी जाती है। इस आख्यान के विवेच्य विषय से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुर्बोधता और जटिलता के कारण जिस समय लोग वैदिक धर्म से विमुख हो रहे थे, पौराणिकों ने केवल सामान्य रूप में यह सिद्ध करना चाहा था कि वैदिक परंपरा का पालन न करने से लौकिक और पारलौकिक उन्नति संभव नहीं है। इनका उद्देश्य किसी धर्म-विशेष अथवा संप्रदाय-विशेष का विरोध करना नहीं था। वे साधारण रूप में उन सिद्धान्तों की गर्हणा कर रहे थे, जो वेद के विपक्ष में थे। इस आख्यान का परिवर्तित रूप पद्म पुराण में मिलता है[२]। इस ग्रन्थ में आख्यान का वर्णनात्मक रूप तो पहले प्रकार का ही है; पर इसमें इन्द्र के विरोधी रजिपुत्रों को भ्रष्ट करने का संबंध बृहस्पति से नहीं है अपितु विष्णु से है । काल-क्रम की दृष्टि से प्रस्तुत वर्णन को मायामोह-आख्यान का दूसरा स्तर मान सकते हैं। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वेद-विरुद्ध धर्मों के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया वैष्णव धर्म में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अग्नि-पुराण के अध्ययन से व्यक्त होता है कि इस आख्यान के विकास का एक तीसरा स्तर भी था[३]। इसमें प्राचीन आख्यान के मूल रूप को बिलकुल ही बदल दिया गया है। कारण यह कि ग्रन्थ में 'शुद्धोदन-सुत' अर्थात् गौतम बुद्ध का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है। बुद्ध को यहाँ मायामोह-रूपी अवतार माना गया है।

१. मत्स्य पु०, अध्याय २४; विष्णु पु०, ३।१७-१८

२. पद्म पु०, भूमिखण्ड, अध्याय ३६-३९

३. मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत्, अग्नि पु०, १६।२

प्रतीत होता है कि अवतार संबंधी भावना के विकास को लोकप्रिय बनाने के लिये पौराणिकों ने पुराणों के मौलिक उद्धरणों में परिवर्द्धन और संशोधन लाने की चेष्टा की थी। इनका उद्देश्य था सर्वसाधारण को पौराणिक धर्म की ओर आकर्षित करना। इसके लिये धर्म को सरल बनाना तो आवश्यक ही था; पर इससे अधिक आवश्यक था सरल और सार्वजनीन धर्मों को पौराणिक धर्म में स्थान देना अथवा उन्हें पौराणिक धर्म का एक अभिन्न अंग घोषित करना। मायामोह-आख्यान के मूल, परिवर्तित और विकसित, तीनों स्तरों के अध्ययन से यह संदेह-रहित हो जाता है कि जिस बुद्ध का अथवा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का समीकरण पौराणिकों ने पुराण-उद्धरणों के साथ किया है, उनमें स्वीकारोक्ति की प्रवृत्ति कदापि नहीं है। वे केवल पौराणिक वैष्णव धर्म की प्रतिक्रिया के परिणाम माने जा सकते हैं, जो बौद्ध धर्म के ह्रास में एक कारण सिद्ध हुआ तथा इसमें बुद्ध को जो स्थान दिया भी गया है, उसकी पृथकता और मौलिक सत्ता मिट चुकी है।

पौराणिक लिङ्गोद्‌भव-आख्यान का विवेचनात्मक पक्ष

जहाँ तक अवैदिक तत्त्वों का संबंध है, इस प्रसंग में लिङ्ग-उपासना विशेषतया उल्लेखनीय है। वैदिक धर्म से इतर जिन उपादानों तथा अंगों द्वारा पौराणिक धर्म को सुस्पष्ट और सुव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हुआ, उनमें लिङ्ग-उपासना का महत्त्वपूर्ण योगदान था। सामान्यतया लिङ्ग तत्त्व से शिव के अव्यक्त एवं उपास्य स्वरूप की ध्वनि निकलती है। बहुधा यह स्वीकार किया जाता है कि लिङ्ग-उपासना को वैदिक आर्यों के धर्म में गर्हित माना जाता था। इस दिशा में वेद में उल्लिखित 'शिश्न देव' का अर्थ लिङ्ग-उपासकों से लिया जाता है, जिसके प्रति आर्य घृणा प्रकट करते थे[१]। पौराणिक उद्धरणों के प्रसंग में 'शिश्न देव' का अर्थ क्या हो सकता है, इस विषय में कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है। पर, इतना निश्चित है कि धार्मिक भाव-भूमि में लिङ्ग-उपासना व्यापक रूप में प्रचलित थी। अतएव पौराणिकों ने अपने ग्रन्थों में ऐसे उद्धरणों का समावेश किया, जिनका प्रतिपाद्य विषय ही 'लिङ्ग' शब्द का आख्यानात्मक निरूपण तथा दार्शनिक परिशीलन प्रतीत होता है। इस आख्यान के अनुसार देदीप्यमान स्कंभ (स्तंभ अथवा खंभा) के रूप में लिङ्ग की उत्पत्ति उस समय हुई, जब कि ब्रह्मा और विष्णु अपनी श्रेष्ठता के निर्णय के लिये परस्पर संघर्ष कर रहे थे। विद्वानों ने प्रस्तुत आख्यान की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समीक्षा करने की चेष्टा की है। इस प्रसंग में गोपीनाथ राव ने वैदिक शब्द स्कंभ के अर्थ तथा अभिव्यजना पर ध्यान आकर्षित किया है[२]। वैदिक वर्णन में स्कभ को विशद, व्यापक और विस्तृत बताया गया है। इसमें पार्थिव जगत् के अंग और उपांग समाहृत और समाविष्ट हैं। राव की पांडित्यपूर्ण विवेचना के अनुसार स्कंभ के रूप में 'लिङ्ग' की पौराणिक परिकल्पना आर्य और अनार्य धार्मिक तत्त्वों के समन्वय और संतुलन का द्योतक है।

---

१. द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३९-४०

२. गोपीनाथ राव, एलिमेण्ट्स ऑफ़ हिन्दू आइकोनोग्रैफ़ी, भाग २, खण्ड १, पृ० ५६

जितेन्द्रनाथ बनर्जी का निष्कर्ष भी प्रायः यही है, पर इन्होंने इस बात का निर्देश किया है कि प्रारंभ में लिङ्ग-उपासना को सार्वजनीन धार्मिक मान्यता नहीं मिली थी[३]। इस आख्यान की समीक्षा करते हुये नलिनी माधव चौधुरी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक पृथक् धर्म के रूप में पनपने के लिये लिङ्ग-उपासना को पर्याप्त अवकाश था[४]। यदुवंशी का मत है कि लिङ्ग तत्त्व के आविर्भाव के संबंध में पुराणों के वर्णन से यह व्यक्त नहीं हो पाता कि इसका संबंध शिव से माना गया है या नहीं[५]।

प्रस्तुत प्रसंग में यह कथन अनुचित न होगा कि लिङ्ग-उपासना की पौराणिक वस्तुस्थिति अन्य अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों की ही भाँति तभी स्पष्ट हो सकती है जब कि व्यक्तिगत पुराण के वर्णन की समीक्षा के अतिरिक्त पौराणिक परंपरा तथा पौराणिक ग्रन्थों के समुच्चय पर भी ध्यान दिया जाय। इतना संदेह-रहित है कि एक तो प्रस्तुत आख्यान का निरूपण सभी पुराणों में समान प्रकार का नहीं मिलता तथा दूसरे इसके विकास में भिन्न-भिन्न स्तर भी दिखाई देते हैं। पहले स्तर के वर्णन में आख्यान का मौलिक और प्राथमिक स्वरूप सन्निहित है, जिसे केवल इसकी पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यह वर्णन विष्णु, मार्कण्डेय तथा भागवत पुराणों में प्राप्त होता है[६]। वर्णन का विषय है सृष्टि का आविर्भाव किस प्रकार हुआ तथा इसके आविर्भाव में रज, तम, तथा सत तीनों गुणों का पारस्परिक संश्लेष। बताया गया है कि गुण केवल यही तीन हैं, जिनके प्रतिनिधित्व क्रमशः ब्रह्मा, रुद्र तथा विष्णु के स्वरूपों में है। तीनों गुण तथा तीनों देवता परस्पर आश्रित हैं तथा क्रियाशक्ति में इनका परस्पर संबंध बना रहता है। क्रियाशीलता को संभव बनाने के लिये ये तीनों एक दूसरे को क्षण भर के लिये भी नहीं छोड़ते हैं। भागवत के तत्संबंधित वर्णन की विशेषता यह है कि इसमें तीनों गुणों को अलौकिक शक्ति के 'लिङ्ग' की संज्ञा दी गई है; जिसके आवरण के कारण उसका स्वरूप और उसकी गति, दृष्टि के परे रहती है। जहाँ तक दार्शनिक परिशीलन का प्रश्न है 'लिङ्ग' का तात्पर्य एक ऐसे आवरण से है, जिसके माध्यम से अलौकिक मूल तत्त्व का केवल अभिज्ञान होता है पर स्पष्टीकरण नहीं। पर, जैसा कि अभी लिङ्ग पुराण के उद्धरण की समीक्षा की जायगी, पुराणों ने उपासना के विषय 'लिङ्ग' की भी यही परिभाषा

३. जितेन्द्रनाथ बनर्जी, डेवलपमेण्ट ऑफ़ हिन्दू आइकोनोग्रैफ़ी, पृ० ४५५

४. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग २४, १९४८, पृ० २६९

५. यदुवंशी, शैव-मत, पृ० १३३

६. विष्णु पु०, २।१; मार्कण्डेय पु०, अध्याय ४३; भागवत पु०, २।५

तथा यही व्युपत्ति-परक अर्थ दिया है। अतएव लिङ्ग-उपासना के पौराणिक परिकल्पन में इस मौलिक भावना का योगदान अवश्य ही माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उक्त वर्णन में इन पुराणों ने बहुरूप और बहुविध सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के उद्भव का भी उल्लेख किया है, जिसका कारण है तीनों देवताओं का परस्पर संश्लेष। इन्हीं तत्त्वों में इन पुराणों ने ज्योति अथवा तेज के उत्पत्ति की भी चर्चा किया है। ज्योति का तात्पर्य यहाँ पुञ्जीभूत अग्नि-ज्वाल से है। 'लिङ्गोद्भव' की स्पष्ट कथा जिन पुराणों में है, उनके वर्णन में भी 'ज्योतिर्पुञ्ज' की उत्पत्ति का प्रसंग ठीक इसी प्रकार का मिलता है। अतएव यह कह सकते हैं कि उत्तरकालीन 'लिङ्गोद्भव' की कथानक का प्राथमिक और मूल रूप इन सृष्टिमूलक और दर्शन-सापेक्ष पौराणिक उद्धरणों में सन्निहित है।

दूसरे वर्ग का वर्णन वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में प्राप्त होता है[७]। वायु और ब्रह्माण्ड का वर्णन अधिक विस्तार के साथ, पूरे एक अध्याय में मिलता है। पर, मत्स्य पुराण का वर्णन संक्षिप्त है और वह भी एक उद्धरण के रूप में तथा एक ऐसे अध्याय में जिसका विषय ही दूसरा है। प्रस्तुत कथानक की आलोचना से विदित होता है कि इसके आवश्यक पक्ष उक्त पौराणिक दार्शनिक विवरण पर आधारित हैं। इसके विवरण के अनुसार एक बार सृष्टि-कर्त्तृत्व के प्रसंग में पारस्परिक श्रेष्ठता के निर्णय के लिये विष्णु और ब्रह्मा परस्पर कलह कर रहे थे। उनका संघर्ष तभी समाप्त हुआ जब कि शिव ने उन्हें आकर समझाया कि वे दोनों वस्तुतः शिव के ही दाहिने और बाएँ हाथ हैं। तीनों देवता एक समस्त तथा संघीभूत निकाय के अभिन्न तत्त्व हैं। परस्पर संभिन्न होकर ही वे सृष्टि के निर्माण में सफलता प्राप्त करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि दर्शन की विषय-भूमि में जिन तत्त्वों का परिचिन्तन सृष्टिकर्त्तृत्व के रूप में किया गया है; वही तीनों तत्त्व धर्म की अभिव्यंजना में तीन देवता हैं। जिस ज्योति के उत्पत्ति की चर्चा दार्शनिक वर्णन में की गई है, उसका उल्लेख भी प्रस्तुत विवरण में प्राप्त होता है। इसके अनुसार संघर्ष के अवसर पर, जिस समय कृष्ण मृग का चर्म एवं कमण्डलु धारण कर ब्रह्मा तथा शंख, चक्र और गदा धारण कर विष्णु एक दूसरे के सन्निकृष्ट हुये; देदीप्यमान अग्नि का आविर्भाव हुआ। इसी अग्नि से एक ज्योति उत्पन्न हुयी,

---

७. वायु पु० अध्याय ५५; ब्रह्माण्ड पु०, अनुषंग-पाद अध्याय १५; मत्स्य पु०, ६०।६१; मत्स्य पु०, अध्याय १८८ का वर्णन, जिसमें लिङ्गोपासना का सन्दर्भ है, उत्तरकालीन संयोजन ही माना जायगा। द्रष्टव्य, पृष्ठांक ३९

जिसने दोनों देवों के आश्चर्य और जिज्ञासा को बढ़ा दिया था। इस विवरण का तात्पर्य यह है कि ज्योति का आविर्भाव सृष्टि के कर्त्तृत्व में एक महत्त्वपूर्ण स्तर है, पर यह उसी दशा में संभव है जब कि रज (ब्रह्मा) और सत (विष्णु) के अतिरिक्त तीसरे गुण अर्थात् तम को भी संश्लेष के लिये अवकाश प्राप्त हो। इस कथानक में यह वर्णन भी आता है कि अग्नि-पुञ्ज में ब्रह्मा और विष्णु ने एक अतीव ज्वलनशील 'लिङ्ग' को देखा। यहाँ 'लिङ्ग' शब्द के तात्पर्य को सावधानी के साथ ग्रहण करना होगा। इस कथानक के 'लिङ्ग' का साक्षात् संबंध न तो लिङ्ग-उपासना से है और न ही उस शिव-लिङ्ग से है, जिसके कारण लिङ्ग-उपासना के विकास में योगदान प्राप्त हुआ था। यह सही है कि कथानक के वर्णन में कहा गया है कि जिस समय 'लिङ्ग' का साक्षात्कार ब्रह्मा और विष्णु को हुआ, उन्होंने इसका कारण जानने के लिये ध्यान किया तथा ध्यानस्थ अवस्था में उन्होंने शिव का दर्शन किया। पर, इन वर्णनों में कहीं भी 'लिङ्ग' को शिवाङ्ग अथवा शिवोपासना का विषय नहीं माना गया है। अतएव यह कह सकते हैं कि वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों के रचनाकाल तक लिङ्ग-उपासना को पौराणिक मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। जिस प्रसंग में इन्होंने 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है उससे ध्वनि यही निकलती है कि इन पुराणों में 'लिङ्ग' का मन्तव्य उस तमोगुण से है, जिसका सन्निधान देवत्रयी के शिव में है और जिसके अभाव में सत और रज गुण अर्थात् धार्मिक पदावली के अनुसार विष्णु और ब्रह्मा सृजन की प्रक्रिया को संभव बनाने में असमर्थ सिद्ध होते हैं।

उक्त आख्यान के तीसरे स्तर का निरूपण लिङ्ग और शिव पुराणों में मिलता है[८]। इनमें आख्यान के मूल रूप में पर्याप्त परिवर्द्धन किया गया है। परिवर्द्धन के द्योतक बहुत से तत्त्व प्रस्तुत समीक्षा के लिये अनावश्यक ही हैं। पर, इसमें भी संदेह नहीं है कि परिवर्द्धित कथानक के अनेक और आवश्यक अंग इसके पहले और दूसरे स्तरों के ही उत्तरकालीन निर्वाह का द्योतन करते हैं। इसकी समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीसरे स्तर पर आख्यान के प्राथमिक कलेवर में कुछ इस प्रकार काट-छाँट हुए हैं कि इसमें नये उद्धरणों तथा तत्संबंधित नई उद्भावनाओं का उचित समावेश हो सका है। इसके विवरण के अनुसार ब्रह्मा और विष्णु में विवाद हुआ। दोनों देवताओं में प्रत्येक दूसरे की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ बता रहा था। इसी समय उन्होंने एक ऐसे 'लिङ्ग' को देखा, जो सर्वत्र व्यापक था तथा रहस्य से परिपूर्ण था। कहा गया है कि मानव समुदाय में लिङ्ग-पूजा की प्रतिष्ठा

---

८. लिङ्ग पु०, अध्याय १८, अध्याय १९-२०; शिव पु०, रुद्रसंहिता १, अध्याय ७-१०

यहीं से प्रारंभ हुई। इस विवरण की दो प्रधान विशेषताएँ हैं : एक तो लिङ्ग को शिव से संबधित किया जाना, जो आख्यान के दूसरे स्तर पर भी मिलता है तथा दूसरे 'लिङ्ग' को उपासना का पात्र घोषित किया जाना; जिसे तीसरे स्तर का परिवर्द्धन मान सकते हैं। इस प्रसंग में एक श्लोक की व्याख्या विशेषतया की जा सकती है, जिसमें 'लिङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। इस परिभाषा के अनुसार 'लिङ्ग' साक्षात् महेश्वर हैं। 'लिङ्ग' की संज्ञा इसलिये दी जाती है, क्योंकि इसके द्वारा महेश्वर का तात्त्विक स्वरूप अदृश्य रहता है। इस प्रकार यहाँ 'लिङ्ग' का व्यवहार उसी अर्थ में है, जो भागवत पुराण में सृष्टि के नियामक और निर्माता अलौकिक शक्ति की गुणत्रयी से है तथा जिसे पुराण ने 'लिङ्ग' शब्द से व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त भागवत में 'लिङ्ग' को सृष्टि के नियन्ता का आवरण माना जाना, जिसके कारण वह सांसारिक दृष्टि के लिये अदृश्य रहता है; इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन विवरणों में 'लिङ्ग' को शिव का सृजनशील अंग न मानकर केवल एक विशेष गुण माना गया है।

कथानक के चौथे स्तर पर, जो वामन पुराण में उपलब्ध है,[९] मौलिक वर्णन में पर्याप्त अंतर आ गया है। इसमें मौलिक आख्यान का केवल आंशिक प्रदर्शन मिलता है। पर; इसमें एक ऐसी कथा का सन्निवेश है, जो सर्वसाधारण में संभवतः काफी प्रचलित थी। इसका विवरण उल्लेखनीय है। इसके अनुसार सती के देहावसान के उपरान्त, कामदेव ने शिव का पीछा किया। उसके प्रभाव से बचने के लिये शिव ने विन्ध्याटवी का आश्रय लिया, दारुवन में प्रवेश किया; पर काम ने पीछा नहीं छोड़ा। इस वन में ऋषिगण अपनी पत्नियों के साथ रहते थे। शिव ने इनसे भिक्षा की याचना की। नग्न अवस्था में शिव को देखकर ऋषियों ने अपना सिर झुका लिया। पर, ऋषि-पत्नियाँ शिव की उस मुद्रा को देखकर उनकी ओर आकर्षित हो गईं। वे गृह-कार्यों को छोड़कर शिव के पीछे घूमने लगीं। इस पर ऋषि-गण क्रुद्ध हो गये तथा उन्होंने शिव-लिङ्ग को च्युत होने का शाप दिया। उनके शाप के कारण शिव-लिङ्ग च्युत हो गया। शिव-लिङ्ग रसातल में प्रविष्ट होकर पृथ्वी पर ऊर्ध्व स्थिति में व्याप्त हुआ। ऐसी दशा में चर और अचर में बड़ी हलचल होने लगी। ब्रह्मा और विष्णु परस्पर विमर्श करने लगे। जब उन्होंने पृथ्वी पर स्थित शिवलिङ्ग को देखा तो वे आश्चर्य और जिज्ञासा से ओत-प्रोत होने लगे। ब्रह्मा ने द्युलोक तथा विष्णु ने रसातल का भ्रमण किया। पर, अनंत शिवलिङ्ग का इयत्ता का उन्हें पता ही न चला। इसके बाद वे फिर उसी स्थान पर गये, जहाँ

---

९. वामन पु०, अध्याय ७

शिवलिङ्ग पहले च्युत हुआ था। उन्होंने शिवलिङ्ग की परिक्रमा की, तथा साञ्जलि शिव की अर्चना की। दोनों देवताओं ने शिव से निवेदन किया कि वे च्युत लिङ्ग को फिर से धारण कर लें। पर, शिव ने शर्त रखा कि वे लिङ्ग को तभी धारण कर सकते हैं, जब कि शिव-लिङ्ग की पूजा विश्व में प्रतिष्ठित किया जाय। विष्णु ने इस शर्त्त को मान लिया, तथा ब्रह्मा ने स्वयं उस सुवर्णवर्णी लिंग को अपने हाथ से उठाया। पुराण में कहा गया है कि विश्व में शिव-लिङ्ग की अर्चना यहीं से प्रारंभ हुई।

लिङ्ग-उपासना से संबंधित पौराणिक आख्यान के विभिन्न रूपों की समूहिक समीक्षा से यह व्यक्त हो जाता है कि पौराणिक धर्म में इसका समावेश अतीव सावधानी के साथ, भिन्न-भिन्न युगों की अन्तर्निहित तथा बहुमुखी प्रवृत्तियों के अनुसार तथा संयोजन और संशोधनों की अपेक्षा रखते हुये किया गया है। इनके मत में लिङ्ग वह आवरण है, जो चित् शक्ति को अव्यक्त रखता है। चित् शक्ति से सृष्टि को जीवन और गति प्राप्त होती है, अतएव वह श्रद्धा और उपासना का विषय है। लिङ्ग-उपासना में किस सीमा तक अनार्य प्रवृत्ति का पुट था अथवा वैदिक आर्यों ने किन परिस्थितियों के कारण इसे नहीं अपनाया था—यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर स्पष्ट और संतोषजनक रूप में पौराणिक विवरणों में नहीं प्राप्त हो सकता है। पर, इतना विवाद-रहित है कि बहुत समय तक वैदिक परंपरा की जीवन्त स्थिति में इसे नहीं अपनाया गया था। शिव की नग्न मुद्रा की गर्हणा वामन पुराण में तो किया ही गया है, इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विचार पद्मपुराण में भी व्यक्त किये गये हैं[१०]। इस सन्दर्भ में पद्मपुराण में एक ऐसे उपाख्यान का निरूपण मिलता है; जिसका लिङ्गोद्भव-आख्यान से सबंध तो नहीं है, पर लिङ्ग-विषयक पौराणिक परिकल्पन में इसका स्थान विशिष्ट ही माना जा सकता है।

---

१०. कस्माद्विगर्हितं रूपं प्राप्तवान्सह भार्यया।
योनिलिङ्गस्वरूपं च कथं स्यात्सुमहात्मनः॥
नारीसंगममग्नोऽसौ यस्मान्मामवमन्यते।
योनिलिङ्गस्वरूपं वै तस्मात्तस्य भविष्यति॥
ब्राह्मणं मां न जानाति तमसा समुपागतः।
अब्रह्मण्यत्वमापन्नो ह्यपूज्योऽसौ द्विजन्मनाम्॥
रुद्रभक्ताश्च ये लोके भस्मलिङ्गास्थिधारिणः।
ते पाषण्डत्वमापन्ना वेदबाह्या भवन्तु वै॥ पद्म पु०, उत्तर खण्ड, ६।५, ३१, ३२, ३५

प्रस्तुत उपाख्यान में शिव के लिङ्ग-प्राप्ति का कारण भृगु का शाप वर्णित है। इसके अनुसार शिव-लिङ्ग का स्वरूप मैथुन-मूल है। अतएव ऐसी स्थिति में इन्हें, द्विजातियों के उपासनार्थ अनुपयुक्त बताया गया है। शिव-लिङ्ग को 'विगर्हित' विशेषण से युक्त करते हुये यह भी वर्णित है कि ऐसे रुद्र-भक्त; जो भस्म, लिङ्ग और अस्थि धारण करते हैं, पाषण्डों के स्तर को प्राप्त होते हैं। पुराण-पंक्ति में स्पष्टतया इन्हें 'वेद-बाह्य' घोषित किया गया है। ऐसी दशा में वैदिक विवरण में उपलब्ध शिश्न देव का स्पष्ट अर्थ लिङ्ग-पूजक भले ही न माना जाय, तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि लिङ्ग-उपासना के मूल में अवैदिक प्रवृत्ति थी। पौराणिक लिङ्गोद्भव-आख्यान से प्रतीत होता है कि वेदोत्तरवर्ती समाज के विशिष्ट और वेद-समर्थक वर्ग में लिङ्ग-पूजा के अवैदिक दृष्टिकोण का तिरोभाव अभी पूर्ण रूप से नहीं हुआ था। पौराणिक धर्म में सामञ्जस्य और संतुलन के लिये जब लिङ्ग-पूजा को अपनाने का प्रश्न उपस्थित हुआ, उस समय पौराणिकों ने इसे नई व्याख्या और नई परिभाषा से अभिषिक्त किया। उन्होंने इसमें दार्शनिक तथा व्यावहारिक, धर्म के द्वैधी रूपों का सन्निधान किया। लिङ्गोद्भव के प्राचीन आख्यान को क्रमशः नई दिशा में मोड़ने से वेदमूलक पौराणिक धर्म में लिङ्ग-उपासना का जो स्वरूप सामने आया, उसमें परिवर्द्धन और परिमार्जन तो था ही, इसके साथ-साथ उसमें वैदिक और अवैदिक—दोनों ही तत्त्वों का आवश्यक समाहार भी था। ऐसी परिस्थिति में पौराणिक धर्म को सार्वजनीन बनने के लिये सुयोग अवश्य ही प्राप्त हुआ होगा।

पौराणिक सौर-धर्म के गति-निर्देशक तत्त्व*

जिन विविध धार्मिक तत्त्वों के कारण पौराणिक धर्म को गति-व्यापन तथा परिधि-प्रसार का अवकाश प्राप्त हुआ, उनमें सूर्य-उपासना का विशेष योगदान था। वेदोत्तर परिस्थितियों में सूर्य-उपासना जिस आस्तरण-विशेष पर आसीन हुई, उसे अपनाने में पौराणिकों को अधिक कठिनाई नहीं पड़ी। कारण यह कि इसके अंकुर वैदिक काल में ही पनप चुके थे। लिङ्ग-उपासना के विपरीत, सूर्य-उपासना की वैदिक पृष्ठभूमि पूर्व-प्रस्तुत थी। वैदिक विवरणों में यद्यपि, सूर्य का प्रदर्शन बहुधा प्राकृतिक उपादान के रूप में मिलता है, तथापि सूर्य का देवोचित पद वैदिक काल में तैयार किया जा चुका था। ऐसी दशा में पुराणों ने सूर्य-उपासना के जिस स्वरूप को प्रस्तुत किया, उसमें दो सहज पक्ष दिखाई देते हैं। एक तो सूर्य के प्रकृतिमूल आकार-प्रकार का निरूपण तथा दूसरे, इनके उपास्य रूप का विस्तार—एक में वैदिक परंपरा का प्रणिवेश है तथा दूसरे में उसी परंपरा का आवश्यक आयाम दिखाई देता है[1]। इस प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। वैदिक वाङ्मय में, विशेषतया ऋग्वेद के छन्दों में सबसे अधिक गौरव-गान किया गया है अग्नि का। इन्हीं छन्दों में सूर्य को अग्नि का रूप बताया गया है[2]। इसकी ठीक विपरीत स्थिति पौराणिक वर्णनों में है। इनमें अग्नि को ही सूर्य का रूप माना गया है[3]। इससे व्यक्त है कि वैदिक काल में अग्नि को महत्त्वपूर्ण मानते थे तथा सूर्य को अपेक्षाकृत गौण। पर, पौराणिक मन्तव्य के अनुसार प्रमुखता सूर्य को ही प्रदान की गई थी तथा अग्नि को इनका केवल एक अवांतर रूप माना जाता था।

पौराणिकों ने सूर्य के पद-प्रकर्ष का प्रदर्शन सूर्य के अन्य अतिरिक्त नामों

---

* प्रस्तुत विवेचन लेखक के "अर्ली पुराणिक एकाउण्ट ऑफ़ सन ऐण्ड सोलर कल्ट" नामक प्रकाशित निबंध पर आधारित है; द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ़ इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टीज़, १९६३, पृ० ३९-५९

१. वही, पृ० ४१

२. द्रष्टव्य, कीथ, वही, पृ० १५४; घाटे, वही, पृ० १३२

३. वायु पु०, ३१।२९; ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।११७

के प्रयोग द्वारा भी किया है। इन नामों में कतिपय ऐसे भी थे, जिनकी प्रतिष्ठा वैदिक काल में हो चुकी थी। पर; इन नामों के अधिष्ठाता देवता, सूर्य के पर्याय नहीं थे। वे सूर्य के सहचर और सहभावी मात्र थे। उदाहरण के लिये आदित्य का उल्लेख किया जा सकता है। वैदिक पंक्तियों में आदित्य शब्द से उन देवताओं के पद की सूचना मिलती है, जो समूह में स्थित होकर सूर्य के चक्र को अलंकृत करते हैं अथवा चक्र की गति का निर्देश करने में सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रवृत्ति का पौराणिकों ने अपसारण नहीं किया यह सही है; पर यह भी विवाद-रहित है कि आदित्य शब्द से देव-पद मात्र का द्योतन न होकर देवता के विशिष्ट अभिधान का बोध होता है, जो स्वयं सूर्य है[४]।

देव-पद की स्थिति से आदित्य शब्द द्वारा जिन देवताओं का बोध होता है; पौराणिकों ने उन्हें न केवल सूर्य का सहचर और सहयोगी ही माना है, अपितु उनका तादात्म्य भी सूर्य से स्थापित किया है। इस तादात्म्य का स्वरूप भी कुछ ऐसा है कि इसके द्वारा सूर्य का अतिरिक्त अभिधान तथा प्रवर्द्धन-परक स्थिति ही प्रस्फुटित होती है[५]। यह स्मरणीय है कि सूर्य के साथ इन देवताओं में कतिपय का तादात्म्य वैदिक काल में किया जा चुका था। पर; वैदिक वर्णन में यह भावना केवल आरोहणशील बीज के रूप में वर्तमान है[६], जिसका व्यापन और प्रसार पौराणिक उद्धरणों में ही प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये भग तथा अर्यमन् का उल्लेख कर सकते हैं। इन देवताओं के संबंध में वैदिक वर्णन दो प्रकार के हैं— एक तो आदित्य-समूह में इनकी अभिव्यञ्जना तथा दूसरे, विशिष्ट तथा पृथक् देवताओं के रूप में प्रार्थना-प्रचुर छन्दों के साथ इनका अधिष्ठान। पर, पौराणिक वर्णनों में इनका वैशिष्य और पार्थक्य तिरोभाव को पहुँच चुका है। इन दोनों नामों द्वारा सूर्य का ही नाम द्योतित होता है[७]। इस प्रसंग में पौराणिक धर्म की एक दूसरी प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। मार्तण्ड; जो वैदिक वाङ्मय में आदित्य-गण के विश्रुत देवता हैं[८], पौराणिक वाङ्मय में निरूपित आदित्य-मंडल से पृथक् हो चुके

---

४. वायु पु०, ३१।३७; मत्स्य पु०, १८४।३१

५. द्रष्टव्य, अर्ली पुराणिक एकाउण्ट ऑफ़ सन ऐण्ड सोलर कल्ट, वही, पृ० ४४-४५

६. वही, पृ० ४६

७. वही, पृ० ४६

८. श० ब्रा०, ३।१।३।३

हैं[९]। जब कि भग और अर्यमन् सूर्य से समीकृत होकर भी आदित्य-गण से पृथक् नहीं हैं, मार्तण्ड का पार्थक्य सुनिश्चित हो चुका है। इस शब्द का समारोपण सूर्य के स्वरूप में किया गया है। इससे सूर्य के व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सूचित होता है और वस्तुतः इस शब्द के प्रयोग द्वारा सूर्य के ही अतिरिक्त नाम का संज्ञापन होता है।

सूर्य के स्वरूप-निर्धारण का एक अनन्य पक्ष है, इनके रथ का वर्णन। इस वर्णन की उद्भावना वैदिक काल ही में हो चुकी थी। सौर-रथ के अश्वों की संख्या, रथ की महत्ता, अन्य आदित्यों का इससे संबंध—ये विवरण ऐसे हैं कि इनका उल्लेख न केवल पौराणिक वाङ्मय में अपितु वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है[१०]। पर, पौराणिक विवरण की विशेषता इस दृष्टि से है कि इसमें रथ का आकार-प्रकार, रथ में अधिष्ठित आदित्यों के अतिरिक्त ऋषि, गंधर्व, अप्सराएँ, सर्प और यहाँ तक कि राक्षस भी परिकल्पित किये गये हैं[११]। इन उल्लेखों को निश्चय के साथ पौराणिक धर्म का संयोजन मान सकते हैं। पर, वेदों के ऐसे वर्णन भी हैं, जिन्हें पुराणों ने बिना किसी परिवर्त्तन अथवा संयोजन के साथ अपना लिये। उदाहरणार्थ, सूर्य का दिन और रात्रि की व्यवस्था का कारण माना जाना, सूर्य द्वारा मानसिक स्फूर्त्ति का प्राप्त होना, तथा सूर्य का जगत्-चक्षु के रूप में परिचिन्तन, ये वर्णन पुराणों में तथा वेदों में समान रूप में प्राप्त होते हैं[१२]।

यहाँ विचारणीय है कि पौराणिकों ने सूर्य के उपासनीय और शमनीय—इन दोनों रूपों में किसे अपनी विवेचना का विषय बनाया था। उपासनीय रूप का तात्पर्य सौम्य पक्ष तथा शमनीय का तात्पर्य प्रचण्ड पक्ष से है। वैदिक ऋषियों ने इन दोनों पक्षों का समन्वय सूर्य के स्वरूप में किया था। पर, इनका बल अधिकांशतः सूर्य के सौम्य और मंगलमय निदर्शन पर ही था[१३]। इस संबंध में पौराणिकों का मन्तव्य अधिक स्पष्ट तथा परस्पर-अविरोधी है। इन्होंने सौम्य पक्ष

---

९. द्रष्टव्य, विष्णु पु०, १।१५।१२६-१३१; वायु पु०, ५४।६६-६७ ब्रह्माण्ड पु०, ३।२।६७-६९; मत्स्य पु०, ६।३-५

१०. द्रष्टव्य, मैकडानल, वही, पृ० ३०-३१

११. विष्णु पु०, २।२।२-७; १०।१; वायु पु०, १।८९-९०; ब्रह्माण्ड पु०, १।१।८२-८३; मत्स्य पु०, १२६।१

१२. द्रष्टव्य, मैकडानल, वही, पृ० ३०-३१; ऋग्वेद ७।६३।४; विष्णु पु०, २।८।१२; ३।१८।९७; ३।५।२४

१३. मैकडानल, वही, पृ० ४८

को ही प्रकाश में लाने की चेष्टा की है। पौराणिक वाङ्मय में जिस सूर्य का चित्रण है, वे वर्ष के बारहों महीने तक अपनी क्रियाशीलता द्वारा जगत् का कल्याण करते हैं। आठ महीने तक वे विभिन्न स्रोतों से जल का आदान करते हैं, शेष चार महीने तक इसी जल द्वारा सृष्टि को संतर्पित करते हैं; जिसके परिणाम में प्राणि-मात्र का जीवन संभव होता है[१४]। पुराणों में सूर्य के लिये 'जीवन' शब्द का प्रयोग, इस देवता के सौम्य रूप का निरूपण संदेह-रहित कर देता है[१५]।

सौर-धर्म के उद्भव तथा उन्नयन में भी पौराणिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। प्रतीत होता है कि वैदिक काल से लेकर उत्तरवर्ती अनेक स्तरों तक इस दिशा में तीन प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं—एक तो सूर्य के दैवी तत्त्व का परिचिन्तन, दूसरे मंगल-कामना के लिये प्रार्थनाओं के द्वारा सूर्य की उपासना तथा तीसरे सौर-धर्म की स्थापना। इनमें पहली तथा दूसरी प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक तो मिलता ही है; इसके अतिरिक्त इनमें उन प्रवृत्तियों का भी समावेश है, जिनके अरोहण और अभ्युत्थान में नवोदित परिस्थितियाँ ही अधिक उत्तरदायी थीं। वेदों में निरूपित सूर्य प्रकृति के ऐसे उपादान हैं, जिनके बहुविध तथा विश्व के लिये श्रेयस्कर क्रियाकलापों से मंत्रद्रष्टा ऋषि परिचित हैं, अतएव उनके स्वरूप में वे दैवी तत्त्व का परिचिन्तन भी करते हैं[१६]। पर, इसके साथ-साथ वैदिक मंत्रों से यह भी व्यक्त होता है कि इस दैवी तत्त्व के कार्य-संभार को स्वानुकूल और सृष्टि-उपादेय बनाने के लिये प्रार्थनाओं का परिकल्पन हो चुका था[१७]। यहीं से सूर्य के दैवी तत्त्व के साथ उपासना तत्त्व का सूत्रपात होता है। इस प्रकार की प्रार्थनाओं से संबंधित छंदों की संख्या भले ही कम हो; पर जिस पृष्ठभूमि में सूर्य-उपासना उत्तरोत्तर विकसित हो सकती थी, उसकी वैदिक स्थिति के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता है। सूर्य-उपासना का वैदिक स्वरूप नितांत सरल था। प्रारंभ में पौराणिकों ने भी सूर्य-पूजा के जिन विधि-विधानों को प्रस्तुत किया, उनमें सरलता ही थी। जिन उपकरणों और उपादानों की क्रियाशीलता के कारण सूर्य-उपासना का सरल; संश्लिष्ट तथा उपकरण-प्रचुर स्वरूप सौर-धर्म में परिणत हुआ, उनका आदि पुराणों में अथवा अधिक सही शब्दों में आदि पुराणों के प्राथमिक उद्धरणों में

---

१४. विष्णु पु०, २।११।७

१५. वायु पु०, ३।३७; ब्रह्माण्ड पु०, २।१३।१२५

१६. ऋग्वेद, ७।६०।१; द्रष्टव्य, भण्डारकर, वही, पृ० २१६

१७. श० ब्रा०, १।१।३।६

अभाव दिखाई देता है[१८]। सूर्य की मूर्त्ति का विवरण, सूर्य-मन्दिर के आकार-प्रकार का निरूपण और सौर-पूजक पुरोहितों के अधिकार-कर्त्तव्य का वर्णन, इन उद्धरणों में कहीं भी नहीं प्राप्त होता है। इन विवरणों का अभाव पुराणों के काल-निर्णय में भी सहायता प्रदान करता है। इससे यह प्रायः निश्चित् हो जाता है कि जिन पुराणों में इन विवरणों का समावेश नहीं है, वे पौराणिक वाङ्मय की आदि रचनाएँ हैं।

सूर्य-उपासना का सरल स्वरूप आदि पुराणों के जिन स्थलों पर मिलता है, उनकी समीक्षा से निम्नांकित महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है। एक तो उपासना के बोधक स्थल केवल प्रार्थना-सापेक्ष है। इनमें उपासक अपनी भक्ति का देवता से निवेदन करता है। इनके द्वारा न तो किसी अनुष्ठान का और न कर्मकांड की ही उद्भावना मिलती है। दूसरे, इन प्रार्थनाओं में सूर्य के लिये प्रयोजनीय शब्दों में तथा शब्द-समूह से व्यक्त विचारों में वैदिक शब्दावली तथा वैदिक विचारों के पौराणिक रूपान्तर बनाने का सहज प्रयास किया गया है। तीसरे, ये सौर-प्रार्थनाएँ पौराणिक धर्म के सरल और सर्वसुलभ स्वरूप को ही अधिक प्रस्तुत करती हैं। पौराणिक धर्म प्रत्येक दृष्टि से सरल था; ऐसा तो सहसा नहीं कहा जा सकता, पर यह भी विवाद रहित है कि यह धर्म श्री-संपन्न और विपन्न दोनों के लिये ग्राह्य था। उद्धाहरणार्थ, श्राद्ध-क्रिया का संपादन गृही के लिये अनिवार्य था। इस प्रसंग में पौराणिक अपने निर्देश में बहुत ही स्पष्ट हैं। श्राद्ध-संपादन व्यापक था। इसमें अनेक अनुष्ठानों की तथा तदनुकूल अनेक उपकरणों की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्त्ति सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता था। पौराणिकों ने इस बात पर बल दिया है कि जो व्यक्ति वित्त के अभाव के कारण इन्हें एकत्र नहीं कर सकते हैं, उनके द्वारा श्राद्ध-विधान दूसरे उपाय द्वारा किया जा सकता है। दूसरा उपाय काफी सरल था तथा इसे वित्त-विहीन व्यक्ति भी संपन्न कर सकता था। ऐसे अवसर पर नीरव वन में पितरों के प्रति भक्ति-भाव दिखाना पड़ता था। इसके लिये विधान था सूर्य के सामने श्रद्धांजलि का प्रदर्शन[१९]।

सौर-पूजा में प्रतिमा-प्रतिष्ठा तथा देवालय निर्माण का सन्निवेश किन प्रवृत्तियों की प्रेरणा से और किन परिस्थितियों में हुआ—यह समस्या का तो नहीं, पर विचार और विमर्श का विषय अवश्य रहा है। उपर्युक्त पंक्तियों में यह व्यक्त किया जा चुका है कि वैदिक मंत्र तथा पौराणिक साहित्य के प्राथमिक स्थल केवल

---

१८. द्रष्टव्य, अर्ली पुराणिक एकाउण्ट ऑफ़ सन ऐण्ड सोलर कल्ट, पृ० ५३-५४

१९. वही, पृ० ५१

सौर-प्रर्थनाओं को ही प्रकाश में लाते हैं, सौर-मंदिर और सौर-मूर्त्ति का विधि-विधान इनमें नहीं प्राप्त होता है। पर, वास्तविकता यह है कि भारतीय धर्म के सौर-कलेवर के ये अभिन्न अंग थे तथा इनके कारण ही सरल तथा आडंबर-विहीन सौर-उपासना उस धार्मिक विशिष्टता को प्राप्त हुई, जिसे सौर-धर्म की संज्ञा देते हैं। सौर-धर्म के इस विशिष्ट रूप का समर्थन प्राचीन भारतीय कला द्वारा तो संतोषजनक रूप में होता ही है[२०], इसके अतिरिक्त भारतीय वाङ्मय के तद्विषयक स्थल भी इसे सुस्पष्ट करने में सहायता प्रदान करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में यह सहज प्रश्न किया जा सकता है कि भारतीय सौर-धर्म में इन तत्त्वों का अभ्युत्थान वेदोत्तर काल के उस स्तर पर क्यों नहीं हुआ, जब कि अन्य देवताओं के संबंध में मूर्त्ति-पूजा का विकास व्यापक रूप में हो चुका था। इसका एक मात्र करण यही हो सकता है कि वैष्णव, शैव तथा शाक्त—मूलतः इन्हीं धर्मों के द्वारा पौराणिक धर्म की काया का परिकल्पन हो रहा था। अन्य देवता इनके अंगीभूत थे, अतएव उनके स्वतंत्र समारोहण का प्रश्न ही नहीं हो सकता था। सौर-पूजकों ने यदि सूर्य की पूजा का माध्यम चुना भी था, तो वह था सूर्य की दृश्यमान आकृति से साम्य रखने वाला चिह्न, जिसे चक्र की संज्ञा देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय वैष्णव, शैव और शाक्त धर्म अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुके थे, तथा इन धर्मों में उपास्य देवताओं की मूर्त्तियों तथा मंदिरों का निर्माण हो रहा था, सौर-पूजकों ने भी जन-मन को आकर्षित करने के लिये तथा सौर-पूजा को अधिक ग्रहणशील तथा व्यापनशील बनाने के लिये अपना प्रयास प्रारंभ कर दिया था। इस प्रसंग में आदि पुराणों के दो कथानकों का उल्लेख किया जा सकता है। पहले कथानक में याज्ञवल्क्य का विवरण है, जिन्हें सूर्य-उपासना के परिणाम में यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ था[२१]। यज्ञवल्क्य की उपासना से संतृप्त होकर; जिस समय सूर्य उनके सामने प्रकट हुये, उनका रूप अश्व का था। कथानक का सहज सांस्कृतिक तात्पर्य यही हो सकता है कि आदि पुराणों की रचना-काल में सूर्य की प्रतिमा की कल्पना तो की जा रही थी, पर प्रतिमा का आकार निश्चित् नहीं हुआ था। कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष एक अन्य आदि पौराणिक कथानक से भी निकलता है। इसमें सत्राजित का विवरण है। इनकी उपासना से परितुष्ट होकर सूर्य अग्नि-ज्वाला से परिवेष्टित वृत्त की आकृति में प्रकट

२०. भारतीय कला में सौर अंकन के लिये द्रष्टव्य, जितेन्द्र नाथ बनर्जी, वही, पृ० ४३२-३३

२१. विष्णु पु०, ३।४

हुये थे। सत्राजित ने उनसे वास्तविक आकृति में प्रकट होने का निवेदन किया। स्यमन्तक मणि हँटाने के बाद सूर्य ने अपने जिस कलेवर का प्रदर्शन किया, वह दर्शनीय था। इसका वर्ण था लोहित ताम्र का तथा आखें लाल थीं[२२]। निश्चित आकार था क्या—इसके बारे में पौराणिक कथानक स्पष्ट नहीं है। पर, इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सौर-उपासकों में ऐसा वर्ग प्रकाश में आ गया था, जो सूर्य की वृत्त-आकृति अथवा चक्र-आकृति की उपासना के पक्ष में नहीं था।

अभी तक के अनुसंधानों द्वारा यह प्रायः सर्वमान्य हो चुका है कि भारतीय सौर-धर्म में प्रतिमा-पूजा की उपज देशज नहीं है। भारत में इसके प्रचार का श्रेय ईरान के मग नामक पुरोहितों को दिया जाता है, जो सूर्य की उपासना 'मिथ्' अथवा 'मिहिर' के नाम से करते थे। भारत में इनके आने के पहले, सूर्य की उपासना या तो चक्र के माध्यम से अथवा कमल के माध्यम से होती थी। मग पुरोहितों ने अपना आवास पंजाब में चन्द्रभागा के तट पर बनाया, तथा यहीं पर उन्होंने मूलस्थान नामक नगर और नगर में सूर्य-मंदिर की स्थापना की। इन विदेशी सौर-पूजकों की क्रिया-कलाप का, प्रतिमा और मंदिर निर्माण-संबंधी आदेश-निर्देशों का तथा भारतीय धर्म और समाज में इनके समादर तथा स्वीकृति का समर्थन अभिलेख, मुद्रा-अभिलेख, मुहर-अभिलेख तो करते ही हैं, इसके साथ-साथ साहित्यिक साक्ष्य विशेषतया वृहत्संहिता तथा कतिपय उत्तरकालीन पुराणों के उद्धरण भी इसका पूर्ण अनुमोदन करते हैं। जिन पुराणों में मगों का सविस्तर वर्णन मिलता है, उनमें साम्ब-उपपुराण अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस ग्रन्थ में सूर्य की प्रतिमा-निर्माण-विधि के साथ-साथ प्रतिमा के निर्माण में मगों का अधीक्षण स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है[२३]।

प्रस्तुत प्रसंग में कुछ महत्वपूर्ण बातों पर विचार किया जा सकता है, जिनके बिना पौराणिक सौर-धर्म से संबंधित विवेचन अधूरा सा लगता है। विवेचन का पहला पक्ष है कि विशिष्ट धर्म के रूप में सौर-पूजा की स्थापना में मग पुरोहितों का योगदान किस सीमा तक माना जा सकता है। दूसरे, सौर-धर्म की प्रतिष्ठा में प्रतिमा-पूजा द्वारा ऐकांतिक प्रेरणा मिली थी अथवा अन्य अनेक प्रेरक तत्त्वों में केवल इसे एक स्थान-वैशिष्य ही मिला था। तीसरे, मगों ने सौर-प्रतिमा-विधान का जो स्वरूप रखा था वह भारतीय परंपरा के लिये अविदित था अथवा इसका विचारात्मक रूप पहले से विद्यमान था, केवल कार्य-रूप में परिणत नहीं हो सका

---

२२. विष्णु पु०, ४।१३।११-१४

२३. साम्ब पु०, अध्याय १५

था। इन तीनों दृष्टिकोण से यदि पौराणिक सौर-धर्म की समीक्षा करें तो प्रतीत होता है कि जिन उपादानों के प्रकाशन और प्रचलन के कारण सूर्य-उपासना को एक विशिष्ट धर्म के रूप में परिणत होने का सुयोग प्राप्त हुआ, उनमें प्रतिमा-पूजा के अतिरिक्त उन अनुष्ठानों का भी योगदान था जो सौर-पूजा के लिये विहित और निर्णीत किये गये थे। पौराणिक धर्म के बाह्य आचारों में प्रत्येक मास और पक्ष के सप्तमी व्रतों का विधान किया गया था। इनके द्वारा सौर-धर्म का अनुष्ठानात्मक पक्ष निःसन्दिग्ध हो जाता है। इन व्रतों में दान, दीक्षा इत्यादि के अतिरिक्त सूर्य-पूजा का उल्लेख किया गया है। इनमें अनेक व्रतों में प्रतिमा के स्थान पर कमल के माध्यम से ही सौर-पूजा का निर्देश मिलता है[२४]। स्मरणीय है कि ये स्थल बाद के संयोजन हैं, कारण यह कि व्रत, दान, दीक्षा आदि का समावेश पौराणिक वाङ्मय में उत्तरकालीन स्तरों पर हुआ था। हाज़रा की समीक्षा को यदि मान्यता दें, तो इन्हें छठीं शताब्दी ईसवी के बाद का ही माना जा सकता है[२५]। दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया जाता है कि साम्ब पुराण की रचना (५०० ई० पू० के लगभग) के पूर्व मग पुरोहितों द्वारा परिकल्पित सौर-पूजा का प्रचार उत्तर पश्चिमी भारत से लेकर उड़ीसा तक हो चुका था[२६]। अतएव यह विचारणीय है कि मगों द्वारा विहित सूर्य की प्रतिमा के स्थान पर इन उद्धरणों में कमल-आकृति का आदेश क्यों है? इससे तो यही व्यक्त होता है कि सौर-धर्म को वैशिष्य मिलने में जो परिस्थितियाँ क्रियाशील थीं, उनमें सौर-अनुष्ठानों का योगदान भी किसी प्रकार कम नहीं था। इन अनुष्ठानों में सूर्य की प्रतिमा के स्थान पर कमल का निर्देश कर पौराणिक उद्धरण यह स्पष्ट और संदेह-रहित कर देते हैं कि मगों के आगमन के अनंतर भी भारतीय सामाज में सौर-पूजा की प्राचीन परिपाटी विलुप्त नहीं हुई थी। प्रस्तुत प्रसंग में साम्ब पुराण के एक उपाख्यान की समीक्षा की जा सकती है, जिसका परिकल्पन मगों के भारत में आने के पश्चात् किया गया था। इस उपाख्यान के अनुसार सूर्य के प्रचंड रूप को न सहने के कारण उनकी पत्नी संज्ञा तथा ब्रह्मा के निवेदन पर विश्वकर्मा ने सूर्य की तेजोमय आकृति में काट-छाँट किया। पर, चरणों का तेज वैसे ही रहने दिया गया। अतएव, पुराण में यह निर्देश मिलता है कि सूर्य की प्रतिमा बनाते समय इनके पैरों का अनावृत प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। यह वर्णन बिना किसी भिन्नता

---

२४. मत्स्य पु०, अध्याय ७४-८० तथा अध्याय ९८

२५. हाज़रा, पुराणिक रेकर्ड्स, पृ० १७६

२६. द्रष्टव्य, साम्ब पु० २९।२-६ के आधार हाज़रा की समीक्षा

के मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है[२७]। पर, मत्स्य पुराण ने सूर्य-प्रतिमा के आकार-प्रकार के निर्णय और निर्धारण में मगों का उल्लेख नहीं किया है[२८]। इसके अतिरिक्त यह उपाख्यान विष्णु पुराण में भी प्राप्त होता है[२९]। विष्णु पुराण के स्थल के संबंध में दो बातें महत्त्व की लगती हैं। एक तो, साम्ब और मत्स्य पुराणों के विपरीत प्रतिमा का उल्लेख विष्णु पुराण में नहीं है तथा दूसरे, साम्ब पुराण के विपरीत इसमें (कम से कम प्रस्तुत प्रसंग में) मगों का वर्णन नहीं मिलता है। अतएव इस सौर-कथानक के संबंध में तीनों पुराणों के तुलनात्मक वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि (१) पौराणिकों ने सौर-धर्म के उत्तरकालीन स्वरूप को मूल पौराणिक रूप से पृथक् नहीं करना चाहा था (२) इन्होंने मगों के सौर-धर्म के प्रति योगदान को यदि स्वीकार भी किया तो कुछ ऐसे ढंग से कि न केवल मग ही अपितु मगीय सौर-उपासना की विधि भी भारतीय परंपरा तथा इसके द्वारा चिरपोषित सौर-उपासना के अंग के रूप में प्रतीत हो सकें (३) मगीय विधि का भारतीयकरण पूर्णतया हो चुका था और ऐसी ही स्थिति में जनमानस में जो मूलतः उन्होंने स्थान बनाया था, उसका अस्तित्व समाप्त हो रहा था। यहाँ इस बात का निर्देश भी किया जा सकता है कि मगों के आने के बाद तथा उनकी विधि के अनुसार सूर्य के जिस आकार-प्रकार की प्रतिमा का निर्माण प्रारंभ हुआ वह भारतीय परंपरा के लिये नई बात नहीं थी। सूर्य के प्रतिमा की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें देवता के चरणों का प्रदर्शन नहीं करते थे। सूर्य के आकार के विषय में ऐसा विचार वैदिक काल में ही व्यक्त किया जा चुका था। उदाहरणार्थ; शतपथ ब्राह्मण में सूर्य के 'प्रक्रम' को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि चरणों के अभाव में भी गतिशील रहना, इस देवता की विशेषता है[३०]। यह भी उल्लेखनीय है कि पौराणिकों ने, यदि एक ओर सौर-धर्म के उत्तरकालीन कलेवर में भारतीय प्रवृत्ति और परंपरा का सन्निवेश किया तो दूसरी ओर उन्होंने सौर-धर्म को वैष्णव धर्म के अन्तर्निहित करने की भी चेष्टा किया। प्रस्तुत प्रसंग में शाकद्वीप के संबंध में उल्लिखित एक पौराणिक विवरण विशेषतया आलोचनीय है। पुराणों ने मगों का आदि आवास शाकद्वीप ही माना है। इस वर्णन के अनुसार शाकद्वीप के निवासी

---

२७. साम्ब पु०, अध्याय १५

२८. मत्स्य पु०, ११।३१-३३

२९. द्रष्टव्य, विलसन-कृत विष्णु पुराण का अनुवाद, पृ० २१५

३०. यद्दि ह व अप्यपद् भवत्वत्ममेव प्रतिक्रमणाय, श० ब्रा०, ४।४।५।५

जिस सूर्य की पूजा संपन्न करते हैं, वे वस्तुतः विष्णु के ही रूप हैं[३१]। इससे लगता है कि मगीय सौर-उपासना का भारत में तीन स्तरों पर विकास हुआ। पहले स्तर पर इसमें मगीय वैशिष्य था, दूसरे स्तर में मगीय सौर-उपासना विधि का भारतीय विधि से समधान किया गया, इस स्तर पर बल सौर-वैशिष्य पर था; तीसरे स्तर पर मगीय विधि का अन्तर्धान वैष्णव धर्म में किया गया। इस स्तर पर बल था वैष्णव वैशिष्य पर, जिसके परिणाम में पौराणिक धर्म को विकास का सुयोग प्राप्त हुआ। इसे पौराणिकों की ऐसी प्रतिक्रिया मान सकते हैं, जिसका लक्ष्य था मूल वैदिक धर्म को उत्तरवर्ती नवीन धार्मिक मान्यताओं के उद्भव और प्रभाव से सुरक्षित कर तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में नवीन संयोजनों का सन्निवेश कर युगानुकूल स्वरूप प्रदान करना।

---

३१. विष्णु पु०, २।४।७०; द्रष्टव्य, लेखक का प्रकाशित निबंध 'ऑन दि डेट ऑफ़ विष्णु पुराणाज़ एकाउण्ट ऑफ़ भरत ऐण्ड भुवन-कोश,' पुराण-पत्रिका, जुलाई, १९६६, पृ० ३०३-३०४

यज्ञ एवं तीर्थ : पौराणिक परिकल्पन की समीक्षा

पौराणिक धर्म के श्री-संवर्द्धन में तीर्थ-गमन और तीर्थ-सेवन से संबंधित विचारों की उद्भावना और विकास द्वारा भी सहायता मिली। यह विशेष धार्मिक तत्त्व पौराणिकों की देन है, यह तो एक साहसिक उक्ति होगी। पर, इसमें संदेह के लिये लवलेश अवकाश भी नहीं है कि प्राक्-पौराणिक काल में इसका स्वरूप नितांत ही शैशव था। एक मत के अनुसार तीर्थ-गमन को धार्मिक रूप-रेखा मिलने में बौद्ध और जैन धर्मों द्वारा प्रेरणा प्राप्त हुई थी[१]। इन्हीं धर्मों से तीर्थ-गमन की अवतारणा अन्य धर्मों में हुई थी। इस मत को केवल आंशिक और अव्यवहारिक रूप में समीचीन माना जा सकता है। बौद्ध और जैन धर्मों में इसे विकास का सुयोग शीघ्र मिला, यह सही है। पर; जो विशेषता तथा विस्तार तीर्थ-यात्रा के पौराणिक रूप में है, उसका स्रोत बौद्ध और जैन मतों को नहीं माना जा सकता है। इसकी पृष्ठभूमि में वैदिक विचार-धारा का संबल विद्यमान था[२]। वैदिक ग्रन्थों में, विशेषतया ब्राह्मणों और श्रौत सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि धार्मिक स्थानों का दर्शन तथा ऐसे स्थानों में पुण्य-प्रचुर क्रियाकलापों का संपादन धार्मिक उपलब्धि का विशेष कारण होता है। पर, वैदिक काल में याज्ञिक अनुष्ठानों का स्वरूप इतना व्यापक और इतना महत्त्वशील था कि इसमें तीर्थ-यात्रा का एक स्वतंत्र, सुग्राह्य और प्रचलित धार्मिक संस्थान के रूप में विकसित होना संभव नहीं था[३]। यह कह सकते हैं कि वैदिक यज्ञ के विशाल बट-वृक्ष की, तीर्थ-यात्रा केवल शाखा के रूप में प्रतिष्ठित थी। यज्ञपरक ग्रन्थों में यह स्पष्ट मिलता है कि कतिपय याज्ञिक क्रियाओं का पर्वतीय नदियों के तटीय प्रान्तर में संपादन अधिक श्रेयष्कर माना जाता था[४]। ऐसे विवरणों से यही ध्वनि निकलती है कि वैदिकों ने अधिक बल यज्ञ पर दिया था तथा तीर्थ-यात्रा इसके अंगीभूत थी। इसकी ठीक प्रतिकूल स्थिति पौराणिक विधान में थी। पौराणिकों ने तीर्थ-यात्रा को ही अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। इन्होंने

---

१. डी० आर० पाटिल 'कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृ० ३३४

२. द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग ४; पृ० ५५७-५५८

३. द्रष्टव्य, काणे, वही, पृ० ५५८

४. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १२२-१२३

यज्ञों का निराकरण नहीं किया है। पर, इनके मतानुसार यज्ञ-संपादन उन अनेक धार्मिक कृत्यों में से केवल एक है, जिन्हें तीर्थों में संपन्न करना अपेक्षित है। इससे यही व्यक्त होता है कि पौराणिक धर्म में प्रमुख स्थान तीर्थ-यात्रा को मिला था तथा याज्ञिक क्रियाएँ इसमें अन्तर्निहित और अन्तर्भूत थीं। धर्म-धुरीण लोकमानस को खलने वाली याज्ञिक विधियों का जो खंडन वेद विरोधी धर्मों ने किया था, उसका लक्ष्य था न केवल यज्ञों का ही निराकरण अपितु वैदिक धर्म का भी निराकरण, जिसकी प्राण-प्रतिष्ठा यज्ञों में थी। इसके विपरीत पौराणिकों का लक्ष्य था लोकमानस के अनुकूल रहने वाले धार्मिक क्रियाकलापों में तथा याज्ञिक विधानों में संतुलन और सामञ्जस्य स्थापित करना। पौराणिक उक्ति के अनुसार यज्ञों में अनेक उपकरण तथा बहुविध सामग्री-संभार की आवश्यकता रहती है। इसके संपादन में वही व्यक्ति समर्थ हैं, जिन्हें राज्य-सुख सुलभ है अथवा जो समृद्धि-संपन्न है। दरिद्र व्यक्ति यज्ञ-संभार को सहन करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। पर, तीर्थ-अनुगमन इनके लिये सर्वथा सुगम है। अतएव ऋषियों ने यज्ञों की अपेक्षा तीर्थ-अनुगमन को विशिष्टता प्रदान की है[५]। पौराणिक वाङ्मय में ऐसी अनेक उक्तियाँ मिलती हैं जिनमें इस बात को स्पष्ट किया गया है कि तीर्थ-यात्रा से वही फल प्राप्त होता है, जो अश्वमेध यज्ञ के संपादन से[६]।

ऐसे पौराणिक स्थलों की ध्वनि यह नहीं है कि पौराणिकों ने यज्ञों का निराकरण करने की चेष्टा की है। प्रत्युत इनका तात्पर्य था लोकधर्म का आचरण करने वाले सामान्य जनसमुदाय को वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाना, जिसके लिये उनके मानस-अंतराल में यज्ञों की स्मृति को सजीव रखना उपादेय और आवश्यक था। उदाहरण और विधान—दोनों ही रूपों में ऐसे अनेक पौराणिक स्थल प्राप्त होते हैं, जो विशिष्ट तीर्थों के साथ संपादित और संपाद्य यज्ञों को संबंधित करते हैं[७]। संपादित यज्ञों से तात्पर्य उन यज्ञों से है, जिनका वर्णन पौराणिक वाङ्मय में आख्यानों के रूप में प्राप्त होता है। तीर्थों के विवेचन में तो इनका विवरण मिलता है, इसके अतिरिक्त इनका निरूपण उन स्थलों में भी हुआ है, जिनका उद्देश्य केवल आख्यानों का समावेश प्रतीत होता है। ऐसे आख्यानों में कतिपय विशिष्ट यज्ञ—उदाहरणार्थ, अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम,

---

५. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १३२-१३३

६. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १२३

७. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १३३

दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र और नरमेध चर्चा के विषय बने हैं। संपाद्य तत्त्व पौराणिक यज्ञीय उल्लेखों का दूसरा पहलू है। इन उल्लेखों में पौराणिक धर्म यज्ञों के प्रति न केवल श्रद्धालु ही है, अपितु इसके द्वारा यज्ञों की व्यवहारशीलता पर भी बल दिया गया है। विशेषता केवल इतनी ही है कि यज्ञ-संपादन, राष्ट्र की निहित और केन्द्रीभूत सत्ता सम्राट् के लिये आवश्यक और अपेक्षित है, न कि सर्वसाधरण के लिये[८]। पौराणिक मत में यज्ञ, क्षात्र धर्म का अभिन्न अंग है[९]। रक्षित राष्ट्र की आधिभौतिक उन्नति तथा स्वकीय आध्यात्मिक उन्नति, सम्राट् द्वारा तभी संभव है, जब कि वह यज्ञ-संपादन के लिये तत्पर हो। पौराणिक विवरणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वैदिक यागों का संपादन वैदिक नियमों और उपनियमों के अनुकूल, पौराणिक काल-संवर्तन में किस सीमा तक होता था। पर, इनके अध्ययन से इतना अवश्य व्यक्त होता है कि समाज में पृथक्-पृथक् वेदों के तथा उनकी शाखा और प्रशाखाओं के निष्णात ब्राह्मण होते थे, जिनके आदेश-निर्देश में यज्ञ तथा अन्य नियम-प्रचुर धार्मिक कृत्य संपन्न किये जाते थे।

---

८. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १०२-१०३

९. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, १७१-१७२

१०. द्रष्टव्य, पृष्ठांक, २५५-२५६

सरस्वती-विदर्भण की पौराणिक रूप-रेखा*

पौराणिक धर्म के संप्रेरक तत्त्वों का मूल सन्निधान वैदिक वाङ्मय तथा वैदिक विचारों में था तथा इन्हें विस्तार देना पौराणिक धर्म का बद्धमूल उद्देश्य था— इसका पुष्टीकरण सरस्वती नदी के साक्ष्य से किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि सरस्वती वैदिक काल की एक विश्रुत नदी थी। इस नदी से संबंधित, जो विवरण वैदिक साहित्य में मिलते हैं, उनसे यह व्यक्त होता है कि वैदिकों के भौतिक और धार्मिक जीवन में इसका अभिन्न स्थान था। स्मार्त-विवरण में सरस्वती के पुण्य-प्रकर्ष को आलोक में लाते हुये इसे तथा दृषद्वती को देवनदी की संज्ञा दी गई है। दोनों नदियों के अन्तर्वर्ती भूक्षेत्र में भारत के उस प्रदेश की प्रतिष्ठा थी, जिसे ब्रह्मावर्त्त की संज्ञा दी गई थी। इस प्रदेश के 'अग्रजन्मा' की मानसिक और वैचारिक उपलब्धियाँ समस्त देश में आदर्श मानी जाती थीं[१]। भौगोलिक परिवृत्ति, का कुछ ऐसा आकस्मिक और घातक प्रभाव पड़ा कि सरस्वती नदी काल-कठोरता में दब गई[२]। पर, पायस-सन्दोह के पार्थिव अभाव में भी इस नदी की सांस्कृतिक महत्ता इतनी घनीभूत हो चुकी थी कि जन-मानस के अंतराल से यह विलीन न हो सकी।

पौराणिक विवरण को यदि देखें तो प्रतीत होगा कि इसमें जिस सरस्वती का परिकल्पन किया गया है, उसके स्वरूप में भौतिक तथा परम्परा-परीवाह— इन दोनों दृष्टिकोण से ही मूल वैदिक सरस्वती का परिकल्पन किया गया है। वैदिक उल्लेखों में सरस्वती को 'नदीतमा' के विशेषण से अभिषिक्त किया गया है[३]। सरस्वती के इस वैदिक विशेषण की स्पष्ट अवतारणा पौराणिक वर्णन में है। यहाँ सरस्वती को

---

* प्रस्तुत विवेचन लेखक के प्रकाशित निबंध 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ रिवर सरस्वती ऐज़ ग्लीन्ड फ्राम दि पुराणाज़' पर आधारित है; द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ़ एलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज, १९६६, पृष्ठांक २९-४२

१. मनुस्मृति, २।१७; द्रष्टव्य, सरकार, ज्याग्रफ़ी ऑफ़ एंशेण्ट ऐण्ड मेडीवल इण्डिया, पृ० ४०; काणे, वही, पृ० ५५७

२. द्रष्टव्य, ओल्ढम, 'दि लास्ट रिवर ऑफ़ दि इण्डियन डेज़र्ट', कलकत्ता रिव्यू, भाग ५९, १८७४

३. ऋग्वेद, २।४१।१६

'महानदी' की संज्ञा दी गई है, जिसमें सहस्रों शैल-खण्डों को विदारित करने की क्षमता विद्यमान थी[४]। प्रोफ़ेसर क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय के मतानुसार ऋग्वेद के छठें और सातवें मण्डलों में सरस्वती नदी से वैदिकों का मन्तव्य सिन्धु नदी से है, पर दसवें मण्डल में जिस सरस्वती का उल्लेख है वह सिन्धु से भिन्न है[५]। म० म० काणे इस निष्कर्ष को नहीं मानते हैं। इनके मतानुसार ऋग्वेद की रचना-काल में आयाम और विस्तार की दृष्टि से सरस्वती और सिन्धु दोनों नदियाँ समान थीं, अतएव दोनों नदियों के परिकल्पन में संभ्रम का प्रश्न नहीं उठता है[६]। इन दोनों मतों की समीक्षा करने का दुस्साहस, यदि पौराणिक विवेचन की दृष्टि से किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पौराणिक परंपरा अथवा अधिक सही शब्दों में पुराणों में समावेशित वैदिक परंपरा; चट्टोपाध्याय महोदय के मत की ही पुष्टि करती है। उदाहरणार्थ, वामन पुराण में सरस्वती के चतुर्विध और चतुर्दिक गति का उल्लेख करते हुये इसके उत्तरवर्ती प्रवाह को 'सिन्धु' नदी का अभिधान दिया गया है[७]। जिस साक्ष्य को लेकर काणे महोदय ने अपने मत का प्रतिपादन यहाँ किया है, उसका स्रोत वामन पुराण है। इस ग्रन्थ में सरस्वती को 'महानदी' की संज्ञा तो दिया ही गया है, इसके अतिरिक्त इस नदी की प्रविदारणशील क्षमता को भी प्रकाश में लाया गया है। इसके आधार पर काणे महोदय का कहना है कि सरस्वती की विशालता को पौराणिकों ने भी स्वीकार किया है। पर, इन्होंने वामन पुराण के इस वर्णन से संबंधित श्लोक के 'इति श्रुतं' अंश पर ध्यान नहीं दिया है। 'इति श्रुतं' का यहाँ तात्पर्य यही है कि पौराणिक का मन्तव्य वैदिक परंपरा की प्रतिष्ठा से है न कि तत्कालीन वस्तुस्थिति से। वैदिक परंपरा में यदि सिन्धु और सरस्वती में तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की गई थी, तो सहज और स्वाभाविक रूप में पौराणिकों ने भी यही किया, जिनका उद्देश्य ही था वैदिक परंपरा को संजीवनी शक्ति प्रदान करना।

पौराणिक धर्म में जो स्थान सरस्वती को प्रदान किया गया, वह केवल श्रद्धा-

---

४. वामन पु०, ३२।१-४

५. द्रष्टव्य, प्रो० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, जर्नल ऑफ़ दि डिपार्टमेण्ट ऑफ़ लेटर्स, कलकत्ता युनिवर्सिटी, भाग ४०

६. काणे, वही, पृ० ५५६

७. वामन पु०, ४२।७-८

८. द्रष्टव्य, लेखक का उक्त निबंध, पृ० ३२

संतान का विषय है, जिसका स्रोत है वैदिकों की सरस्वती, जो उनके लिये सलिल-संदोहन की विषय थी। पौराणिक वाङ्मय में स्थान-स्थान पर इस नदी के लिये पुण्या, पुण्यतोया तथा तीर्थवरा जैसे विशेषण प्रयुक्त हुये हैं। इन शब्दों का तात्पर्य यही है कि जो सरस्वती नदी वैदिक काल में सजीव और सलिल-सम्पन्न थी, पौराणिक काल में उसका प्रविलय हो चुका था, अतएव श्रद्धासूचक शब्दों के प्रयोग द्वारा पुराणों के संकलनकर्त्ता, उसकी स्मृति को सजीव रखना चाहते थे। पौराणिक विवरण से यह भी स्पष्ट है कि एक ओर सरस्वती की स्मृति को सजीव रखने के लिये तथा दूसरी ओर अन्य अप्रसिद्ध तथा अपर नामों से ज्ञात नदियों की प्रसिद्धि के लिये, पौराणिकों ने सरस्वती शब्द का विशेषण प्रदान किया। ऐसे प्रसंगों में सरस्वती शब्द का प्रयोग नदी के पर्याय के रूप में किया गया है[९]। पौराणिकों ने सरस्वती शब्द के विश्रुत वैदिक विशेषण नदीतमा को अतीव सावधानी के साथ पुण्यतमा में परिवर्तित किया— जिसका तात्पर्य केवल यही हो सकता है कि पौराणिक काल में मूल सरस्वती का भौतिक रूप नष्ट हो चुका था, अतएव वैदिक विचार-धारा के समर्थक जन-मन को इसके प्रति भक्ति-प्रवण बनाना चाहते थे। इस प्रसंग में वामन पुराण का एक स्थल विशेषतया उल्लेखनीय है, जिसमें सरस्वती के तीन विशेषण प्रयुक्त हैं— १. दृश्या, २. शुभा तथा ३. अदृश्यगतिः[१०]। इसमें सन्देह नहीं कि ये तीनों ही शब्द सरस्वती के भौतिक और धार्मिक पक्षों के द्योतक हैं। पहले दोनों शब्द से सरस्वती की धार्मिक महत्ता व्यक्त होती है तथा तीसरे शब्द से यह सन्देह-रहित हो जाता है कि पुराण का अभिप्राय मूल सरस्वती से ही है, जो पौराणिक काल तक प्रविलुप्त हो चुकी थी। इसी प्रकार का वर्णन ब्रह्म पुराण में भी मिलता है, पर इस ग्रन्थ ने एक आख्यान के माध्यम से सरस्वती के दृश्य और अदृश्य स्वरूप का अर्थ भी समझाया है। इसके अनुसार अतीत काल में सरस्वती नदी दृश्य थी। इसे ब्रह्मा की गोद में खेलने का सुयोग प्राप्त था। एक बार यह पुरूरवा की ओर आकर्षित हुई। दोनों में शारीरिक मेल हुआ। इसके कारण सरस्वान् ने उसे शाप दिया, जिसके परिणाम में सरस्वती अदृश्य हो गई[११]। इस पौराणिक आख्यान से सांस्कृतिक निष्कर्ष यही निकलता है कि पुराणों में मूल सरस्वती की आदिम स्थिति तथा क्रमशः उसका विलय-वर्णन सुरक्षित करने

९. द्रष्टव्य, लेखक का उक्त निबंध, पृ० ३३

१०. वामन पु०, अध्याय ३१

११. ब्रह्म पु०, उत्तर खण्ड, ३२।१-१६

का प्रयास किया गया था। वास्तविक वर्णन को आख्यान का रूप देकर पौराणिकों ने इसे जनमानस के लिये अधिक सुग्राह्य बनाना चाहा था। भौतिक दृष्टि से ब्रह्मा की गोद का अर्थ है ब्रह्मावर्त्त, जहाँ इस नदी का मूल प्रवाह था। सरस्वान् का शाप-संकेत उस भौगोलिक परिवृत्ति से है, जिसके परिणाम में यह नदी विलीन हुई थी। प्रसिद्ध वैदिक नायक पुरूरवा और सरस्वती के संयोग-निरूपण से पौराणिक आख्यान का तात्पर्य वैदिक परंपरा से है।

सरस्वती के विवरण में पौराणिकों ने 'सरस्वत्यां विनशने' की चर्चा किया है। यहाँ अभीष्ट शब्द विनशन ही है, जिसे श्राद्ध के लिये उपयुक्त तीर्थ माना गया है[१२]। विनशन उस स्थान-विशेष को कहते थे, जहाँ सरस्वती विलीन हुई थी। इसकी स्थिति सिरसा के पास बताई जाती है। इस प्रसंग में विनशन के स्थान पर पौराणिकों द्वारा प्रयुक्त 'सरस्वत्यां विनशने' पाठ सोद्देश्य प्रतीत होता है। 'विनशन' शब्द स्वतंत्र और पृथक् रूप में पुण्य-स्थल की ध्वनि नहीं दे सकता है। अतएव पौराणिकों ने इसके साथ सरस्वती शब्द को भी संयुक्त किया है। दोनों शब्दों का संयुक्त व्यवहार सरस्वती नदी के मौलिक अस्तित्व और उत्तरकालीन विलय को प्रकाश में लाने में समर्थ था। अतएव 'सरस्वत्यां विनशने' का प्रयोग भी पौराणिकों द्वारा वैदिक परंपरा-निर्वाह का एक प्रमाण माना जा सकता है। 'प्लक्ष-प्रस्रवण' तथा सरस्वती के संबंध में भी वैदिक और पौराणिक वर्णन समान है। वैदिकों ने 'प्लक्ष प्रस्रवण' को सरस्वती का स्रोत माना था[१३]। सामान्य रूप में पौराणिकों ने भी यही कहा है कि प्लक्ष से निकलने के उपरान्त सरस्वती इधर-उधर तितर-बितर हो गई[१४]। पर, नारदीय पुराण के विवरण में विशेषता दिखाई देती है। इस ग्रन्थ में प्लक्ष-प्रस्रवण के स्थान पर लक्ष-स्रवण पाठ मिलता है[१५]। यह पाठ-भेद उस स्तर की सूचना देता है, जब कि मौलिक सरस्वती विलीन हो चुकी थी; पर मूल धार्मिक स्थानों को प्रकाश में लाना तथा उनको प्रचलित रखना आवश्यक माना जाता था। प्लक्ष का लक्ष में परिवर्तन मूल शब्द को प्रचलित रखने में घातक नहीं सहायक ही था। इससे नदियों के अतिरिक्त स्रवों की धार्मिक उपादेयता भी स्पष्ट एवं प्रमाण-समर्थित हो जाती है।

---

१२. ब्रह्माण्ड पु०, ३।१३।६६-७०; कूर्म पु०, २।३७।२६

१३. द्रष्टव्य, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृष्ठांक ५४-५५, आश्वलायन श्रौत-सूत्र १२।६।१; शांखायन श्रौतसूत्र, १३।२६।२४

१४. वामन पु०, ३३।१-४

१५. नारदीय पु०, उत्तर खण्ड, ४४।१८

इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक धर्म के संवर्त्तन-काल में सरस्वती का मौलिक रूप तिरोहित हो चुका था। सामान्यतया मौलिक सरस्वती का तादात्म्य उस सरसुति से किया जाता है, जो भटनेर के सैकत-प्रचुर प्रान्तर में विलीन हो जाती है। म० म० काणे के अनुसार ऋग्वेद के काल में सरस्वती एक विशाल सरिता थी। यह यमुना तथा शुतद्रु के मध्यवर्ती भूक्षेत्र में बहती थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में यह नष्ट हो चुकी थी[१६]। यह निश्चित् है कि विलय के पूर्व इस नदी की धार्मिक और सांस्कृतिक परंपरा का कलेवर बन चुका था। वैदिकों के आर्थिक जीवन के संबल होने के अतिरिक्त, इस नदी के कूलों ने वैदिक यज्ञों का संपादन भी देखा था। ऐसी स्थिति में सरस्वती के संबंध में वैदिकों ने एक ऐसी परंपरा को छोड़ रखा था, जिसके समावेश और संवर्द्धन द्वारा पौराणिक धर्म का विकास हो सकता था। पौराणिकों ने अपने ग्रन्थों में मौलिक सरस्वती के विषय में अपने विचारों का प्रकाशन तो किया ही था; इसके अतिरिक्त सरस्वती का संबंध उन धार्मिक स्थानों से भी किया, जिनकी धार्मिक प्रसिद्धि को वे प्रखर तथा प्रकर्षमय बनाना चाहते थे। ऐसे स्थानों में कुरुक्षेत्र उल्लेखनीय है। ऐसा विचार है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में सरस्वती कुरुक्षेत्र में बहती थी[१७]। पुराण-वाङ्मय के अध्ययन से ऐसा लगता है कि इसमें जिस सरस्वती का संबंध कुरुक्षेत्र से बताया गया है, वह मौलिक सरस्वती नहीं हो सकती है। एक पौराणिक आख्यान के अनुसार मूलतः सरस्वती पुष्कर-क्षेत्र में बहती थी। मार्कण्डेय ऋषि ने अपनी तपस्या के बल से इसे कुरुक्षेत्र में अधिष्ठित किया था। यह आख्यान वामन पुराण में भी मिलता है[१८]। नारदीय पुराण के अनुसार सरस्वती ने अपने प्रवाह का प्रकल्पन, प्लक्ष से निकलने के बाद पूरा किया। मार्कण्डेय ऋषि की कठोर तपस्या के कारण इसे कुरुक्षेत्र में आने का सुयोग मिला[१९]। इन आख्यानों की समीक्षा से यही व्यक्त होता है कि मूल सरस्वती कुरुक्षेत्र में नहीं थी, कुरुक्षेत्र के यज्ञ-परक धार्मिक परिवेश के कारण ही इसके साथ सरस्वती का संबंध बताया गया था।

पौराणिकों ने सरस्वती के जिन पक्षों को प्रकाशित किया, उनमें अधिकांशतः वैदिक विचार-धारा का ही निर्वाह किया गया था। पौराणिकों के सामने समस्या थी, एक विनष्ट नदी के प्रति धर्म-श्रद्धालु जन-मन को आकर्षित करना। अतएव

---

१६. काणे, वही, पृ० ५५७
१७ वही, पृ० ६८२
१८. वामन पु०, ३७।१७-२३
१९. नारदीय पु०, उत्तर खण्ड, ६७।१४-१८

वे सामान्यतया इसके अतीत धार्मिक गौरव का गुणगान, 'पुरातन का आनयन' करने वाली पूर्व निश्चित पौराणिक शैली के अनुसार ही कर सकते थे। पर, 'पुरातन का आनयन', मात्र इतने से संभव नहीं था। 'विनशन' की धार्मिक प्रतिष्ठा उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी[२०]। इसकी पुनरावृत्ति पौराणिकों ने भी किया। यहाँ तक तो था, याथातथ्य का प्रकाशन। पर, पौराणिकों का उद्देश्य अतीत का याथातथ्य-उद्घाटन उतना नहीं था, जितना कि व्यतीत को वर्त्तिष्यमाण के सूत्रों में पिरोना। अतएव यह आवश्यक था कि 'सरस्वती' के 'विनशन' के साथ-साथ, इसके दैवी रूप का स्वीकरण कर, उस सहज और संभाव्य प्रवृत्ति को प्रकाशित करना, जिसकी विशेषता 'विदर्भण' थी। 'विदर्भण' वैदिक 'विनशन' का पौराणिक रूपान्तर था[२१]। वैदिक विश्वास के अनुसार सरस्वती के विनशन-स्थान की क्षमता है, स्वर्ग-समारोहण की। पौराणिकों ने इस विचार में परिवर्त्तन न लाकर परिवर्द्धन लाने की चेष्टा किया तथा इस दृष्टि से बताया कि जिस स्थान पर सरस्वती का विदर्भण होता है, उसकी संरचना स्वयं ब्रह्मा ने किया तथा इसमें सामर्थ्य है; ब्रह्मलोक के साथ संबंध कराने की। 'विनशन' का संबंध मूल सारस्वत प्रान्तर से था, जिसके सौष्ठव-समृद्ध परिवेश में वैदिक संस्कृति की सज्जा प्रस्तुत की गई थी। 'विदर्भण' का संबंध था प्रयाग से, जहाँ वैदिक संस्कृति ने अपेक्षाकृत अपने अनुवर्ती आयाम को आलोक में लाया था। अतएव सरस्वती के 'विदर्भण' का परिकल्पन केवल एक वैचारिक प्रक्रिया थी, जिसके माध्यम से वैदिक और वेदानुवर्त्ती पौराणिक तत्त्वों को सुसंगत बनाने की चेष्टा की गई थी।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रयाग में सरस्वती के विदर्भण का परिकल्पन कर जन-मानस को संतुष्ट कैसे किया जा सकता था। भौतिक परिवेश की दृष्टि से गंगा और यमुना का प्रवाह प्रयाग में इतना सुस्पष्ट है तथा इसके सित और असित स्वरूपों के मिलन-बिन्दुओं की वारिधारा यहाँ इतनी सुव्यक्त है कि सरिद्-द्वय के स्थान पर 'सरित्त्रयी' का संबंध केवल कल्पना में ही अर्थवान् हो सकता था। अन्यथा अप्रसिद्ध नदियों को धार्मिक प्रसिद्धि में लाने के लिये उन्हें सरस्वती का नाम तो दिया जा सकता था। गुजरात और बंगाल में सरस्वती नाम की नदियाँ, इसका प्रमाण हैं। पर, दृष्ट प्रवाह के अभाव में ऐसा नामकरण कैसे संभव हो सकता था। इस अभाव की पूर्त्ति के लिये पौराणिक एक दूसरी परंपरा को प्रकाश में लाए। इसके स्वरूप को अन्तर्निगूढ, अन्तर्भावित अथवा अन्तः सलिल मानते थे। उदाहरणार्थ,

२०. ताण्ड्य ब्रा०, २५।१०।१।१५

२१. द्रष्टव्य, लेखक का उक्त निबंध, पृ० ३७-३८

पद्म पुराण में पुष्कर-क्षेत्र में स्थित सरस्वती को अन्तर्हित बताया गया है[२२]। वामन पुराण ने सरस्वती को लिंगाकारा की संज्ञा दी है[२३]। पौराणिक व्याख्या के अनुसार लिङ्ग का अर्थ है, लयनशीलता अर्थात् छिपा रहना[२४]। अतएव लिङ्गाकारा का अर्थ यहाँ निगूढ अथवा अन्तनिगूढ लिया जा सकता है। किन्तु स्मरणीय है कि उक्त पौराणिक वर्णनों का संबंध प्रयाग से नहीं है। अतएव यह परंपरा भी प्रयाग की परिकल्पित सरस्वती से संबंधित नहीं हो सकती है। पुराणेतर परंपरा में भी जहाँ कहीं सरस्वती के अन्तःसलिल स्वरूप का वर्णन है, उसका मंतव्य प्रयाग की परिकल्पित सरस्वती से नहीं है। उदाहरणार्थ, कालिदास ने सरस्वती को अन्तःसलिला माना है[२५]। पर, उसी ग्रन्थ में कविश्रेष्ठ ने जहाँ गंगा और यमुना के संगम का मनोज्ञ वर्णन दिया है, वे सरस्वती के विषय में मौन हैं[२६]। यदि अन्तःसलिल रूप में सरस्वती के सहभाव की परंपरा का संबंध प्रयाग से होता तो सूक्ष्मदर्शी कवि ने सित-असित के संगम के वर्णन में इसे अवश्य ही निबद्ध किया होता। ऐसी स्थिति में यहाँ एक बार फिर प्रश्न किया जा सकता है कि वह तीसरी संभावित परंपरा कौन सी थी, जिसके प्रयोग द्वारा सरस्वती का संबंध प्रयाग से किया गया। यह तीसरी परम्परा प्रतिष्ठित थी 'वेदोपबृंहण' के रूप में—जिसने पुराण-कलेवर के शैशव रूप से लेकर समृद्ध और संवृद्ध रूप तक पौराणिकों को संरचना-संतान के लिये प्रेरित किया था। वेदोपबृंहण शैली के फल और प्रतिफलों में ही सरस्वती-विदर्भण की कल्पना पुष्ट हुई थी, जिसे प्रयाग में केन्द्रित होने का सुयोग मिला था।

वस्तुस्थिति को सुगम और सुस्पष्ट करने के लिये यहाँ एक वैदक उक्ति का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे सामान्यतया ऋग्वेद के छन्दों में ही परिगणित करते हैं। इस उक्ति के अनुसार सित (गंगा) और असित (यमुना) के संगत स्थल पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा यहाँ शरीर-त्याग करने से अमृत की। अपने मूल रूप में यह वर्णन वक्ष्यमाण पंक्तियों में विवेचित है :

---

२२. द्रष्टव्य, लेखक का उक्त निबंध, पृ० ४०

२३. वामन पु०, ३४।४

२४. लिंग पु०, २०।१६

२५. रघुवंश, ४।४

२६. वही, सर्ग १३

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्त्वं भजन्ते[२७] ।

जिस विशेष पौराणिक उक्ति द्वारा सरस्वती-विदर्भण की कल्पना व्यक्त होती है, उसका समावेश नारदीय पुराण में प्राप्त होता है । इस ग्रन्थ के अनुसार सित और असित धाराएँ जहाँ सरस्वती द्वारा विदर्भित होती है, वह ब्रह्मलोक का मार्ग है जिसे ब्रह्मा ने निर्मित किया हैं—

प्रयागं विदधे देवि प्रजानां हितकाम्यया ।
सितासिता तु या धारा सरस्वत्या विदर्भिता
तं मार्गं ब्रह्मलोकस्य सृष्टिकर्त्ता ससर्ज ह[२८] ।

यही वर्णन पद्म पुराण में भी प्राप्त होता है । अंतर केवल इतना है कि इसमें विदर्भिता के स्थान पर गर्भिता पाठ मिलता है । पर, विशेषता यह है कि पौराणिक श्लोक को उक्त वैदिक श्लोक के साथ इस प्रकार जोड़ दिया गया है कि दोनों श्लोक परस्पर अभिन्न लगते हैं तथा पूरा वर्णन एक सा हो गया है । यह वर्णन निम्नांकित है—

ब्रह्मोवाच—अत्र वेदाः प्रमाणम् ।
सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते अमृतत्त्वं भजन्ते ।
दत्तात्रेय उवाच—सितासितेऽपि या धारा सरस्वत्याऽपि गर्भिता
तं मार्गं ब्रह्मलोकस्य सृष्टिकर्त्ता ससर्ज ह[२९] ।

पौराणिक वर्णन में यहाँ वेद और पुराण के उद्धरण इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि सरस्वती; दोनों नदियों के संगत स्थल से भिन्न प्रतीत ही नहीं होती जब तक कि इस बात पर ध्यान न दिया जाय कि वैदिक वर्णन में केवल दो ही नदियों का उल्लेख है, तीसरी नदी का उल्लेख उत्तरकालीन पौराणिक संयोजन है । यहाँ समीक्षा की दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि पुराणों में वर्णित यदि सरस्वती-विनशन वैदिक वस्तुस्थिति का द्योतक है तो सरस्वती विदर्भण पौराणिक परिचिन्तन का परिणाम है; जिन्होंने एक विशिष्ट वैदिक वारिवाहिनी को विदर्भित घोषित कर

---

२७. सामान्यतया इस छन्द को ऋग्वेद १०।७५ से संबंधित माना जाता है; काणे, वही, ५६६

२८. पद्म पु०, ६।२४६

२९. नारदीय पु०, उत्तर खण्ड, ६३।२३-२४

न केवल वैदिक और पौराणिक मान्यताओं को ही अपितु वैदिक और पौराणिक साहित्य के स्थलों को भी परम्परा-सन्निबद्ध करने का प्रयास किया था।

सरस्वती-विदर्भण द्वारा तीर्थ-संबंधी भावना के गति-विस्तार को भी पर्याप्त योगदान मिला। इसके द्वारा पौराणिक एक विशिष्ट तीर्थ-प्रचलन को धार्मिक मान्यता प्रदान करना चाहते थे। स्पष्टतः प्रयाग द्विवेणी का क्षेत्र था। पर, पौराणिकों ने इसे त्रिवेणी के नाम से प्रचलित किया। प्रश्न यह है कि तीसरी वेणी; आकार-सापेक्ष नदी थी या काल्पनिक सरिता थी अथवा इसका प्रकार दोनों के बीच कहीं था। इसका उत्तर आंशिक रूप में उत्तरकालीन पुराण-सहित्य में ढूँढ़ा जा सकता है। ब्रह्म पुराण के अनुसार ऐसे गड्ढे, जो स्वयं बनते हैं और इस प्रकार जिनमें सहज जल-संचरण होने लगता है, दिव्य और पवित्र होते हैं[३०]। सरस्वती का शाब्दिक अर्थ होता है, जो सरों से युक्त है। वायु पुराण ने उस सारस्वत कुंड की चर्चा की है, जिसका निर्माण सरस्वती नदी ने किया था। वामन पुराण में सरस्वती-निर्मित पाँच कुंडों का उल्लेख है[३१]। सरस्वती से संबंधित पाँच कुंडों के परिकल्पन में वैदिक परिचिन्तन क्रियाशील था। वाजसनेय संहिता में सरस्वती के पाँच स्रोतों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[३२]। अतएव पौराणिक पंच कुंड, वैदिक सरस्वती के उत्तरकालीन रूप हैं। प्रयाग के प्रसंग में पुराणों ने कभी तो तीन पर, बहुधा पाँच कुंडों का उल्लेख किया है[३३]। यद्यपि इन कुंडों को स्पष्टतः सरस्वती से संबंधित नहीं किया गया है, तथापि इन पुराणों का मंतव्य, उक्त पुराणों से पृथक् नहीं है। व्यक्तिगत पुराण, पुराण-समुदाय के अंगभूत होकर ही चलते हैं। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पुराण, गंगा-यमुना की संगत धारा को विदर्भित करने वाले सरस्वती-निर्मित मार्ग को स्वर्ग-लोक से संबंधित करते हैं। प्रयाग में यीर्थ-यात्री आत्म-हत्या भी कभी करते थे। इसकी अनेक विधियों में, यहाँ इच्छापूर्वक डूबने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं[३४]। अतएव प्रयाग-विशिष्ट सरस्वती, कुंड-समवाय ही हो सकती है।

---

३०. वाजसनेय संहिता, ३४।११

३१. ब्रह्म पु०, उत्तर खण्ड, १।३१-३२

३२. वामन पु०, ४६।६२

३३. मत्स्य पु०, १०९।४; कूर्म पु०, अ० ३६; अग्नि पु०, ४२।१३, ३९।६७; नारदीय पु०, ६३।४५, ५०

३४. द्रष्टव्य, काणे, वही, पृ० ६९७; प्रबंध-पृष्ठांक, १३३-१३४

सहायक ग्रन्थ-सूची

मूलभूत प्राचीन भारतीय ग्रन्थ

अग्नि पुराण--पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।

अथर्ववेद--आर० रॉथ तथा डब्ल्यू० डी० ह्विटनी द्वारा संपादित, बर्लिन १९२४।

अभिज्ञानशकुन्तलम्--सतीशचन्द्र बसु द्वारा संपादित, बनारस, १८९७।

अमरकोश--वी० झलकीकर द्वारा संपादित, बंबई, १९०७।

अहिर्बुध्न्य संहिता--एम० डी० रामानुजाचार्य द्वारा संपादित, अड्यार, मद्रास, १९१६।

आपस्तंब धर्मसूत्र--हलस्यनाथ शास्त्री द्वारा संपादित एवं प्रकाशित, कुंभकोणम्, १८९५।

आश्वलायन गृह्यसूत्र--म० म० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम्, १९२३।

उत्तरगीता, गौडपाद-भाष्य-सहित--श्रीवानी विलास प्रेस द्वारा संपादित, श्रीरंगम्, वि० सं०, १९२६।

उत्तररामचरित--पी० वी० काणे द्वारा संपादित, बंबई, १९२९।

ऐतरेय ब्राह्मण--हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित एवं प्रकाशित ।

ऋतुसंहार--बंबई, १९२२।

कथासरित्सागर--दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, बंबई, १९२०।

कात्यायन श्रौतसूत्र--लन्दन, १८५५।

कादम्बरी--मथुरानाथ शास्त्री द्वारा संपादित, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९४८।

कामसूत्र--दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, बंबई।

कालिका पुराण--बंबई, शकाब्द, १८२९।

काव्यप्रकाश--हरदत्त शर्मा द्वारा संपादित, पूना, १९३५।

काव्यमीमांसा--सी० डी० दलाल द्वारा संपादित, बड़ौदा, १९१७।

कुमारसम्भव--भारद्वाज गंगाधर शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस।

कूर्म पुराण—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं० १३३२।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र—आर० शम शास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर, १९२४।

गरुड पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, १९०६।

गोपथ ब्राह्मण—कलकत्ता, १८७२।

गौतम धर्मसूत्र—हरदत्त-भाष्य के साथ, हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९१०।

गौतम धर्मसूत्र—हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, पूना, १९१०।

चारुदत्त—म० म० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम्, १९१४।

छान्दोग्य उपनिषद्—हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९१३।

जयाख्यसंहिता—एंबर कृष्णमाचार्य द्वारा संपादित, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़, भाग ५४, बड़ौदा, १९३१।

जातक—वी० फासबल द्वारा संपादित, लंदन, १८७७-९७

तीर्थ चिन्तामणि—कमलकृष्ण स्मृतितीर्थ द्वारा संपादित तथा एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, १९१२।

तैत्तिरीय आरण्यक, सायण-भाष्य-सहित—हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, १८९८।

तैत्तिरीय संहिता—कलकत्ता, १८५४।

दशकुमार चरित—काले द्वारा संपादित, बंबई, १९१७।

दिव्यावदान—कावेल द्वारा संपादित, कैम्ब्रिज, १८८६।

देवी भागवत—कमलकृष्ण स्मृतिभूषण द्वारा संपादित, बिबलोथेका इण्डिका, कलकत्ता, १९०३।

नवसाहसांकचरित—वामन शास्त्री द्वारा संपादित, बंबई, १८९५।

नारदस्मृति—यौली द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८८५।

नारदीय पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।

नित्याचारप्रदीप—एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता।

नैषधीयचरित—म० म० पं० शिवदत्त द्वारा संपादित, बंबई, १९०७।

पद्म पुराण—हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पना, १८९३ ।

पराशर स्मृति, मध्वाचार्य-भाष्य-सहित—बाम्बे संस्कृत सीरीज़, बंबई, १८९३–१९११ ।

पवनदूत—सी० आर० चक्रवर्ती द्वारा संपादित, कलकत्ता ।

प्रायश्चित्तप्रकरण—गिरीशचन्द्र वेदान्ततीर्थ द्वारा संपादित तथा वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, १९२७ ।

प्रायश्चित्तविवेक—जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, १९२७ ।

प्रियदर्शिका—निर्णय सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित, शकाब्द, १८०६ ।

बृहत्संहिता—कर्न द्वारा संपादित, बिबलोथेका इण्डिका, कलकत्ता, १८६५ ।

बृहद्धर्म पुराण—कलकत्ता, वि० सं० १३१४ ।

बृहदारण्यक उपनिषद्, शंकराचार्य-भाष्य तथा आनंदगिरि की टीका के साथ—हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९१४ ।

बृहन्नारदीय पुराण—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं० १३१६ ।

बृहस्पति स्मृति—बड़ौदा, १९४१ ।

ब्रह्म पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, १९०६ ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बम्बई, १९०६ ।

ब्रह्मसूत्र, भास्कराचार्य-भाष्य-सहित—विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित, १९१५ ।

ब्रह्मसूत्र, शंकराचार्य-भाष्य तथा गोविन्दानंद की टीका के साथ—एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, १८६३ ।

ब्रह्माण्ड पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, १९०६ ।

बौधायन धर्मसूत्र—श्रीनिवासाचार्य द्वारा संपादित, मैसूर, १९०७ ।

भविष्य पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, १९८७ ।

भागवत पुराण—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं०, १३१५ ।

भासनाटकचक्र—सी० आर० देवधर द्वारा संपादित, पूना ।

मत्स्य पुराण—हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, १९०७।

मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट-भाष्य-सहित—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि० सं० १३२०।

मनुस्मृति, मेधातिथि-भाष्य-सहित—गंगानाथ झा द्वारा संपादित, एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, १९३२।

महाभारत, नीलकंठ-भाष्य-सहित—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, शकाब्द १८२६–१८३०।

महाभाष्य—एफ़० कीलहार्न द्वारा संपादित, बंबई।

मानसार—पी० के० आचार्य द्वारा संपादित, आक्सफ़ोर्ड।

मालविकाग्निमित्र—एस० कृष्णराव द्वारा संपादित, मद्रास, १९३०।

मार्कण्डेय पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई।

मुद्राराक्षस—आर० के० ध्रुव द्वारा संपादित, पूना, १९३०।

मृच्छकटिक—आर० डी० करमारकर द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, १९५०।

याज्ञवल्क्य स्मृति—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा संपादित, बंबई, १९२६।

रघुवंश—शंकर पण्डित द्वारा संपादित, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो द्वारा प्रकाशित, १८९७।

राजतरंगिणी—दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, संवत् १९८४।

लिंग पुराण—जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८८५।

वराह पुराण—कलकत्ता, १८९३।

वामन पुराण—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं०, १३१४।

वायु पुराण—हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, १९०५।

विष्णु धर्मसूत्र—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं०, १३१६।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।

विष्णु पुराण—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं०, १३३१।

शतपथ ब्राह्मण— ए० वेबर द्वारा संपादित, १९२४।

शिव पुराण—वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं० १३१४।

शिशुपालवध—निर्णय सागर प्रेस, बंबई।

श्रीभाष्य—वासुदेव शास्त्री अभयंकर द्वारा संपादित, बंबई, १९१४।

शुक्रनीतिसार—प्रयाग, १९१४।

स्कन्द पुराण—वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि० सं०, १३१८।

स्मृति चंद्रिका—श्रीनिवासाचार्य द्वारा संपादित, मैसूर, १९१४–२१।

स्मृति तत्त्व—जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, मैसूर, १९१४–२१।

सौर पुराण—पूना, १९२४।

हरिवंश, नीलकण्ठ-भाष्य के साथ—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं० १३१२।

हर्षचरित—फ़ूरहर द्वारा संपादित, बंबई, १९०९।

हारीत संहिता—पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि० सं० १३१६।

आधुनिक शोध-ग्रन्थ [हिन्दी]

अग्रवाल, वासुदेव शरण—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, १९६४।

अग्रवाल, वासुदेव शरण—मार्कण्डेय पुराण, एक सांस्कृतिक अध्ययन।

उपाध्याय, बलदेव—पुराण-विमर्श, वाराणसी, १९६५।

ओझा, मधुसूदन—पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्तिप्रसंगः, जयपुर, सं० २००९।

चतुर्वेदी, परशुराम—वैष्णव-धर्म।

टण्डन, यशपाल—पुराण-विषय-समनुक्रमणिका।

दिनकर, रामधारी सिंह—भारतीय संस्कृति के चार अध्याय।

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १९६३।

पाण्डेय, राजबली—पुराण-विषयानुक्रमणी।

पाण्डेय, राजबली—हिन्दू संस्कार।

बुल्के, फ़ादर कामिल—रामकथा, इलाहाबाद, १९६४।

भट्टाचार्य, रमाशंकर—अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी, वाराणसी, १९६३।

भट्टाचार्य, रमाशंकर—इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, १९६३।

भट्टाचार्य, रमाशंकर—पुराणस्थ वैदिक सामग्री का अनुशीलन, इलाहाबाद, १९६५।

मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, इलाहाबाद, सं० २००७।

यदुवंशी—शैवमत।

राय, उदय नारायण—प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, इलाहाबाद, १९६५।

आधुनिक शोध-ग्रंथ [अंग्रेजी]

Agrawala, V. S.—Matsya Purāṇa—A Study, Varanasi, 1963.

Agrawala, V. S.—Vāmana Purāṇa—A Study, Vaıanasi, 1964.

Aiyangar, K. V. R.—Aspects of Ancient Indian Economic Thought.

Ali, S. M.—The Geography of the Purāṇas, New Delhi, 1966.

Altekar, A. S.—Education in Ancient India.

Altekar, A. S.—History of Banaras, Varanasi, 1937.

Altekar, A. S.—Position of Women in Hindu Civilization.

Altekar, A. S.—State and Government in Ancient India.

Apte, V. M.—Social and Religious Life in the Gṛhya Sutras.

Basham, A. L.—The Wonder that was India, London, 1954.

Benerjea, J. N.—Development of Hindu Iconography, Calcutta, 1941.

Beni Prasad—State in Ancient India.

Bhandarkar, D. R.—Some Aspects of Ancient Hindu Polity.

Bhandarkar, R. G.—Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems, Strassburg, 1913.

Chakladar, H. C.—Social Life in Ancient India, Calcutta, 1929.

Coomaraswamy, A. K.—History of Indian and Indonesian Art, London, 1927.

Coomaraswamy, A. K.—Yakshas, Vol. II.

Cunningham, A.—Ancient Geography of India.

De, S. K.—History of Sanskrit Literature.

Dikshitar, V. R. R.—Purāṇa Index. (in three Volumes), Madras.

Eliot, C.—Hinduism and Buddhism, Vol. II, London, 1921.

Farquhar, J. N.—An Outline of the Religious Literature of India, London, 1920.

Fleet, J. F.—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III.

Ghate, V. S.—Lectures on Ṛgveda.

Ghoshal, U. N.—Beginnings of Indian Historiography & Other Essays.

Ghurye, G. S.—Caste and Class in India.

Gonda, J.—Aspects of Early Viṣṇuism.

Hazra, R. C.—Studies in the Purāṇic Records on Hindu Rites and Customs, Decca, 1940.

Hazra, R. C.—Studies in the Upa-Purāṇas, Vol. I, Calcutta, 1960.

Hazra, R. C.—Studies in the Upa-Purāṇas, Vol. II, Calcutta, 1963.

Hopkins, E. W.—Religions of India, London, 1889.

Hopkins, E. W.—The Great Epic of India, New Haven, Yale University Press, 1920.

Hultzsch, E.—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I.

Jayaswal, K. P.—History of India (150 A. D. to 250 A. D.).

Jolly, J.—Hindu Law and Custom, Translated from the German Original by B. K. Ghosh, Calcutta, 1928.

Kaṇe, P. V.—History of Dharmaśāstra, Volumes II & IV (Poona, 1953).

Karmarkar, R. D.—Bhavabhūti.

Keith, A. B.—History of Sanskrit Literature.

Keith, A. B.—The Religion and Philosophy of the Veda and the Upaniṣads, Harvard Oriental Series, Vols. 31 & 32, 1925.

Keith, A. B. & Macdonell, A. A.—Vedic Index.

Kerfel, W.—Das Purāṇa Pañcalakshaṇa, Bonn, 1927.

Kosambi, D. D.—The Culture & Civilization of Ancient India.

Macdonell, A. A.—A History of Sanskrit Literature, London, 1925.

Macdonnel, A. A.—India's Past.

Majumdar, R. C.—Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1922.

Manakad, D. R.—Purāṇic Chronology.

Marshall, Sir John.—Taxila.

Mc Crindle, J. W.—Ancient India as described by Megasthenes and Arrian, Bombay, 1877.

Mitra, R. L.—A Catalogue of Sanskrit Mss., Calcutta, 1880.

Mookerji, R. K.—Hindu Civilization.

Negi, J. S.—Some Indological Studies, Allahabad, 1966.

Pande, G. C.—Studies in the Origins of Buddhism, Allahabad, 1957.

Pande, R. B.—The Geographical Encyclopaedia of Ancient and Medieval India, Indic Academy, Varanasi, 1967.

Pargiter, F. E.—Ancient Indian Historical Tradition, Oxford, 1922.

Pargiter, F. E.—The Dynasties of the Kali Age (The Purāṇa Text of), Oxford, 1913.

Pathak, V. S.—Śaiva Cult in Northern India, Varanasi, 1960.

Patil, D. R.—Cultural History from the Vāyu Purāṇa.

Pusalkar, A. D.—Bhāsa—A Study.

Pusalkar, A. D.—Studies in the Epics and Purāṇas, Bombay, 1955.

Rao, T. A. Gopinath.—Elements of Hindu Iconography, (in two Volumes), Madras, 1914-1916.

Ray Chaudhuri, H. C.—Materials for the Study of the Early History of the Vaiṣṇava Sect, Calcutta, 1936.

Ray Chaudhuri, H. C.—Political History of Ancient India, Calcutta, 1953.

Rhys Davids, T. W.—Buddhist India, London, 1917.

Sachau, E. C.—Alberuni's India (in two volumes), London, 1888.

Schrader, F. O.—An Introduction to the Pāñcarātra and the Ahirbudhnya Saṃhitā, Adyar, Madras, 1916.

Shah, K. T.—Ancient Foundations of Economics in India, Bombay, 1954.

Sharma, D.—Rajasthan Through Ages.

Sharma, G. R.—The Excavations at Kauśāmbī, Allahabad, 1960.

Sharma, R. K.—Elements of Poetry in the Mahābhārata, California, 1964.

Sharma, R. S.—Aspects of Political Ideas & Institutions in Ancient India.

Sharma, R. S.—Light on Early Indian Society & Economy.

Sharma, R. S.—Śūdras in Ancient India.

Shastri, S. Rao.—Women in the Vedic Age, Bombay.

Sinha, B. P.—Decline of the Kingdom of Magadha (Cir. 444-1000 A. D.).

Sircar, D. C.—Select Inscriptions, Calcutta, 1942.

Sircar, D. C.—Studies in the Geography of Ancient & Medieval India (Delhi, 1960).

Tilak, B. G.—Arctic Home in the Vedas.

Vaidya, C. V.—History of Medieval Hindu India, Vol. I., Poona, 1921.

Wilson, H. H.—Introduction to the English Translation of the Viṣṇu Purāṇa.

Wilson, H. H.—Purāṇas or an Account of Their Contents and Nature.

Winternitz, M.—A History of Indian Literature, Vol. I, translated into English from the Original German by Mrs. S. Ketkar, Calcutta, 1927.

अनुसंधान-पत्रिकायें

Ancient India

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.

Annals of Oriental Research Institute, University of Madras.

Annual Report on Indian Epigraphy.

Archaeological Survey Reports

Indian Antiquary.

Indian Culture.

Indian Historical Quarterly.

Journal of Allahabad University Studies.

Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.

Journal of the Bihar and Orissa Research Society

Journal of the Bihar Research Society.

Journal of Indian History.

Journal of Oriental Institute, Baroda.

Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal.

Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland.

Journal of the U. P. Historical Society.

Purāṇaṃ.

Uttara Bhāratī.

संकेत-पद-सूची

आ० स० रि०—आर्क्यलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट

ऋ० वे०—ऋग्वेद

का० इं० इं०—कार्पस इंसक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्

पु०—पुराण

ब्रह्माण्ड पु०—ब्रह्माण्ड पुराण

मत्स्य पु०—मत्स्य पुराण

वायु पु०—वायु पुराण

विष्णु पु०—विष्णु पुराण

श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण

से० इं०—सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस

से० बु० ई०—सेक्रेड बुक्स ऑव् दि ईस्ट

शब्दानुक्रमणिका

आ

ख

ग

घ

च

द

ध

म

य

र

श

स